"अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥"

ऋग्वेद १०-५३-८

ॐ

रामच० बालकाण्ड

"बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू, समन सकल-भव-रुज-परिवारू॥"

प्रस्तावना

भारतीय आर्य्यों के उच्च मानसिक विकास का साक्षी ... का संस्कृत-साहित्य है, जिसके पन्नों में मनुष्य के अमर जीवन के बहुमूल्य विवरण विविध युक्तियों के आवरण द्वारा ... सुरक्षित मिलते हैं। उनका प्रभाव भी भारतीयों के वैय- ... क जीवन पर इतना गहरा पड़ा है कि प्रत्येक मनुष्य धर्म- ... रत रहना चाहता है और दार्शनिक चिन्तन में अपूर्व आनन्द पाता है। संस्कृत भाषा की समुन्नति के बाद भी जिन भाषाओं का यहाँ प्रचार हुआ उनके साहित्य ने भी संस्कृत-साहित्य के ही दार्शनिक व धार्मिक विवेचनों के क्रम एवं आधार पर अपना कलेवर पुष्ट किया। आज राष्ट्रभाषा-पद-सम्मानिता हिंदी के साथ भी यही घटना है। आरम्भिक काल से ही संस्कृतसाहित्य के भावों का सम्मान हिंदीसाहित्य में लेखकों व कवियों द्वारा होता आया है और अबभी हिंदीसाहित्य का प्रधान पोषक संस्कृतसाहित्य ही है। संत कवियों, भक्त साहि-त्यिकों व समाजसुधार-प्रेमी लेखकों की कृतियों पर थोड़ा भी विचार करने से यह बात निर्विवाद प्रतीत होती है।

हिंदी साहित्य का काव्य-विभाग यदि श्रासम्पन्न है तो अपने पुराने संत व भक्त महाकवियों ही की कृतियों के कारण, उनमें भी गोस्वामी तुलसीदास के समय तक जो महाकवि हो चुके हैं वे हिंदी साहित्य-संसार के [illegible]

उनकी उपमा के कवि फिर आजतक हिंदी-संसार में उत्पन्न नहीं हुए। हिंदी साहित्य को यथार्थतः अधिकांश में उन्हीं पर गर्व है और उसी गर्व से उसका मस्तक ऊँचा हो सका है। सर्वविदित है कि उन महाकवियों ने अवतार, धर्म, भक्ति, उपासना, मोक्ष, स्वर्ग आदि ईश्वरवाद-सम्बन्धी प्रश्नों को उठाकर ही अपनी प्रतिभा से कल्लोल किया और वैसा करने में भी उनकी पैनी दृष्टि उनके पूर्ववर्त्ती संस्कृत-साहित्यिकों पर ही गड़ी रही, बल्कि उनसे प्रभावित होते हुए वे अपनी लक्ष्य-पूर्त्ति को सन्नद्ध हुए। तोभी हिंदी में ऐसे ग्रन्थों का अभाव है जिनमें ऐतिहासिक क्रम व प्रामाणिक ढंग से यह दिखलाने की चेष्टा की गई हो कि संस्कृत-साहित्य के विचारों का उन महा-कवियों ने कहांतक आदर व कहांतक अनादर किया। हिंदी के पुराने व नए सभी लेखकों व कवियों ने ईश्वर, जीव, संसार, जीवनोद्देश्य, मानवधर्म्म, समाजकल्याण, धर्म्मप्रियता, पाप-निवारण आदि पर कल्पनाएँ की हैं और ऐसा करने में वे वेद, उपनिषद्, मीमांसा, सांख्य, पुराण आदि के हवाले भी देते गए हैं; बल्कि गद्य-निबन्धों को महत्वपूर्ण बनाने में संस्कृत-ग्रन्थों से पर्य्याप्त उद्धरण देने की भी रुचि विद्वानों में विद्यमान पाई जाती है। 'धर्म्मसंस्थापनार्थाय', 'सम्भवामि युगेयुगे', 'सोऽहं', 'तत्वमसि' आदि सूत्रों के भी प्रयोग हिंदी-ग्रन्थों में प्रायः किए जाते हैं। किन्तु भारतीय जीवन पर इनका जो प्रभाव अपने २ युग में पड़ा उसे भलीभाँति समझे बिना कभी २ इन सूत्रों के असंगत व्यवहार के भी प्रमाण मिलते हैं। कारण है कि हिंदी-भाषियों के लिए हिंदी में इनके व्यवहार का कोई क्रमबद्ध तथा प्रामाणिक इतिहास अबतक नहीं लिखा जा सका। हिंदी के इतिहासों में भाषा के विकास के ही वर्णन किए

गए हैं भावों के आन्तरिक एवं क्रमिक भाव-विकास के नहीं। न अबतक हिंदी में प्रामाणिक ढंग से किसी विषय के निष्पक्ष प्रतिपादन की ही शैली अपनाई गई है। इन सारी आवश्यकताओं पर विचार करते हुए अगस्त. १९३४में पटना-विश्वविद्यालय से रिसर्च-स्कॉलरशिप प्राप्त होने पर भारतीयों के प्रिय विषय 'भारतीय ईश्वरवाद' पर प्रामाणिक प्रबन्ध प्रस्तुत करने का विचार हुआ और पटना-कॉलेज के संस्कृत-हिन्दी-बंगला-मैथिली-विभाग के अध्यक्ष पूज्य डा० अनन्तप्रसाद बनर्जी-शास्त्री की स्वीकृति से इसी विषय पर कार्य्य आरम्भ किया गया। फलस्वरूप यह 'भारतीय ईश्वरवाद' आज सर्वसमक्ष सादर समुपस्थित किया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संहिता-समय से हिंदी-संसार-सूर्य गोस्वामी तुलसीदास के उदय-काल तक की ईश्वरवाद-सम्बन्धिनी सारी मुख्य धारणाओं पर सोलह अध्यायों में संक्षेपतः, पर विशद रूप में, प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक अध्याय का विषय-निर्वाचन मेरे जानते मौलिक है और प्रत्येक अंश का विवेचन भी सप्रमाण निर्विवाद ढंग से किया गया है। विषय स्वयं इतना व्यापक है कि प्रत्येक अंश पर पृथक् २ पोथी तैयार की जा सकती है, और प्रत्येक अंश में स्थापित निष्कर्ष भी उतने ही व्यापक हैं तोभी एक क्रम में सबों पर चिन्तन करने का प्रयास इसी लक्ष्य से किया गया है कि सारे मुख्य व जानने योग्य धार्मिक ऐतिहासिक व सामाजिक विषय सूत्ररूप में हिंदी-संसार के सामने इस तरह से रक्खे जाँय कि भावात्मक विकास का इतिहास परिस्थितियों के प्रकाश में सहज में समझा जा सके। प्रत्येक कवि या लेखक अपने युग का प्रतिनिधि होकर परिस्थितियों

के अनुकूल ही समाज के सामने कोई उद्गार प्रकट करता है और ईश्वर, धर्म्म, अधर्म्म, पाप एवं पुण्य की व्याख्याएँ भी युगेच्छा तथा परिस्थितियों पर ध्यान रखते हुए ही की जाती हैं, यह इस 'भारतीय ईश्वरवाद' के अंशान्तर्गत विवरणों से स्पष्टतः प्रमाणित है और जो हिंदी के कबीर, विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी आदि प्रातः स्मरणीय साहित्यिकों के लक्ष्य को समझना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम इसी ढंग से पूर्वोक्त वातावरण पर ध्यान देना चाहिए।

विषय-विवेचन-क्रम में त्रुटियों का होना भी विद्वानों की दृष्टि में सर्वथा सम्भव है, पर उन्हें दूर करना भी तबतक असम्भव है जबतक आलोचनात्मक विचार व्यक्त नहीं किए जाते, यह भविष्य के लिए ही मुमकिन है। मैं इस कार्य में पटना-विश्वविद्यालय के सिन्डिकेट-सदस्यों के प्रोत्साहन, पटनाकॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री रामचन्द्र प्रसाद जी खोसला I. E. S. की सहानुभूति और अपने कृपालु मनस्वी आचार्य श्री डा० बनर्जी-शास्त्री महानुभाव के आशीर्वाद से ही इस कार्य्य में यहां तक सफल हो सका हूँ; अतः मैं उनका अतिकृतज्ञ हूँ। कम आभारी मैं उन अध्ययनशील विद्वानों और श्रमशील प्रकाशकों का नहीं हूँ जिनकी पुस्तकें आधार-ग्रन्थ-स्वरूप अपनाई गई हैं, उन ग्रन्थों की सूची भी अन्त में दे दी गई है।

पटना कॉलिज का
संस्कृत-हिंदी-विभाग-सेमिनर
१४-६-१६३६ ई०

विनीत—
पाण्डेय रामावतार शर्म्मा

विपय-सूची

× × × ×

ईश्वरवाद की विशेषता

जिस प्रकार वैयक्तिक जीवन में मन और मस्तिष्क की विशेषता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में धर्म और अर्थ की प्रधानता, पर इन चारों की भावनाओं का एकीकरण—जो प्रत्येक मनुष्य में सामाजिक जीवन सत्ता का पोषक है—एक अलौकिक शक्ति में केन्द्रित मान कर प्रत्येक काल में मानव समाज उस पर चिन्तन करता आया है। बोधार्थ वह शक्ति ईश्वर नाम से सम्बोधित किया गया है, जिसके प्रति अथर्ववेद का * वचन है—"यदन्तो यँन गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मण महत्।" उस सर्वशक्तिमान् अज अविनाशी ईश्वर का विषय ईश्वरवाद मानव मस्तिष्क से बराबर ही घनिष्ट सम्बन्ध रखता आया है। ईश्वरवाद से विशेषतर सम्बन्ध का कोई दूसरा विषय कभी मानव समाज की गवेषणा का पात्र नहीं रहा, इसीसे सभी युगों में भिन्न २ रूप धारण कर वह ईश्वरवाद सभी श्रेणियों के पुरुषों का चिन्तन तत्त्व व जीवन-सखा रहा है। शैशवावस्था में जननी क्रोड में बेसुध कलोल करते समय भी ईश्वर शब्द प्रेम से उच्चारित सुना जाता है, बढ़ने पर कथा-पोथियों में उसी ईश्वर की चर्चा मिलती है, धार्मिक जीवन ईश्वर पर ही अवलम्बित दृष्टिगत होता है और सभी सांसारिक अनुभवों के बाद भी अतृप्त आत्मा को श्रद्धाभक्ति पूर्वक ईश्वर का ही आश्रय लेने पर शान्तिदायी अनिर्वचनीय

---

* अथर्ववेद १०-८-१३

आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। अवश्य ही विश्व का सर्वस्व वही है, जैसा अथर्ववेद ने [a] कहा है—"महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति।"

मूर्खातिमूर्ख से विद्यावारिधियों तक का प्रेमपूर्ण ध्यान ईश्वर की ओर देख कहना पड़ता है कि वास्तव में ईश्वर का सम्बन्ध मानव मन से अभिन्न है और मनुष्य-मस्तिष्क की शोभा भी ईश्वरवाद ही है। धर्म तथा दर्शन की गूढ़ वार्त्ताएँ भी ईश्वरवाद के ही रहस्योद्घाटन में लीन मिलती हैं और धर्मवेत्ता तथा दार्शनिक ईश्वरवाद के रहस्य को ही प्रगट करते प्रमुदित दिखाई देते हैं। सभी धर्म अपूर्ण नश्वर तनधारी मनुष्यों को एक नित्य पूर्ण अक्षर ईश्वर की ही उपासना का आदेश करते मिलते हैं [3]। ऐसी दशा में विश्वास होता है कि सत्य-स्वरूप ईश्वर में मनुष्य का स्वाभाविक प्रेम है, जो समाज को सनातन से एक अज्ञात लक्ष्य की ओर खींचे जा रहा है, मानों मानव-जीवन का सत्य ध्येय वही है। इसे ही

---

[a] अथर्ववेद १०-८-१५

३. C. E. M. Joad; Philosophical Aspects of Modern Science, P. 276—"That the existence of this element of perfection and permanence is a more or less constant intimation by *bonafide* aesthetic and religious experience would, I think, be generally agreed .... If, therefore, we are to do full justice to the significance which is generally agreed to attach to religious and aesthetic experience, we must, I should say, regard such experience in the light of a reality, which stands outside the stream of flux which is our consciousness."

दर्शाते हुए वेद वचन [1] संकेत करता है—"तं संप्रश्नं भुवना यान्ति सर्वा" और कवि कहता है—

> "That God, which ever lives and loves,
> One God, one law, one element,
> And one far-off divine event,
> To which the whole creation moves".

अत्याश्चर्य तो यह है कि ईश्वर की आजतक अनेक व्याख्याएँ व परिभाषाएँ करने पर भी वे सभी अधूरी ही रहीं, ईश्वर का रहस्य वैसा ही गूढ़ बना रहा और उसपर भी उसके प्रति प्रेम में तनिक कमी नहीं हुई। ईश्वरवाद पर आस्तिकों नास्तिकों के नानारूप में तर्क वितर्क हुए और, अज्ञात काल से विवेचन भी होते आए, परन्तु क्रम रुकता नज़र नहीं आता, लोग एकसी लगन और तल्लीनता से उसी प्राचीनतम अज्ञात ईश्वर के पदाम्बुजों के पास अब भी दौड़े जा रहे हैं। सम्भवतः कोई स्पष्टतः कह भी नहीं सकता कि जिसके समीप वह जा रहा है वह कैसा कहां और किस गति में है [2]। मेकाइल बेकुनिन ऐसे ईश्वर विरोधियों का

---

[1] अथर्ववेद २–१–३

[2] H S Coffin What Men Are Asking, p. 192–"Religious folk have no doubt that God is, in him they live and move and have their being, they can itemize a vast number of meanings God has for them But the most clear-thinking saints are still following on to know him, and their every thought and word of him is no more than a fragmentary suggestion of which he is" –

अथर्ववेद १०–७ के मंत्रों में ऐसा ही विचार विद्यमान मिलता है।

दाया कि यदि वास्तव में कोई ईश्वर है तो उसे नष्ट कर देना आवश्यक है, नित्शे सदृश विज्ञान-प्रशंसकों का आक्षेप कि इस विज्ञानयुग में ईश्वर की मृत्यु हो गई और साम्यवादियों का चित्कार कि अमीरों से ईश्वर तक का आधिपत्य नष्ट कर दिया जाय, ईश्वरवाद के इतिहास में नए भाव नहीं हैं। ऐसे उद्गार ईश्वर के प्रतिकूल भूत में अनेक बार वहिर्गत किए जा चुके हैं किन्तु उससे ईश्वरवाद को बल ही मिला उसकी क्षति नहीं हुई, "यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति" के[1] सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सत्ता सर्वदा एकसी मनोहारिणी बनी रही। ईश्वर नहीं है, जीव भी नहीं है, ईश्वर के कारण मनुष्यों में घृणा फैलती है आदि भयानक विनाशकारिणी कल्पनाएँ, मैडम व्लेवैट्स्की के शब्दों में, नास्तिकों के उन्मत्त प्रमाद मानकर सभी युगों में ठुकरा दी गईं। कारण कि मनुष्य-जाति का मनोविज्ञान ईश्वर में विश्वास का कट्टर पक्षपाती है, वह ईश्वरवाद को स्वीकार कर सदाचार और जनप्रियता को सुरक्षित रखना चाहता है,[2] वह ईश्वर के नाम पर ढोंग का खण्डन आप करता है और मानवकल्पना की उपेक्षा करनेवाले धर्म-

---

[1] अथर्ववेद १०-८-१

[2]. R. Flint's Theism, p. 210-11 "Kant, who exerted his great logical ability to prove that the speculative reason in searching after God inevitably loses itself in sophisms and self-contradictions, believed himself to have found in the practical reason or moral faculty an assurance for the Divine existence and government capable of defying the utmost efforts of Scepticism." सर विलियम हैमिल्टन, डा॰ जॉन न्यूमॅन, डा॰ दनेकेल आदि की भी ऐसी ही रायें हैं।

पाखण्डियों के विरोध से भी नहीं हिचकता। यदि Virtue for Virtue's sake'—'पुण्य पुण्य जान कर करना चाहिये' और 'अधिक से अधिक सुख-सम्पादन ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये' के सिद्धान्तवादी ईश्वरवाद के 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' व 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वा भूतानि समीक्षे' के पहलू को समझने की चेष्टा करें तो वे जान सकते हैं कि ईश्वरास्तित्व का मूल मानव हृदय में कितना दृढ़ है। प्रत्येक मनुष्य को जिस उच्चतम आदर्श से प्रेम होता है वह ईश्वर से इतर दूसरा नहीं हो सकने के कारण भी ईश्वर का विरोध मानवमण्डल में सफल नहीं होता, न नाशकारी विज्ञानवाद, लाभवाद (utilitarianism), आपातरम्यवाद (Hedonism), साम्यवाद, संघवाद, समष्टिवाद (Communism) आदि के अनस्थिर असत्य सिद्धान्त ईश्वर में अविश्वास पैदा कर मानव समुदाय को ईश्वर से विमुख कर सकते हैं[8]। क्योंकि सनातन से मनुष्यों का यह अटल विश्वास रहा है कि ईश्वरप्राप्ति ही अमरत्व-प्रदायक और मृत्युलोक-शोक नाशक है[9]।

---

[8] H Rashdall God and man, p 67 "Belief in God will rest in the long run upon the instructive rejection of materialism by the common sense of mankind, confirmed by the reflective analysis of the philospher. Belief in His Goodness will rest upon the testimony of the moral conciousness For minds which dare not explain away or minimise the presence of evils in human life, belief in immortality will be a corollary of that goodness "

[9] अथर्ववेद १०-८ "अकामो धीरो अमृतः स्वयभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजर युवानम् ॥ ४४"

कहा जा सकता है कि आज जब संसार की प्रगति में नव सभ्यता से विचित्र अन्तर आ गया है, विज्ञान की जगमगाती ज्योति ने दुनिया के धर्मालोक को मन्द कर दिया है और आन्दोलनों की प्रियता ने समाज में ग्रूसट ईश्वर से अरुचि पैदा कर दी है, ईश्वरवाद की चर्चा व्यर्थ है"। पर स्मरणीय है कि ऐसे कथन की व्यापकता सर्वथा सन्देहग्रस्त है, बल्कि ऐसा निष्कर्ष ही मानव मनोवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के एकदम प्रतिकूल है क्योंकि आज की सभ्यता में भी ईश्वरवाद न तो सनातन निर्लेप स्वरूप में विलीन हो विशेषता से रहित हो चुका है न उसके विवेचन की उपयोगिता ही जाती रही है। ईश्वरवाद की सत्ता सभी समाजों में आज भी विद्यमान है और विज्ञान ने उसके सत्य को और भी प्रकाशमान कर दिया है। अत विरोध के स्थान में सारे मत मजहबी अन्तरों के नाशक ईश्वरवाद की एक मूलकता आज भी अवश्य ही सर्वविवेच्य विषय है। इस विषय का महत्व तब तो और बढ़ जाता है जब हम आधुनिक वस्तुवाद की बुराइयों के प्रदर्शित करनेवाले समुदाय की आवश्यकताओं पर ध्यान देते हैं"।

10. H Wildon Carr, D Litt Changing Backgrounds in Religion and Ethics, p 78

11 E. S Brightman The Problem of God, p 104 में ठीक कथन है—"Even if the whole tendency of our age were opposed to theism, that fact al ne would not been enough to prove that theism was untrue But it cannot be said that the whole tendency of the present is hostile to belief in God We are, in need, living in an age in which all fundamenta beliefs are being challenged, We have spoken of doulto

विज्ञान को ईश्वरवाद का विरोधक समझना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता[12] क्योंकि विज्ञान व ईश्वरवाद न तो पारस्परिक विरोध रखते हैं न एक दूसरे की उपेक्षा करता है, बल्कि एक दूसरे का पोषक है और एक से दूसरे को पृथक् कर देने पर समाज किसीसे अपना मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकता। मानव समाज का प्राण ईश्वरवाद सर्वदा विज्ञान चिन्तन के लिये ही क्षेत्र प्रस्तुत किया करता है और ईश्वर का सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मिक और प्राकृतिक दोनों जगत-प्रिय ऐक्य का उत्पादक है। ईश्वरवाद के भिन्न २ विचार भिन्न बहुमूल्य आविष्कारी ही हैं और ये मानव-समाज के लिये वैज्ञानिक आविष्कारों से अधिकतर सदुपयोग के हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति ये लोभ और तृष्णा को पुष्ट करनेवाले होकर नृशंसता के हामी नहीं हुआ करते, वे नृवंश का कल्याण चाहते हैं और जगत रचयिता प्रभु का ज्ञान पैदा कर मानव दुर्गुण व तृष्णाओं को दबा जीवन का समुन्नत बनाने का यत्न करते हैं। फिर ईश्वरवाद के भिन्न २ विचार ही आधुनिक सायंस

---

about God as a master of the age ; it is equally correct to speak of doubt about materialism as a mark of the age "

[12] जुलियन हक्सले का कहना है कि विज्ञान ने एक नया धर्म प्रस्तुत कर दिया है, अब ईश्वर का प्रभाव मानव-चिन्तन से अलग होता जारहा है। पर यह धारणा मानव-स्वभाव के विपरित है—"several leading scientists......have discovered that the true and ultimate objective of mankind is solution of the metaphysical riddle""... no quest in which men can engage can, for a moment, equal in interest the search for God through His universe." E. H. Cotton: Has Science Discovered God? पृष्ठ lvi—lix.

(Science–विज्ञान) के आविष्कारों के मूल रूप हैं, तुलनात्मक मनन सिद्ध करता है कि सभी भौतिक आविष्कारों की तह में भूतकालिक ईश्वर विश्वास के गूढ़ आध्यात्मिक सत्य निहित हैं। यदि वैज्ञानिक आविष्कार मनुष्य को वैयक्तिक शक्ति से अधिक कार्य्य कर अधिक सुख पाने के योग्य बनाता है, तो ईश्वर-सम्बन्धिनी धारणायें उनकी नग्नता और बर्बरता को दबा कर सबों को आचारात्मक शिक्षा दे सच्चा स्थायी सुख प्रदान करना चाहती हैं। इस तरह ईश्वरवाद भौतिक के साथ ही आध्यात्मिक सुखों का भी सोपान है और विज्ञान उसका आश्रित है।

जो विज्ञान को धर्म के लिये हानिकारक समझते हैं वे या तो दोनों के असली स्वरूप पर विचार ही करना नहीं चाहते या कुछ निजी लोभ या स्वार्थ के कारण धर्म में विज्ञान को नहीं आने देना चाहते[13]। वास्तव में विज्ञानवाद ईश्वरवाद की कोई हानि नहीं करता, वह सृष्टि की अज्ञात बातों पर प्रकाश डाल ईश्वर की ही महानता को प्रत्यक्ष करता है; एवं प्रकार विज्ञानवाद ईश्वरवाद का एक अंश है। इसी दृष्टि से सर ऑलीवर लॉज का कहना है—"The region of religion and the region of a completed science are one–धर्म-क्षेत्र और पूर्ण विज्ञान-क्षेत्र एक हैं।" ईश्वर-विश्वास की भाँति वैज्ञानिक ज्ञान भी सभ्यता को दुःखमूलक बनाने का साधन नहीं है, उसका लक्ष्य ज्यों का त्यों वही है जो प्राचीनतम काल में [illegible]विवेचक ईश्वर-प्रेमियों का था; पर प्रकट है कि [illegible] आविष्कार मानवसमाज के सुखों की वृद्धि ही करते

[13]. Bernnard Bavink: Science and God, Tran by H. Stafford Hasfield, pp 151, 170,

हैं। संहार में वैज्ञानिक आविष्कार की सहायता लेना उसी प्रकार भूलपूर्ण प्रयास है जिस प्रकार ढोंगी या पाखण्डी ईश्वर के नाम का प्रयोग अपने भाइयों को छलने में किया करते हैं।

विज्ञान और ईश्वरवाद के सम्बन्ध में यह अवश्य ही विचारणीय है कि ईश्वर-प्रतीति से पृथक् रह विज्ञान या उस का आविष्कार मानव मण्डल के सच्चे सुखों का विधायक हो सकता है या नहीं। आधुनिक सभ्यता की सफलता कल-काँटों के प्रयोग में माने जाने के कारण एक भारी भय को जगह है और उस पर ध्यान देते विद्वान् अनुभव करने लगे हैं कि इस कलकाँटे के युग में धर्म्म व ईश्वर की शान्तिदायिनी चिन्तना दूर नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उस दशा में समाज सुखी होने के बदले रोग-ग्रस्त हो जायगा। अध्यात्मवाद से मनुष्य को एक अलौकिक आनन्द और नैतिकबल की प्राप्ति होती है और उससे खाली आज का शुष्क विज्ञान विश्व-रहस्य-सौन्दर्य्य को नष्ट करता जा रहा है, जिसके कारण अनेक आनन्दप्रदायिणी सामग्रियों के रहते भी लोग एक भारी अभाव व फैलते असन्तोष का अनुभव करने लगे हैं[14]। 'मेशिनरी' आदि के अत्यधिक प्रयोग के विरोधकों को ऐसा ही भय है और इस प्रश्न पर आधुनिक विद्वान् सोच भी रहे

---

[14] Charles Gore The Philosophy of the Good Life, p 13.-"We may be very clever today, and we may have a right to denounce as misleaders, or to ignore, the prophets and teachers of the Victorian age But the thought of the present age, if it is full of curiosity and of variety, is also full of confusion , and the canfusion is nowhere so noticeable as in respect of morality "

है। डा० अलवर्ट स्वेजर (Dr. Albert Schweitzer) और ओलफ स्टेप्लडन (Mr. Olaf Stapledon) की 'Waking World' और 'Last and First men' नामक पुस्तकों में [1] ऐसा ही चिन्तन पाया जाता है। इस हेतु विज्ञान-प्रेमियों के लिए भी ईश्वरवाद एक शान्तिदायी विषय है।

'स्वान्तः सुखाय' भी ईश्वरवाद से बढ़कर सुन्दर कोई दूसरा विषय मनुष्य-चिन्तन का संसार में हो नहीं सकता, ईश्वरानीश्वर-सम्बन्धी तर्कों के अध्ययन से एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। कोई ईश्वर को कोरी कल्पना कहता है, कोई उसे शून्य मानता है, कोई उसके नहीं होने पर ही घोर तर्क करता है, कोई कहता है कि ईश्वर कुम्हार है संसार मर्त्तकी, कोई कहता है कि साँप पर लेटा हुआ ईश्वर पानी में तैर रहा है, कोई ईश्वर को गोलोक में बताता है, कोई उसे कैलाश पर विठाता है, कोई उसे नटकला दिखलाते देखता है और कोई ईश्वर को घटघट में व्यापक वह अभेदकता या

[1] इन पुस्तकों पर राय देते हुए सी० ई० एम० जोड ने लिखा है—'Dr Schweitzer agreeing as to the disease, dragnoses its cause in a divorce between religion and thinking During the seventeenth and eighteenth centuries man's thought abou the nature of the Universe and the purpose anddestiny of his life proceeded naturally and inevitably within the framework of a religious view of the world. Thought was imposed by religion and confirmed it Today, the alliance has been dissolved. Thought, dominated by natural science, is impatient of the spiritual and frankly contemptuous idea of supernatural, wh[illegible] about it

पाठ पढ़ाता है। तोभी शान्ति नहीं, आगे को ही दौड़ता मानव-मस्तिष्क कभी उस भयानक ईश्वर को भेड़-बकरों से तृप्त करना चाहता है, कभी उसे हुक्का पिलाते पहाड़ में रमा डालता है और कभी उसका प्रतिनिधि बन गुरुभक्ति की मनोहारिणी शिक्षाएँ देने लगता है। कितनी लुभावनी तर्क-वल्लरी है! उस शोभा से मनोरञ्जन करने की मानव लिप्सा मानो स्वाभाविक है, निष्प्रतिबंध है। अतः ऐसा आनन्दपूर्ण ईश्वरवाद निस्सन्देह मनुष्यमात्र के लिये अनोखा, मीठा, अपूर्व, शीतल और ज्ञान-वर्द्धक प्रतीत होता है; जो उसका भक्त है उसे जीवन की पूर्णता व प्रसन्नता उसी से प्राप्त होती है, जो उसकी भक्ति से विमुख सांसारिक भोगविलास की सामग्रियों के पीछे बेचैन दौड़ता फिरता है उसे आजीवन संसार दुःख का घर और चिन्ता का अंधकारमय गर्त्त प्रतीत होता है[16]। इस ईश्वरवाद का अद्भुत अनुभव मनन करने ही योग्य है क्योंकि उसके रसास्वादन की मनोवृत्ति अमर होती है, यथा- [19] "देवस्य पश्य काव्यं न ममार जीर्यति।"

ईश्वरवाद के नाम पर अनेक देशों में अनेक अत्याचार किए जाने की भी बात प्रसंगवश कोई उठा सकता है। यह

---

[16]. H S.Coffin What Men Are Asking, p. 226-' God who means everything to those who trust him, is accessible to all men, eagerly waiting to give us the fullness of his life, but it is tragically possible to be pre-occupied with other things, unaware of him, and to spend our days in poverty-stricken godlessness."

[19]. [illegible]

ठीक भी है कि ईश्वर के नाम पर धर्म्म और ईश्वर के ठेकेदारों ने जी खोलकर कभी-२ नरहत्याएँ भी की हैं। पर इससे ईश्वरवाद को अपवाद नहीं लगता, क्योंकि ये अत्याचार ईश्वरवाद ने नहीं किए बल्कि व्यक्तिविशेषों की स्वार्थपरता द्वारा वैसे अमानुषिक दृश्य उपस्थित किए गए, अन्त में उस स्वार्थपरता का नाश भी ईश्वरवाद द्वारा ही किया जा सका[१]। इस कारण कतिपय आततायियों के अनाचार के कारण ईश्वरवाद कदापि अवांछनीय नहीं माना जा सकता है।

ईश्वरवाद में विश्वास रखते आने के व्यावहारिक लाभ पर विचार करने के लिए किसी ऐसे ही देश के सामाजिक जीवन का अध्ययन आवश्यक है। मेरे लिए तो सभ्यता के आदिम काल से ईश्वरवाद का रसास्वादन करते आए देश भारतवर्ष के आर्य्यों व उनके वंशजों के आदर्श आचार-विचार पर ही एक दृष्टि डालना उत्तम होगा। उस ईश्वर की आस्तिक बुद्धि ने भारतीय आर्य्यों को पुरातन काल से दार्शनिक, तर्कशील, आचारवान् और अहिंसाप्रेमी रक्खा है और उनके वंशजों द्वारा भी भूमण्डल के किसी देश या जाति पर ऐसा बर्बरतापूर्ण अत्याचार नहीं किया गया जिससे उनका धार्मिक जोश या ईश्वरवाद कलंकित माना जाय। अपने विजितों एवं आश्रितों पर भी उनकी कृपा सर्वदा दयापूर्ण रही और वे ईश्वर से डरते हुए परापकार से दूर भागते रहे। यहाँ कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं इसी भीत मात्र के कारण वे अपने सामाजिक बल की समुचित रक्षा नहीं कर सके। पर तर्क विचारपूर्ण नहीं माना जा सकता, कारण कि आजतक जितनी रक्षा ईश्वर-विश्वासी आर्य्य-वंशजों ने की है वही कम नहीं, कहीं प्रशंसनीय है। यह

---

[१] L. R. Farnell : The Attributes of God, pp. 137-62.

ब पता लगेगा जब हम देखें कि उनकी सभ्यता की प्राचीनता के
तने शक्ति-विशिष्ट समाज आज लुप्त हो रहे हैं, पर 'दूष गूढ़
े स्तूप' को चरितार्थ करता हुआ ईश्वरवादी आर्य्य-संतान
पनी सनातन धारणाओं के साथ पूर्ववत् विद्यमान हैं। भारतीय
ार्य्यों का ईश्वरवाद वस्तुतः A. S. Pringle Pattison के
ाशानुकूल "a reflection on those permanent values
hich have their foundation in a higher spiritual reality
bove the changing interests of the times" से सादृश्य
खता है, मानव जीवन का एक अमर मंत्र है और वह मनुष्य
ो विश्व की परिवर्तनशील गतियों के अनुकूल रखता हुआ
ित्य व नित्य विश्वात्मा का सहधर्मी बनाने की दीक्षा दिया
रता है। इसी कारण जन्म से दार्शनिक कहे जानेवाले भारतीय
ीवन मरण का प्रश्न ईश्वर पर विचार के साथ सुलझाया
रते हैं। होमर ने काव्य में कल्पना की थी—"A man in
wisdom equal to a god", उसका समाज उसे व्यवहार में
रिवर्तित नहीं कर सका; पर ईश्वरवाद के सहारे भारतीय
आर्यों ने व्यावहारिक रूप में मनुष्य को ईश्वरत्व प्रदान कर
सिद्ध कर दिखाया कि वास्तव में ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्मत्व को
प्राप्त कर उसी के समान अमर बन जाता है। यह है ईश्वरवाद
की विशेषता, जिसके प्रतिकूल मानव-आचरण कदापि
गतिशील नहीं हो सकता।

---

[19]. A. The Idea of God, p. 29

भारतीय ईश्वरवाद

पहला अंश

ओ३म्

'ओमित्येतत्' द्वारा कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सारे तप जिसमें अन्तर्भूत हैं और जिसकी इच्छा से ब्रह्मचारी अपने व्रत का पालन करते हैं, वह 'ओ३म्' पद है। सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त जो अनादि, अनश्वर तथा असीम शक्ति है और जिस सर्वोपरि सत् को लोगों ने ईश्वर-परमेश्वर-परमात्मा आदि नामों से सम्बोधित किया है, उसका पूर्णार्थ प्रकट करनेवाला पद 'ओ३म्' ही है। इसी महत्ता की दृष्टि से सारी वैदिक ऋचाओं का आरम्भ इसीको स्मरण कर किया जाने लगा है और साधनोपासक तान्त्रिकों ने भी अपने जपों में इसका स्मरण किया है। ईश्वर-पर्याय अन्य पद इसके परे हैं, क्योंकि वे ईश्वरवाद को अपनी व्याख्या के भीतर ठीक ठीक उस तरह नहीं ढँक सकते जिस तरह आसानी से यह ओ३म् पद; यह साम्प्रदायिकता और मत-भेद से सर्वथा रहित है। इसकी ऐसी ही महिमा के कारण यम ने नचिकेता को शिक्षा दी—[1]

[1] कठोपनिषद् २-१५, १६, १७

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परं ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परं ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

'ओ३म्' पद की व्याप्ति-दशा विष्णु-स्तुति में वैदिक ऋषियों ने स्पष्टतः घोषित की है--"यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।" जिस प्रकार यहाँ विष्णु के पदत्रय में ईश्वर की व्याप्ति का सूत्र रक्खा गया है उसी प्रकार 'ओ३म्' पद के 'अ-उ-म्' में संकेतित विराट् विश्व-व्याप्त ब्रह्म की स्थापना मनस्वियों द्वारा की गई है।[1] इस कारण यह ओ३म् पद प्रकट करता है कि ईश्वर पृथिवी, आकाश, नक्षत्र, वायु, अग्नि, जल, मनुष्य, भूत, पदार्थ तैजसादि सभी त्रिलोकस्थ वस्तुओं में व्याप्त है और इनके रहस्योद्घाटन से ईश्वरवाद का अभिन्न सम्बन्ध है; क्योंकि ब्रह्माण्ड का अनुपम सौन्दर्य उसके निर्माता ईश्वर की धारणा से कदापि पृथक् नहीं किया जा सकता।[3]

---

[1] सत्यार्थप्रकाश—१म समुल्लास, पृ० १
लिङ्गपुराण अ० १७, श्लो० ५१—
"आद्य वर्णमकारन्तु उकारश्चोत्तरे ततः ।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति ॥"

[3] A. J Balfour. Theism and Thought, pp 30-32 'If beauty is to retain its worth, it must be the product of design, and behind the delight in beauty there must lurk however vaguely, the consciousness of a designer. As in God they must have their root if their values are to survive, so in God they must find their consummation if their promise is to be fulfilled.' ऋग्वेद० ५-२,३,८,९,१२,१२

ईश्वर शब्द 'ईश ऐश्वर्ये' धातु से सिद्ध होता है। इसका अर्थ है-"य ईष्टे सर्वैश्वर्यमान् वर्त्तते स ईश्वरः।"[४] इस कारण सत्य की खोज; उच्चता की प्राप्ति, ऐश्वर्य की सिद्धि, लोकोत्तर आनन्द के अनुभव, शोक-क्रोधादि दुर्गुणों के नाश और शान्तिमय सुखों के समन्वय में ईश्वर की आवश्यकता मनुष्य को हुआ करती है। मनुष्य की प्रवृत्ति सांसारिक सुखों की ओर हुआ करती है, लोग नाना तरह के आनन्द की सामग्रियों पर आधिपत्य रखने में बेचैन रहा करते हैं, तो भी कहीं करोड़पति असन्तोष का शिकार बना मिलता है; कहीं दीन कौड़ियों के लिए तरसता नजर आता है और कहीं विद्यावारिधि मोहांधकार में पड़े दृष्टिगत होते हैं। अतः सनातन काल से इस प्रवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद में करते हुए चिन्तनप्रिय महापुरुष दिखाई देते हैं और ईश्वरवाद के सम्बन्ध में विद्वान् कभी कभी कहा करते हैं कि मनुष्य लौकिक विषयों से संतुष्ट नहीं होता। इस कारण उसे कोई अलौकिक विषय अवश्य चाहिए, मानव-हृदय मनुष्यकृत पदार्थों में स्थायी श्रद्धा नहीं रखना चाहता। इस हेतु उसे कोई मनुज-शक्ति के बाहर की सत्ता द्वारा प्रस्तुत पदार्थ अभिप्रेत होता है। वास्तव में ईश्वर वही अलौकिक विषय है और वही मनुजशक्ति की पहुँच से बाहर की सत्ता है जिसके श्रवण-मनन-चिन्तन में मनुष्य को शान्ति ही नहीं, एक नैसर्गिक आनन्द भी मिलता है और यही कारण है कि आस्तिकों ने ईश्वर को, अलौकिक और पूर्ण आनन्द का स्रोत समझा है, जिसके अभाव में मनोहर विश्व का अनुपम सौंदर्य्य या मानवजीवन का महत्त्व अच्युत मालूम होने लगता है।[५]

---

[४] सत्यार्थ प्रकाश--१म समुल्लास, पृ० ८

[५] A. J. Balfour: Theism and Humanism, p 248--

ईश्वर का भय संसार के मानवमात्र के हृदय में पाया जाता है, पर विशेषता इस भय की यह है कि इसके साथ २ एक अनिर्वचनीय प्रेम भी विद्यमान रहता है। मानवसमाज में ईश्वर से भय-प्रेम करनेवाला व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए कालस्वरूप नहीं बनना चाहता, पर जो 'ईश्वर कुछ नहीं है' कहता हुआ अहंकार में मस्त रहना चाहता है, सर्वप्रथम वह अपने वैयक्तिक जीवन को इतना स्वार्थपूर्ण बना डालता है कि समाज का सामूहिक जीवन उसे प्रिय नहीं होता; वह न अत्याचार से हिचकता है न पर-पीडन में दोष मानता है। इस दृष्टि से ईश्वर सिद्ध हो या असिद्ध, इस प्रश्न को छोडकर भी ईश्वर को मानने की जरूरत प्रत्येक व्यक्ति को है। ईश्वर को मान लेने से कोई बुराई या क्षति न वैयक्तिक होती है न सामूहिक, वरन् भारी लाभ यह दृष्टिगत होता है कि इस रहस्यमय विश्व में चञ्चल मानव हृदय एक निष्पक्ष, कृपालु तथा शक्तिशाली सुहृद् के साहाय्य की दृढ़ आशा करने लग जाता है।[६] इसी कारण विद्वानों का निष्कर्ष है कि ईश्वरवाद समाज या राष्ट्र को सबल बनाता है, क्योंकि जो सचमुच में ईश्वरवादी हैं वे समाज और समाज के लोगों के सामने समाज हित का ही

"My desire has been to show that all we think best in human culture, whether associated with beauty, Goodness, or knowledge, requires God for its support, that Humanism without Theism loses more than half its value'

[६] E S Brightman The Problem of God p 165 "Belief in God, then is not any evasion of the difficulties of life, it is simply the confidence that behind the daily mystery that surrounds us, the human race can rely on a powerful Friend" सुन्दरोप० २—१५ से १९

आदर्श उपस्थित किया करते हैं।[8] ऐसी दशा में ईश्वर को मान लेने से हृदय में कायरता और समाज में अकर्मण्यता आ जाने का स्वप्न देखनेवाले जल्पनाप्रिय पुरुषों के सारशून्य कथन उसी प्रमादी के बकवाद के समान हैं जो कहता फिरे कि दूध पीने से कफ रोग पैदा होता है और जल-भण्डार सागर की महिमा हेठ हो जाती है। इस हेतु दूध देनेवाली गायों की हस्ती मिटा दी जाय।

यह बात ठीक है कि ईश्वर के नाम पर अनेक देशों में अनेक अत्याचार हुए हैं, धर्म्म और ईश्वर के ठेकेदारों ने जी खोलकर कभी २ नरहत्यायें भी की हैं। पर इससे ईश्वरवाद को अपवाद नहीं लगता, क्योंकि ऐसे अत्याचार ईश्वरवाद ने नहीं किए, बल्कि व्यक्तिविशेषों की स्वार्थपरता द्वारा वे अमानुषिक दृश्य उपस्थित हुए; अन्त में उस स्वार्थपरता का नाश भी ईश्वरवाद द्वारा ही किया जा सका।[8] फिर यदि उसी अत्याचार के विचार से ईश्वरत्व को मिटाने का संकल्प किया जाय, तो उसके पहले ऐसा ही क्यों न माना जाय कि चूँकि कुछ मनुष्यों द्वारा अनेक अनर्थ पहले किए जा चुके हैं, इस कारण इस मनोहारिणी मेदिनी से सारे मनुष्यों का ही लोप

"The wise men of a nation are the representatives of the spirit of God in it They can bring its resources into order and unity, they can influence its masses in the right direction, they can, in their own persons, illustrate the character and destiny of their people Thus a nation, in one view, is but a larger man, and the spirit of God is its life It has a destiny, and the spirit of God guides its destiny". The spirit of God, p 257

[8] L. R Farnell The Attributes of God, pp 137-62.

कर दिया जाय। पहने कपड़ों मे आग लगने से कई जल गए हैं इस कारण सभी लोग वस्त्रों का परित्याग नहीं कर देते। जल में डूब कर अनेक मर गए हैं, इस कारण जल स्थल से स्थानान्तरित नहीं कर दिया जाता। आग से अनेक अग्नि कांड हो गए हैं, इस कारण आग समाज से बहिष्कृत नहीं कर दी जाती और कतिपय प्राणप्रिय पुत्रों द्वारा पिता कारागार में डाले जा चुके हैं, इस कारण सभी पुत्र तिरस्कृत नहीं कर दिए जाते। तब अनन्त काल से मनुष्य मानस को शान्ति प्रदान करनेवाला विश्व ज्ञान का केवल साधन[९] ईश्वरवाद कुछ आततायियों के अनाचार के कारण क्योंकर अवांछनीय माना जा सकता है?

'ईश्वर नहीं है' के सम्बन्ध में दूसरी आश्चर्यकारिणी बात यह भी है कि ईश्वर नहीं कहनेवालों का अभिप्राय क्या है, जब उनके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं।[१०] शशक को शृंग नहीं होता सत्य है, सभी इसे मानते हैं, पर कोई भी शशक-शृंग के भ्रम में नहीं पड़ता और न कोई विद्वान् इस अनस्तित्व को समझाने के लिए चिल्लाता ही फिरता है। पर अनीश्वरवादियों की आवाज 'ईश्वर नहीं है' कहती हुई कभी कभी

[९] H R ashdall God and Man p 31 We can not understand the world of which we form a part except upon the assumption of a Universal Mind for which or in which all that it exists

[१०] Mrs Bradlaugh Bonner Literary Guide Octo 1917. No thoughtful Atheist denies God It would be no crime if he did but he does not because it is as foolish to deny as it is to affirm something of which no one knows any

बेचैनी से भरी सुनी जाती है, जिसकी उतनी आवश्यकता ही नहीं थी। पर उन अनीश्वरवादियों के समर्थकों का कथन है कि ईश्वरवादियों ने कोई ईश्वर माना है और उसी ईश्वर का खण्डन हमारे अनीश्वरवादी करते है, उनका अपना कोई ईश्वर नहीं। ठीक, पर इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अनीश्वरवादी स्वय अनिश्चित हैं, वे नहीं जानते कि कैसे ईश्वर के प्रतिकूल उन्हें क्या कहना है। ईश्वरवादी तो वास्तव मे सारे ब्रह्माण्ड को मूर्त्त ईश्वर मानते हैं और इनके भी परे अमूर्त्त ईश्वर को, यहाँ तक कि तार्किक नास्तिक के तर्काधार शब्दों की प्रतिध्वनि[11] को भी नित्यरूप ईश्वर ही मानते हैं। तब खण्डन प्रिय अनीश्वरवादियों को अपने शब्दों का भी त्याग कर मूक रहना ही अनीश्वरवाद को प्रमाणित करना सत्य हो सकता है,[12] अन्यथा उनके प्रत्येक शब्द से ईश्वरवाद की ही सत्ता सिद्ध होती जायगी, अनीश्वरवाद की कदापि नहीं।

'ईश्वर नहीं है' ऐसा कहनेवालों का सिद्धान्त सत्य, व्यापक और सनातन नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यह है कि 'ईश्वर है' कहनेवाले अनन्त काल से अनन्त रूपों मे अनन्त भाव

---

[11] कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ४ "स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रातिश्रुत्काया पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। ११", "स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्द पुरुषश्चेति तमेवाहमुपास इति।१२।"

In the beginning was the Word, and the Word was with God and the Word was God Holy Bible St John 1 1

[12] 'As Dr Ballard says—a word is a symbol and a symbol always has a partner its partner being the thing symbolized The word s partner is the thing meant John O London s Weekly December 22 1934—p 497

से ईश्वर को मानते आये हैं। इन सबों का नहीं मानना ही ईश्वर का नहीं मानना कहा जा सकता है, जो असम्भव है।[13] ईश्वर का अर्थ कोई एकदेशीय, एक निश्चित स्वरूप का पदार्थ होने से खण्डन करना सहज है, पर अज-अनादि-अनन्त-असीम-अनश्वर-अज्ञाविद-अविनाशी सर्वसम्बद्ध-विश्वव्यापी-ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार अस्वीकार किया जा सकता[14] है?

हमारी सीमित धारणा के बाहर की शक्ति ईश्वर है, हमारी बुद्धि की पहुँच के बाहर की बातें ईश्वरीय हैं,

---

[13]"Those who betray greater anxiety to preserve the exact form of the ancient definition of God than to find the meaning of it in the changing conditions of each new day, treat it as if it were safe only when mummified, shut away from light and air, bound fast in the grave-cloths of tradition. Whereas this idea is most vital and energetic, the most changeable and yet the most enduring, the most susceptible to external influence and the most capable of varied statement—always partial but always suggestive—of all the ideas of men". The Idea of God, p. 4

[14]E. A. Brightman : The Problem of God—p. 144 "If God is, he is not a separate physical object, like a tree or a mountain, nor does belief in him rest on a limited part of our experience. God is by definition a being who stands in relation to everything that happens; his will, his creative powers, his purposes are involved in some way in every fact in the entire universe. Every fact implies God; God is revealed in every fact." अध्यात्मोप० १-१

हमारे हृदय का बोध ईश्वरमय है, हमारे मनोभावों में सत्य का प्रकाश ईश्वरालोक है, कष्टों में निकले हमारे असंतोष ईश्वरपरक हैं और वेदना-काल में हम अकस्मात् जो आह कर बैठते हैं उसकी स्वर-लहरी ईश्वरभाव से पूर्ण है।"[15] क्या इस व्यापक ईश्वर के बाहर कहीं भी अनीश्वरवादियों का अनीश्वर या नास्तिकों का अनस्तित्व है ?—यदि है तो वह भी ईश्वरवादियों का ही शून्यंकार ईश्वर द्रव्य है, जिसके सम्बन्ध में कहा है[16]—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।"

एवम्प्रकार ओ३म्-पदार्थ-स्वरूप ईश्वरवाद इतना व्यापक है कि अनीश्वरवादियों और नास्तिकों की तार्किक बुद्धि के भीतर भी उसीका साम्राज्य है, ईश्वरवादियों से पृथक् नास्तिक या अनीश्वरवादी की कोई स्थिति ही नहीं। नास्तिकों के तर्क पर ध्यान देने से विदित होता है कि वे अपनी कोई स्थिरता नहीं रखते। नहीं से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, इस तरह नास्तिकों से, बिना उनके पहले आस्तिकों के रहे, कोई भी सिद्धान्त निरूपित नहीं किया जा सकता। वास्तव में नास्तिक या निरीश्वरवादी अपनी दौड़ान ईश्वरवादियों की ही आस्तिकताभरी प्रचंड प्रतिभा पर सीमित करते हैं, पर ईश्वरवादियों का विचारक्षेत्र बहुत ही विस्तृत, असीम रहता है।

---

[15] R A Armstrong God and the Soul p 33 "In like manner, I believe in the reality of God, because I can not but believe that there is some one other than myself, who gives me these feelings of aspiration or repentance ineffable peace or black remorse, of a divine protection or inflowing moral strength"

[16] तैत्तिरीयोपनिषद्—ब्रह्मानन्दव० अनु० १

नास्तिक और अनीश्वरवादी भी ईश्वरवाद को ही सबल करते हैं, उनकी भेदात्मक बुद्धि ईश्वरवादियों की चिन्तनशीलता को सहायता ही पहुँचाती है। अतः नास्तिकता के कारण, ईश्वर कहाँ है मुझे सिद्ध कर दिखाओ कहनेवाले समाज में अपमान के पात्र नहीं हो सकते। ऐसे हेतु खोजनेवालों की प्रतिभा भी प्रचंड हुआ करती है और उससे निकली प्रखर ज्वालाएँ मानवसमाज को भस्म न कर समयानुकूल साहाय्य प्रदान करती पाई जाती है। नास्तिक भी ईश्वरवादी विद्वानों के सामने गुड़िया खेलनेवाले साधारण बच्चों की तरह प्रकट नहीं होते कि उनकी अवहेलना मोटी बुद्धि द्वारा घृणा के साथ कर दी जाय; बल्कि वास्तव में ये कभी कभी दिग्गज दिमागवाले, दार्शनिक विचार-विशारद, मानव हितचिन्तक और समाजनीतिज्ञ होते हैं। उनके प्रश्न खोज की ओर ले जानेवाले स्वतन्त्र तथा निर्भय होते हैं, उनके खण्डनात्मक विचार मानवहितावरोधक वाहियात बातों में अश्रद्धा पैदाकर सत्य निर्णय में सहायक बनते हैं और उनके तर्क तत्कालीन युग के लोगों को ईश्वरवाद में और आगे ले जाया करते हैं[1]। इस तरह

---

[1] G. G Greenwood ने भी Agnosticism की उपयोगिता के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक The Faith of an Agnostic के पृष्ठ xiii में ऐसी ही सम्मति दी है—"He asserts for one thing *and asserts with all the ardour of profound conviction* that thought and reason must be free He asserts the duty of independent and fearless inquiry He asserts that all false teaching must be prejudicial to the best interests of mankind He makes war on all pretence and insincerity He condemns the too facile sin of credulity He condemns compromising with the truth"

नसे समाज लाभान्वित ही होता है और मोटे विचारों के दले सूक्ष्म धारणाओं के पास पहुँचा करता है।

ईश्वरवाद का स्वरूप ही ऐसा है कि इसके भीतर आस्तिक-नास्तिक, ईश्वरवादी-निरीश्वरवादी, दोनों अपना अपना स्थान रखते हैं। जिस प्रकार 'मनोरम विश्वकानन में पुष्प के साथ कण्टक, जलज के साथ कीच, हीरे के साथ कोयला, प्रकाश के साथ अन्धकार और दिवस के साथ रजनी का मान है उसी प्रकार ईश्वरवाद के साथ अनीश्वरवादियों की भी आवाज है। स्वाधीनता संसारगति की संचालिका शक्ति है और उसका प्रभाव मानव मस्तिष्क पर भी उसी ताकत के साथ है; इसी हेतु स्वाधीनता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार समझी जाती है। मानव मस्तिष्क सदा स्वतन्त्र सुर के अलापने में गौरव समझता है। 'नेति' और 'नैतत्' इसी स्वतन्त्र चिन्तन के स्मारक हैं, फिर विश्वव्यापक अनादि ईश्वर की खोज बिना स्वच्छन्दता कहाँ सम्भव है![1८] क्या इस स्वतन्त्रता पर बाधाएँ और सीमाएँ देकर संसार में कोई धर्म उस अलख, अनादि, अविनाशी के पीछे दूर तक दौड़ सका है?—कदापि नहीं। स्वार्थियों और मदान्धों के लाख चेष्टाएँ करते रहने

---

[18] "He can not fully obey, he can not dedicate himself to the service of the Best, if he is not free A Faith that enquires, p 27 अन्नपूर्णोप० ५–२, ३, ४

[1९] "Everywhere is action movement freedom—a dynamic universe This changed point of view compels momentous changes in the conception of God It necessitates a different meaning to creation and providence but also to the very nature of God ' The Idea of God, p 23

पर भी संसार में धार्मिक सुधार करने वाले स्वतंत्र से अपनी अपनी शिक्षाएँ दे गए, उन्हें कोई रोक न सका। तब ईश्वरवाद के भीतर नास्तिक, निरीश्वरवादी अनीश्वर-प्रचारक नहीं हों, यह हो नहीं सकता। विभिन्नता विश्व का नियम है, बिना इसके दुनिया रंगीली नहीं रह सकती। ईश्वरवाद का स्वरूप अनन्त के गर्भ में इस तरह छिपा है कि अनेक मत स्थापित किए जाने पर भी धर्मप्रिय जिज्ञासु पुरातन विज्ञों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर बढ़े चले आ रहे हैं और आनेवाले युगों में भी बढ़ते जायेंगे। इसी गति को लक्ष्य कर युधिष्ठिर ने धर्म के लक्षण में कहा है—

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः
नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

ईश्वर-सम्बन्धी विचारों को सनातन से निश्चित एक रूप का समझना ईश्वर भाव से अज्ञात रहना है, क्योंकि समाजेच्छा के अनुकूल वे बदलते रहते हैं, निश्चित रहने से वे कभी कल्याणकारी नहीं रह सकते।[19] समाजोन्नति का इतिहास यही प्रमाणित करता है। मानव समाज एक समय में अकस्मात् सभ्य व ज्ञानी नहीं बन जाता, न सभ्य व ज्ञानसम्पन्न बन कर भी स्थिर गति से एक ही अवस्था में दृढ़ रहता है। समाजेच्छाएँ भिन्न भिन्न होती हैं। उनमें प्रत्येक का अपना

[19] "Meantime we need to remind ourselves that an attempt so to define the idea of God as to keep it wholly aloof from the modern view of the world is to place it in extreme jeopardy". The Idea of God, p 3

अपना युग हुआ करता है और प्रत्येक युग अपना पृथक् स्वतंत्र स्वरूप रखता है। जिस प्रकार मानव जीवन शैशव-कौमार-यौवन-जरा अवस्थाओं में उत्पन्न-विकसित-शुष्क होकर अन्त में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार प्रत्येक युग का धर्म्म भी विकास परिवर्त्तन से ग्रस्त हुआ करता है। जिस प्रकार जीवन की कोई निश्चित सीमा नहीं, पर वह परिवर्त्तनशील अवश्य है; उसी तरह युगधर्म्म भी अनिश्चित कालवाला किन्तु परिवर्त्तनमय होता है। जब जैसा युग आता है समाज उसीके अनुकूल धर्म्म से प्रबुद्ध विचार स्वातंत्र्य का उपभोग करता हुआ तवतक उसी युग में रहता है, जब तक शनैः शनैः वह युगधर्म्म परिवर्तित होकर नूतन रूप धारण नहीं कर लेता। ऐसा समय अवश्य आता है जब वह युगधर्म आप ही दूसरा शरीर धारण कर पुनः समाजेच्छाओं का सञ्चालन, नूतनत्व के आवरण में, करने लग जाता है। इस लगातार क्रम में तारतम्य तो एक रहता है, पर रूप परिवर्तित होते जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तव में इस परिवर्त्तन की जान सनातन ही होती है, नूतनत्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।[20] सम्भवतः इसीपर विचार रखकर दार्शनिक

[20] "Each yuga is an epoch by itself Like the life of an individual, it is the life of a people—passing through infancy, adolescence, decay and death, equally inexorably. Each yuga represents a particular civilization And each yuga civilization inevitably holds within itself a toxic principle by which it is itself in time poisoned This spiritual sensuality is its climax Thus the end of a yuga civilization is its fulfilment. This end is its inevitable fate. In its place rises another Alike not in its achievement

हेरैक्लीटस ने जीवन-मरण, जागरण शयन और यौवन-जरा को एक ही समझा है। भगवान् कृष्ण ने तो निश्चय ही इसी युग-धर्म की शिक्षा 'सम्भवामि युगे युगे' कह कर मोहग्रस्त अर्जुन को दी है।

युगधर्म के ऐसे स्वरूप की उपेक्षा कर किसी घटना का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। राष्ट्रों के बनने-बिगड़ने का इतिहास इसी पर आश्रित है और उनका नियमित विवरण जानने के लिये प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में आने वाले युगों का रहस्य जानना पड़ेगा। प्राचीनतम भारत का आरम्भिक प्राबल्य, अरब वालों का उत्कर्ष, मिश्र का प्रभाव, एशिया माइनर की शक्ति, रोम का पराक्रम, ग्रीस का उत्थान, चाल्डिया की सभ्यता, क्रीट साम्राज्य का अधःपतन आदि राष्ट्र गाथाओं के अध्याय युगधर्म-रहस्य से ओतप्रोत हैं। उस रहस्य के भीतर एक ही शक्ति कार्यरत रही है,[21] जो कभी यहाँ कभी वहाँ अपना आतंक दिखाकर आज पश्चिमी देशों में विराज रही है, वहाँ भी उसे शान्ति नहीं है, कभी वह महासमर के रूप में प्रज्वलित हो आती है—कभी क्रान्ति का चोला पहन परिवर्तित हो जाती है।

सामाजिक जीवन में भी युग-प्राबल्य का दृश्य बड़ा ही आश्चर्यपूर्ण है। जनता की इच्छाओं को नया नया रूप दे वह

but in spiritual continuity " Dr A. Banerji Sastri Early inscriptions of Bihar and Orissa, p 7 S

21 'Just as no state in the individual finally passes away but only disappears from the arena of activity, so historical conditions endure although they temporarily retire from the popular view." Dr A Banerji Sastri Asura India, p 11

ो उथल पुथल मचाया करता है उससे कभी लोग घबड़ा
र समाज की बदलती हुई अस्थिर भावनाओं को एक पुँश्चली
ी के स्वभाव के समान कह बैठते हैं। बात भी कुछ वैसी
ी है। कभी मानव-समाज त्याग को सर्वस्व समर्पित करता
देखाई देता है तो कभी भोग-प्रवृत्ति से आकर्षित रंगरेलियों
को लक्ष्य बनाता है, कभी युद्धाग्नि प्रज्वलित कर हाहाकार
में मोद मनाने पर कटिबद्ध हो जाता है तो कभी शान्ति-
सुधा-वर्षा की हार्दिक कामना व्यक्त करने में बेचैन नजर आता
है। प्रवृत्ति सर्वदा अनिश्चित सी उच्छृङ्खलता को साथ लिये
कालगति-वाहन पर विचरती दृष्टिगत होती है और इसीको
प्रत्यक्ष करते हुए स्काट ने शासन से उदासीनता दिखलाते
राजा के मुख से क्रोधावेश में समाज को "This changeling
crowd, this common fool" नाम दिलाया है।[22] यह भी
स्मरणीय है कि इन सारी चञ्चला इच्छाओं को न समय
है न सीमा है। इनकी अपनी अपनी स्वतन्त्र गति है। इस
कारण प्रत्येक दशा का अध्ययन पृथक् पृथक् ही अनि-
वार्य है।

एवंप्रकार मानव-समाज में ईश्वरवाद का भी युगधर्म
है और उसके चक्र में ईश्वरवाद के अनन्त रूप पृथ्वी पर
लीला-मग्न हैं, हुए हैं और होते जा रहे हैं। आज किसी को
क्रॉस की उपासना करते, किसी को आज़ान देते, किसी को
तिलक-लगाए राम-नाम भजते, किसी को समाज-सेवा द्वारा
ईश्वरभक्ति करते, किसी को ईश्वर की अनावश्यकता को ही
समझाते और किसी को योगमुद्रा धारण किए देख सहसा
एक राय स्थिर कर लेना और उन्हें आज का नया विचार

[22] Sir Walter Scott The Lady of the Lake, canto VXXX

मान लेना भ्रमपूर्ण होगा; क्योंकि उनका रूप कुछ नया नहीं है। उनका भाव सनातन और उतना ही प्राचीन है जितना मानव-समाज, चाहे मूर्त्त पदार्थ का समय जो कुछ हो। अनीश्वरवादियों की कल्पनाएँ इस अनन्त युगधर्मचक्र द्वारा उपन्यस्त ईश्वरवाद के रहस्य का दर्शन करने पर निर्मूल प्रतीत होने लगती हैं। ईंट, पत्थर, नदी, तालाब, वृक्ष, नाग, व्याघ्र, हाथी, वृषभ, मृग, हंस, वाराह, मच्छ, कच्छ, सूर्य, चन्द्र, दिवस, मास आदि कोई भी वस्तु ईश्वरवाद के सम्बन्ध से रहित नहीं है और अनीश्वर-वादियों के लिए भी इन पदार्थों का अस्तित्व अवश्य ही है। फिर किसका खण्डन और कैसा तर्क?

आज जंगलों में मुण्डा-कोल को बघउत आदि की पूजा करते देख सभ्य चकित हो उन्हें जंगली कहा करते और पशुपूजक मान भौंहें सिकोड़ लेते हैं; पर उन्हें जानना चाहिये कि ये भाव भी धार्मिक धारणाओं के अनुकूल हैं और ईश्वरीय भावनाओं से पूरा सम्बन्ध रखते हैं। मोहेञ्जोदारो के उत्खनन से लगभग ५००० वर्ष पूर्व की सिंध सभ्यता के कुछ प्रमाण लब्ध हुए हैं। वहाँ प्राप्त चित्रादि से उस प्राचीन काल के धार्मिक भावों का पता चलता है। चित्रों में बाघ, हाथी, भैंसा, बैल, घड़ियाल, कछुआ, बकरी, सर्प, मृग, शिवलिंग आदि के अनेक चित्र हैं; जिनमें कुछ देवताओं के साथ और कुछ मनुष्य-मुख के साथ बने हैं। ये चित्र भी धार्मिक भावों के ही द्योतक हैं। आज भी बरार के गोंड वाघई देवी, जंगली भील बाबा कुँवर और छोटानागपुर के चेरो उराँव बघउत की पूजा शराब और भेड़ों के साथ करते हैं। गजेन्द्र ऐरावत सनातनी हिन्दुओं के सुरेश इन्द्र का

वाहन माना जाता है और ब्रह्मणस्पति गणपति का मुख हाथी के ही समान स्वीकृत है। यम का वाहन भैंसा है, इस विचार से धर्मभीरु हिन्दू भैंसे को हल में जोतना बुरा मानते हैं। साँड़ शिव का वाहन होने के अलावे पितरों का तारक है, जिसका प्रमाण वृषोत्सर्ग है; सिंध-पंजाब-बलूचिस्तान की कई जगहों में वृषपूजन भी किया जाता है। पार्वती को व्याघ्र प्यारा है और स्कन्द का वाहन मयूर है।[23] कछुआ यमुना का और घड़ियाल गंगा का वाहन है, कराँची के पास पवित्र मगर तालाब भी है, मध्यप्रान्त के साँभर जीवित मगर पकड़ उसकी पूजा कर छोड़ देते हैं और बड़ोदा के जंगली लोग मगरदेव बनाकर पूजते हैं; भगवान् का कच्छपावतार भी शास्त्र-सम्मत है। वराह भी ईश्वर का अवतार है, इसका माहात्म्य वराहपुराण धर्मग्रन्थ में वर्णित है। इसी तरह मत्स्य, मत्स्यावतार और मत्स्य-पुराण भी हैं। जलदेवता के समान नागों की पूजा की भी पवित्रता प्राचीन काल से मान्य चली आ रही है। नागलोक माना जाता है, उसका सम्बन्ध पितरों से है, लोग नाग को दूध-लावा खिलाया करते हैं; महेश के गले में सर्प सर्वदा लपटे रहते हैं, दुर्गा से भी

[23] "Thus the ram and the elephant are respectively the ancient beasts of Agni and Indra; Civa has the Bull, his spouse, the tiger. Earth and Skanda have appropriated the peacock, Skanda having the cock also Yama has the buffalo (compare the khond, wild-tribe, substitution of a buffalo for a man in sacrifice) Love has the parrot etc while the boar and all the Vishnu's animals in *avatars* are holy, being his chosen beasts." Hopkins History of Religions, p. 445.

उनका साथ है, जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का भी सम्बन्ध नागों के साथ जन्म के पहले[24] भी रहा है तथा बाद भी, कोधिन कमन्द के मूसलधार वर्षा ध्यानस्थित पार्श्वनाथ पर गिराने के समय देवता शरीर प्राप्त धरणेन्द्र ने ही फन फैला कर पार्श्वनाथ की रक्षा की[25]। कृष्ण भगवान् ने नाग को नाथा और भगवान् विष्णु अपनी लक्ष्मी के साथ शेषनाग की ही छत्रच्छाया में विश्राम करते हैं। भगवान् भूतनाथ के गण प्रेत-पिशाच हैं और मोहेन्जोदारो के एक चित्र में भी वैरागी तपस्वी त्रिमुख शिव योगमुद्रा में हाथी, सिंह, वृषभ, अश्व के बीच में बैठे हैं, उनके पैरों के पास एक मृग खड़ा है। महात्मा बुद्ध के धर्म-चक्र में भी मृग को स्थान है, जिसके सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि मृगवन में बुद्ध की प्रथम शिक्षा होने के कारण उस पवित्र स्थान का स्मारक मृग माना गया; लेकिन ५००० वर्ष पूर्व का शिव-चित्र उसे भ्रममूलक बतलाता है। अस्तु, ईश्वर के भक्तों की ये सारी भावनाएँ अपनी प्राचीनता का अलग अलग इतिहास जरूर रखती हैं और उनका खण्डन तब तक सम्भव नहीं जब तक इन सारे जीवों की हस्ती मनुष्यों के बीच में है; क्योंकि मानव बुद्धि कब, किसमें ईश्वरी सत्ता का अनुभव कर लेगी इसे कोई बता नहीं सकता।

---

[24] "Before he was born, his mother lying in the dark saw a black serpent crawling about by her side, and so gave her little son the name Pars'va All his life Parsvanath was connected with snakes, for when he was grown up he was once able to rescue a serpent from grave danger" The Heart of Jainism, p. 48.

[25] The Heart of Jainism, p. 49. "To this day the Saint's symbol is a hooded serpent's head"

प्रकृतसिद्ध सनातन विश्वासों मे भी अविश्वास करने वालों के लिए तार्किक ईश्वरवादियों ने ईश्वर को सिद्ध करने के हेतु तरह तरह से उपस्थित किए हैं, जिनका वर्णन थोड़े में नहीं किया जा सकता। कान्ट ने ऐसे प्रमाणों को तीन श्रेणियों मे रक्खा है, अन्य जर्मन दार्शनिक भी तीन ही श्रेणियाँ करते हैं—कार्यकारणभावमूलक, प्रत्ययमूलक और प्रयोजनमूलक[२६]। कार्यकारणभावमूलक प्रमाण मानते हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, संसार कार्य है, उसका भी कोई कारण होगा; किन्तु कोई संसारगत उपादान अपने आप से यह सारा विश्व नहीं रच सकता, अतः कोई बहिः संसार पदार्थ (extra-cosmic entity) मानना पड़ेगा; वह ईश्वर है[२७]। प्रत्ययमूलक प्रमाण मनस्तात्विक भावों पर अवलम्बित हैं, जिसके अनुसार जिसकी स्थिति नहीं उसकी धारणा नहीं की जा सकती। सभी पूर्णता, असीमता और अलौकिक गुणों की ओर दौड़ते हैं; क्योंकि संसार के दृश्य अपूर्ण और

---

[२६] Cosmological, Ontological and Teleological

E S Brightman The Problem of God, p 147 "For example, the famous histor cal proofs of God are the ontological, the cosmological and the teleological"

[२७] A. I Tillyard The Manuscripts of God, p 158 "We see an object. How did it come to be? The invariable and instinctive answer is, 'Some one made it. In the Royal Museum at Dublin there are certain objects of pure gold. No one knows who made them, nor how they are made, nor what they were made for, yet every body believes they are made So when we see the world and all the objects in it, we say instinctively, some one made both it and them"

सीमाबद्ध है। इस कारण कोई अनन्त शक्ति है, जिससे इष्ट गुण प्राप्त हो सकते हैं। फिर जो कुछ भी बुद्धि-ग्राह्य है उसका सत् स्वरूप कोई है, वही ईश्वर है। प्रयोजनमूलक प्रमाण आचारात्मक विचारों पर निर्भर करते हैं। मनुष्य में सत्-असत् के निश्चित भाव विद्यमान हैं और वह अपने कर्त्तव्य का ध्यान हर दशा में रखता है। यह भाव नहीं होता, यदि वह किसी के सामने उत्तरदायी नहीं रहता। इस कारण जिस शक्ति के सामने मनुष्य उत्तरदायी है वही शक्ति ईश्वर है। लेकिन ये प्रमाण-श्रेणियाँ पर्य्याप्त नहीं हैं,[२८] क्योंकि सभी भारतीय प्रमाण इनके भीतर नहीं आ सकते। यूरोपीय दर्शन के विचार आ सकते हैं, क्योंकि वह उतना विस्तृत नहीं जितना भारतीय दर्शन। भारतीय दर्शन के भीतर उपर्युक्त प्रमाणों के विरोधात्मक प्रबल तर्क विद्यमान हैं, यथा—'जगतसकर्तृकम् कार्यत्वात्' और 'स्वार्थकारुण्याभ्यां सर्वं कार्यं व्याप्तम्' उक्तियों से प्रथम तथा तृतीय श्रेणियों के प्रमाण के विरोध किए जा सकते हैं। द्वितीय श्रेणी के प्रमाण भारतीय वेदान्त से मेल

---

[28] कुछ ऐसी ही राय प्रकट करते हुए E. J. Brightman महोदय ने अपनी पुस्तक The Problem of God में छः प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है पृ० १४८ में वह लिखते हैं—"The chief evidence for God, as I see it, may well be summarized under six heads: the evidence of the rationality of the universe, the evidence of the emergence of novelties, the evidence of the nature of personality, the evidence of values, the evidence of religious experience, and the evidence of systematic coherence. I do not present them as finalities but simply as the best conceptions I have been able to find."

रखने के कारण तर्क-जाल से प्रभावित नहीं जान पड़ते; तो भी वे पर्याप्त नहीं हैं।

भारतीय ईश्वरवादियों के सिद्धान्त विकासात्मक होते गए हैं और वे सर्वदा अनीश्वरवादियों के तर्कों का समाधान प्रमाण द्वारा करते आगे बढ़े हैं। इस कारण भारत के प्रत्येक ईश्वरवाद-युग में बड़े सुन्दर सुन्दर प्रमाण देकर ईश्वरवाद को ज़ोरदार व विश्वासयोग्य बनाने की चेष्टा की गई है। भारतीय दार्शनिकों के विचारों में जितनी विभिन्नता है उतनी ही दुरूहता भी, इस कारण उनकी प्रमाण-शैलियाँ भी बेतरह उलझी हुई हैं और किसी भी सिद्धान्त के स्पष्ट ज्ञान के लिये उसके प्रमाण-रूप को आरम्भ में ही ठीक ठीक जान लेना जिज्ञासु के लिए अनिवार्य है।

साधारणतया भारतीय दर्शन में प्रमाण ८ हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, असम्भव, अनुपलब्धि, ऐतिह्य। इनके भेदोपभेद भी कई हैं। सांख्यदर्शन ने केवल प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द को स्वीकार किया है[२६], नैयायिकों ने प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-शब्दको चार प्रमाण, और मीमांसकों

---

[२६] "दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" ईश्वरकृष्णः—सांख्यकारिका–४

"He admitted three such sources : (1) The perceptions of outward things gained from the senses; (2) the logical faculty or reason of man, by which inferences may be drawn from that which is directly known to other truths which are enfolded in this knowledge, but are not perceptible in themselves; (3) valid testimony" J. Davies : Hindu Philosophy, p 103

ने छः प्रमाण माने हैं, किन्तु इनमें भी सांख्य के तीन कथित प्रमाणों का प्राधान्य है।[20] वास्तव में उपमान व ऐतिह्य, शब्द के और अर्थपत्ति-असम्भव-अनुपलब्धि, अनुमान के अन्तर्गत आ जाते हैं। चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष पर तर्क किया है और बौद्धों ने प्रत्यक्ष व अनुमान का आश्रय लिया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण निश्चय ही प्रथम कोटि का प्रमाण है और वह प्रामाणिक होता है; पर संसार में आज सभ्यता का वैज्ञानिक विकास अत्यधिक होने के कारण प्रत्यक्ष को भी सहसा यथार्थ स्वीकार कर लेना बहुत कठिन है। ऐसे भी हाथ की सफाई आँखों के सामने दिखानेवाले जरूर ही हैं जो ठीकरे को रुपया बना देते या कोई सिद्ध सिर से मिठाइयाँ बरसा देता है, पर उसे प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार कर ठीकरे का रुपया बन जाने या सिर से मिठाइयाँ पैदा होने का यथार्थ ज्ञान नहीं माना जा सकता।[21] अनुमान दूसरे दर्जे का प्रमाण है, इसके जरिए एक घटना को देख कर दूसरी घटना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, पर अनुमान-जनित ज्ञान को भी यथार्थ ग्रहण कर लेना भय से खाली नहीं है, यदि व्याप्ति ध्यानान्तर्गत नहीं रहे। दुनिया की चीजें इतनी भिन्नताओं की हैं कि एक मनुष्य सबों के सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान अनुमान द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता, मनुष्य की अनुमानशक्ति सीमाबद्ध है, वह अन्तिम दौड़ान नहीं भर सकती। अतः व्याप्ति पर स्मरण रखना सर्वदा अत्यावश्यक है, जिसके अभाव में अयथार्थत्व यथार्थत्व के रूप में विदित होने लगता है। शब्द-प्रमाण तीसरी श्रेणी का

---

[20] "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" न्यायदर्शन् १-१-३

[21] पाण्डेय रामावतार शर्मा—पाखण्डपोल, "व्याहत व अव्याहत लोग" । पृ० ५-१२

प्रभावशाली प्रमाण है, भारतीय ही नहीं मनुष्य मात्र पर इसकी छाप बहुत जल्द बैठ जाती है। इसी कारण हम संसार में उन धर्मप्रेमियों की संख्या अत्यधिक पाते हैं जो किताबिया बने किसी ग्रन्थविशेष के शब्दों को सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं तोभी यथार्थ ज्ञान के लिए यह जानना जरूरी है कि कैसे शब्द यथार्थता के प्रमाण हो सकते हैं, क्योंकि शब्दों में विषम शब्दों का मिश्रण लोभ-मोहादि-दुर्गुणों के कारण सम्भव है। विश्वास-योग्य शब्द ही इसके लायक हैं, विश्वास-योग्य शब्द वे कहलाते हैं जो बिना किसी गुप्त सरोकार या द्वेषभाव या लोभ-बुद्धि के ठीक ठीक सत्य रूप में प्रकट किए जायं। ऐसा नहीं होने से छलनेवाले इस कोटि के प्रमाण से भोले लोगों की आँखों में धूल झोंक कर उन्हें बुद्धू बना सकेंगे,—बनाया भी करते हैं। जैसे भूत के नाम पर मौज करनेवाले भूत-प्रेत नहीं माननेवालों से सभी तरह हार जानेपर झट कह बैठते हैं कि उनने अपनी आँखों अमुक नदी के तट पर पीपल वृक्षके पास श्वेत वस्त्र पहने खड़ा भूत देखा है, यह झूठ नहीं हो सकता; इस पर भी विश्वास नहीं होने से वे प्रतिष्ठा सम्पन्न व्यक्तियों से पुछवा दे सकते हैं।

अतः उपर्युक्त तीन प्रमाण, प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द द्वारा यथार्थ ज्ञान ग्रहण करने में अनुभव, बुद्धि और तर्क के प्रयोग की आवश्यकता है। इसी से सांख्य में 'अतिदूरात् सामीप्यात्' 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः' आदि वचनों द्वारा तत्त्वनिर्णय का विवेकमय मार्ग दर्शाया गया है।[२२] आज

---

[२२] ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका—

"अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्

की वस्तुवादी दुनिया स्वार्थ-लोभ-मोह के वश विशेष प्रपञ्च में मोद मानती है और विज्ञान की सहायता से लोगों को छलने के यत्न प्रपञ्चियों द्वारा किये जाते हैं। इस कारण साफ शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी सिद्धान्त को मानने में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, तर्क और अनुभव का सहारा लेना चाहिये। प्राचीन काल के पक्षवादी तार्किकों के मतों का खण्डन भी इसी कारण तत्त्वज्ञान से करने की चेष्टा ऋषियों द्वारा की गयी है। षड्दर्शन-काल में ईश्वरवाद पर तरह-तरह के विचार उपस्थित हो गये हैं, विरोधी रायें भी थीं: इस हेतु दर्शनों में तत्त्वज्ञान प्रधान मान कर यथार्थत्व को जानने का मार्ग प्रदर्शित किया गया। इस लक्ष्य से अनजान हेतुवादी सहसा दर्शनों में ईश्वरवाद का अभाव चिल्ला उठते हैं; पर सत्यता इससे कोसों दूर है।

ईश्वरवाद के सूक्ष्मतम विचार षड्दर्शनों में युगधर्मानुकूल प्रदर्शित किए गए हैं, उनकी शैली मनुष्य की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर विचार वाले गंभीर गवेषणामय तर्क की है। मोटी बुद्धि षड्दर्शनों के रहस्य का पता नहीं पा सकती। यह भी बात है कि दर्शनों में जो विचार हमें मिलते हैं वे किसी एक काल के चिन्तन न होकर बिखरे भावों के संग्रह-स्वरूप हैं।[33]

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धिः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥८॥

[33] "The Sutras or aphorisms which we possess of six systems of philosophy, each distinct from the ..., can not possibly claim to represent the very first ... at a systematic treatment; they are rather the last summing up of what had been growing up during many generations of isolated thirkers." The Six Systems of Indian Philosophy, p. 98.

कितने कालतक ये विचार समाज में चलते रहे यह उनसे पता नहीं लगाया जा सकता न विद्यमान ग्रन्थों से उनके संग्रह-प्रचार-काल का ही निश्चित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इतना जरूर है कि न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग और वेदान्त के रचयिता विद्वानों को ईश्वरवाद पर पहुँचने की गूढ़तम गवेषणा के रूप में अपने युग के लोगों के सामने मानवजीवन का लक्ष्य अपने दर्शनों में समुपस्थित करना पड़ा।

षड्दर्शनों का लक्ष्य है मनुष्य को तत्त्वचिन्तन के उचित मार्गपर लाकर सच्चे सुख की प्राप्ति का साधन बतलाना, क्योंकि उसी साधन के अपनाने से सांसारिक दुःख का नाश हो जाता है। मानवजीवन का लक्ष्य भी यही है, अर्थात् मनुष्य मात्र वैसी वृद्धि की लालसा रखता है जिस वृद्धि से उसे शान्ति व सुख ही मिले, दुःखमय जीवन नहीं होने पावे। और इसी लक्ष्य के पीछे मनुष्य सुखपुञ्ज ईश्वर की धारणा कर दुःखभरे मृत्यु-भुवन से मुक्त होने की लालसा रखता आया है।[३४] मनुष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति भावनाएँ भी यही हैं, जिनका आरम्भ वैदिक काल से ही पाया जाता है। भोग की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, पर वही दुःखदायी है; इसी से निवृत्ति महाफलदायिनी मानी जाती है। परन्तु निवृत्ति

---

[३४] Rees Griffiths God in Idea and Experience, p. 56—"Not satisfied with the circumscribed life which Nature imposed on him, he argued his way to the belief that behind nature there must be a spiritual world of invisible realities where both he and his world were to find their completion and fulfilment The idea of God was an achievement of the reflective reason under the pressure of practical necessity"

कैसे हो सकती है ? यही विषय है षड्दर्शनों का, गीता का। गौतम, कपिल, कणाद, जैमिनि, पतञ्जलि, व्यास और कृष्ण ब्रह्मवाद-प्रचार के अनन्तर गंभीर रूप में निवृत्ति-भाव पर ही चिन्तन करते हैं। दार्शनिक मीमांसा से पृथक् साफ शब्दों में हम यह जानते हैं कि जब तक मनुष्य गुणावगुण से पूर्णतः परिचित नहीं हो लेता तबतक दुःखद पदार्थों का परित्याग नहीं करना चाहता। षड्दर्शन यही सोच कर सांसारिक पदार्थों के तत्व को पहचानने पर जोर देते हैं और तत्वज्ञान द्वारा दुःखनाश को सम्भव बतलाते हैं, दुःखनाश करने पर ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। सीधा सादा ईश्वरवादी अपने ईश्वर को यही सच्चा पूर्ण अक्षर सुख मानता है। उसी लक्ष्य पर गीता में भी सारे तत्वों में ईश्वर को व्याप्त जानते हुए निष्काम कर्म करने की शिक्षा दी जाती है। कालान्तर में भगवान् बुद्ध उसी काम को जीत कर सत्यानन्द का अनुभव करते हैं। पर यह तत्वज्ञान किस तरह हो सकता है इसे समझाने का भार दर्शनों ने अपने जिम्मे लिया, इस हेतु उनका अन्तिम लक्ष्य ईश्वरवाद को ही दृढ़ करने वाला मानना चाहिए।

कभी कभी इस लक्ष्य के विपरीत यह राय प्रकट कर दी जाती है कि प्रत्येक दर्शन की भित्ति दुःखवाद है और वेदान्त को छोड़ और दर्शनों में बताई दुःखनाश-प्रणाली के साथ ईश्वर का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता है।[२८]

---

२८. "প্রত্যেক দর্শনেরই ভিত্তি—দুঃখবাদ" ।—৮ পৃঃ "দর্শন শাস্ত্রের আলোচনা করিলে আমরা দেখিতে পাই যে, এক উত্তরমীমাংসা ও বেদান্ত দর্শন ভিন্ন, অন্যান্য দর্শনের উদ্ভাবিত দুঃখনাশের প্রণালীর সহিত ঈশ্বরের সম্পর্ক বড় ঘনিষ্ঠ নহে।"—৮ পৃঃ (গীতায় ঈশ্বরবাদ)

पर यह कथन इस ढंग से सत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिस प्रकार बाह्य रूप से संसार में दुःख प्रधान और आनन्द गौण है, उसी प्रकार दर्शन में दुःख के स्वरूप व नाश का उपाय-चिन्तन प्रधान और उसके अनन्तर प्रकट होने वाले सुख का स्वरूप गौण है; लेकिन भित्ति मानव-जीवन के लक्ष्य की पूर्ति ईश्वरप्राप्ति है। दर्शनों की भित्ति दुःखवाद होने की कल्पना यूरोपीय विद्वानों द्वारा की गई है,[२६] जिसका कारण अधिकांश में भारतीय चिन्तन-शैली के तारतम्य पर भारतीय दृष्टिकोण से ध्यान नहीं देना कहा जा सकता है। निस्सन्देह षड्दर्शन ईश्वरवाद के पोषक हैं और उनके सूत्र अनुपम चिन्तन के परिचायक हैं; दर्शनों की तुलनात्मक विशद विवेचना का यही निष्कर्ष हो सकता है। न्यायदर्शन का एक भी सूत्र ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि अपवर्ग-स्वरूप ईश्वर की सिद्धि करते कहता है—"दुःखजन्मप्रवृत्ति-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।"[२७] उस में मिथ्याज्ञान दुःख का कारण बताया गया है, मिथ्याज्ञान के नाश के लिये तत्त्वज्ञान जरूरी है और तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश हो जाने पर अपवर्ग की प्राप्ति होती है, वह अपवर्ग अनुपमेय व अलौकिक ईश्वर के अलावे और कुछ नहीं। इसी

---

[26] "The aim of all Indian philosophy was the removal of suffering which was caused by nescience The principal systems of philosophy in India start from the conviction that the world is full of suffering and that this suffering should be accounted for and removed" Max Muller The Six Systems of Indian Philosophy, p 140

[२७] न्यायसूत्र १-१-२

प्रकार वैशेषिक दर्शन तत्त्वज्ञान से दुःख - निवृत्ति के बाद निःश्रेयस-स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग बतलाते कहता है— "धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।"[२८] आगे पदार्थों का स्वरूप समझाया गया है। वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों में ईश्वर का नाम नहीं आना[२९] ठीक ही है, क्योंकि उन पदार्थों में यहाँ ईश्वर का नाम होना अनुचित होगा जब सूत्र के अनुकूल वह इन पदार्थों के साधर्म्य व वैधर्म्य के ज्ञान के बाद प्रकट होता है।[३०] पूर्वमीमांसा वैदिक कर्म्मकाण्ड की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है, पर इस सम्बन्ध में यज्ञरूप ईश्वर का जो भाव याज्ञिकों का था वह बाद में रखना चाहिए; क्योंकि ईश्वरवाद के पुरातन विकास में कर्मरूप ईश्वर की भावना, कर्मशील मनस्वियों द्वारा विश्व की कर्मशीलता के निश्चल नियम पर की गई थी। इस कर्मरूप ईश्वरलिंग का संकेत वशेषिक दर्शन में भी है—"संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्", जिस पर शङ्कर मिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कार में अपना ऐसा ही मत दर्शाया है।[३१] "स्वर्गकामो यजते" की

---

[२८] वैशेषिक दर्शन १-१-४

[२९] "সপ্ত পদার্থ—ঈশ্বর তাহার অন্তর্গত নহেন।" গীতায় ঈশ্বরবাদ —পৃঃ ২০

[৩০]. "বৈশেষিক বলেন যে, দ্রব্য, গুণ, কর্ম্ম, সামান্য, বিশেষ ও সমবায়, এই ছয় পদার্থের সাধর্ম্য ও বৈধর্ম্য জ্ঞানজনিত তত্ত্বজ্ঞান"। গীতায় ঈশ্বরবাদ —P. 15

[३१] वैशेषिकदर्शन २-१-१८; शङ्करमिश्र-कृत—वैशेषिक सूत्रोपस्कार २-१-१८,१९

विधि में जिस स्वर्ग का प्रलोभन है, वह ईश्वरत्व का ही अमरत्व है। न्यायदर्शन पूर्वमीमांसा के कर्मफल द्वारा प्राप्य इष्ट को साफ शब्दों में ईश्वर बता कर भी मीमांसकों का ईश्वरवादित्व प्रमाणित कर डालता है—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।"[४२] कालान्तर मे निष्काम कर्म्म की शिक्षा देते गीता में कृष्ण कर्म्म को पुनः ईश्वर के साथ सम्बद्ध कर कर्म्मयोग की जरूरत सिद्ध कर डालते हैं। सांख्य दर्शन भी मुक्तिरूप ईश्वरप्राप्ति का साधन ज्ञान को मानता है—"ज्ञानान्मुक्तिः" और ज्ञान विषय सम्बन्ध मे अन्य दर्शनों के समान सभी पदार्थों को प्रकृति-पुरुष शब्दों के भीतर रखकर कहता है—"तत्त्र (कैवल्यं) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबंधनम्।"[४३] ज्ञान का प्रयोजन बतलाने का कारण सांख्यकार को उन ज्ञानियों के लिए हुआ जो ईश्वर को प्रमाण से सिद्ध देखना चाहते थे, पर मनस्वी सांख्यविद् ने कहा कि ज्ञान को ही आधार मान लो, उसीसे मुक्तदशा में ईश्वर को देखोगे अमुक्त दशा में प्रवृत्ति-लीन तुम उस अनुपम अप्रमेय ईश्वर को उपमा-रूपक आदि से नहीं जान सकते। पतंजलि ने[४४] ईश्वर का लक्षण ही दिया है—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" आगे वह योग द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध से निवृत्ति-प्राप्ति की शिक्षा देते हैं। व्यास-प्रणीत वेदान्त तो ईश्वर को

---

[४२] न्यायदर्शनम् ४-१-१९, जिसके भाष्य में वात्सायन ने लिखा है—"पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति।" [४३] सांख्यसूत्र ३-२३; वाचस्पति मिश्र—सांख्य तत्त्वकौमुदी ३१ [४४] पातंजल-दर्शन १-२४, २५, २६

मनुष्य के पास बिठा 'सोऽहं' कह कर हेतुवादियों को मौन कर देता है। इस तरह दर्शनों में ईश्वरवाद के मनन-योग्य विचार तार्किकों के भ्रमपूर्ण चिन्तन के उत्तर-रूप में प्रकट किए गए हैं।

दर्शनों में अद्भुत तत्त्वज्ञान और कर्मयोग के सोपान पर पहुँचने के पहले चिन्तकों को कितना अनुभव करना पड़ा, इसका अन्दाजा सहज में नहीं लगाया जा सकता। संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि समाज और प्रकृति की विचित्रताओं के भिन्न-भिन्न स्वरूप के अनुभव के अनन्तर आर्य-दार्शनिक उक्त स्थिति पर पहुँचे। आरम्भ से जो चिन्तन-क्रम चला, वही बराबर जारी रहा और उसी शृंखला में अनेक तरह से विचार होते रहे। ऋषियों ने संसार में मानव-स्थिति देखी, प्रकृति की लीलाओं पर उनने मनन किया और वे अत्यारम्भ से सोचने लगे कि सभी आते और चले जाते हैं, पर यह आना कहाँ से और जाना कहाँ को होता है। 'कोऽयं' और 'कुतः' की शंकाओं ने उन्हें दार्शनिक मनन की ओर आकर्षित ही नहीं लीन भी कर दिया[४५]। किसी ने जल से, किसी ने अग्नि से, किसी ने आकाश से और किसी ने असत् से सारी सृष्टि का विकास समझा। आगे सभी एक जगह जमा हुए और ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति, विश्वकर्मा, पुरुष और अनिर्वचनीय सत् के बाद एक भूतात्मा के पास पहुँचे; उसी एक से सारे विश्व का प्रादुर्भाव

[४५] "Reason is the power and the only power by which the meaning of the divine will is ascertained and formulated". The Idea of God, p. 12.

और पुनः उसी एक में सब का निलय जाना गया, उस एक के नाम के सम्बन्ध में पुनः कहा गया—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"[४६]। पर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' का अनुरागी मानव-मस्तिष्क वहीं ठहर नहीं गया, 'नेति' की पताका लिए 'कोऽयं-सिद्धि' को वह आगे बढ़ता ही गया और उसे सोऽहं, तत्त्वमसि, देवता, ईसा, अल्लाह, मज्दाह, बुद्ध, राम, कृष्ण, आदि से साक्षात् हुआ; तथापि उसे शान्ति नहीं मिली[४७]। आज भी वह तर्क, जिसने दार्शनिकों को इतना आगे बढ़ाया है, जारी है और कोई भी धर्म्मग्रन्थ यह नहीं बता सकता कि यह कहाँ जाकर ठहरेगा। लेकिन सन्तोष है कि मनुष्य का प्यासा हृदय भी अपने अज्ञात लक्ष्य को 'ईश्वर' कहकर प्रेम से उसे चाहता है और वही चाहना उसे तृप्ति देता है, जन्म से मरण तक मनुष्य जिस प्रकाश व चेतना का अवलम्बन कर तत्परता, आशा व शक्ति से कार्य-पथ पर अग्रसर होता जाता है वह प्रति पल उसे अपने शक्तिमान्

---

[४६] ऋग्वेद १०-७२-२ "ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्"; १०-८१ "वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम; १०-९०-२ "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्य"; १०-१२९-४ "सतो बंधुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"; १-१६४-६ "वियस्तस्तंभ षळिमा रजांस्याजस्य रूपे किमपि स्विदेकं"; १-१६४-४६

[47] "The process of enquiry, the very attempt to know, like the process of doing or trying to do what is right, is itself achievement, altogether apart from what comes afterwards." Sir Henry Jones : A Faith that enquires. pp 10 11.

ईश्वर से ही प्राप्त होता है।[४८] अतः यह ईश्वरवाद मनुष्यों की प्यारी सम्पत्ति है, जिस पर उनका अधिकार सनातन से चला आ रहा है। इसका सम्बन्ध त्रिलोक से है और यह सर्वभूतान्तरात्मा है; इस कारण इस मंजुल संतापहारी ईश्वर-वाद का प्रिय विवेचन सर्वदा ही शान्तिदायी ज्ञान है, जो कभी कायर, कुटिल या कामचोर नहीं बनाता।

मनुष्य-समाज में एक तरह के लोग नहीं हैं। उनमें कोई इयगो (Iago) के समान दूसरों का सुख नहीं सहन कर सकनेवाला, कोई बुद्ध के समान परदुःख से काँप उठनेवाला, कोई शैतान के सदृश देवत्व को मिटा कर अपनी नयी दुनिया कायम करने की इच्छा रखनेवाला, कोई ईसा सदृश क्षमाशील, कोई कंसके समान स्वार्थान्ध, कोई राम के समान समाजादर्श और कोई रावण के समान अत्याचारी है। धन-वैभव-दीनता-शोक के अलग अलग दृश्य हैं, जिनसे प्रभावित मनुष्य के चरित्र असंख्य प्रकार के हैं। ईश्वर का चिन्तन भी तदनुकूल ही हो सकता है, क्योंकि ईश्वर तो किसी विशेष व्यक्ति का धन न होकर सार्वभौम है। तो भी चिन्तन में अपनी रुचियों के अनुकूल मनुष्य तरह तरह की कल्पनाएँ ईश्वर के सम्बन्ध में किया करते हैं। कोई उसे बुरा कहता, कोई भला समझता, कोई अन्यायी मानता, कोई सगुण जानता और कोई प्रेममय बतलाता है। पर वास्तव में

---

४८ A Kuyper · To be near unto God, p 520—"Our conciousness is not our handiwork Our becoming concious is not our deed, But all conciousness in us is a working, quickened in us by God, and from moment to moment it is maintained in us by God'

ये भेद रुचि-वैचित्र्य के कारण हैं और इससे भ्रम भी उपस्थित होता है। नहीं तो ध्यान देने से ईश्वर-सम्बन्धी सभी भावनाओं में ऐक्यसूत्र सर्वदा विद्यमान मिलेगा, बल्कि संसार के वस्तु-मात्र की कार्यप्रणाली, जो ईश्वरीय सत्ता द्वारा संचालित है, आन्तरिक समानता रखती है[४९]। इसी कारण ऐतिहासिक एक काल या एक देश की घटना को दूसरे काल या दूसरे देश में रूपान्तर मात्र बतलाते हैं। भारतीय ईश्वरवाद के वैदिक काल से आधुनिक काल तक के स्वरूप पर भी विचार करने से यही प्रमाणित होता है।

भारतीय ईश्वरवाद के विकास के पाँच मुख्य[५०] सोपान हैं – वैदिक उपासना का 'अग्निमीले', ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित धार्मिक क्रियाओं का 'अस्माभिः कृतानि दैवतानि', तत्त्व-ज्ञान की ओर गंभीर गवेषणा का 'ईश्वरासिद्धेः', लोकायत-मत का अनिश्चायक 'स्वचिदन्यतोऽपि' और वेदान्त ज्ञान का 'सोऽहं' विकासवाद में इन्हीं सिद्धान्तों की विशेषता है, अन्य सिद्धान्त इन्हीं के भेदोपभेद रूप में प्रकट हुए हैं। इस विकास-क्रम के युग-चक्र में तीन अवस्थाएँ घटित हुईं—पुष्पित, परिवर्त्तित, प्रवाहित। विशद वर्णन से ज्ञात होगा कि युग-चक्र में कोई विचार तो संहिता-समय से आधुनिक काल तक एक क्रम में पुष्पित होता आया, कोई विचार अन्त-

---

[४९] "The whole universe is a single process; and, if ... at the heart of that process, ... nd which in truth it is, is ... e God of religion." A Faith

[५०] इस विभाग का आधार–Gita: In Theory and Practice, by Dr. A. Banerji, Sastri—The Hindustan Review, April-1935, p.659

भाव की रक्षा करता हुआ बाह्यरूप में परिवर्तित होकर समाज में कायम रह सका और कोई विचार युगधर्म के मुताबिक लुप्त व प्रकट होता रहा। इस तरह सोऽहं तक चिन्तन जारी रहकर अन्त की चरम सीमा पर आसीन हुआ इनके साथ प्रत्येक दशा में लोकायत-मत की भी विशेषता बनी रही। लोकायत-मत वे गये हैं जो समाज के तिरस्कृत निर्बल, असभ्य और असम्मानित लोगों के हृदय में छिपे रहती हैं और अवसर पा पा कर सभ्य-सम्मानितों के सम्मतियों से मेल खा जाया करती हैं। इनके बने रहने का कारण, यही है समाज में सभी समान बुद्धि-विद्या-पौरुष-धन के, नहीं हो सकते; सृष्टि की यही विचित्रता है। तथापि कमजोर या निर्धन के भी विचार जरूर ही होते हैं, वे भी अपने ईश्वर की उपासना करते हैं; वे यह भी चाहते हैं कि बल-धन-विद्या पर उनका भी अधिकार हो और उनकी यह इच्छा कभी बल पाकर पूरी भी हो जाती है। तब उनके भी विचार पूर्व के सिद्धान्त-साँचों में ढल कर चलनसार सिक्कों का रूप धारण कर लेते हैं।

प्राचीन नास्तिक, संशयवादी, ब्रह्मवादी आदि इस सिलसिले में पैदा होकर ईश्वरवाद के चिन्तन में सहायक होते रहे हैं। कुछ लोग उन्हें निरीश्वरवादी कहा करते हैं जो किसी प्रकार सत्य प्रतीत नहीं होता। भारत के प्राचीन नास्तिकों का इतिहास अपने में तत्कालीन युगधर्म की लोकेच्छा को निहित रखता है, उसपर विचार करने से ज्ञात होगा कि वे आप ईश्वरवादी होते भी दूसरे ईश्वरवादियों के विरोधी थे, उन्हें कोई अन्य ईश्वरवाद-स्वरूप पसन्द न था, अतः उसकी भूलें दिखाना उन्हें उचित जँचा

जिस अर्थ में ईश्वर का साधारणतया प्रयोग होता है वह ईश्वर प्राचीनतम काल से सोचा जा रहा है, उस सोच की भिन्न भिन्न शैलियों के विरोधी भी हुए हैं; लेकिन चिन्तन का तारतम्य आजतक एक रहा है, कभी सबल—कभी निर्बल। यह जरूर है कि युगधर्मानुकूल ईश्वर के नाम रूप में अन्तर आया है। संहिता के मंत्र, संहिता-मंत्रों की आख्यायिकायें, ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव, उपवेदों की रचना, उपनिषदों के ज्ञान और दर्शनों के चिन्तन, जैनमत, बौद्धमत, देवतावाद, भक्तिवाद आदि विचार-भिन्नता के कारण ही भिन्न भिन्न काल में प्रादुर्भूत हुए। उनमें ईश्वर-सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार विद्यमान हैं। यह भी पाया जाता है कि जब जब वेद-मूलक विचारों का विरोध किया गया तभी वेदानुयायी दल "वेदाः प्रमाणम्" कह कर वैदिक तारतम्य की रक्षा को प्रस्तुत हुआ।

एक तारतम्य के पालन का ही भाव भारतीय सभ्यता का सनातन धर्म है, जिसका पृष्ठपोषण सनातन धर्म-ग्रन्थ किया करते हैं। सर्वमान्य है कि वेदमंत्रों के बाद के धर्म-ग्रन्थ रूप में भिन्नता रखते हुए भी वेदों का ही आश्रय लेकर स्वीकार करते हैं—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।" हम जानते हैं कि सुदूर उत्तरस्थित नगराज हिमालय पर कन्याकुमारी का भी अभिमान है, गंगा में बम्बईवासियों के लिए भी पवित्रता है, विष्णुपद हिन्दूमात्र का पूज्य स्थान है, और रामेश्वरम् हिमाच्छादित पार्वत्य-वासियों का भी तीर्थ है। शिलालेखों के धार्मिक विचार भी समाज की एकप्रियता की मनोवृत्ति के ही साक्षी हैं।[51] "यह भिन्नता के भीतर एक

[51] "This synthesis is also traceable in the inscriptions—

अभिन्न ऐश्वर्य का परिचायक है। इसीको ध्यान में रखते हुए आज के घोर पौराणिक युग में नागरी-साहित्य-गगन-मण्डल मार्तण्ड कविता-तामरस-तमारि तुलसीदास रामकथा-द्वारा ईश्वरावतार का अध्यारोप कर पग-पग पर वेदों का स्मरण करते गए और व्यक्त किया—

अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये विचार।
जो निंदत निंदत भयो, विदित बुद्ध अवतार॥

पर भारतीय आर्य्यधर्म्म में ईश्वर पर अत्युच्च विचार किए जाने पर भी चिन्तन का बाह्यस्वरूप भारी भिन्नता रखता है। सनातन धर्म्म वेदमूलक है, पर उसके धर्म्म-ग्रन्थ अपनी शैलियों में जरूर भेद प्रदर्शित करते हैं और यही बात अन्य धर्म्म के साथ भी है। इसका कारण स्पष्टतः रुचिवैचित्र्य-जनित युगधर्म्म है, उसीके अनुकूल समाज में ईश्वर का सनातन सर्वव्यापी स्वरूप बनता बिगड़ता रहता है। वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, तन्त्रग्रन्थ, बाइबल, कुरान, अविस्ता आदि की उत्पत्ति इसी कारण होती गई है। तोभी उनका भीतरी भाव एक ही है, जिस प्रकार वेदों के ओंकार, तांत्रिकों के हुंकार, वैष्णवों के रामकृष्ण, ईसाइयों के गॉड और मुसलमानों के खुदा के भीतरी भाव में तनिक भी भेद नहीं।

सनातनी ईश्वर का गुणानुवाद करते हैं, बुद्धानुयायी

Budhist, Jain, Brahmanas—culminating in Hinduism, cf Bhuvanesvar, inscrs beginning with a well known Budhist formula, breathing the Jain spirit and offering to the Brahmanic deities" Dr A Banerji, Sastri—Asura India, p. 111

भगवान् बुद्ध का आदेश पालते हैं, जैन तीर्थङ्करों की उपासना करते हैं, शैव प्रलयंकर शंकर को गाल बजा बजा कर रिझाते हैं, वैष्णव रामरटन कर परम पद पाते हैं, शाक्त शक्ति पर वलि चढ़ा देवी की प्रसन्नता चाहते हैं, पार्सी भुवन-भास्कर की अनोखी ज्योति के अनुभव में मस्त रहते हैं, मुसलमान रोज़ा, नमाज़ द्वारा मिहरबान खुदा को खुश करते हैं, ईसाई खिष्टदेव में विश्वास कर स्वर्गप्राप्ति सोचते हैं, निरक्षर चंडीचामुण्डादि की सेवा में मग्न रहते हैं, और 'ईश्वर नहीं है' कहने वालों के द्वारा भी ईश्वर-तर्क पर प्रकाश पड़ा करता है। एवंप्रकार सांसारिक ईश्वर किसी न किसी रूप में संसार का चिन्त्य पदार्थ दिखाई देता है और ईश्वर का मान भी लोगों के हृदय-देश में स्थापित मिलता है। कृष्ण ने भी कहा है--[५२] "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" लेकिन यह किसी को निश्चय रूप से मालूम नहीं कि कब से उसकी चिन्तना शुरू है। सम्भवतः इसी हेतु इस सत्य को मानवबुद्धि 'अनादि' 'अनन्त' नाम देकर व्यक्त करती है। मानव-समाज सृष्टि के आरम्भ से उसे सोचता आया है, और सोचता जा रहा है; न कोई निश्चित ढंग सोचने का है, न रहा है। यदि हम ईश्वरवाद के युगान्तर-विचारों को ध्यान में लावें तो साफ मालूम होगा कि ईश्वर का चिन्तन, त्याग वा ग्रहण किसी एक प्रयोजन से सर्वदा होता रहा है, किन्तु मनुष्य की तर्क-शक्ति की योग्यता के अनुकूल ईश्वरवाद-स्वरूप में अन्तर पड़ता गया है। सभी देशों के धर्म्म का इतिहास इसे स्वीकार करेगा।[५३] वल्कि उनका तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को

[५२] भगवद्गीता १८-६१

[५३] "Moreover, the Scriptures themselves make no claim

उनके युगभेदों में भी ऐक्य मिलेगा और उससे सिद्ध होगा कि नए नए विचार पुराने विश्वासों के ही रूपान्तर हैं, जैसे जो सूर्य आज है वही वर्षों पहले भी था यद्यपि उसकी रश्मियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। एवं प्रकार ईश्वरवाद के इतिहासानुशीलन में मानव प्रकृति की एकता और बदलती परिस्थितियों का सुन्दर दृश्य है। अपनी अपनी रुचि के अनुकूल मनुष्य ईश्वर पर सोचता रहता है, ईश्वर चिन्तन इसीसे धीरे धीरे विकास को प्राप्त होता गया है और सारे धर्म उसी का मुँह जोहा करते हैं। उसी विकास शृङ्खला में मनुष्य भी जगली-दशा और मानसिक परवशता से मुक्त होता हुआ अपने में ही ईश्वर का स्वरूप देखने लगा है[54]। तोभी ईश्वर का चिन्तन जारी ही है, लोग खोज में लगे हुए हैं। सर्वव्यापी ईश्वरवाद है भी वैसा ही रहस्यमय, नहीं तो कवि को घबरा कर कदापि नहीं कहना पड़ता—"हम खुदाग्राही व हम दुनियाए दूँ, ईं ख्यालस्तो . मुहालस्तो जुनूँ ।" अर्थात् 'दुनिया और ईश्वर दोनों का ही इरादा सिवा पागलपन के और कुछ भी नहीं है।

---

richer experiences, and to further d sclosures of God for the meanings of life The Idea of God p 9'

54 "But man s knowledge of the God revealing Himself in him is not reached at once in a final and complete form, it is developed in a gradual advance of the conciousness from the worthlessness and slavery of our natural ex stence to the, truth and freedom of a sp rit at one with God This necessary process of self deliv erence from bondage to nature, of coming to ourself and becoming conscious of our divine nature, furnishes the proof of the truth of religion and its foundation in man s nature Otto Pfleiderer The Developement of Theology pp 73 74

दूसरा अंः

अग्निमीले

ऋग्वेद-संहिता के प्रथम सूक्त की पहली ऋचा अग्नि देवता की स्तुति में है—

अग्निमीले पुरोहितं
यज्ञस्य देवमृत्विजं
होतारं रत्नधातमं।

विदित होता है कि संहिता-संपादन-समय यह सूक्त बहुत विचार के बाद आरम्भ में रक्खा गया, क्योंकि इसकी ऋचाओं के अभिप्राय, ऋग्वेद-संहिता ही नहीं, चारों ही वेदों के सिद्धान्त की प्रस्तावना के समान हैं। संहिता के सारे विषयों का सूत्र अग्नि की इस स्तुति मे स्पष्ट रूप में पाया जाता है और (अग्निमीले) वाली १ली ऋचा के रहस्य को ही हृदयंगम कर लेने पर संहिता-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी क्लिष्ट कल्पना के लिए जगह नहीं रह जाती।

'अग्निमीले' कहकर जिस देवता की स्तुति आर्य्य-ऋषि ने की है उस विश्व-हितैषी अग्निदेव के कल्याणकारी भावों के अनुभव के निमित्त विश्वव्यापिनी अग्नि शक्ति का रूपक सर्वहितैषी-कर्मशील-कल्याणेच्छु पुरुष के साथ बाँधा गया है और यह शैली संहिता को इतना प्रिय है कि सभी देवताओं

था चिन्त्य विषयों का वर्णन इसी ढंग से रूपक भरे आख्यानों में किया गया है,[1] अग्नि के जनमने की तीन जगहें हैं,[2] अग्नि पैदा होते ही अपनी दोनों माताओं को खा जाती है,[3] 'सहसः सूनुः' अग्नि का पालन दश युवतियों ने किया[4], आदि वैदिक कथन भी रूपकों से ही भरे हैं। 'अरण्यो निहितो जातवेदाः' को ध्यान में रखते हुए इन पर विचार करने से इन रूपकों का यथोचित अर्थ निकल सकता है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार वरुण-इन्द्र-विष्णु-प्रभृति की स्तुतियों में रूपकोक्तियों का प्रयोग कर जो हृदयोद्गार प्रकट किए गए हैं वे वास्तव में अनुभव के जीवित चिह्न हैं और वे उन तीन प्रकार के भावों

---

1 "The hymns of the Rgveda being mainly invocations of the gods, their contents are largely mythological Special interest attaches to this mythology, because *it represents an earlier stage of thought than is to be found in any other literature*. It is sufficiently primitive to enable us to see clearly the process of personifications by which natural phenomena developed into gods', Macdonell: History of Sanskrit Literature, p 67.

2 "Agni has three births or birthplaces. in the sky he glows as the fire of the Sun, on the earth he is brought-forth by mortals out of the two pieces of tinder wood, and as the Lightning he is born in the water" Winternitz: Indian Literature, p 90

3 ऋग्वेद १०-७९-४ "सद्यामृतं रोदसी प्र मवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।"

4 ऋग्वेद १-१४०-२ "दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रं।"

से सर्वत्र ओतप्रोत है जो विचाराधीन अग्नि-सम्बन्धी सूक्त, में समझाने की चेष्टा ऋषि ने की है।

अग्नि की स्तुति, इस सूक्त में सनातन-पद्धति के अनुकूल की गई–'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो' और उसी पुरातन-मार्ग पर 'नूतनैरुत' नवीन विचारों के साथ तत्त्व-चिन्तन-रत ऋषि विश्वव्यापिनी प्राकृतिक शक्ति के ध्यान में अग्रसर हुए। यह स्तुति न कोरी भक्ति-भावना थी न अंधविश्वास-जनित याज्ञिक उपचार, यह एक स्वाभाविक चैतन्य का अनुपम अनुभव था[५]। जिसके सहारे प्रकृति-सौन्दर्य्य की गोद में शान्तिमय सुखों की अभिलाषा रखनेवाले आर्य्यऋषियों ने अपने पवित्र व्यावहारिक जीवन को विश्वात्मा के साथ संयुक्त करने का यत्न किया और उनने बाह्य जगत की परख करते हुए उसकी आन्तरिक सत्ता में आत्म-स्वरूप के अनुभव को प्रधानता दी: अतः उनने स्तुति व यज्ञ द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के प्राण-स्वरूप देवताओं का पार्श्ववर्त्ती बनने के लिए अग्नि को अपना दूत[६] बनाया, 'स इद्देवेषु गच्छति' कह कर

[५] "God expresses and eternally realizes himself in the world process; that process is his working, the revelation of his nature, his nature being so to work". Sir Henry Jones: A Faith that enquires, p. 289.

[६] ऋग्वेद १-१२-१ "अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं।"; ७-१६-१ "प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्।"

Oswald Murray: The Spiritual Universe, p. 150 "As all relations with the world external to us have to function through the outer vehicle of the finite-self, or its organism in these conditions the conciousness of our inner self has to function through the outer personal degree, while in man's

उसे अन्य देवताओं के पास भेजा और उन्हें साथ लाने के लिए आग्रह किया—

अग्निर्होता कविक्रतुः
सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरा गमत् ।

भिन्न भिन्न प्राकृतिक देवताओं के स्वरूप को समझने की आकांक्षा उनके हृदय में स्वभावतः पैदा हुई। अग्नि के सामीप्य से उनने अग्नि के लोकत्रय व्यापक ओज का अनुभव किया था, उसी प्रकार मूर्त्तमान संसार की विहँसती आभाओं ने उनका ध्यान अपनी ओर भी आकर्षित किया। निद्रा में पड़ा हुआ मनुष्य स्वप्न देखते देखते कभी हँसता है, कभी चौंक कर जाग पड़ता है; जिसका कारण प्रिय और भयानक दृश्यों का सुषुप्त चेतना के सामने आना है। उसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य में सायंकाल की लालिमा, निशाकाल के विहँसते सितारों के बीच में अठखेलियाँ करती चन्द्रज्योत्स्ना, उषाकाल में निरन्तर प्रवाहिनी धाराओं के कलकल नाद के साथ पक्षियों की मनहरण सुरीली तानें, सुदूर में पृथ्वीतल का चुम्बन करता हुआ अन्तरिक्ष और वर्षावसान पर लहराती वृक्षडालियाँ देखनेवालों के हृदय को पुलकायमान कर नवीन उत्साह से भर देती हैं और उस समय द्रष्टा का रोम-रोम हर्षोत्फुल्ल हो उठता है। पुनः भयानक घनघोर घटाओं की कम्पकारिणी गड़गड़ाहट, उमड़ते बादल दलों के बीच से पृथ्वी की ओर दौड़ पड़ती विद्युत्-शलाकाएँ, वज्रपात से पशुपक्षियों का प्राणनाश, पृथ्वीतल से सहस्रों को अचानक

---

form, in this outer world. Consequently man's experience begins in the field of this external wor...

उठा देने वाली महामरियाँ और हृदय-विदारिणी भूकम्प-घटनाएँ पृथ्वी की ऐसी अनोखी लीलाएँ हैं जो मानव मानस-पटल पर सहसा भय का सञ्चार कर देती हैं और मनुष्य त्राहि त्राहि कर उनसे त्राण चाहता है। दोनों ही दशाओं के अनुभव मानव-बुद्धि की जागृत चेतना से सम्बन्ध रखते हैं; इनमें अनुकरण को स्थान नहीं है, मस्तिष्क का स्वभाव अपना काम आप ही करना जानता है। उसी प्रकार वैदिक काल के आरम्भ में ऋषियों ने जिस प्रकार अग्नि से प्रार्थना की--'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव' उसी प्रकार अन्यान्य देवताओं के प्रति भी 'सचस्वा नः स्वस्तये' के भाव की स्तुतियाँ रचीं और जो कामना अग्नि से की थी वही उन देवताओं से भी की। सभी स्तुत्य देवों से वैदिक ऋचाओं में 'भद्रं करिष्यसि' की प्रार्थना की गई चाहे वह 'भद्र' जिस रूप से घटित हो सके।

अग्नि के लिये पिता शब्द का प्रयोग किया गया है और अग्नि से पिता के समान प्यार प्रदर्शित करने का आग्रह भी है। यह वैदिक आर्यों का प्रिय शब्द था। वे पिता व पितृ शब्द के अनन्य भक्त थे। आप स्वयं अपने पिता की अपूर्व भक्ति करते और पितरों के आदर्श को जीवन का लक्ष्य बनाते थे। पितरों का निवास वे चन्द्रलोक में मानते और उनकी प्रसन्नता के लिए यज्ञ विधान किया करते थे। वे पितरों से धन, संतति व संतान के लिए दीर्घायु की कामना करते थे और उनका विश्वास था कि इन्द्र की अनुकम्पा से उनके इन्द्रोपासक प्रबुद्ध पितर देवताओं के बीच अमर जीवन के साथ उन रत्नों का उपभोग किया करते हैं,

ऋग्वेद १०-१५-७, ११; अथर्ववेद १८-३-१४

जिन रत्नों की प्राप्ति उन्हें अपने जीवन में इस लोक में करनी है।[८] अपनी स्तुतियों में वे पुत्रों की कामना करते और आप वीर संतान के पिता होना चाहते थे।[९] देवताओं की स्तुतियों में प्रदर्शित इच्छाओं में यह उनकी एक मुख्य इच्छा थी और पीछे जिसके अभाव में सांसारिक सुखों का भी अभाव समझा जाने लगा।[१०]

'अग्निमीले' युग में उपासक अपने स्तुत्य देवता से स्वर्ग या मोक्ष की माँग करते नहीं मिलते; उनका जीवन ही उनके लिये अमृतत्व था[११], अतः वे जीवन को ही सुखी व चिरायु बनाना चाहते थे। कोई भी ऋचा वेद की ऐसी नहीं जिससे इस सम्बन्ध की आधुनिक दृष्टि का समर्थन किया जा सके। उनके तत्कालीन उत्साहपूर्ण आनन्दमय जीवन की तीन लालसाएँ थीं, जिनका संकेत अग्नि की स्तुतियों में किया गया है: वे ही लालसाएँ अन्य देवताओं की स्तुतियों में भी प्रधानता रखती हैं। उनके अनुकूल अग्नि के विशेषण तीन श्रेणियों रक्खे जा सकते हैं—

१ ली श्रेणी में—पुरोहितं
२ री श्रेणी में—यज्ञस्य देव ऋत्विजं होतारं
३ री श्रेणी में—रत्नधातमं

---

[८] ऋग्वेद १-९१-१, १-१२५-५

[९] ऋग्वेद ७-२४-६

[१०] ऐतरेय ब्राह्मणे सप्तमपंजिकायां तृतीयोऽध्याय', १—"नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।"

[११] ऋग्वेद ५-५५-४ "उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन शुभं याता-मनु रथा अवृत्सत"; ५-६३-२ "वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी वि चरंति तन्यव।"

पहली श्रेणी के विशेषण 'पुरोहितम्' में हितैषिता का भाव है और अग्नि को 'पुरोहितम्' कह कर कल्याणकारी कामों में अग्रसर रहने की जो कल्पना की गई है उसकी विद्यमानता सभी स्तुतियों में मिलती है। अग्नि-वरुण-इन्द्र-विष्णु-रुद्र आदि की स्तुति इसी कारण की जाती थी कि इनसे उनके उपासक कल्याण होने की दृढ़ आशा रखते थे। इसके उदाहरण स्तुतिप्रधान ऋग्वेद में संग्रहित ऋचाओं में भरे पड़े हैं। ऐसे ही विश्वास में अग्नि को गृहपति व विश्पति नाम दिये गए[12] और पुरोहित उपाधि देने का कारण भी स्पष्ट किया गया—"त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे। त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यं।" इन्द्र की कृपा भी इसी विश्वास में चाही गई[13]—"एवा न इंद्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम।" जिस प्रकार निर्भयता से अग्नि से कहा गया[14]—"यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः", "न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया" उसी प्रकार इन्द्र पर भी प्रकट किया गया[15] "यदिंद्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्।" अभिप्राय कि दोनों से कल्याण की कामना की जाती है। और विश्वेदेवा की स्तुतियों में ७ वें मण्डल के सूक्त ३५ में इस भाव की विशद व्याख्या मिलती है। वहाँ इन्द्र-वरुण-सोम-भग-अग्नि-

---

[12] ऋग्वेद ७-१५-२, "कविर्गृहपतिर्युवा", ३, "स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान्पात्वंहसः ॥"; ७-१५-७; ७-१६-५

[13] ऋग्वेद ७-२४-६

[14] ऋग्वेद ८-१९-२५; ८-१९-२६

[15] ऋग्वेद ८-१४

ओर इसीसे उनका प्राबल्य भी धीरे धीरे संहिता-काल की समाप्ति पर ब्राह्मण ग्रन्थकालीन युग में हुआ।

तीसरी श्रेणी का पद है 'रत्नधातमम्' जो स्तुति व यज्ञ द्वारा इष्ट लक्ष्य का परिचायक कहा जा सकता है। अग्नि की स्तुति की गई, वह हितैषी माना गया और यज्ञों के ऋत्विज-होता की उपाधियों से सम्मानित किया गया पर किस विशेषता के कारण?—स्पष्ट है कि वह रत्न को देने में समर्थ था और उसी रत्न के लाभार्थ सारा आयोजन उपासक को करना पड़ा। वह रत्न पृथ्वी के भीतर का केवल बहुमूल्य लाल-हीरा-जवाहरात ही नहीं थे, वे भी थे पर अन्य मूल्यवान् पदार्थ भी उनमें सम्मिलित थे और उन सब की प्राप्ति के लिए उपासक की उपासना थी। उसकी व्याख्या भी एक स्तुति में वसिष्ठ द्वारा कर दी गई है—

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मंडूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥

तदनुकूल धन, विभूतियाँ लम्बी आयु और वीर पुत्र ये मूल्यवान् रत्न थे जिनका देनेवाला जानकर अग्नि की स्तुति की गई और अग्नि के अलावे भी जिन देवताओं की

---

date; for we find it in the Zend-Avesta in the form of *manthra* also. Its meaning there is that of a sacred prayer, or formula to which a magical effect was ascribed just as to the Vedic mantras, Zoroaster is called a *manthran* i.e., a speaker of *mantras*, and one of the earliest names of the Scriptures of the Parsis, is *manthra spenta* i.e., the holy prayer (now corrupted to *mansar spent*) Haug: Aitareya Brahmanam of the Rigveda, intro. p 2.

स्तुतियाँ उस काल के आर्य्यों ने कीं उनसे भी इन्हींकी इच्छा की गई[18]। इनकी प्राप्ति के मार्ग के जितने विघ्न थे उनके नाश के लिए सुशिप्र-हरिताश्व इन्द्र की अनेकानेक स्तुतियाँ वेदों में की गई और यथेच्छ सोम पान करा कर इन्द्र को शत्रुओं के नाश के लिए सर्वदा सन्नद्ध रक्खा गया।[19] इन्द्र ने अपने उपासकों के हितार्थ अहि-वृत्र-शुष्ण-शंबर-नमुचि-पिप्रु प्रभृति आर्य्य-शत्रुओं का संहार भी किया,[20] जिस वीरता की स्मृति में इन्द्र वृत्रहनोपाधि से विभूषित किए गए, सुरेश्वरपद उन्हें बराबर के लिये प्रदान किया गया और उनकी श्लाघा में कहा गया [21]—"एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व।" ऐसी वीरता में इन्द्र को विष्णु ने बराबर साहाय्य दिया और त्वष्ट्र ने वज्र प्रदान किया[22], जिसके कारण इन्द्र के बाद विष्णु को भी सम्मान दिया गया और समय पाकर अपने अन्य सद्गुणों

---

[18] "The blessings asked for are wealth (cattle, horses, gold, etc.) virile power, male children (heroic offspring) and immortality, with its accompanying joys" Hopkins: Religions of India, p. 149

[19] ऋग्वेद ७-३४-४; ८-१७-४; ७-२४-१; ७-२२-१; २.

[20] ऋग्वेद ७-९९-४, ५; ४-१६-१२, ५-२०-६; १-५१-६, २-१९-६, १-१३०-७, ४-२६-३; २-१४-५, ८-१९-५; १-१०१-२, ४-१६-१२

[21] ऋग्वेद ७-२३-५

[22] ऋग्वेद १-२२-१९; ७-९९-५,६; ६-६९; ऋग्वेद १-३२ "अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ॥२॥"; आ सायकं मघवा- दत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥"

के कारण विष्णु उपासना में स्थान पा सके। इन्द्र यद्यपि इन्द्रासन के अधिपति बने रहे, उनका मान उपासक-मण्डली में धीरे धीरे घटने लगा जैसे २ विघ्नों का भय जाता रहा और केवल धन व विभूतियों के सञ्चय का यत्न किया जाने लगा। तब विष्णु के प्रति उपासकों की धारणा हुई कि विष्णु के ही परमोच्च पद में अमृतत्व-मधु का मञ्जुल स्रोत है[२३]-"उरुक्रमस्य स हि बंधुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।"

अब उपासक स्तोता 'विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः'[२४] कहते विष्णु के सुन्दर सुखद कृत्यों से धीरे २ परिचित होने लगे। उनने विष्णु को व्यापक देवता पाया, विष्णु का नाम उरुक्रम[२५] देकर लोकत्रय में उनकी व्याप्तिकी कल्पना की गई। विष्णु के त्रिपदों के भीतर चराचर का निवास माना गया[२६] और परम पद देवताओं का प्रमोदस्थल कहा गया[२७], आचार के देवता वरुण को विष्णु का आश्रित मान कर विष्णु का सम्बन्ध आचार से भी स्थिर किया गया।[२८] यजुर्वेद में

ऋग्वेद १-१५४-५

[२४] ऋग्वेद १-१५६-५

[२५] ऋग्वेद १-९०-९ "शं नो विष्णुरुरुक्रम"

[२६] ऋग्वेद १-१५४-२ "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियंति भुवनानि विश्वा॥'

[२७] ऋग्वेद ८-२९-७ "त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदंति।"

[२८] ऋग्वेद १-१५६-४ "तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचंत मारुतस्य वेधसः। दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते।'

विष्णु की स्याति के जो मंत्र मिलते हैं उनमें विष्णु के त्रिपद-त्रिअग्नि रूप यज्ञ-रक्षक; विष्णु, विष्णु के यज्ञ-रूप व विष्णु के सोम-शरीर-रूप के वर्णन मिलते हैं।[१९] अथर्ववेद में भी विष्णु को संसार-रक्षक व यज्ञ-रक्षक कह कर उनकी स्तुतियाँ की गई[२०] और उन में स्थापित गुणों के कारण उन्हें कुचर, गिरिष्ठ, त्रिविक्रम, गोपा,[२१] गोपति, शिपिविष्ट आदि उपाधियों से भी वर्णित किया गया और इन उपाधियों के महत्वपूर्ण अर्थों के अनुकूल विष्णु का मान उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

परम पूज्य अग्नि के सम्बन्ध में उनके द्वारा वनों के भस्म होने के भी उल्लेख हैं, तो भी अग्नि के सम्मान में कोई अन्तर स्तुतियों में नहीं पाया जाता। इससे विदित होता है कि प्राकृतिक रहस्य का यथार्थ अनुभव उपासकों का ध्येय था। वे प्राकृतिक शक्तियों से होनेवाली बुराइयों से बचने के लिए भी उन शक्तियों की स्तुति किया करते थे और चाहते थे कि उनके

---

[१९] शुक्लयजुर्वेद २३–४९, ५०; शुक्लयजुर्वेद ५–२५; शुक्लयजुर्वेद १–४ "इन्द्रस्यत्वाभाग छ सोमेनातनचिम विष्णोहव्य छ रक्ष॥" शुक्लयजुर्वेद ४–१ "सोमभृते रविरणवे वाग्नेयत्वाराय स्योपं विष्णवेन्वा॥"

[२०] अथर्ववेद ५–२०–७, ७–१६–४

[२१] अथर्ववेद१२–१–१०; ऋग्वेद १–१५४–४ "प्रतद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा"; ऋग्वेद१–२२–१८ "त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥" शुक्ल०, २२–२० "विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा।" ऋग्वेद १–१५४–६ 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः॥

कोप द्वारा उनका कोई अहित न हो। इसी भाव से रुद्र की स्तुतियाँ की जाती थीं, यद्यपि रुद्र की आरम्भिक स्तुतियों में उनसे होनेवाली क्षतियोंका ही विवरण है। ऋग्वेद में उनके क्रोध से वज्रपात होने और जीव-जन्तुओं के नाश का वर्णन है[32]। उनका नाम नृघ्न भी दिया गया है[33], और उनका साथ मरुतों से भी कथित है। अथर्ववेद व यजुर्वेद में उनके शरीरका जो रूप-रंग कहा गया है, वह भी विचित्र है; अथर्ववेद मे उनका पेट नीला, पीठ लाल और ग्रीव नीला कहा गया है और यजुर्वेद में शरीर का रंग ताम्रवर्ण बता कर नीलग्रीव व शितिकण्ठ नाम दिए गये हैं।[34] अनेक अनुपम औषधियों से भी उनका संबंध कहा गया है[35] और उनमे जलाष एक विशेष औषधि

---

[32] "The character of Rudra in the Rigveda is distinctly formidable, he wields the lightening and the thunderbolt and is an archer, but his fierce character is not manifested as that of Indra in his onslaughts on demons, for that is no part of his nature He is destructive as a terrible beast, the ruddy boar of heaven He is unassailable, rapid, young, unaging, ruler of the world, and its father." A. B Keith Relegion and Philosophy of the Veda, p. 143.

[33] ऋग्वेद ४-३-६ "परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥"

[34] अथर्ववेद १५-१ "नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ।७। नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।८।" शुक्लयजुर्वेद १६-७ "असौयोवसर्पतिनीलग्रीवोविलोहितः"

[35] कृष्ण यजुर्वेद ४-५-५; पर ऋग्वेद में ८-२९-५ में है "तिग्ममेको बिभर्ति हस्त, आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ।"

है। रुद्र के ऐसे भयकारी होने पर भी उपासकों में रुद्र के प्रति अच्छी धारणाएँ दृढ़ होती गयीं और धीरे धीरे रुद्र शिव नाम से विख्यात होने लगे।[२६] सम्भव है कि वर्षा के समाप्त हो जाने पर पृथ्वी की सुहावनी हरियाली द्वारा हृदय में आनन्द व शान्ति पैदा होने के भाव से प्रकृति के उपासकों ने रुद्र को शिव कहा हो और संहिताकाल के बाद शिव के सेवकों में सर्पों की कल्पना भी वर्षा-वर्णन के विचार से ही की गई हो। जो कुछ हो, शिवकी धारणा उत्पन्न होनेपर समाज में रुद्र का भी आदर बढ़ने का अवसर उपस्थित हुआ।

संहिताओं में मित्र, अदितिपुत्र आदित्य, सूर्य, सवितृ, पूषण, विवस्वन्त, द्यौः पुत्र, अश्विन, उषा, वात, सोम, चन्द्रमा, त्रित-आप्त्य, अपां-नपात, अजएकपाद, मातृश्वन, बृहस्पति और पृथिवी नामों से भी स्तुतियाँ की गयी हैं। पर उनमें भी हित व कल्याण के भाव ही प्रधान हैं और उनकी स्तुतियाँ आलंकारिक भाषा में उनके प्राकृतिक गुणों के उल्लेख में की गई हैं। विराट् विश्व में जिसकी जैसी शक्ति मानव कल्याण के हितार्थ कार्य्य कर रही है उसके वैसे वर्णन की चेष्टा प्रार्थनाओं में विद्यमान मिलती है और उन कार्य्यों से जीवन को लम्बा व सुखद बनाने की इच्छा व्यक्त की जाती है। पृथ्वी-वायुलोक-नक्षत्रलोक विष्णु के पदत्रय कह कर

---

[२६] ऋग्वेद १०-१२४-२ "शिवं यत्संतमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेमि"; ४-१०-८ "शिवा नः सख्या संतु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे"; ७-१९-१० "तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवोभूः सखा च शूरोऽवित्ता च नृणाम्"; १०-३४-२ "शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्"; अथर्ववेद ७-४३-१ "शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।"; तैत्तिरीय संहिता ५-१-६-१ "मित्रो वै शिवो देवानाम।"

उनमें स्तुत्य देवताओं के निवासस्थान माने गए हैं, जिस विचार से वैदिक ऋषियों के प्राकृतिक देवताओं का विभाग विवेचकों द्वारा तीन श्रेणियों में किया जाता है और यह भी निर्विवाद है कि स्तुतियों ने परम्परागत, चर्मचक्षुदृष्ट और दिव्यदृष्टिज्ञात तीन प्रकार के देवता थे, जिसपर यास्क ऋषि ने[३७] कहा है–"तास्त्रिविधा ऋचाः परोक्षकृताः प्रत्यक्ष-कृता आध्यात्मिक्याश्च।" परन्तु यह भेद आज समझाने के लिए ही है, उपासकों की दृष्टि में ये देवता अभिन्न थे, सभी एक शक्ति की साँस लेते अनुभव किए गए और सब ने मनोरथ की पूर्तियों में एकसा भाग लिया।[३८] ऋग्वेद[३९] स्वयं कहता है–"नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहांत इत्" उपासकों ने ऋचाएँ कम या अधिक संख्या के कारण कोई विशेषोक्ति या अन्तर नहीं माना। बैबिलोनियन पौराणिक आख्यायिकाओं के भाव से भी वैदिक स्तुतियों के रहस्य की तुलना कर भावों मे भेद प्रकाशित करने की चेष्टा वैदिक रहस्य को समझने मे सहायिका नहीं हो सकती, क्योंकि वैदिक ऋचाओं की बातें कोरी आख्यायिकाएँ नहीं हैं; वास्तव में वे जीवन के अनुभव हैं जो आलंकारिक भाषा में लेखबद्ध हैं और उनमे भारतीय

---

[३७] यास्क : निघण्टु-दैवताकाण्ड १-१

[38] "When these individual gods are invoked, they are not conceived as limited by the power of others as superior or inferior in rank. Each god is to the mind of supplicants as good as all the gods" Max Muller · History of sanskrit Literature, p 532,

The Imperial gazetteer of India, Indian Empire Vol I. p. 404

[३९] ऋग्वेद ८-३०-१

मस्तिष्क की वह विशेषता मानी है जिसकी रुचि विभिन्नता में ऐक्य स्थापन की हुआ करती है। [40] अतः वैदिक देवताओं की स्तुतियाँ सभी एक सत्तात्मक हैं और विभिन्नता से रहित हैं चाहे वे नररूपोपम हों या जीवरूपोपम, बोधात्मक हों या भूतात्मक [41]। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, नक्षत्र, वायु, बादल, जल, नदी, पर्वत, प्रातःकाल, वर्षाकाल आदि सभी विवेच्य तत्त्वों में 'अग्निमीले' के गायकों ने एक अद्भुत रहस्य का अनुभव किया और उसमें उन्हें विश्वकल्याण का भाव विद्यमान मिला, जिस अनुभव के बाद वे प्रजापति की सृष्टि के किसी भी तत्त्व को बड़ा या छोटा, लाभदायक या व्यर्थ, कहने को प्रस्तुत नहीं हुए। उसके द्वारा उनने एक विशाल यज्ञ सम्पादित होते पाया और उसी यज्ञ के सम्बन्ध में पीछे कहा गया--"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते"। इस प्रवृत्ति को व्यक्त करते कहा गया है--[42]

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः॥

स्तुतियाँ भी यही प्रमाणित करती हैं। यदि विश्वास व

---

[40] Farnell · Greece and Babylon p. 84

[41] प्रो० कीथ ने अपनी "The Religion and Philosophy of the Veda" नामक पुस्तक के भाग १ अ० ५ में वैदिक देवतावाद की आलोचना निम्नांकित विभागों के अन्तर्गत की है—

1 Nature God and Abstract Deities,
(a) Anthropomorphism,
(b) Theriomorphism and the worship of Animals
(c) Animetism Sondergother and Abstract Deities
2 Fetishism 3 Animism and the Spirits of the Dead
4 The term Deva

[42] ऋग्वेद १-२७-१३

श्रद्धा-पूर्वक अग्नि से प्रार्थना की गई[४३]—"अग्ने! हमारे नायकों को सम्पत्ति व कीर्त्ति दो" तो वरुण-इन्द्र-सोम से भी चाहा गया[४४]—"विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः।" उसी प्रकार मरुत से[४५] प्रार्थना की गई—"ददात नो अमृतस्य प्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि।" विश्वस्यातु जगत-गोपा सूर्य से[४६] दीर्घ जीवन की कामना की जाती है—"पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं" इन्द्र व वरुण दोनों की उपयोगिता को स्वीकार करते कहा जाता है-[४७]"वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।" अश्विन के गुणों में भी वे ही कृत्य वर्णित मिलते हैं जिनकी आवश्यकता उपासकों को थी। अश्विन ने[४८] च्यवन की जरावस्था दूर की, उसके जीवन को सुखी बनाया, उसे दीर्घायु प्रदान की, उससे युवावस्था प्राप्त करायी और कलि को भी युवा बनाया; यही तो उपासक भी चाहते थे, तब अश्विन और अग्नि में कोई भी भेद नहीं था।[४९] पूषन् से भी उपासकों को वैसा ही लाभ विदित होता था; पूषन् द्वारा विघ्न दूर होते थे, धन की रक्षा होती थी और चौपायों का हित होता था। विशेषता तो यह है कि कल्याण की कामना उसी अबाध गति से पशु व वृक्षों की ओर भी प्रवाहित हुई और विश्वपोषणशक्ति का दृश्य वहाँ भी वैसा ही मनोहर पाया गया। अनड्वान् इन्द्र के लिए ऋचा है—"अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रोवि मिमीते अध्वनः। भूतं भविष्यद् भुवना

[४३] ऋग्वेद ७-५-९. [४४] अथर्ववेद ३-४. [४५] ऋग्वेद ७-५७-६. [४६] ऋग्वेद ७-६०-२; ७-६६-१६. [४७] ऋग्वेद ७-८३-९. [४८] ऋग्वेद १-११६-१०; १०-३९-८; १-११२-१५. [४९] ऋग्वेद ६-५३ व ५६

दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ।"[50] विश्वास है कि अनडुह के सप्तानुपद-दोहन का दाता संतति व स्वर्ग को प्राप्त होता है ।[50] ऋषभ के प्रति भी ऐसा ही भाव प्रदर्शित किया गया—"पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ।"[51] स्तुति भी पूर्ववत् की गई—"गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् । तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ।"[51] गाय की महिमा गाते हुए उसमें ऋत, तप और ब्रह्म का निवास बतलाया गया—"ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः" और पृथिवी-विष्णु प्रजापति आदि उसके वश में माने गए[52]। इसी प्रकार बाजपक्षी, बकरियों और घोड़े के साथ इन्द्र, पूषन् व अश्विन देवों की स्तुतियाँ की गई हैं[53]। सर्वभार-वाहिनी पृथिवी की स्तुति माता कहकर की गई और पृथ्वी को विश्वंभरा-हिरण्यवक्षा-जगतनिवेशनी-अच्युतोप्यष्ठा-ओषधी-माता कहकर चाही गई है—

सत्यं बृहतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ती ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

---

[50] अथर्ववेद ४-११-२; ४-११-९ "यो वेदानडुहो दोहान् सप्तानुपदस्वत । प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥"

[51] अथर्ववेद ९-४-२; ९-४-२०

[52] अथर्ववेद १०-१० ३३, १०-१०-३०

[53] " . it becomes tempting to assume that the eagle was none other throughout than the god Indra Pūṣan, again, has a team of goats . The horse Acvins, if they ever existed were not divine horses, but theriomorphic conceptions of nature powers" A. B Keith Religion and Philosophy of the Vedas, p 63

अथर्ववेद वैसी स्तुतियों से भी भरा है जिनमें 'रत्नधातमं' के व्याख्यात्मक प्राप्य रत्न व उनके पाने के साधनों के विवरण दिए गए हैं।[५४] इसी कारण अथर्ववेद लौकिक विभूतियों से ही सम्बन्ध रखनेवाली प्रार्थनाओं का संग्रह समझा जाता है। यदि ऋग्वेद में हित-साधन की विधा है तो यजुर्वेद में व्यवहारात्मक विचार प्रदर्शित किए गए हैं और अथर्ववेद उनसे उत्पन्न होनेवाली विभूतियों से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में स्तुति विश्वपुरुष के विराट् विश्वयज्ञ के सिद्धान्त का व्यवहारमय विवरण यजुर्वेद के सर्वमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध और प्रवर्ग्य सम्बन्धी मंत्रों में किया गया। प्रवर्ग्य का स्पष्ट अभिप्राय है कि यह संसार एक कड़ाही रूप है जिसके नीचे कर्माग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, उस कड़ाही में मनुष्य-रूपी दूध उबालने की क्रिया जारी है और उस कृत्य से प्रस्तुत यज्ञफल विश्वपोषण निमित्त ही है। ये यज्ञ किसी के प्रति हिंसा या घृणा या आघात नहीं चाहते, बल्कि उनका ध्येय है[५५]—"मित्रस्याहञ्चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे। मित्रस्यचक्षुषासमीक्षामहे।" इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अथर्ववेद में विभूति-संचय के प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया। विभूतियों की प्राप्ति के मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करने के उपाय सोचे गयें, शत्रुक्षय के लिये युद्ध-आयोजन किए गए, वीरता की आशाएँ सुपुत्रों में रक्खी गईं, ब्रह्मचारियों के जीवन में मंगल व बल की कामना की गई और राजा व नायकों के सबल होने पर ध्यान दिया गया।[५६] जो

---

[५४] अथर्ववेद १२-१-१, ६, ११, १७ [५५] शुक्ल यजुर्वेद ३६-१८
[५६] अथर्ववेद ५-२०, २१; ११-५; ३-३, ४

चमत्कार द्वारा धनधान्य, स्वस्थ जीवन प्राप्त करने के उपाय जानने थे वे अपनी चेष्टा में रत हुए। आचार-पालन में झूठ के त्याग, जुआड़ियों के दुःखद जीवन का उदाहरण-ग्रहण और पारिवारिक जीवन में एकता की शिक्षाएँ भी दी गई।[५७] इस का अधिक भार ऋग्वेद पर ही था और उसने वरुण की स्तुतियों में उन्हें सदाचार का देवता बना रक्खा था। अथर्ववेद ने उसी के अनुकूल वरुण देव से पाखण्डियों व असत्यवादियों को दण्डित करने की प्रार्थना की।[५८] ऋग्वेद की दान-स्तुति के सादृश्य वचन कुन्तापसूक्त में देकर विभूतियों के सम उपयोग की शिक्षा अथर्ववेद ने प्रस्तुत की और ओषधियों के वर्णन से रोगों का नाश कर जीवन को नीरोग रखने का उपाय सोचा।[५९] इस प्रकार ऋग्वेद की आरम्भिक स्तुति की पूर्ति चारों संहिताओं की ऋचाओं में की गई और उनमें एक लक्ष्य का सम्पादन करते हुए इस भूतल पर स्वर्ग-सुख-साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रदर्शित किया गया, जिसकी स्मृति में आज तक आर्य-ऋषि-वंशज प्रसिद्ध गायत्री के पाठ में जपा करते हैं:—

ॐ भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

---

[५७] अथर्ववेद ४-१६-६, ७, ८; ३ ३०; ऋग्वेद ९-११२ सूक्त; १०-३४-सूक्त। [५८] अथर्ववेद ४-१६-६

"ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥

[५९] ऋग्वेद १-१२६; १०-११७; अथर्ववेद २०-१२७, १५६

वैदिक स्तुतियों में देवताओं के गुण-शौर्य-विवरण में ईश्वरवाद व सृष्टि-परक सम्मतियाँ भी ऋषियों ने व्यक्त कीं, पर वे इतनी गूढ़ थीं कि वर्षों बाद का चिन्तन भी उन्हें स्पष्ट नहीं कर सका और 'वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्' को स्वीकार करते हुए भारतीय दार्शनिक संहिता-युग के बाद बराबर वैदिक विचारों पर मनन करते रहे। उसी मनन की श्रृंखला में अनेक दार्शनिक धारणाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ऋचाओं के रहस्य को समझने में असमर्थता की अवस्था में कल्पना व तर्क का आश्रय ले विवेचकों को वेद की सत्ता स्वीकार करते भी अपनी अपनी राएँ देनी पड़ीं, जिससे उनमें विभिन्नता तो अवश्य आई पर सनातन तारतम्य को बनाये रखने का यत्न भी समय समय पर धीमानों ने तत्परता से किया जिसके फलस्वरूप वैदिक धारणाओं से सुदूर आ जाने पर भी हिन्दू वेदों को प्रिय समझते रहे और अपनी आस्तिकता को वेद-सम्मत रखने में गौरव माना।

स्तुति-काल के विश्ववादके तीन रूप संहिताओं में दिखाई पड़ते हैं। साधारण विचार था कि 'द्यावापृथिवी' (रोदसी, क्षोणी)—आकाश व मृत्युलोक एक में मिले हैं[६०] ये दो लोक हैं; दोनों दो बड़े चम्वा की तरह मिले हैं[६१] या एक अक्षके दो सिरों पर दो चक्र के समान स्थिर हैं[६२]। पृथ्वी, भूमि-क्षम-क्षा-मही-ग्मा-उर्वी-उत्ताना-अपरा आदि और आकाश दिव-व्योमण-रोचन-आदि नाम से भी ऋचाओं में वर्णित किये गये। पीछे विष्णु के त्रिसदस्थ की कल्पना में इन दो के स्थान में तीन लोकों की धारणा चल पड़ी। माना जाने लगा कि विश्व तीन लोकों में विभाजित है। पहला लोक यह रत्न-

---

[६०] ऋग्वेद ? २७-१५ [६१] ऋग्वेद ३-५५-२० [६२] ऋग्वेद १०-८९-३

पहला पृथिवी है जिसके ऊपर मनुष्य, जीव, नदी, पर्वतादि दिखाई पड़ते हैं; दूसरा लोक वायुमण्डल का है जिसके ऊपर नक्षत्र-लोक व नीचे पृथिवी-लोक है। बिजली-वायु-वर्षा-बादल इसी दूसरे लोक के पदार्थ हैं और इसी लिये यह लोक कृष्ण वर्ण का जलवाला भी कहा गया है; तीसरा लोक नक्षत्र या स्वर्गलोक है जो वायुलोक के ऊपर है, वह देवताओं का स्थान है और देव-सदृश अमर पितर भी[63] उसी लोक में चन्द्रमा के साथ निवास करते हैं। पृथिवी के इष्ट रत्न वहाँ पितरों को सहज ही प्राप्य हैं[64]। मृतों के राजा यम से पितरों का साक्षात् वहीं होता है और उस देवमान-सदन में यम अपनी बहन यमी साथ वीणा-स्वर-संयुक्त संगीत में विनोद करते हैं।[65] पीछे विश्व सप्तधामों में विभाजित जाना गया।[66] पृथ्वी से इतर लोक स्वर्ग का विवरण भी उनके मंत्रों में पाया जाता है और वह देवताओं तथा पितरों का निवासस्थान कहा गया है। मरने पर वह स्वर्ग उन्हीं को प्राप्य बतलाया गया है जो कठिन तप करते हैं, जो धर्मात्मा हैं, जो युद्धस्थल में अपनी जान की चिन्ता नहीं करते हैं और जो याज्ञिक क्रियाएँ और दान करते हैं।[67] स्वर्ग तीसरा लोक है, विष्णु

[63] अथर्ववेद ६–४१–३; ऋग्वेद १०–५६–४

[64] ऋग्वेद १०–१४–१० "अथा पितॄन्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदंति";

अथर्ववेद १८–४–१०; ऋग्वेद ७–७६–४; ऋग्वेद १०–१५–१०

[65] ऋग्वेद १०–१६–९; १०–१२५–७; १०–१४–७

[66] ऋग्वेद १–२२–१६ ९–११४–३

[67] ऋग्वेद १०–१४–८; १०–१४–१४; १०–१५४–२, ५; १–२५–५. १०–१०७–२; १०–१६–४. १०–१५४–३

का परमोच्च पद है, पितरों व यम के रहने का स्थान है और नित्य प्रकाश समन्वित है।[६८] वहाँ पहुँचने पर कोई भी मनोरथ शेष नहीं रह जाता, जरावस्था दूर हो जाती है, दिव्य देह की प्राप्ति होती है, माता-पिता-पुत्र-स्त्री आदि स्वजनों से संयोग होता है, शरीर की कुरूपता भी जाती रहती है, और रोगादि पलायमान हो जाते हैं।[६९] वहाँ के प्रकाश का अन्त नहीं होता, जल स्रोत निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, आनन्द की कमी नहीं होती, पृथ्वी के सर्वोत्तम सुखों से भी सैकड़ों गुणा श्रेष्ठ सुख वहाँ प्राप्त होते हैं, घी-मधु-दूध-सुरा का वहाँ प्राचुर्य है, कामदुग्धा गाएँ सहजलभ्य हैं और धनी-दरिद्र का कोई भी अन्तर नहीं है।[७०]

धर्मात्माओं के लिये स्वर्ग की कल्पना कर लेने पर नरक या ण्ड के स्थान की कल्पना स्वाभाविक ही थी और अवेस्ता े सदृश अथर्ववेद में स्वर्गलोक के प्रतिकूल 'नरकलोक'

---

[६८] ऋग्वेद १०-१५-४; १-१५४-५, १०-१५-३, १८-२-४८ १-१२५-६,

[६९] ऋग्वेद ९-११३-९, ११; १०-२७-२१; १०-१४-८; अथर्ववेद १२-३-१७; ऋग्वेद १०-७४-८; अथर्ववेद ६-१२०-३; ३-२८-५

[७०] ऋग्वेद ९-११३-७, ११; अथर्ववेद ४-३४-२; ऋग्वेद १०-१३५-७; १०-१५४-१; अथर्ववेद ४-३४-५; ६, ८; ३-२९-३ इनसे मिलते वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी आये हैं, यथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-१२-२-९, २-४-६-६ और शतपथ ब्राह्मण १०-४-४-४, १४-७-१-३२, ११-५-६-४

का चित्रण मिलता है।[७१] यह घोर अन्धकारमय कष्टप्रद स्थान हत्यारों के लिये हैं, पापी पाखण्डी झूठे उसीको प्राप्त होते हैं और इन्द्र-सोम द्वारा बुरे कर्म करनेवाले उसी स्थान को भेजे जाते हैं।[७२]

पृथिवी स्वर्ग और नरक के उपर्युक्त विचारों के रहते भी संहिता में सृष्टि परक स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। इस सम्बन्ध में जो कुछ वर्णन रूपकों मे कथित हैं, उनके शाब्दिक अर्थों से निश्चित अभिप्राय निकालना आज कठिन है। मन्त्रों में पिता माता द्वारा सृजन के सदृश उल्लेख हैं और जिन देवताओं से विश्व का धारण किया जाना वर्णित है उनकी भी उत्पत्ति के संकेत दिये गये हैं। इन्द्र, त्वष्ट, वरुण, विष्णु, अग्नि, मरुत् आदि देवता विश्व को धारण

---

७१ 'If in the opinion of the composers of the Rv the virtuous received their reward in the future life it is natural that *they should have believed at least in some* kind of abode, if not in future punishment for the wicked as is the case in the Avesta As far as the Av and the Katha Upanisad are concerned the belief in hell is beyond doubt The Av (2 14³ 5,19³) speaks of the house below, the abode of female goblins and sorceresses called *naraka loka* in contrast with *svarga loka*, the heavenly world, the realm of Yama (12, 4 ³⁶) A A Macdonell — Vedic Mythology, p. 169

७२ शुक्ल यजुर्वेद ३०-५, अथर्ववेद १८-२-२४, ५-३०-११, १८-३-३, ५-१९ ऋग्वेद ४-५-५, ७-१०४-३

करनेवाले कहे गये हैं। [73]ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सृष्टि रहस्य पर प्रकाश डाला गया है, पर वह भी आलंकारिक वर्णन है। उस में कथित विराट् पुरुष ही सृष्टिकर्ता प्रजापति स्वीकृत हैं और नक्षत्र-पृथिवी-वायु आदि तत्त्व उसीसे उत्पन्न कहे गये हैं। उस सूक्त के अतिरिक्त अन्यान्य सूक्तों में भी हिरण्यगर्भ प्रजापति उत्तानपाद आदि-[74] के सम्बन्ध में जो बिखरी राएँ हैं उनमें सृष्टि-विषयक अस्फुट बातें हैं, जिनको आधार बना कर ब्राह्मण काल में पृथिवी के बनने के सम्बन्ध में वराह, कच्छप आदि के आख्यान उपन्यस्त किए गए।

विश्ववाद तथा प्रकृति-रहस्य पर निरन्तर विचार करते रहने के कारण आर्य ऋषियों में दार्शनिक विचारों का जैसा विकास हुआ उसका क्रम भी उनकी स्तुतियों से स्थूलतः स्थिर किया जा सकता है। अनुभव व ज्ञान के लिए किए गए प्रश्न व शवदाह के अवसर पर उत्पन्न विचारों से प्राचीनतम काल के आर्यों में दार्शनिक मनन का आरम्भ हुआ। श्रेष्ठ वरुण से इन्द्र के पास पहुँचे हुए आर्य-हृदय में तब शक्तिशाली इन्द्र पर भी सन्देह होने लगा[75] लोग कहने लगे— 'कुह

---

[73] ऋग्वेद १०–९०

[74] ऋग्वेद १०–७२–४

[75] "Moreover, there is the patent fact that, two Vedic deities do appear as being of much greater importance than the others, Indra as the great ruler and Varuna as the lord of physical and moral order. In the Avesta, on the other hand, Indra is only to be discerned dimly as a demon and Varuna has his counterpart in the glorious and righteous

सेति', 'नैपो अस्तीत्येन[६६]।' जिस पर इन्द्र के प्रति श्रद्धा व विश्वास की माँग की गई और स्वयं इन्द्र को भी प्रत्यक्ष होकर विश्वधारण को प्रकट करना पड़ा[६७]। परन्तु वह ज्ञान लिप्सा शान्त नहीं हुई, ज्ञानेच्छु तत्त्वदर्शी इन्द्र से सर्वपति हिरण्यगर्भ प्रजापति को पहुँचे, वह प्रजापति बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति के नाम से भी सम्बोधित किया गया।[६८] उस दशा में अनेक देवताओं में एक महिमान् महादेव विश्वस्रष्टा जान बहुदेवत्व की धारणा का उनने त्याग किया वे निस्सन्देह कहने लगे[६९] — "यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम।"

Al ura Mazdāh It is therefore natural enough to imagine that the original great God of the Aryans was Varuna and that it was in India that Indra was made up to the stature of Varuna, and even overthrew his prominence In the alternative it has even been maintained, as by Jacobi, that the Avesta did not know Indra at all as a god, and that he is really of Indian origin A B Keith Religion and Philosophy of the Veda pp 89 90 Jacobi J R A S 1910, pp 457, 458

[६६] ऋग्वेद २-१२-५ "य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येन। सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्र॥"

[६७] ऋग्वेद ८-१००-१, ४, ५, ९

[६८] ऋग्वेद १०-१२१-१, १०; १०-७१-१, १०-७२-२

[६९] ऋग्वेद १-१६४-४६ "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", १०-१२१-८

कुछ और मनन के उपरान्त उनका अनुभव और आगे बढ़ा, वे व्यक्त करने लगे[८०]—"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकं ।" वह एक चैतन्य था और उसके मन से काम उत्पन्न हुआ, काम से अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हुईं और तब ध्यान द्वारा ऋषियों ने व्यक्ताव्यक्त के सम्बन्ध का आविष्कार किया; पर वे बराबर ही अपनी खोज में सशंक बढ़ते रहे और वे सोचते जाते[८१]—"यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।" यह शंका आनेवाली युगों में उनके वंशजों के हृदय में भी बनी रही और इसकी व्याख्या में भारतीय दर्शन की धारणाएँ निरूपित होती रहीं[८२] । इसी सिलसिले में कुछ ऐसे विचार भी उद्गीत हुए जिनका अभिप्राय पीछे साफ २ विदित नहीं होने के कारण उन पर कल्पनाएँ कर

---

[८०] ऋग्वेद १०-१२९-३

[८१] ऋग्वेद १०-१२९-७

[८२] "The cosmological speculations of the Vedas are of the greatest historical importance as exhibiting Indian Philosophy in the making. Infinitely great was their influence upon later thinking, whether Brahmanic, Jain or Buddhistic; Vedic Philosophy supplied abundantly rich food for later thought, so much so, indeed, that subsequent Indian Philosophy might be viewed as a mere systematic carrying out of the general plan of structure, tacitly implied or imperfectly conceived". Dr. B. Barua : Pre-Buddhistic Indian Philosophy, p. 7

आख्यान रचने का यत्न विद्वानों ने किया। पुरूरवा-उर्वसी, यम-यमी और सूर्यासूक्त पर रचित आख्यायिकाएँ अनेक वेदेतर ग्रन्थों में पाई जाती हैं और उन्हीं के अनुकरण में विष्णु के त्रिपद पर बलि-वामन की कथा भी पुराणों में गढ़ी गई। यह प्रवृत्ति वेद-मंत्रों के सर्व धर्म्म मूलत्व की प्रतीति को प्रमाणित करती है और यह विचारने का अवसर बनाती है कि 'अग्निमीळे' के स्तुतिवाद पर भारतीय ईश्वरवाद का विकास किस प्रकार किया गया।

तीसरा अंश

अस्माभिः कृतानि दैवतानि

संहिता की स्तुतियों में 'यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारम्' की धारणा का आरम्भ व विकास तीन प्रगतियों में हुआ। आरम्भ में वह भावमय था, जब किसी कार्य्य का विचार हृदय में पैदा हुआ; तदनन्तर कार्य्य करने का भाव शब्दमय होकर व्यवहार में आया। जिस प्रकार श्रमजीवी किसी काम को करने में तत्पर होकर कार्य-गतिको संचालित करने के पूर्व बल-प्रेरक शब्द उच्चारित करने लगते हैं फिर उसी प्रकार मंत्रों में कर्म-विधियों का गान कर मंत्रानुकुल कार्य किए जाने लगे, यह तीसरी प्रगति है। गूँगों तक में ये तीन प्रगतियाँ पाई जाती हैं, अन्तर यही होता है कि शब्द-प्रयोग में असमर्थ ये सांकेतिक चिन्हों का व्यवहार करते हैं। संहिता में भी मिलता है कि प्रकृति-रहस्य के जानने का भाव पैदा होने पर वह शाब्दिक स्तुतियों में परिवर्तित हुआ और अन्त में शब्दों के अनुरूप क्रियाओं का जन्म हुआ। वे धार्मिक क्रियाएँ ही यज्ञ नाम से कथित हुईं और उनमें सहयोग देनेवालों को ऋत्विज-होता-अध्वर्यु-यजमान-यजमानपत्नी-प्रभृति उपाधियाँ दी गईं। परन्तु उपाधियाँ प्राप्त व्यक्ति उस दल के थे जिसमें शिक्षा व विद्या थी और जो विद्याविशिष्ट होने के कारण यज्ञों को सौंदर्य्य-पूर्ण आडम्बर दे सकते थे, जो शाब्दिक चमत्कार द्वारा

भावव्यञ्जना में समर्थ थे। जो अशिक्षित और असभ्य थे उनमें भी भाव था, संकेत थे, व क्रियाएँ थीं, किन्तु उनकी क्रियाएँ शाब्दिक चमत्कार पर अवलम्बित होकर सांकेतिक प्रयोगों से पूर्ण दैवी चमत्कारों पर निर्भर थीं। सारांश यह कि उस प्राचीनतम मानवसमाज में सांसारिक दुःखों व विभूतियों के लिए इच्छाओं के दो रूप थे—शिक्षा समन्वित अपनी इष्ट-पूर्ति के लिए प्रकृति के शक्तिशाली पदार्थों का रहस्योद्घाटन कर तदनुकूल आचार करना जानते थे और अशिक्षित या असभ्य सांसारिक शक्तियों के देवताओं की साधना कर असाधारण कृत्य द्वारा सुखी होने की अभिलाषा रखते थे।[1] वैदिक 'अग्निमीळे' काल के 'रत्नधातमम्' की कामना करने वालों में दोनों प्रकार के लोग थे, दोनों ही स्तुतियाँ कर अपने अपने मनोरथों की पूर्त्ति चाहते थे; पर विद्या-अविद्या के कारण उनकी क्रियाओं में अन्तर रहा। जो साधना द्वारा असाधारण कृत्य करते थे उनका विश्वास जादू-टोटका-टोना-तंत्र आदि में हुआ और वे साधना के निमित्त पशुबलि, अशुभ-भेष-भूषण धारन, नरबलि, शरीरशोषण सदृश भयानक कृत्य, सुरापान आदि को प्रधानता देने लगे और जो आचारात्मक साधारण कृत्य से प्राकृतिक शक्तियों के भेद-ज्ञान से समन्वित हो जीवन को आनन्दित रखने के विचार वाले थे वे आत्मविश्वास रख कर शक्तियों की कृपा के प्रार्थी हुए; शक्तियों की प्रसन्नता के लिए वे प्रथम स्तुतियों में लगे, पुनः सामाजिक जीवन में स्तुतियों के सिद्धान्तानुकूल ज्ञानमय कर्म का सम्पादन करने लगे। यह उनका वैदिक यज्ञ था, जिसका सामूहिक पुरश्चरण उनका ध्येय हुआ।

1. " The last fact is not unnatural when the situation is

इसी कारण वैदिक विधियों पर विचार कर विद्वान् इन्हीं में दो मार्ग बतलाते हैं-प्रवृत्तिमार्ग, निवृत्तिमार्ग। सांसारिक विभूतियों की प्राप्ति उन्हीं के उपभोग में लीन होकर तरह तरह के असाधारण प्रयत्नों के द्वारा करने के वर्णन प्रवृत्तिमार्ग में आते हैं और सन्तोष-आत्माभिमान-आस्तिक्यबुद्धि-इन्द्रियनिग्रह-जनकल्याणवृत्ति द्वारा कर्म सम्पादन करते हुए सामाजिक जीवन की गति निवृत्ति-मार्ग से सम्बन्ध रखती है। पर मनुष्य-स्वभाव की विशेषता यह है कि वह प्रवृत्ति-मार्ग की ओर सहसा झुक पड़ती है और निवृत्ति-मार्ग उसके लिये आदर्श रखता हुआ भी कठिन प्रतीत होता है। फलतः वैदिक यज्ञ का आरम्भ जनसमूह के कल्याण की दृष्टि से ही होने पर भी उसकी विकास-गति धूममार्ग पर क्रमशः प्रवृत्ति-भाव की ओर हुई। और वैदिक कर्मकाण्ड के काम्यचक्र का संयोग धीरे धीरे साधनापथ के अलौकिक चमत्कारवाले कृत्यों से सम्बद्ध हुआ। और जैसे जैसे वैदिक विचारों का क्षेत्र विस्तृत होता गया उनके अनुयायियों में सभी प्रकार के लोग सम्मिलित होते रहे।

यज्ञ-सम्बन्धी ऋचाएँ ऋग्वेद में भी मिलती हैं और उसके पुरुषसूक्त में प्रजापति द्वारा विश्वयज्ञ निरन्तर होते रहने का जो वर्णन है वह यज्ञके साथ नररूपोपम ईश्वर की धारणा को

---

considered. Every undertaking of importance had to be preceded by sacrifices and austerities in order to render it auspicious. The greater the importance of the affair, such as beginning a war or going on a journey, the greater was the need of abundant sacrifice." Hume: The Thirteen Principal Upanishads-introduction, p. 14

प्रकट करता है। उससे यह भी विदित होता है कि यज्ञ का आरम्भिक स्वरूप विश्व-कल्याण व परोपकार की भित्ति पर निर्मित हुआ और ईश्वर द्वारा किए जाते संसार-हित की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित करते तथा यज्ञ-सम्पादन में मानवी सामर्थ्य को सम्भव बताते हुए प्रजापति की उपमा नर-रूप से दी गई। ऋग्वेद का यह भाव यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी विद्यमान रहा, परन्तु याज्ञिक विशेषता धीरे २ बढ़ती गई। ब्राह्मणग्रन्थों के समय तक यज्ञ एकदम प्रबल हो गए।[a] ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का समय निश्चित करना उतना ही दुष्कर है जितना संहिता का काल-निर्णय करना, पर इससे ब्राह्मणवर्णित याज्ञिक स्वरूप की कोई क्षति नहीं होती। ऐतरेय, सांख्यायण, पञ्चविंश, तैत्तिरीय, शतपथ आदि ब्राह्मणों में उल्लिखित यज्ञों के विस्तार से ज्ञात होता है कि यज्ञ-सम्पादन में याज्ञिक धीरे २ इतना आगे बढ़ते गए कि संहिताकाल की याज्ञिक विशेषताएँ परिवर्त्तित सी होती गईं

---

[a] "At the time when this process begins, all spiritual exercises which are performed in India are concentrated round one focus, the sacrifice. The world, which surrounds the Brahmans, is the place of sacrifice; the matters, of which, above all others, he has knowledge, are those relating to sacrificial duties He must understand the sacrifice with all its secrets, for understanding is all-subduing power. "By this power the gods have chained the demons—'mighty', so runs the promise for those who have knowledge, "doth he himself become, and powerless become, his enemy and controverter, who possesses such knowledge". Oldenberg: Buddha, p 19.

और यज्ञ, विस्तारमय होने के अतिरिक्त, आडम्बरपूर्ण भी बनते गए।

ऋग्वेद के मण्डल १ सूक्त १६२ में[3] केवल छः याज्ञिक सुविप्रों के नाम मिलते हैं—होता, अध्वर्यु, अवय, अग्निमिन्ध, ग्रावग्राभ व शंस्ता। इनमें अवय उपध्वर्यु का काम करता, अग्निमिन्ध यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित करता और ग्रावग्राभ सोम प्रस्तुत करता था। इनके पद बहुत पुराने थे, क्योंकि उनकी समानता के वचन जेंद-अवेस्ता और जेंद-अवेस्ता के श्रावोश (सरोश) तथा हवनन में मिलता है। कहीं २ तो संहिता में केवल होता और अध्वर्यु के ही नाम आए हैं, जो छः से भी पूर्व प्रधान रहे होंगे।[4] किन्तु ब्राह्मण-काल में अन्तिम चारों कीप्रधानता तो जाती रही और छः के स्थान में अनेक सहा यकों की आवश्यकता समझी जाने लगी। ब्राह्मणग्रन्थों के यज्ञ-विधानों में यजमान और यजमान-पत्नी को भी विशेष पद प्राप्त हुआ,[5] स्वपत्नी के बिना यजमान यज्ञ करने के योग्य नहीं माना गया[6] और ब्राह्मण की भी आवश्यकता छोटे से

---

[3] ऋग्वेद १-१६२-५ "होताध्वर्युरावया अग्निमिंधो ग्रावग्राभ उत शस्ता सुविप्र। तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वं॥

[4] "The two most ancient offices were those of the Hotar and Adhvaryu, they were known already when the ancient Iranians separated from the ancestors of the Hindus; for we easily recognise them by the names zota and *Rathwi* (now corrupted to Raspi) in the Zend Avesta." M Haug Aitareya Brahmanam—introduction, p 13

[5] शतपथ ब्राह्मण ५-२-१-१०

[6] तैत्तिरीय ब्रा० २-२-२-६ "अयज्ञो वा एषः। योऽपत्नीकः।" ३-३-३-५ 'अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः।"

छोटे यज्ञ में स्वीकार की गई। ब्रह्मा-सम्बन्धी वचन संहिता में आए हैं और ब्रह्मा का सम्बन्ध वास्तव में ज्ञान के साथ रक्खा गया है, यज्ञ के साथ नहीं। कथन है कि ब्रह्मा जातविद्या का जाननेवाला है,[7] वह रहस्य-ज्ञाता है[8], और होता व उद्गातृ के सदृश वह गायत्रिय तथा आर्त्विज है[9]। उपाधिरूप में भी ब्रह्मा शब्द का प्रयोग देवगुरु बृहस्पति, अग्नि, अग्नि के उपासक आंगिरस, और वेदविद् ब्राह्मणों लिए किया गया है[10]। परन्तु यज्ञ के सम्बन्ध में ब्रह्मा की प्रशंसा कहीं नहीं की गई, बल्कि "मो षु ब्रह्मेव तंद्रयुर्भुवो" कह कर उन की सुस्ती दिखलाई गई है और ऐतरेय में ब्रह्मा की बेकारी की स्पष्ट शंका है—"किं स्विद्देवचक्रुषे ब्रह्मणे दक्षिणा नीयतेऽकृत्वाहो स्विदेव हरता इति।"[11] तोभी इसके समाधान में कथित पंक्तियों से विदित होता है कि ब्रह्मा का काम यज्ञ का पर्यवेक्षण था। पर्यवेक्षण की आव-

---

[7] ऋग्वेद १०-७१-११

"ऋचां त्व' पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

[8] ऋग्वेद १०-८५-३, १६, ३५, ३६

[9] ऋग्वेद १-१०-१

[10] ऋग्वेद १०-१४१-३; ७-७-५; ७-४२-१; १-१०८-७

"As the divine *brahman* priest Brhaspati seems to have been the prototype of Brahmā, the chief of the Hindu triad while the neuter form of the word, brahma, developed into the Absolute of the Vedānta philosophy" A. A. Macdonnel Vedic Mythology, p 104

[11] ऋग्वेद ८-९२-३०; ऐतरेय ब्राह्मण ५-५ अन्तिम.

श्यकता भी थी, क्योंकि यज्ञों की सादगी इस समय तक दूर हो गई थी। संहिता-काल में केवल याज्य था, जो ये 'यजामहे' से आरम्भ होकर "अग्ने विहि" के वषट्कार और अनुवषट्कार से समाप्त होता था[12], ब्राह्मण-काल में आरम्भिक मंत्रों के अलावे स्थान स्थान पर स्तुतियाँ समाविष्ट कर यज्ञ की क्रियाएँ बहुत विस्तृत कर दी गईं।[13] विशेषार्थक पद और ब्राह्मणों में कथित नियमोपनियम भी यही प्रमाणित करते हैं।

यज्ञों का वर्णन ब्राह्मणों में कर्मविधान, अर्थवाद, निन्दा, शंसा, पुराकल्प, परकृति नामक छः विभागों के भीतर किए गए हैं। हिरण्यकेशी व आपस्तम्ब सूत्रों के आरम्भिक अध्यायों में इन पर प्रकाश डाला गया है। विधि लिङ् में यजेत-शंसेत-कुर्यात् सदृश व्यक्तआदेश कर्मविधान या विधि-विभाग के विषय हैं और अर्थवाद का सम्बन्ध पदार्थ, मंत्रव्याख्या, व्यक्ताव्यक्तवर्णन, प्रयुज्यतापरिचय, सरूपता-दिग्दर्शन और यज्ञ-प्रयोजन-स्पष्टीकरण से है। निन्दा का ध्येय है यज्ञों के विरुद्ध उक्तवचनों से यजमानोंको सावधान कर देना और उन विरोधी मतों की ओर झुकने से होनेवाली बुराइयां उन्हें समझा देना

---

[12] ऋग्वेद १-१४-८ "ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबंतु जिह्वया। मधोरग्ने वषट्कृति ॥";
७-१४-३ "आ नो देवेभिरुप देवहूतिमग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः।"
७-१५-६ "सेमां वेतु वषट्कृतिमग्निर्जुषत नो गिरः।"

[13] ऋग्वेद १-१६२-१५
मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगंधिर्मोखा भ्राजंत्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णंत्यश्वं ॥"

और प्रशंसा द्वारा याज्ञिक क्रियाओं की श्लाघा करना, जिसमें 'यएवं वद' का अधिक प्रयोग किया गया है। पुराकल्प में पुरातन याज्ञिकोंके सम्बन्ध की कहानियां देकर सभी यज्ञ देवों द्वारा सम्पादित बतलाए गए हैं और प्राचीन यज्ञकर्त्ताओं में सृष्टिकर्त्ता प्रजापति का भी नाम अंकित है; इस विभाग में देवासुर-संग्राम का पूरा वर्णन मिलता है जो अवश्य ही अपना भारी महत्व रखता है। कल्पना की जाती है कि देवासुर-संग्राम भारतीय देवों और इरानी असुरों के बीच की धार्मिक लड़ाइयों की ऐतिहासिक गाथा है, जिसे ब्राह्मणों ने सुरक्षित रक्खा है। परकृति का विषय है किएगए यज्ञों के फल, यज्ञार्थ ब्राह्मणों को राजसाहाय्य व याज्ञिक सफलता का वर्णन करना। जान पड़ता है कि ये विभाग यज्ञ की समुन्नति के काल में याज्ञिक सिद्धान्तों के प्रचार, प्रभाव व संरक्षण की दृष्टि से निर्धारित किएगएऔर इस प्रणाली से याज्ञिक प्रावल्य की स्थापना में अवश्य ही भारी सहायता मिली।

यज्ञों की प्रियता यहां तक बढ़ी कि शतपथ के 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' के यज्ञ ही मानवजाति के मुख्य व श्रेष्ठ कर्म समझे जाने लगे,[१५] और समाज के सारे सुखों की साधना यज्ञों से ही सम्भव मानी गई। ऐतरेय ब्राह्मण ने "कल्पते यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते" कह कर यज्ञों की उपयोगिता मानव मात्र के कल्याणार्थ प्रतिपादित की और देवताओं की प्रसन्नता भी यज्ञों पर ही अवलम्बित की गई।[१६]

---

[१५] शतपथ ब्रा॰ १-७-१-५; काठक संहिता ३०-१०, में भी ऐसा ही उल्लेख है।

[१६] "In the Brahmanic period a change took place similar to that in the greek religion That very efficacy of the

धीरे धीरे यज्ञ के करनेवालों को यज्ञ द्वारा अक्षय सुखों की प्राप्तिमें प्रतीति बढ़ती गई और वे यज्ञविधायक विद्वानों को भी देवतागुण-सम्पन्न समझने लग गए। कहा जाने लगा[१६]-'विद्वा ७ सो हि देवाः।"

यज्ञ के ऐसे उच्च अभिप्राय पर महर्षि पाणिनि द्वारा किए गए 'यज्ञ' शब्द के अर्थ से भी पूरा प्रकाश पड़ता है। यज्ञ शब्द 'यज' धातु से निकला है, जिस का अर्थ पाणिनी में है—"यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु"—अर्थात्-'यज' धातु का प्रयोग देव पूजा, संगति—करण और दान के अर्थ मे होता है। देव-पूजा का अभिप्राय है देवताओं का उचित सत्कार स्तुति-शंसा-होम आदि द्वारा करना, सगति का है एकत्र होकर इष्टपूर्त्ति के कृत्यों पर विचार करना, और दान का है अपनी चीजें सादर व भक्ति के साथ दूसरों को देना। पुनः देव शब्द 'दिवु' धातु से बना है और इस पर पाणिनी ने लिखा है—"दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न कान्ति-गतिषु" अर्थात्-दिवु धातु का प्रयोग खेल, विजयेच्छा, पारस्परिक वर्त्ताव, प्रकाश, प्रशंसा, आनन्द, अभिमान, स्थूलगति की

---

sacrifice for the appeasement of the gods whereby men had been kept in subjection, turned out to be an instrument in their hands for controlling the gods, who now became the dependants and received their sustenance from such sacrifice as men might give" Hume The Thirteen Principal Upnishads—introduction, p 52

ऐतरेयब्राह्मण १-७

[१६] शतपथ ब्राह्मण ३-७-३-१०

स्थिरता में अन्तः विचार, शोभा और ज्ञानगमन-प्राप्ति के अर्थों में होता है। तदनुकूल यज्ञ शब्द का विशद अर्थ होता है आनन्द-वृद्धि, मित्रेच्छा, पारस्परिक बर्ताव, प्रकाश, विस्तार, प्रशंसा-प्राप्ति, सच्चा आनन्द, स्वाभिमान, सफलता, शोभा, और सामाजिक लाभ के यत्नों पर विचार व उनके पालन के साधनों पर सामूहिक चिन्तन करना और सम्पादनार्थ शक्ति तथा सम्पत्ति का व्यय करना। ब्राह्मण व सूत्रों में वर्णित यज्ञोंका स्वरूप भी ऐसा ही है और उन यज्ञों के सामर्थ्य में विश्वास भी यजमानों का उस समय बहुत भारी था।

ब्राह्मणग्रन्थों में शक्तिशाली वैदिक यज्ञों के कई नाम व प्रकार मिलते हैं[13]। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ ऐसे पञ्च महायज्ञ थे जिनका सम्पादन नित्य ही होता था, पर सामयिक यज्ञ भी अनेक थे और उनके सम्पादन में विविध विधियाँ की जाती थीं। पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, नरमेध, गोमेध आदि ख्याति-सम्पन्न ऐसे बड़े यज्ञ थे जिनमें समय और धन दोनों ही पर्याप्त लगते थे। इन यज्ञों में "स्वर्गकामो यजते" का प्रोत्साहन था और इसी विश्वास में तत्कालीन समाज यज्ञमय हो गया था। सभी आश्रम के लोग अपनी

---

[13] गोपथ ब्राह्मण में यज्ञ की इक्कीस संस्थाएँ कथित हैं—"स एतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमानयत्। पू०-१-१२।" शतपथ ब्राह्मण १०-४-३-४ "अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्धं सौममध्वरम्।" गोपथ ब्रा० पू० ५-७.

२ वृत्तियों में संलग्न कोई न कोई यज्ञ किया करते थे। ऋतुओं के आरम्भ में, उनके अन्त में, वर्षा नहीं होने पर, फसल तैयार होने पर, फसल काटने के समय पूर्णमासी को तथा अन्यान्य अवसरों पर विशेष २ प्रकार के यज्ञ किए जाते थे। यज्ञ-प्रचारक उन्हें शक्ति-प्रदायक, राजसत्तावर्द्धक, प्रजाकल्याण-विधायक और अलौकिकानन्द-प्रद कहा करते थे और यजमान उनके वचनों में अचल विश्वास रख कर यथासम्मति यज्ञ-सम्पादन किया करते। यज्ञों के पापनाशक होने का भारी विश्वास यजमानों में था और ब्राह्मणों द्वारा इस पर विशेष जोर दिया जाता था; इसी कारण अग्निहोत्र, अश्वमेध, पौर्णमास आदि यज्ञों के सम्पादन से सारे पापों के नष्ट हो जाने के अनेक कथन ब्राह्मण ग्रन्थों में दृष्टिगत होते हैं [१८]।

आरम्भ में यज्ञ ईश्वरपरायण थे अवश्य और पुरोहित-यजमान दोनों ईश्वर को 'यज्ञस्य देवम्'' कहकर स्मरण किया करते थे और संहिता के वैदिक देवताओं का सम्बन्ध भी यज्ञों से पूरा था, यज्ञ के आधार ही देवता थे। पर जैसे जैसे यज्ञों का प्राबल्य बढ़ता गया, उनका प्रभुत्व भी वृद्धि

---

[१८] शतपथ ब्राह्मण २-३-१-६ "सर्वास्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति"; १३-५-४-१ "तेनेष्ट्वा सर्वा पापकृत्या ꣳ सर्वां महाहत्यामपजघान सर्वां ह वै पापकृत्या ꣳ सर्वांब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते"; गोपथ उ० ४-६ "एवं हैवैते सर्वस्मात्पाप्मनः सम्प्रमुच्यन्ते ये शाक्लां जुह्वति"; षड्विंश ३-१-२ "पाप्मान ꣳ हैप हन्ति यो यजते", ३-४-५ "तेन पाप्मानं भ्रातृव्य ꣳ स्तृणुते, वसीयानात्मना भवति एतया स्तुते"

पाता गया। यज्ञारम्भ में होता को अग्नि, अध्वर्यु को आदित्य, ब्रह्मा को चन्द्रमा, उद्गाता को पर्जन्य और सदस्य को आकाश कहते कहते एक ओर यजमान यज्ञविधायकों में देवताओं का अनुमान करने लगे, दूसरी ओर होता-ब्रह्मा-अध्वर्यु आदि अग्नि-आदित्य-चन्द्रमा को अपने में ही समझ कर उनके बाह्य स्थित्व को अनावश्यक बोध करने लगे। प्रमाद ने प्रवेश किया, संहिता के देवताओं के स्वरूप पर इस का प्रभाव पड़ने लगा। १ली दशा में देवता का बल यज्ञाधीन होना आरम्भ हुआ और यज्ञ के आधार अग्नि को देवताओं में प्रथम मान कर कहा गया—"अग्निर्वै देवानाम वमो विष्णुः परमः"; फिर देवताओं का मुख अग्नि मानी गई—"अग्निर्वै देवतानां मुखम्।" दूसरी दशा में देवताओं की कल्पना यज्ञ में देवता बने विप्रों में की जाने लगी, जिससे संहिताकाल के इन्द्र के बदले विष्णु-रुद्र-ब्रह्मा की ख्याति बढ़ी, असुर का अर्थ भी देवता से बदल कर राक्षस हुआ और देवासुर-संग्राम-वृत्तों से असुरों के प्रति घृणा प्रदर्शित की गई[1]। प्रजापति का भी मान आरम्भ हुआ। क्रमशः ३री दशा

---

[1] "But their significance has wholly faded, and they owe all the power they possess to the sacrifice alone. Furthermore, some gods who still play a subordinate part in the Ṛgveda, step into far greater prominence in the liturgical samhitas and in the Brāhmaṇas, as Viṣṇu, and especially *Rudra* or *Śiva*. Paramount importance now also attaches to *Prajāpati*, "the lord of creatures", who is as the father of the gods (devas) as well as the (asuras). The word *Asura*, which, corresponding

पस्थित हुई जब देवताओंका स्वबल जाता रहा और यज्ञ
े उनका प्राण और सामर्थ्य समझा जाने लगा। अब यज्ञ
ानोरथ-पूर्त्ति का साधन नहीं रहकर स्वयं एक अत्युच्च
ष्ट हो बैठा। यज्ञ-शक्ति स्रष्टा की शक्ति का समकक्ष कही
ाने लगी, "एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः" कहकर
ज्ञ ही प्रजापति कहा गया और "स यः स यज्ञोऽसौ स
ादित्यः" द्वारा यज्ञ ही सूर्य समझा गया; यज्ञ करनेवाले
ं भी सर्वस्रष्टा की भावना दृढ़ हुई[२०]। यज्ञकर्त्ता अपने
ो देवताओं की शक्तियों के उत्पादक जानते हुए "अस्माभिः
ृतानि देवतानि" के सिद्धान्तवादी बने। इस धारणा
े यज्ञ को देवत्व, नहीं प्रजापतित्व-ईश्वरत्व प्राप्त हुआ
ौर याज्ञिकों के देवता या ईश्वर का स्थान यज्ञ को

---

o Ahura, in the Rgveda still has the meaning of "endowed vith miraculous powers" or "God" and appears especially often as an epithet of the god Varuna, henceforth has exclusively the meaning of "demon" which it always has in later sanskrit and again and again mention is made in the Brahamanas of the battle between Devas and Asuras." Winternitz: Indian Literature, p 196.

[२०] शतपथ ब्राह्मण ४-३-४-३; १४-१-१६; १४-३-२-१ "सर्वेषां वाऽएष भूतानां ं। सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञस्तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते यस्यधर्मो विदीर्यते तत्र प्रायश्चित्तिः।" ३-६-३-१ "सर्वं वा एषोऽभि दीक्षते। यो दीक्षते यज्ञं ह्यभि दीक्षते यज्ञं ह्येवेदं सर्वमनु तं यज्ञं सम्भृत्य यमिममभि दीक्षते सर्वमिदं विसृजते।"

मिला:[21] याज्ञिक ऐसे सामर्थ्यवान् यज्ञों का सम्पादन करते हुए सोमपान द्वारा मस्त गाने लगे[22] —

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

अब यज्ञ में सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय को इतना उच्च गौरव प्रदान किया जाने लगा कि यज्ञपात्रों के रखने, कुश घास के तिनके तक को यथोचित स्थान देने, अग्नि सुलगाने, याज्ञिक विप्रों को बुलाने-बैठाने-सम्मानित करने, और घी को नियमानुकूल अग्नि में डालने पर पूरा ध्यान देने की जरूरत समझी गई; इनके नियम बनाए गये और उनका पालन अनिवार्य हुआ और इस धारणा से अग्निमीळे के नररूपोपमईश्वर का परिवर्तन 'अस्माभिः कृतानि दैवतानि' के ईश्वररूपोपम यज्ञ-पदार्थ में हुआ। कर्मकाण्ड-निर्वाहार्थ विहित विधियों के अनुसरण पर पूरा बल देते हुए उसीसे स्वर्ग सुलभ कहा गया और नियम भंग होने पर दुर्भिक्ष-कोप तथा दुष्टात्माओं द्वारा पीड़न का भय शास्त्र-कथित हुआ।[23] यज्ञ के इस प्रकार सर्वेसर्वा बन जाने पर इसी तरह याज्ञिक विप्रों के महान् सम्मान की साक्षात् हुई। ब्राह्मण देवता के बराबर ही नहीं स्वयं देवता माने जाने लगे, क्योंकि शक्तिशाली

---

[21] "They had such faith in its power that there was no place whatever for God, everything being done in their system through the agency of sacrifice; though they invoked a number of deities in the course of the performance of their rites and ceremonials." Bhattacharya : The Basic Conception of Buddhism, p. 2

[22] ऋग्वेद ८-४८-३   [23] शतपथ ब्राह्मण १२-२-३-१२।

यज्ञों का सम्पादन कर देवताओं की शक्ति को उत्पन्न करने में वे ही समर्थ थे। शतपथ ब्राह्मण ने[२४] इसको दर्शाते हुए कहा है—"देवता दो प्रकार के हैं—एक प्राकृतिक देवता, दूसरे मानुषी देव। इन दोनों के बीच में ही शक्ति सम्पन्न यज्ञ हैं। याज्ञिक समर्पण से प्राकृतिक देवता प्रसन्न होते हैं और यज्ञ की दक्षिणा से विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण देव। ये दोनों ही देवता प्रसन्न होकर यजमानों में स्वर्ग-सुखों का वितरण करते हैं।" इस महती प्रतिष्ठा को प्राप्त ब्राह्मणों पर राजा का अधिकार स्वीकृत नहीं किया गया; राजा का भोजन राष्ट्र रहा पर उसके भीतर ब्राह्मण नहीं रहे, क्योंकि अभिषेक के ही समय पुरोहित कह देता कि ब्राह्मणों का राजा सोम है।[२५] ब्राह्मण के विरुद्ध कोई बात मानी नहीं जा सकती थी[२६], न प्रतिसिद्ध पदार्थों का ग्रहण ब्राह्मण के सिवाय अन्य कोई कर सकता था, लोग मानते थे कि ब्राह्मणों में सब कुछ पचा

---

[२४] शतपथ ब्रा० २–२–२–६ "द्वया वै देवाः।···एनमुभये देवा प्रीताः सुधायां दधति"; २–४–३–१४; ४–३–४–४

[२५] शतपथ ब्राह्मण ५–४–२–३; ११–५–७–१; १३–५–४–२; १३–१–५–४

[२६] तैत्तिरीय संहिता २–५–११–९ "अभवन् परासुरा यस्यैव विदुषः प्रवरं प्रवृणते भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति यद्ब्राह्मणश्चा ब्राह्मणश्च प्रश्नमेयातां ब्राह्मणायाधिब्रूयाद्यद्ब्राह्मणायाध्याहात्मनेऽध्याह यद्ब्राह्मणं पराहात्मनं पराह तस्माद्ब्राह्मणो न परोच्यः।" शतपथ ब्राह्मण १३–३–५–३ "ब्रह्महत्यायै स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं जुहोति मृत्युर्ह वाऽअन्यो ब्रह्महत्यायै मृत्युरेव ह वै साक्षान्मृत्युर्यद्ब्रह्महत्य साक्षादेव मृत्युमवजयति।"

सकने की शक्ति है।[२७] ऐसे सामर्थ्य से समन्वित हो अन्ततोगत्वा याज्ञिक विप्र देवताओं से भी बड़े माने जाने लगे,[२८] जो भाव निस्सन्देह मानुषी शक्ति की उच्चतम धारणा से ओत प्रोत था।[२९]

---

[२७] तैत्तिरीय संहिता २-६-८-७ "प्राशित्रं मा हिंसिष्यतीति ब्राह्मणस्योदरेणेत्यब्रवीत् हि ब्राह्मणस्योदरं न्त्रिवं हिनस्ति।"

[२८] शतपथ ब्रा० १२-४-४-६; ऐसा बड़ा सम्मान मनुस्मृति के ९ वें अध्याय में भी कथित है.—

"अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणा पूज्या परमं दैवतं हि तत् ॥३१९"

[29] "... it is also the precursor of a phenomenon which we can trace through the whole of Indian Antiquity, and which, I think, is deeply rooted in the life of the Indo-European mind While, for instance, the Hebrew poet says "What is man, that thou art mindful of him and the son of man that thou visitest him?" and adds "Man is like unto nothingness", a Greek poet uttered the great saying "There is much that is powerful, but the most powerful is man" And a German poet—the same who created the super man Faust, who knocks violently at the gates of the spirit-world—has sung the song of Prometheus, who calls to the gods

"I know nothing poorer
Under the Sun, than Ye, O gods!"

And in India we see how, already in the Brahmans, e priest exalts himself over the gods through the

'अस्माभिः कृतानि दैवतानि' ने देवतावाद के साथ ही सामाजिक जीवन में भी परिवर्त्तन उपस्थित किया। समाज में ब्राह्मणों का जो जीवन सादगी से भरा था, वह देवत्व को प्राप्त होकर स्वर्ग में सम्पत्ति-सम्पन्न देवताओं के ही सदृश समाज में भी धनधान्य-पूर्ण हो गया। यज्ञों में भारी दक्षिणा ब्राह्मणों को मिलती थी और पीछे वह दक्षिणा निमंत्रण के साथ ही करार कर दी जाने लगी।[30] इससे ब्राह्मण धनी होने लगे और त्यागमय तपरत जीवन को प्रधानता देना उन्हें प्रिय नहीं हुआ। ऐसी दशा में समाज के आचार पर भी अधिक जोर नहीं दिया गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तृत आचारात्मक विवरण नहीं मिलते, कहीं कहीं सत्यप्रियता और असत्य-त्याग के वचन हैं। वास्तव में यज्ञ ही सर्वस्व था और याज्ञिक क्रियाओं पर ही सबोंका ध्यान था[31]। आध्यात्मिक चिन्तन भी यज्ञ के आगे मन्द रहा, मानो कर्मकाण्ड के सामने दार्शनिक मनन का कोई महत्व ही नहीं था। ब्राह्मणों में यत्रतत्र प्रसंगवश जो दार्शनिक विचार आये हैं वे भी संहिताकाल

---

sacrifice, in the epics we read countless stories of ascetics who, through *asceticism* attain to such ascendancy that the gods tremble upon their thrones " Winternitz : Indian Literature, pp. 200-201.

[30] Dr. Haug : Aitareya Brahmanam-introduction, p. 56.

[31] "Morals have found no place in this system : the sacrifice which regulates the relationship of man with the gods is a mechanical operation which acts by its innermost energy ; hidden in the bosom of nature, it only emerges under the magic action of the priest." Sylvain Lévi : La doctrine du sacrifice, p. 9 ; cf. 164 ff.

के ही विचार कथित हैं, उनसे आगे कोई चेष्टा उस समय नहीं की गई। इन परिवर्त्तनों से एक अन्य आश्चर्यकारी परिवर्तन याज्ञिक युग में यह हुआ कि वैदिक यज्ञ के भीतर अलौकिक चमत्कार प्रदान करने वाली बलिप्रथा का भी समावेश हुआ और ईश्वर-देवता आदि के आसन पर उपविष्ट याज्ञिक विप्रों द्वारा पशुवध का विधान विस्तृत मंत्रोच्चारण के साथ किया जाने लगा, जिसके अनेक प्रमाण ब्राह्मण-ग्रन्थों में भरे हैं।

कहीं कहीं यज्ञ के साथ अध्वर शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में कथन है—'अग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति', 'यज्ञानामध्वरश्रियं'; इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'अध्वरो वै यज्ञः'।[22] इनसे यज्ञ के अध्वर अर्थात् बलि-रहित होने का अर्थ किया जाता है, पर इससे यह निष्कर्ष ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिकूल होगा कि यज्ञ में उस समय कोई हिंसा नहीं होती थी, न पशुवध प्रचलित था।[23] वध होता था और इतना

---

[22] ऋग्वेद १–१२८–४; १–४४–३. शतपथ ब्राह्मण १–२–४–५. इनमें आए यज्ञ व अध्वर शब्दों के भिन्न २ अर्थ ओल्डनबर्ग और मैकडानल महोदय ने किए हैं, वे परस्पर भिन्नता रखते हैं; ओल्डनबर्ग ने ने यज्ञ का Sacrifice और अध्वर का Worship अर्थ किया है; जिसके प्रतिकूल मैकडानल के अर्थ हैं—यज्ञ का Worship और अध्वर का Sacrifice. पं० भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' पृष्ठ १४३ में 'आर्य लोग यज्ञ को Sacrifice नहीं समझते (देखो गुरुदत्त लेखावली पृ० ८८)। यह तो इस शब्द का पौराणिक काल का अत्यन्त संकुचित और भ्रान्तिप्रद अर्थ है।' लिखते हुए पृ० १५१–५२ में ऊपर के उद्धरणों पर विचार किया है।

[23] 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के पृ० २०४, में पं० भगवद्दत्त

अधिक होता था कि कालान्तर में, दार्शनिक सांख्यविदों ने वैदिक यज्ञ को अपवित्र कहा और चार्वाक मत ने उसका कटु विरोध भी किया। यह माना जा सकता है कि अध्वर यज्ञ में किन्हीं कारणों से पशुवध को भी स्थान मिला और वह भाव धीरे धीरे बल पकड़ता गया, भले ही उसका यदा-कदा विरोध भी किया गया हो।[२३] कहीं कहीं पशुवध ऐच्छिक भी कहा गया है और ऐसी भी सम्मति है कि कुछ दशा में पशुहिंसा की विधि सिद्धिवादियों की ओर से प्रवृत्त हुई।[२४] समय पाकर हिंसात्मक यज्ञों का विरोध भी कुछ ब्राह्मणों द्वारा किया गया

ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"ब्राह्मण ग्रन्थों में जो यज्ञ कहे गये हैं उन में से अनेकों में बलिदान का विधान पाया जाता है। हमारा निज का इस बलिदान वाले यज्ञ में विश्वास नहीं। शतपथ ब्राह्मण में एक कथन है जिसके पाठ से प्रतीत होता है कि वनस्पतियाँ ही यज्ञ के योग्य हैं—अग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इति वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजरन्यद्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति। श॰ ३-२-२-९ "

[२४] ऐतरेय ब्राह्मण २-१-३ के "तदाहुर्नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात्पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति यजमानो ह्येतेनात्मानं निष्क्रीणीते इति तत्तन्नादृत्यं" वचन में विरोध का भाव स्पष्ट है।

तैत्तिरीय संहिता २-१

[२५] "Besides this theory—and Oldenberg does not do more than hint at the possibility of totemism as a cause in some cases of the offering—there is one, accepted by Ludwig and by Eggeling amongst others, which recognizes *the animal sacrifice as a redemption of Self. This is cer-*

जिसका प्रमाण पुराणों की परम्परा-वार्ता में है, पर उस समय वे सफल नहीं हो सके, हिंसा जारी रही[२६]। तैत्तिरीय संहिता के[२७] पूर्णचन्द्र-यज्ञ,सोमयज्ञ और अग्निचयन के अवसर पर पशुवध का विधान है और ऐतरेय ब्राह्मण[२८] में पशु विभाग-रीति को समझाने पर कहा गया है—"स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजंत्यथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेलगा वा पाप-

---

tainly the view expressed here and there in the Sanhitas, especially in the accounts of the substitution of the various victims for each other and *finally for man*". *A. B Keith*: Taittiriya Sanhita-introduction, p. CVI.

तैत्तिरीय संहिता ६-१-११-६;

शतपथ ब्राह्मण के १-२-३-६ "अग्नेपशुमालेभिरे......मेधोऽपच-क्राम" से भी पशुवध का भाव निकाला जाता है।

[२६] "Tradition does not indicate any marked stage for a long time afterwards, except that it suggests, that in the time of Vasu Caidya-Uparichar the question *became acute*, whether animals should be *offered in* sacrifices or only inanimate things. He was the foremost monarch of his day. He was appealed to as an authority on dharma, and *declared* that the practice of sacrificing *animals* was quite permissible, and so incurred the *anger* of brahmans who asserted the doctrine of *ahimsa*, though it is said he made a *great* sacrifice in which nothing living was offered" Pargiter, A. I. Historical Tradition, pp 315-316.

[२७] तैत्तिरीय संहिता प्रथम का० प्रपा० १, २, ३; तृतीय का० प्र० १-४; पंचम का० प्र० ५,६,७; षष्ठ का० प्र० १,२,३; आदि।

[२८] ऐतरेय ब्राह्मण ७-1-१

रूनो वा पशुं विमश्नीरंस्तादृक्तत्तां वा।" ऐतरेय की द्वितीय पंजिका में पशुयज्ञ के यूप के माहात्म्य में कथन है—"यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायं", जिससे आगे यूप के गाड़ने, पशु लाने, पशु के भयभीत होने, पशु के सामने घास डालने आदि के भी वर्णन हैं; इनके वहाँ होते कैसे कहा जा सकता है कि वैदिक यज्ञ में पशुवध कतई नहीं था। तैत्तिरीय संहिता के १-४-३६ में रक्त रुद्रको[३५] अर्पित है और ऐसा ही उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में भी है। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विप्रों के यज्ञमांस-भक्षण के भी उल्लेख हैं और इसीके अनुकूल मांसभक्षी विप्र आज भी यज्ञ-प्रसाद या देवी-प्रसाद कह कर बलि-प्रदत्त छाग के मांस को सानन्द ग्रहण करते हैं, इस परम्परा को कोरा जिह्वा-लौल्य ही नहीं कहा जा सकता। पशुबलि देव-प्रियता के निमित्त आत्मबलिदान का बदला था और बलि देनेवाला विश्वास रखता था कि बलि से देवता प्रसन्न हो कर हित-साधन करेंगे और बलि प्रदत्त जीव को भी उच्च गति मिलेगी। इसीसे बलि-प्रदत्त जीव के नहीं मरने की धारणा का संकेत ऋग्वेद (१-१६२-२१) में भी मिलता है—

"न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युंजा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥

[३५] १-४-३६ "पशुपतिमिति पशुपतिम्। स्थूलहृदयेनेति स्थूलहृदयेन। अग्निम्। हृदयेन। रुद्रम्। लोहितेन। शर्वम्। मतस्नाहृदयेन रुद्रं लोहितेन शर्वं मतस्नाभ्यां महादेवमन्तः पार्श्वेनौषिष्ठहनं शिङ्गीनिकोश्याभ्याम्॥ २७॥"

किन्तु यज्ञ चाहे घर हों या अध्वर उनका एक ही प्रधान लक्ष्य था, स्वर्गप्राप्ति के लिए ही यज्ञानुष्ठान किए जाते थे और याज्ञिक विप्र भी स्वर्ग-सुखों का भविष्य दिखला कर ही यागायोजन की ओर लोगों को आकर्षित किया करते थे। स्वर्ग की प्राप्ति मरने के बाद ही सम्भव थी; तो भी इस ओर ऐसा अचल विश्वास होता गया कि मरणोपरान्त जन्मान्तर में स्वर्ग में सुखों के भोगने का भाव दृढ़ सा हो गया, और इसके साथ जन्मान्तरवाद को जोर मिला। यद्यपि जन्मान्तरवाद का मूल ऋग्वेद के मंत्रों में खोजने की चेष्टा सायण,[40] गेल्डनर,[41] बोयर[42], हिल्टिश[43], होल्टलिंक[44] आदि विद्वानों ने की है, तो भी उनकी बतलाई ऋचाओं में यह भाव अवश्य ही उतना स्पष्ट विद्यमान नहीं मिलता, तैत्तिरीय

---

[40] A. B. Keith: ZEMD, lxiii 349

[41] ऋग्वेद १०-१४-२ "यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥"
४-४२-१ "मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः। क्रतुं सचंते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः॥"

[42] Boyer: J.R.A.S 1910, p 215

[43] ऋग्वेद १०-१४-१४ "यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे॥"

[44] ऋग्वेद १-१६४ "अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानां। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥३०
अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वंता विषूचीना वियंता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यं॥३८"
Pischel: Vedische Studien, ii. 219, 221—"sees no trace of [m]igration in them."

संहितामें भी इसका साफ उल्लेख नहीं है।[45] सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण ने इसपर प्रकाश डाला और हविष-समृद्धि-व्याख्या में कहा - "अग्निना ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते सोऽग्निना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्य सलोकतां जयति।"

इस विचार के अनुकूल शतपथ को प्रजापति के प्रकृति-चित्रण मे भी तैत्तिरीय से कहीं आगे[46] बढ़ना पड़ा और उसने विश्वात्मा से भिन्न यज्ञकर्ता के उस वैयक्तिक आत्मा का अनुभव किया जिसे इस संसार से निकल कर प्राप्य स्वर्गलोक में सुखों का भोग करना था।[47] इस सिद्धान्त से जन्मान्तरवाद की भारी पुष्टि हुई और तब से उसपर स्पष्ट विचार प्रकट किए जाने लगे। एवं प्रकार 'अस्माभिः कृतानि दैवतानि' ने भारतीय चिन्तन जगत् को तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों से प्रभावित किया – पहला सिद्धान्त था ईश्वर या देवता से भी आगे बढ़ जाने की मानवी योग्यता, दूसरा सिद्धान्त था कर्म की प्रधानता जिससे ही स्वर्ग सुख प्राप्त हो सकते हैं और तीसरा सिद्धान्त था जन्मान्तरवाद का जिसका निर्णायक मनुष्य का कर्म ही था।

---

[45] "Of this there is absolutely no hint in the *Taittiriya* any more than there is in the Ṛgveda A B Keith · Taittiriya Saṁhita introduction p cxxviii

[46] शतपथ ब्राह्मण ११–४–४–२, १०-१-७-४;
तैत्तिरीय संहिता ११–६–१,१२–१–१–१; ५–५–२–१, ५–६–४–२, ३; ५–७–५–२

Sylvain Levi La doctrine du Sacrifice, p 95, A B Keith J R.A S 1909, p 574

[48] शतपथ ब्राह्मण १०-५-३; १०-६-४.

चौथा अंश

ईश्वरासिद्धेः

'स्वर्गकामो यजेत' की प्रधानता के प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों में मिलते हैं। उनसे यह भी विदित होता है कि वैदिक आर्यों की याज्ञिक मनोवृत्ति सामूहिक लाभ की भावना से भरी थी और वे यज्ञों का प्रयोजन सामाजिक कल्याण के निमित्त समझते थे। इस स्वरूप के प्रमाण यज्ञों में भाग लेनेवालों का समुदाय और याज्ञिक स्तुतियों में व्यक्त मनोरथ ही हैं। कोई भी वैदिक यज्ञ किसी एक व्यक्ति से सम्पादित नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक यज्ञ में पुरोहित-ऋत्विज-होता--उद्गाता-अध्वर्यु-यजमान-यजमानपत्नी आदि की आवश्यकता होती थी और उस अवसर पर उच्चरित मंत्रों में राष्ट्र-समाज-धर्म के उत्कर्ष के निमित्त बल-बुद्धि-सम्पत्ति-ऐश्वर्य-संतान आदि विषयों के प्रार्थ्यर्थ इच्छाएँ प्रकट की जाती थीं। उपस्थित लोग कामना करते थे—"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वै मनांसि जायताम्।"

यज्ञों के ऐसे प्राबल्य के प्रमाण-प्राचुर्य के रहते भी वेदों में कुछ ऐसी ऋचाएँ भी मिलती हैं जिनसे याज्ञिकों के विरोधी लोगों का पता चलता है। ऋग्वेद में आया है—[1] "मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।" और अथर्ववेद में मिलता

---

[1] ऋग्वेद १०-१३६-२

है—[२] "ये नातरन् भूतकृतोति मृत्युं यमन्वविन्दम् तपसा श्रमेण:" अथर्ववेद में अन्यत्र भी तप-श्रेष्ठता-सूचक कई वचन आए हैं।[३] इनसे विदित होता है कि ऐसे तपस्वी व मुनि तपस्या के पक्षपाती थे, वे यज्ञप्रिय नहीं थे। अथर्ववेद में जिन व्रात्यों का उल्लेख है[४]—व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्" उनका पूरा विवरण पंचविंशब्राह्मण में मिलता है। ये व्रात्य भी अयाज्ञिक थे और तपस्या-ध्यान-परायण रह ईश्वर-चिन्तन किया करते थे। वेदों के यज्ञ-युग में ऐसे अयाज्ञिक व्यक्तिगत उन्नति के प्रयासी थे, वे समुदाय-हितैषी यज्ञों के बदले वैयक्तिक कल्याण के विधायक शरीर-शोषक ध्यान-तप को मानते और यज्ञायोजन से दूर अरूप-चिन्तन किया करते थे। यज्ञ करने के अधिकारी होते भी वे व्रत-प्रिय थे।[५] व्रात्य शब्द इसी कारण व्रत से बना है और व्रत का प्राचीन सम्बन्ध शरीरायास से है, शरीर को तपा कर तप करना अयाज्ञिक तपस्वियों का ईश्वर-चिन्तन था। वे याज्ञिक ब्राह्मणों से बाहर रहते भी थे। ऋग्वेद के मण्डल ३ सूक्त २६ में[६] ऐसी ऋचाएँ मिलती हैं जिनसे व्रात्यों के आत्मचिन्तन-सम्बन्ध की धारणाओं का सांकेतिक ज्ञान होता है।

---

[२] अथर्ववेद ४-३५-२

[३] अथर्ववेद ७-७७-२ "द्रुहः पाशान् प्रति मुंचतां सन्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्," ११-१-१६, ६-१३३-४, १०-७-३६.

[४] अथर्ववेद १५-१-१

[५] "But the Sacrifice as the central part of religion was absent from *tapasya*, though it was open to an ascetic to perform a sacrifice if he cared" Dr B. K. Goswami: The Bhakti cult, p 12.

[६] ऋग्वेद ३-२६ "व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज

· ऐसे अयाज्ञिकों की ध्यान-तप-प्रियता बढ़ती ही गई और क्रमशः यज्ञकर्म के विरोध में वह ज्ञान-श्रेयता का रूप धारण करती गई। कुछ ऐसे लोग याज्ञिकों के समाज में पैदा हुए ज मोक्ष व ईश्वर-प्राप्ति के बदले सांसारिक-दुःखों की निवृत्ति प जोर देने लगे और उनका मुख्य विषय रहा ऐसे उपायों क चिन्तन जिनसे मनुष्य के दुःखों का नाश हो जाय वे चिन्तक वेद-विरोधी नहीं थे, वेद को मानते थे पर वेदों ज्ञानांश का अवलम्बन उनका प्रथम प्रयास हुआ। आप्तवचन द्वारा उन्हें ज्ञान ही श्रेय विदित हुआ और उसीसे संसा दुःखनिवृत्ति सम्भव जान पड़ी। सांख्यदर्शन के मू ज्ञानवाद का जन्म यहीं हुआ जिसे सांख्यकारिका ने क है—"ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥" अर्थात् ज्ञान से मुक्ति व अज्ञान से बन्धन घटित होता है। इस ज्ञानवा के पहले से ध्यान-वैराग्य-अभ्यास के भाव साथ-साथ आ र थे, उनका छोड़ना असम्भव-सा था; इस कारण सांख्यदर्शन सिद्धान्तों में वे भी समाविष्ट हुए। सांख्य-प्रवचनसूत्रों वे विद्यमान भी मिलते हैं, यथा[१]—"वृत्तिनिरोधात्तत्सिद्धिः" "वैराग्यादभ्यासाच्च", "ध्यानं निर्विषयं मनः।" ज्ञान द्वारा अपवर्ग-प्राप्ति को सुलभ निर्धारित करने पर सांख्यवादिय को उस ज्ञान के स्वरूप को निरूपित करना पड़ा और जा पड़ता है कि उसके निमित्त वे वेदों की ओर झुके, क्योंकि वेद

इमहे। पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गंतारो यज्ञं विदथेषु धीराः ॥६ अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधा रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥७॥

[१] सांख्य प्रवचनसूत्र ३-३१, ३-३६, ६-२५

के ही बल पर याज्ञिक यज्ञ द्वारा स्वर्गसुखों को सम्भव घोषित कर रहे थे।

वेदों में सांख्यवादियों को अपने ज्ञानवाद का आश्रय मिला अवश्य पर किस वैदिक ऋचा से किस निष्कर्ष को सांख्यवादी पहुँचे यह बताना बहुत ही कठिन है। इसे जानने का आज सुगम मार्ग वैदिक ऋचाओं के साथ वर्तमान सांख्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन ही है। पर ऐसा करने के पहले यह जान लेना अत्यावश्यक है कि वर्तमान सांख्यमत की स्थिति संस्कृत-ग्रंथों में किस तरह की है। सांख्यदर्शन की कोई प्राचीनतम पुस्तक नहीं मिलती। ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्य-कारिका ही सबसे पुराना सांख्यग्रन्थ है जिसपर शंकराचार्य्य के गुरु गौड़पादाचार्य्य और वाचस्पति मिश्र ने भाष्य भी लिखे हैं, और जिसका अनुसरण शंकर तथा सर्व-दर्शन-संग्रहकार माधवाचार्य्य ने किया है। कुछ काल तक लोग सांख्यप्रवचन-सूत्र को कपिल-कृत सांख्यदर्शन मानते रहे, पर अब विद्वानों द्वारा यह निर्णीत हो चुका है कि उसकी रचना पीछे की है; शंकर व वाचस्पति मिश्र के अलावे १४वीं सदी के माधवाचार्य्य तक ने सांख्य-प्रवचन-सूत्र से कोई उद्धरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिया है। किसी २ ने तत्त्वसमास को कपिल-प्रणीत मूल सांख्यग्रन्थ समझा है, पर तत्त्वसमास स्वयं इस धारणा का खण्डन करता है; क्योंकि तत्त्वसमास में सांख्यदर्शन के विषयों की तालिका मात्र है और प्रतीत होता है कि सांख्यसिद्धान्तों के अनुकूल किसीने उसे विषय-सूची के रूप में प्रस्तुत किया। एक सांख्यसार नामक ग्रन्थ भी है, जिसकी रचना विज्ञानभिक्षु ने की है और सांख्य-प्रवचन-सूत्र पर विज्ञानभिक्षु की संक्षिप्त वृत्ति के मिलने के कारण मानना पड़ता है कि

सांख्य-प्रवचन-सूत्र के बाद सांख्यसार की रचना की गई। अतः सांख्यमत के तीन ही ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं और उन्हीं तीन-सांख्यकारिका, सांख्य प्रवचनसूत्र व सांख्यसार—के आधार पर सांख्यमत का परिचय मिलता है। पर इनके रचनाकाल के कहीं पूर्व से सांख्यमत प्रचलित है। फलतः यह निर्विवाद है कि सांख्यमत के प्राचीन विचारों का पूरा विवरण आज उपलब्ध नहीं और जो कुछ विवेचन सांख्यमत का किया गया है वह उस प्राचीनता की अज्ञानता की ही दशा में। यही कारण है कि सांख्यमत का कुछ अंश आज स्पष्ट विदित नहीं होता और उस दशा में कारिका-सूत्र आदि पर तरह २ की शंकाएँ की जाती हैं व भिन्नता की दृष्टि से उनमें अन्तर भी दिखलाया जाता है। तो भी अन्य शास्त्रों के साथ विचार करने से ऐसी शंकाएँ दूर हो जाती हैं और सांख्य एक अन्युष्य दर्शन सिद्ध होता है।

सांख्यकारिका ने सांख्यमत का आरम्भ करते हुए सर्व प्रथम दुःखत्रय के नाशोपाय-चिंतन की आवश्यकता समझाई है और कहा है[1]—"दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽ

---

[1] सांख्यकारिका १

Mukherji Sankhya, p 5—" The philosophy of Sānkhya Kārikā may, therefore, be said to signify, by Ādhibhautika, Ādhidaivika and Ādhyātmika Bandhas, the erroneous views regarding the scheme of Adhideva-Adhyātmā-Adhibhūtā. It is possible to fill in this scheme in many ways. It may be God-man-world or Brahma-Māyā-Jagat or even Matter-
'd Sāmkhya rejects all these and pro-

भावात्।" दूसरी कारिका में स्पष्टतः कहा गया है-"दृष्टावदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।" यह याज्ञिकों पर आक्षेप और सांख्यवादियों के अयागिक भावों का परिचायक है। यज्ञ द्वारा दुःखनाश के जो उपाय कहे जाते थे वे सांख्यवादियों की दृष्टि में अपविध, क्षणिक व क्षययुक्त थे, क्योंकि सांख्यिकों को यज्ञों में हिंसा अप्रिय थी और उन्हें व्यक्तिगत रूप से आत्मोन्नति सम्भव जान पड़ती थी। इस तरह यज्ञ का विरोध कर सांख्यिकों ने व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान को[9] 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनम्' के तीन प्रमाणों[10] द्वारा प्राप्त करना श्रेष्ठ कहा। तदनन्तर प्रकृति पुरुष के पार्थक्यज्ञान का क्रमशः वर्णन किया गया और प्रकृति तथा पुरुष नामक दो पदार्थ सांख्यिकों द्वारा सत्य स्वीकार किए गए। कारिका में प्रकृति के दो रूप व्यक्त तथा अव्यक्त समझाए गए हैं और प्रकृति तथा पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य २३ तत्त्वों का वर्णन किया गया है। तदनुकूल सांख्यप्रवचनसूत्र में 'पञ्चविंशतिगणः' कह कर[11] सूत्र में सांख्यिकों के २५ तत्त्व एक ही स्थान में गिनाये गये हैं और कहा गया है[12] "नोभयञ्च तत्त्वाख्याने" अर्थात्—'इन २५ तत्त्वों का समुचित ज्ञान हो जाने पर सुख-दुःख दोनों ही दूर हो जाते हैं, यानी

---

poses what may be described as the unity of gna (Logical Principal—Avykta (psychological medium)—Vykta.

[9] "तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥ सांख्यकारिका.

[10] सांख्यकारिका-"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्व प्रमाण सिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥"

[11] सांख्यप्रवचन-सूत्र १-१०७

[12] सांख्यप्रवचन-सूत्र १-६१

ज्ञान द्वारा समदृष्टि प्राप्त हो जाती और संशयनाश की दशा में मुक्ति मिल जाती है। इसे समझाने के लिये गौड़पादाचार्य ने नीचे का श्लोक[13] उद्धृत किया है—

"पञ्चविंशति-तत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी चापि मुच्यते नात्र संशयः।"

सांख्य के पचीस[14] तत्त्व ये हैं:—पुरुष, त्रिगुणों की साम्यावस्थारूप मूल प्रकृति, प्रकृति का विकार महत्, महत् का विकार अहंकार, अहंकार-जनित विकार—५ तन्मात्राएँ, १० इन्द्रियाँ, १ मानस, तन्मात्राओं के विकार, ५ महाभूत। इनमें सांख्यमतानुकूल प्रकृति-पुरुष दोनों समान स्वभाव वाले नित्य, अनादि, अपरिच्छिन्न व निष्क्रिय हैं; किन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मिका, जड़, परिणामी, दृश्य, भोग्य, विषय, प्रसवधर्मिणी है और पुरुष निर्गुण, चेतन, निर्विकार, द्रष्टा, भोक्ता, विषयी, सुखदुःखातीत, नित्यमुक्त, असंग, कूटस्थ, तथा उदासीन है।[15] त्रिगुणसमुदायग्रस्त प्रकृति से ही सभी कर्म निष्पन्न होते हैं; पुरुष उनका कर्ता नहीं होता। पुरुष बहुत हैं।[16]

---

[13] पहली कारिका के ही भाष्य में 'यस्य ज्ञानदुःखक्षयो भवति' के क्रम में यह श्लोक है।

[14] "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।" सांख्यप्रवचन-सूत्र १–१०७

[15] "समानः प्रकृतेर्द्वयोः" सांख्यप्रवचन-सूत्र १–६९; सांख्यकारिका १०, ११, १९, २०

[16] सांख्यकारिका १८ "पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥" सांख्यप्रवचन-सूत्र–१–१४९–"जन्मादि व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्।

प्रत्येक विश्वव्यापी है।[17] सृष्टिकाल में प्रकृति-पुरुष दोनों संयुक्त रहते हैं, इसीसे अचेतन प्रकृति चेतन और अकर्त्ता पुरुष कर्त्ता विदित होता है।[18] ऐसे बोध का कारण कर्म्म या अविवेक या लिंगशरीर है। यह सृष्टि दोनों के संयोग का फल है।[19] प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम है, उसीका प्रभाव यह विपुल जगत् है; उस प्रकृति की उत्पत्ति या उसका विनाश नहीं होता, बुद्धि-अहंकार-प्रवृत्ति-त्रिगुणादि कारण अवस्थान्तर अवश्य होता है।[20]

सांख्यवादियों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के समर्थन में अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है कि अंधे-लँगड़े के ऐक्य के अनुकूल[21] यह जगत् प्रकृति-पुरुष से है, प्रकृति स्वयं अचेतन पर गुणों द्वारा सक्रिय होने के कारण चेतन है,

---

[17] "पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः" सांख्यप्रवचनसूत्र ६–४५

[18] सांख्यकारिका २० "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुण कर्तृत्वेऽपि च तथा कर्त्तेव भवतीत्युदासीनः॥"

[19] "तत् कृतः सर्गः" सांख्यकारिका २१

[20] १६ वीं कारिका पर सांख्यतत्त्वकौमुदी में भाष्य है—"परिणाम-स्वभावा हि गुणानापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते"।

"प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः" सांख्यप्रवचनसूत्र ६–३२; सांख्यप्रवचनसूत्रवृत्ति में प्रकृति के सम्बन्ध में यह वचन उद्धृत किया गया है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादि मध्यं महतः परं ध्रुवः प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः॥"

[21] "पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः" सांख्यकारिका २१

किन्तु निष्क्रिय पुरुष के निमित्त कार्य्य करती है[२२]। अचेतन प्रकृति का कार्य्य चेतन पुरुष के निमित्त उसी प्रकार होता रहता है[२३] जिस प्रकार बछड़े के लिए थन से अनजान दूध निकलता है[२४]; निःस्वार्थी दास स्वार्थ त्याग कर अपने स्वामी की सेवा करता है ; पाचक अपने प्रभु के लिए रसोई बनाता है; जन्म का दास स्वभावतः अपने मालिक की सेवा किया करता है और शान्त गर्दभ अपने पोषक के निमित्त पीठ पर चन्दन का भार विना लाभ उठाए वहन किया करता है, तो भी जवाकुसुम-स्फटिक-न्याय की भाँति पुरुष प्रकृति से भिन्न ही रहता है। वैयक्तिक आत्मा रूप में पुरुष अनेक हैं, एक होने से संसार में एक सार्वभौमिक मृत्यु-जन्म अवश्य होता और मानसिक प्रवृत्तियाँ भी लोगों की भिन्न २ न होकर एक ही इच्छा सर्वत्र व्याप्त रहती, फिर 'त्रैगुण्य विपर्य्ययाच्च'-गुणदृष्टि से भी भेद ही सिद्ध होता है।[२५] प्रकृति को नित्य व अविनाशी मानने के सम्बन्ध में भी सांख्य ने स्थिर किया—"नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति"—असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का विनाश नहीं: नित्य दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति व पुरुष, शेष सभी अनित्य हैं।

---

[२२] सांख्यकारिका १७-"पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं-प्रवृत्तेश्च ॥"

[२३] "प्रधानसृष्टिपरार्थंस्वतोऽप्यभोक्तृत्वाद् उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।" सांख्यप्रवचनसूत्र ३—५८

[२४] सांख्यकारिका ५७-"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्ति-रज्ञस्य ।"

[२५] सांख्यकारिका १८-"जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमाद् अयुगपत् । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य [illegible] ।"

परन्तु कारिका[28], जो सांख्यमत का सबसे पुराना लभ्य ग्रन्थ है, ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट राय नहीं देती। अथ से इति तक वह प्रकृति व पुरुष के द्वैत मत पर विचार करती हुई उनके पार्थक्यज्ञान को कैवल्यप्रद बतलाती है। इस कारण कुछ लोग सांख्य के जन्मदाता कपिल व उनके मतानुचरों को निरीश्वरवादी कहते हैं। सर्वदर्शन-संग्रहकार माधवाचार्य ने भी लिखा है—"एतदर्थं निरीश्वरसांख्य-शास्त्र-प्रवर्तक कपिलानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्।" हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन-समुच्चय मे लिखा है—"सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वर देवताः।" ऐसे भ्रम के आधार पर जो सांख्य को जैन बौद्ध-मतों का मूल मानते हैं, वे जैन व बौद्धों को भी निरीश्वरवादी कहा करते हैं और ऐसी धारणा के प्रमाण में सांख्यप्रवचनसूत्र का "ईश्वरासिद्धेः" कथन पेश किया जाता है[29]। इस सूत्र का अर्थ किया जाता है कि जब पहले

[28] "This is a work of high authority on this subject, and appears to be the oldest exposition of Kapila's philosophy that has come down to the present time." John Davies : Hindu Philosophy, p. 10

[29] "जैसे घोर निरीश्वरवादी चार्वाक हैं वैसे ही बौद्ध भी हैं। ये ईश्वर और वेद को नहीं मानते।" पृ० ९४; "सांख्यदर्शन का अनुयायी यद्यपि कोई पृथक् धर्म इस समय नहीं देखा गया तथापि यह दर्शन निरीश्वरवादी होकर अत्यन्त प्राचीन है और बौद्धधर्म इसीके तत्त्वों का अवलम्बन करके अद्यावधि इस भूगोल के एक-तृतीयांश में व्याप्त हो रहा है।" पृ० ९७; "परन्तु यह दर्शन विशेषतः निरीश्वरवाद ही के नाम से प्रसिद्ध चला आता है और सांख्यप्रवचन के प्रथमाध्याय का ९२ वाँ सूत्र 'ईश्वरासिद्धेः' इसका मूल कारण है।" पृ०९८. पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी : आ॰

ईश्वर सिद्ध ही नहीं तो साक्षात्कार किसका किया जा सकेगा, अभिप्राय कि ईश्वर नहीं है और उसके मानने की भी जरूरत नहीं; इस हेतु सांख्यवादी निरीश्वरवादी थे और उनके सिद्धान्तों को माननेवाले बौद्ध भी वेद और ईश्वर को स्वीकार न कर निरीश्वरवादी ही बने रहे।[२८] किन्तु यह धारणा तथ्यपूर्ण नहीं जँचती। निष्पक्ष विचार से विदित होता है कि कभी किसीने सांख्य को निरीश्वरवाद का मूल कहा और पीछे कुछ भाष्यकारों द्वारा वही दुहराया गया[२९] और उन भाष्यों को अक्षरशः सत्य स्वीकार कर लेनेवाले सांख्यवादियों को निरीश्वरवादी मानते गए।[३०]

---

[२८] Kapil, on the other hand denies an Iswara, ruler of the world by volition, alleging that there is no proof of God's existence, unperceived by the senses, not inferred from reasoning, nor yet revealed" p 264 "Passages of admitted authority, in which God is named relate, according to Kapila and his followers, either to a liberated soul or to a mythological deity, or that superior not supreme being whom mythology places in the midst of the mundane egg" pp. 264—265, Colebrooke Miscellaneous Essays, Vol I

[२९] "Tradition regards the Sankhya system as older than Buddha and even as the source from which the most celebrated of all Indians has derived his doctrine" R. Garbe: Aniruddha's Commentary introduction, p i

[३०] "Again of Colebrooke as entertaining the view, that Kapila is 'atheistic.'. . 'This is scarcely exact Colebrooke the last of men to condescend, save unavoidably, to statements in train, does much more than 'simply reproduce' the

"ईश्वरासिद्धेः" सूत्र में सांख्यवादियों के निरीश्वरवादी होने का कोई प्रमाण नहीं। पहले तो यह कथन प्राचीनतम सांख्यग्रन्थ कारिका का नहीं है, सांख्यप्रवचनसूत्र का है और इसकी रचना बहुत ही आधुनिक[21]-उस समय की है जब सांख्य के साथ भाँति भाँति के विषय मिश्रित हो गये थे। पुराना ग्रन्थ सांख्यकारिका है, पर कारिका ने ईश्वर पर चिन्तन ही नहीं किया। कारिका का विषय है तत्त्व-चिन्तनमय तत्त्व ज्ञान, जिस की व्याख्या सभी दर्शन शास्त्रों द्वारा की गई है।[22] कारिका ने तत्त्वज्ञान को संसार-सागर से तरने के निमित्त चिन्त्य विषय बनाया है।[23] और उसने यज्ञ-प्राबल्य में भूले हुए लोगों

charge of 'atheism' against Kapila, borrowing it from Indian commentators" Fitz Edward Hall, Sankhya Sara' p 2 note.

31 "The *Sankhya – Pravachana*, or Sankhya Sutras, a work which has been attributed, but erroneously, to Kapila It appears to be comparatively modern, for it is not mentioned by Sankara Acharya, who lived Probably in the Seventh or Eighth century A D, by Vachaspati Misra, or even by the author of the Sarva-darsana sangrah, who is supposed to have lived in the fourteenth century. The most important commentary on this work is the *Sankhya-Pravachana-bhashya* by Vijnana Bhikshu probably written in the Sixteenth century" John Davies' Hindu Philosophy, P. 9

२२ सांख्यकारिका ६९–"पुरुषार्थं ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातं।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥"

२३ शंकराचार्य जी के गुरु गौड़पादाचार्य्य ने अपने भाष्य में भी ऐसा ही स्वीकार किया है–"सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसार-विमुक्ति-कारणं हि।" कारिका ६९ पर भाष्य के अन्त में।

के सामने तत्त्व चिन्तन को इसी लक्ष्य से रखने का साहस किया कि सोमपान द्वारा अमृतत्व लाभ करने के विश्वास में, 'ओ३म् तत्' से अज्ञान जो लोग सृष्टि व संसारगति के सत्य-स्वरूप को समझे ।[३८] वैसी दशा में उन्हे ईश्वर का प्रश्न उठाना प्रिय नहीं जँचा। वास्तव मे सांख्यवादियों में ईश्वर का मान था या नहीं इसका कोई स्पष्ट, लिखित प्रमाण ही नहीं, कारिका इसपर स्वयं चुप है। यदि किसी प्रकार प्रमाण मिलता भी है, तो उन्हीं वैदिक ऋचाओं मे जो सांख्य के पूर्वतनीय सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हैं। वे ऋचाएँ अखिलधर्ममूल वेदों के वचन होने के कारण कभी निरीश्वर वाद की जड नहीं हो सकतीं, जब ईश्वरवादी वेदानुयायी उन ऋचाओं को अपने वेदों के पवित्र वचन स्वीकार करते हैं।

---

[३८] साख्यकारिका २ के भाष्य मे गौडपादाचार्य ने विस्तृत रूप में इस भाव को समझाया है और 'षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि' तथा 'बहूनीन्द्रसहस्राणि देवाना च युगे युगे' को उद्धत करने के अलावे नीचे की ऋचा (ऋ० ८-४८-३) लेकर भी यज्ञों के प्रति साख्य विचार को झलकाया है—

अपाम सोममसृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किन्नूनमस्मान् कृणवदराति किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥"

J N Mukherji Samkhya—'we hold, for these reasons, that Samkhya was the ruling philosophy of the pre-Buddhistic Epic culture This Epic culture began as a reaction against the faith in Super rational authority and the ritualistic ethics of the Brahmans The peculiar features of the Epic culture are its broad faced Humanism Rationalism and the cousequent distaste for the Supernatural."

पुन ईश्वरवाद कोई ऐसा कोरा विषय नहीं है जिसका उल्लेख केवल ईश्वर शब्द कह कर ही किया जाय, ईश्वरवाद के साथ अध्यात्मवाद, सृष्टि, प्रलय, ससार-क्लेश, स्वर्ग और मोक्ष के दुरूह ज्ञानों का अभिन्न सम्बन्ध सभी धर्म ग्रन्थों में पाया जाता है और उन भारतीय दर्शनों में भी, जो ईश्वरवादी स्वीकृत हैं, इन्हीं विषयों का प्रसंग उठा कर ईश्वरवाद पर प्रकाश डाला गया है। यह निश्चित है कि इनको मानता हुआ कोई भी ईश्वर को अस्वीकार नहीं कर सकता। सांख्य-कारिका के भीतर इन विषयों का विशद वर्णन है और वह त्रिविध दु:खों से निवृत्त हो अपवर्ग प्राप्ति का मार्ग तत्त्वज्ञान को समझाने की चेष्टा करती मिलती है। उसका तत्त्वज्ञान वही पराविद्या है जिसके सम्बन्ध में मुण्डक मे आया है[२५]—
"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।"

कारिका में सांख्यमत के प्रथमाचार्य कपिल, कपिलशिष्य आसुरि और आसुरि शिष्य पञ्चशिख के नाम दिए गए हैं।[२६] इनके सम्बन्ध के अन्य भिन्न भिन्न उल्लेखों[२७] पर भी

---

[२५] मुण्डकोपनिषद् १-१-५ [२६] सांख्यकारिका ७०-

"एतत्पवित्रमग्र्य मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पचशिखाय तेन च बहुधा कृत तन्त्रम् ॥"

[२७] पद्मपुराण के पाताल खण्ड अध्याय १० मे कपिल कर्दम व देवहूति के पुत्र कहे गये है, कि तु वामनपुराण ५६,६९-७२ में धर्म व हिंसा के आठ पुत्र कहे गये हैं—सनत्कुमार, सनातन, सनक, सनन्दन, कपिल, वोढु, आसुरि और पचशिख, इनमें कपिल के साथ उनके शिष्य आसुरि व पचशिख के भी नाम हैं। किन्तु यह कथन आलकारिक प्रतीत होता है; धर्म म हिंसा को बुरा बतला कपिल, वोढु, आसुरि व पचशिख ने साख्य का प्रचार किया, यही इसका साराश है।

विचार करने से ये तीन अवश्य ही सांख्यमत-प्रचारक प्रतीत होते हैं। पर इनका लिखा कोई ग्रन्थ आज विद्यमान नहीं, जिस अभाव में सांख्य की प्राचीनता का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, न यही ठीक ठीक जाना जा सकता है कि किन परिस्थितियों से किस लक्ष्य के साथ सांख्य प्रचारित किया गया। कालान्तर में शिष्यपरम्परागत कुछ विचारों को ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में ईसा बाद चौथी सदी के लगभग संग्रहित किया,[३८] वही सांख्यकारिका सांख्यमत का प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है।[३९] उसका आरम्भ अपवित्र यज्ञों के विरोध में तत्वज्ञान प्रसार-चेष्टा के साथ होता है, उसकी तुलना याज्ञिक काल के ग्रन्थों के साथ करने से बोध हो जाता है कि जिस समय के यज्ञों को सांख्य ने अपवित्र कहा, उस समय यज्ञ ही सर्वेसर्वा थे और उनके आगे ईश्वर भी ईश्वरपरक शब्दों के साथ स्मरण नहीं किया जाता था। आर्य-समाज उस समय वैदिक मंत्रों के पवित्र युग से आगे बढ़ गया था, इतना आगे बढ़ गया था कि वेदमंत्रों के ज्ञानांश व आध्यात्मिक विचार बहुत पीछे छूट गये थे और यज्ञफल में विश्वास के आगे देवताओं का भी कोई मोल नहीं रह गया था[४०]।

---

[३८] सांख्यकारिका ७१—

"शिष्यपरम्परायागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥"

[३९] "The oldest text-book, the Sāmkhya Kārikā, may be assigned to about the fourth century A. D." A B Keith. Religion and Philosophy of the Veda Part. II, p. 532

[४०] "The importance of faith is such that it renders the gods of no importance, for the man who has faith realizes

जान पड़ता है कि उनके उद्धार पर महर्षि कपिल ने ध्यान दिया और तत्त्व चिन्तन की प्रधानता समाज के सामने रक्खी। उनका सांख्यमत कोई अवैदिक नया मत वेदेश्वरविरोध में नहीं चलाया गया, बल्कि वह परम विज्ञान परा विद्या-सम्बन्धी था और उस विज्ञानशैली ने भारत के आने वाले दार्शनिक युगों के लिये एक परम पवित्र मार्ग प्रस्तुत किया[11]। यज्ञ विरोध होते देख याज्ञिकों के समर्थन व साहाय्य में पूर्वमीमांसा ने भी युक्तियाँ प्रस्तुत कीं[12] और सम्भवतः

---

that the sacrifice produces its results without need of the gods Atri is one of those whose deity is faith, Cradhādeva when he is in need he doos not appeal to heaven, but invents the proper rite and disposes of his disabilities." A B Keith· Religion and Philosophy of the Veda Part II p 462

तैत्तिरीयसंहिता ७-१-८-२; शतपथ ब्राह्मण १-८-१, १० .

[11] "It is the earliest attempt on record to give an answer, from reason alone, to the mysterious questions which arise in every thoughtful mind about the origin of the world, the nature and relations of man, and his future destiny. It is interesting, also, and instructive to note how often the human mind moves in a circle The latest German philosophy, the system of Schopenhauer and Von Hartmann, is mainly a reproduction of the philosophic system of Kapila in its materialistic part, presented in a more elaborate form, but on the same fundamental lines." John Davies Hindū Philosophy, Preface V.

[12] "The doctrines of the two *Mimānsās* appear to have been reduced to their present systematic shape at a later period than those of the Sāmkhya; The essential purpose

कुछ काल तक मीमांसकों व सांख्यिकों में पारस्परिक संघर्ष भी चलता रहा, पर सांख्य की भित्ति जिस गूढ़ ज्ञान पर अवलम्बित थी वह अचल सिद्ध हुई और मीमांसक उसे हिला नहीं सके। सांख्य का ज्ञानवाद क्रमशः इतना जोर पकड़ता गया कि उपनिषदों के युग में वही प्रधान बना। 'सोऽहं' व 'ब्रह्मवाद' में ज्ञान ने अपनी जो गरिमा प्रदर्शित की, उसके सामने मीमांसक भी मेल को बाध्य हुए। इस प्रकार अत्यन्त पुरातन काल के सांख्य व पूर्वमीमांसा के पूर्वतनीय विचारों का समन्वय उपनिषदों में समाप्त हुआ और आगे 'क्वचिदन्यतोऽपि' से प्रभावित सोऽहं व ब्रह्मवाद की लहर तरंगित हुई। कालान्तर में उनकी उत्ताल तरंगों की दो धाराएँ पुनः पृथक् होकर चल पड़ीं—एक ओर सोऽहं व ब्रह्मवाद का रूपान्तर वेदान्त और दूसरी ओर सांख्य-चिन्तन का कोरा ज्ञान-ध्यान तपवाद, जिसका जोरदार प्रचार जैन तथा बौद्ध मतों के प्रचारकों ने किया।

यह क्रम प्राचीनतम दर्शन सांख्य का सम्बन्ध ज्ञान के साथ स्थापित करता है और ज्ञानियों का ईश्वर पदार्थों के तथ्यातथ्य-निर्णय-रूप में ही प्रकट मिलता है, कारण कि ईश्वर-चिन्तन मस्तिष्क-बल पर निर्भर है और विकसित विचार साधारण विचारों से भिन्नता रखता है। स्वर्ग व मोक्ष की भावना में भी इसी प्रकार का अन्तर है; स्वर्ग या विशिष्ट सुखों की भोग-वृत्ति साधारण स्वभाव है और सम्यग्दृष्टि से त्याग द्वारा अनिच्छा उच्चभाव है। ईश्वर-सम्बन्धी विचार भी इसी तरह

of both Mimansas is to bring the doctrines enunciated in the Brahmanas or sacred revelation into harmony and accord with each other." Weber: History of Indian Literature p 239.

मानवमस्तिष्क के अनुकूल हुआ करते हैं। सांख्यवादियों का आधार तत्त्वज्ञान होने के कारण उनका ईश्वर कदापि वैसा होना सम्भव नहीं था जैसा यज्ञप्रिय पुरुषों का था, न याज्ञिकों की धारणा के अनुकूल सांख्यिकों में ईश्वर की खोज ही की जा सकती है। [43] सांख्य के पूर्वतनीय विचारों से मिलते-जुलते पहले या पीछे के दार्शनिक सिद्धान्तों की थोड़ी आलोचना करने से भी सांख्यके स्थित्व पर प्रकाश पड़ सकता है।

वैदिक काल के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदसंहिताएँ हैं। उनकी ऋचाओं मे ईश्वर सम्बन्धी विचार मिलते हैं; पर वे कदापि उस ढंग के नहीं हैं जैसा आज के ईश्वरवादियों का ईश्वरवाद है, वेदवाद के वाद रचित संस्कृत ग्रन्थों में भी जैसा ईश्वरवाद है तद्रूप वर्णन वेदों मे नहीं मिलता, क्योंकि ईश्वरवाद वेदों के बाद बराबर ही परिवर्त्तित होता आया है, यद्यपि उनके मूल वेदों मे ही हैं। कारिका के सांख्यवाद के मिलते-जुलते वर्णन वेदों मे भी आए हैं और विद्वानों द्वारा वे सांख्यमत के मूल स्वीकार किए गए हैं। जिन ऋचाओं में भावसाम्य विद्यमान है वे याज्ञिकों की प्रिय ऋचाएँ हैं और वेदानुयायी समाज के बाहर के अनिन्द्र-देवनिद् आदि से उन ऋचाओं का सम्बन्ध कदापि स्थिर नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पुरुष की सर्वव्यापकता व सर्व-

43 "Such a religion therefore could not be for the ordinary people of the world And the *Samkhyas* were quite out-spoken on the point. *Jnanayoga* is for those who have been disgusted with and have discarded all *Karma*—all materialistic or worldly desires, निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु- भाग० पु० 1[?] Dr. B. K. Goswami: Bhakti-cult, p. 44.

शक्तिमत्ता प्रतिपादित की गई है और कहा गया है कि भूत-भव्य सभी पुरुष ही हैं[४४]—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं ।" उस पुरुष से इस विराट् विश्व की उत्पत्ति कर यह भी कहा गया है,[४५] "स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ।" सांख्य का पुरुष भी इसी रूप का शक्तिमान् तत्व है और सृष्टि के पूर्व प्रकृति से वह संयुक्त रहता है, उसके प्रकृति-सम्बन्ध को 'तत् कृतः सर्गः' कह कर भी सांख्य ने पुरुषसूक्त के 'तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः' का[४६] अनुसरण किया है। ऋग्वेद के दशम-मण्डल सूक्त ८२ में वर्णित विश्वकर्मोत्पत्ति में भी विद्वानों ने सांख्यमत के पुरुष प्रकृति-बीज को निहित बतलाया है।[४७] इन ऋचाओं में वर्णित विश्वकर्मा का सम्बन्ध जिस प्रकार जलसे पाया जाता है उसी प्रकार सृष्टि-सम्बन्ध में सांख्यकारिका ने भी 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' कह कर 'परिणामतः सलिलवत्' को उदाहरण दिया है।[४८] ऋग्वेद में विश्वकर्मा व पुरुष के अलावे

---

[४४] ऋग्वेद १०-९०-२ [४५] ऋग्वेद १०-९०-५ [४६] ऋग्वेद १०-९०-५

[47] "Radha Krishnan finds the equivalents of the Sāmkhya purusha and prakriti in other Vedic hymns, notably in 10. 82-5-6" M H Harrison, Hindu Monism and Pluralism P. 235 S Radha Krishnan Indian Philosophy, vol. I P. 102

ऋग्वेद १०-८२ "परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति। कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यंत विश्वे ॥५॥
तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छंत विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थु ॥६॥"

[४८] सांख्यकारिका १६

हिरण्यगर्भ का भी नाम आया है, जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऋचा है[४९]—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।" इस हिरण्यगर्भ का भी सम्बन्ध अन्धकारमय जल से बताया गया है, जैसा बाइबिलमे भी वर्णित है, और सांख्य मे भी 'तम' का प्रसंग उठाया गया है, जिस सम्बन्ध मे २५ वीं कारिका के भाष्यान्तर्गत गौड़पादाचार्य ने लिखा है—"भूतानामादिभूतः तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति।"[५०] इसी से विद्वानों द्वारा हिरण्यगर्भ के साथ भी सांख्य के द्वैतमत का सम्बन्ध माना गया है।[५१] अदिति से आदित्यों की उत्पत्ति का उल्लेख ऋग्वेद मे वर्णित है, अदिति का अर्थ है—'असीम' और अदिति का दक्ष से वैसा ही सम्बन्ध रहा है जैसा विराज का पुरुष से,[५२] इस कारण अदिति को सांख्य की प्रकृति का मूलरूप मानना ठीक है।[५३] पुनः जिस प्रकार सांख्य मे प्रकृति का साथ सलिल

---

[४९] ऋग्वेद १०-१२१-१

[50] "And the earth was without form, and void, and darkness was upon the face of the deep And the Spirit of God moved upon the face of the waters' Holy Bible, Genesis 1 2

[51] "The dualistic metaphysics of the Sāmkhya is the logical development of the conception of Hiranyagarbha floating on the waters' S Radha Krishnan Indian philosophy-Vol I-P. 116

[५२] ऋग्वेद १०–७२–५; 'Viraj, a feminine principle born from Purusa, and he from her. So with Aditi and Daksha'" Religion and Philosophy of the Veda, Part II P. 620 n

[53] "   Here we have the anticipation of a universal all-embracing, all producing nature itself, the

व नासदीय के भावों में है वैसा ही अदिति के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद में वचन है, [54] यथा—

यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥

डैलमन के अनुसार सांख्य विचारों का आरम्भ संहिता, ब्राह्मण और उपनिषदों से है [55] और प्रोफेसर मैक्डोनल ने सांख्य के सत् व असत् सम्बन्धी सिद्धान्त का उद्गम भी वेदमन्त्रों में ही सिद्ध किया है। [56] ऋग्वेद के

---

immense potentiality or the prakriti of the Samakhya philosophy' S Radha Krisnnan Indian philosophy Vol I P 82.

[54] ऋग्वेद १० १०२ ६

[55] Keith The Samakhya System, pp 55-56 ' Dahlmann traces back the origin of the Samkhya not merely to the older Upanisads he sees in the hymn of the Rgveda x 129, the creation of the universe from an indefinite substance described as water by an absolute already existing, and he considers that the fact that the Atman is called the twenty fifth in the *Satpatha* and *Sankhayana* Brahmanas is a foreshadowing of the twenty-four principles of the Samkhya other than the self "The adjective *prakrita* in the Catapatha Brahmana reveals the existence of the conception Prakrti 'governed form later famous in the Samkhya" Religion and Philosophy of the Veda, part II—P 483

[56] 'Macdonell finds in the Creation Hymn of the *Rigveda* the starting point of the natural philosophy which developed into the Samkhya system M H Harrison Hindu Monism and Pluralism, P 234 A. A Macdonell A Vedic Reader, p. 207

दशम मण्डल के सूक्त १२६ में[५७] सत् और असत् की चर्चा है—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।" तद् पश्चात् कहा गया है कि आरम्भ में सर्वत्र अन्धकार था—सलिल था,[५८] उसी से 'तपसस्तन्महिना जायतैकम्।'[५९] तब काम व मन उत्पन्न हुआ।[६०] वहाँ यह भी कथन है कि असत् में सत् के बन्धन को मनस्वी ज्ञानियों ने अपने हृदय में अनुभव किया।[६१] अथर्ववेद में भी सत्-असत् का प्रसंग है[६२]—"असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं ब्रूहं हि कतमः स्विदेव सः"; और दोनों ही पद ऋग्वेद में दक्ष व अदिति के साथ अग्नि के लिये व्यवहृत किए गए हैं।[६३] सांख्यमत का दूसरा मुख्य विषय गुणत्रय है, उसका मूल भी वेद की ही एक ऋचा में पाया जाता है; अथर्ववेद में आया है—[६४]"पुण्डरीकं नव द्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।" ये सभी वेदवचन ज्ञानवाद के सूत्र कहे गये हैं और मानना पड़ता है कि उन्हींके आधार पर सांख्यवादियों ने ज्ञान द्वारा सत् व असत् के पार्थक्य का चिन्तन सांख्यदर्शन में किया, प्रकृति व पुरुष के द्वैत्व को

---

[५७] ऋग्वेद १०-१२९-१ [५८] ऋग्वेद १०-१२९-३

[५९] ऋग्वेद १०-१२९-३, [६०] ऋग्वेद १०-१२९-४

[६१] ऋग्वेद १०-१२९-४ "सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"

[६२] अथर्ववेद १०-७-१०

[६३] ऋग्वेद १०-५-७ "असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥"

[६४] अथर्ववेद १०-८-४३

ऐसा संकेत भागवतपुराण के सांख्य-सिद्धान्त-वर्णन में मिलता है।[६९]

...के बाद उपनिषदों में, जो वेदान्त के ज्ञानकाण्ड ...ते हैं, सांख्य-धारणाओं की विद्यमानता दृष्टिगत होती ... उपनिषदें वेद-विरोधिनी नहीं हैं, न उनका नास्तिकवाद सम्बन्ध है; ईश्वरवादी आस्तिकों में भी उपनिषदों का सम्मान पुरातन से चला आता है। कहा गया है कि ...नेपदों में मीमाँसक व सांख्यिकों के विचारों का समन्वय ...और सांख्य के पुराने विचार वेदान्त के 'सोऽहं' व उपनिषदों ...'ह्मवाद' के सहायक हुए। औपनिषदिक विषयों की आलो... से प्रकट होता है कि यद्यपि उपनिषदों में सांख्यमत ...के त्यों रखे हुए नहीं हैं, जैसा सम्भव भी न था, तथापि ...निषदें सांख्य के द्वैतमत व त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विचारों पूर्वरूप को सुरक्षित रखती हैं और वे यह भी बतलाती हैं : किस प्रकार सांख्यमत की भित्ति पर एकेश्वरवाद का ...र्माण शनैः शनैः दार्शनिकों द्वारा किया जा रहा था। एत... उपनिषदों में सांख्य मत के द्वैतमत, सृष्टि-विकास-क्रम ...कृति के तीन गुणों की जाँच करनी चाहिये।

...हदारण्यक में द्वैतानुरूप सोम को अन्न और अग्नि को ...भक्षक कहा गया है[७०], अग्नि का नाम वैश्वानर भी है ... ४-५-१५ में 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' कहते द्वैत-स्वरूप

[६९] भागवतपुराण ३-सांख्यसिद्धान्त-विवेचन।

[७०] "सोम एवान्नमग्निरन्नादः" १-४-६ 'अयमग्निर्वैश्वानरो' ५-९-१; A B Keith. Religion and Philosophy of the Veda—Part , p 53

पर विचार किया गया है[७१]; फिर १-६-३ में कहा गया है कि आत्मा अमृतत्व से ढँका हुआ है व एक से ही तीन हैं, ४-४-२१ में कठ के महा हृदय के भीतर के आकाश में सोता हुआ वर्णित है और २-४-११ में सांख्यवत् इन्द्रियों का उल्लेख है तैत्तिरीय भी द्वैतमतानुकूल मनुष्य को अन्न व 'अन्नाद' और कहता है[७२] और ब्रह्मवल्ली के प्रथमोऽनुवाक में पञ्चतत्त्वों पर प्रकाश डालता है। ऐतरेय में केवल पञ्चमहाभूतों की ओर संकेत है और इसी प्रकार छान्दोग्य तथा प्रश्न में भी पञ्चमहाभूतों का वर्णन किया गया है[७३], किन्तु छान्दोग्य व प्रश्न में सांख्यवत् सृष्टि-विकास का सुन्दर वर्णन है, ऐसा ही वर्णन मुण्डक ने भी किया है; छान्दोग्य में सांख्य के अहंकार का भी प्रसंग है और श्वेताश्वतर में यह अहंकार आत्मा का एक गुण कहा गया है[७४]। सांख्य के निष्क्रिय पुरुष की झलक मुण्डक के दो पक्षियों के स्वभाव-चित्रण में मिलती है और जिस प्रकार वहाँ एक के मधुर फल भक्षण का दूसरा

[७१] 'एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृत ँ सत्येनच्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' १-६-३;

[७२] तैत्तिरीय ३-१"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। 'अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः"

[७३] ऐतरेय १-३; छान्दोग्य ६-५, प्रश्न ४ ८;

[७४] छान्दोग्य ६-८-६"तस्यक्व मूलं ... पुरस्तादेव अथ यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।"प्रश्न ४-८ "पृथिवी च पृथिवीमात्रा··· "विधारयितव्यं च।" ६-४" स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।" मुण्डक २-१-२, ३; "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ... -पिरी शिरमस्य

केवल साक्षी रूप है उसी प्रकार सांख्य में पुरुष केवल साक्षी-स्वरूप है।[७५]

कठ श्वेताश्वतर औ मैत्री में सांख्य-विचारों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। द्वैतविचार के लिये कठ का ३-४ व ३-११, श्वेताश्वतर का १-९, ४-५, ४-६ व ६-१ तथा मैत्री का ६-१० देखना चाहिये[७६]। इनमें भोक्तृ-भोग्य, अव्यक्त, स्वभाव, अन्न तथा अन्न-भक्षक के विवरणों में सांख्य के प्रकृति व पुरुष की छाप विद्यमान है। सृष्टि-विकास के सम्बन्ध में कठ प्रकृति से पुरुष की ओर बढ़ता है, किन्तु दो स्थानों में उसका जो क्रम दिखाया गया है वह साधारण क्रम से मिलता-जुलता है[७७], अन्तर यही है कि सांख्य पुरुष को पृथक रखना और

धारिणी"; २-१-८, ९ "सप्तप्राणाः प्रभवन्ति . येनैव भूतैस्तिष्टते ह्यन्तरात्मा।"

[७५] मुण्डक ३-१-१ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥"

[७६] कठ ३-४ "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥";
३-१७ "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥"

श्वेताश्वतर १-९ "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृ-भोग्यार्थयुक्ता"; ४-५ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते"; ४-६ "समाने वीतशोकः"; मैत्री ६-१० "... पुरुश्चेता प्रधानान्तःस्थः स एव भोक्ता प्राकृतमन्नं भुङ्क्त इति। तस्यायं भूतात्मा ह्यन्नमस्य कर्ता प्रधानः। तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं भोक्ता पुरुषोऽन्तःस्थः।

[७७] कठ ३-१० "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

उसका काम प्रकृति से ही लेता है। नीचे की सारिणी यही प्रमाणित करती है:—

सांख्य	कठ ३-१०, ११	कठ ६-७, ८[९७]
प्रकृति या अव्यक्त ...	अव्यक्त ...	अव्यक्त
महत् या बुद्धि ...	महा आत्मन् ...	महाआत्मन्
अहङ्कार ...	बुद्धि ...	सत्त्व
इन्द्रियाँ व मानस ...	मानस ...	इन्द्रियाँ
	अर्थ, इन्द्रियाँ	

यह विवरण मैत्री में नहीं मिलता, पर श्वेताश्वतर के १-८ में है[९८]; किन्तु त्रिगुणों का वर्णन कठ में न हो कर श्वेताश्वतर, मैत्री व छान्दोग्य में है। सांख्य के गुणत्रय सतोगुण रजोगुण तमोगुण हैं और उनका सम्बन्ध प्रकृति से होता है। श्वेताश्वतर में तीनों की संख्या देने के अलावे लाल-काला-श्वेत रंग की अजा का उल्लेख है[९९] और गुणों का सम्बन्ध

---

[९७] ६-७, ८ "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥"

[९८] श्वेताश्वतर १-८ "संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

[९९] श्वेताश्वतर ४-५ "अजामेकां, लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सरूपाः"

ईश्वर; ईश्वर की शक्ति, आत्मा तथा सृष्टि-प्रलय के साथ कहा गया है।[८०] मैत्रीयएयुपनिषद् उनका सम्बन्ध आत्मा से नहीं मानती, प्रकृति से स्वीकार करती है; मैत्री के ५-५ में तीनों गुणों के नाम भी दिये गये हैं।[८१] छान्दोग्य ने 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'[८२] कहते हुए श्वेताश्वतर के लाल-काला स्वेत रंगों को दुहराया है और वह सांख्य के तीनों गुणों का ही पर्याय है। श्वेताश्वतर के ५-२ में कपिल शब्द भी आया है।[८३] श्वेताश्वतर अथर्ववेद में कथित 'पुण्डरिकं नवद्वारं' के रहस्य को भी सुलझाता है[८४] और एवं प्रकार वेद के सांख्य-गुणों के साथ औपनिषदिक विचारों का ऐक्य स्थापित करता है। यह ठीक है कि उपनिषदों में कहीं सांख्यमत के २५ तत्त्व साफ ढंगसे स्वीकार नहीं किये गये तोभी यह संख्या सांख्यिकों ने अपने ही निमित्त नहीं बनाई, यह भाव अवश्य ही पुरातन था क्योंकि ब्राह्मणों मे २५ तत्त्वात्मक विवरण हैं और

[८०] श्वेताश्वतर १-२;

श्वेताश्वतर १-३;

श्वेताश्वतर ५-७;

श्वेताश्वतर ६-५;

[८१] मैत्री ५-५ "तमो वा इदमेकमास तत् पश्चात् परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसः संप्रास्रवत्येतद्वै सत्वस्य रूपं. "

[८२] छान्दोग्य ६-४-१

[८३] श्वेताश्वतर ५-२ "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे"

[८४] अथर्ववेद १०-८-४३;

श्वेताश्वतर ३-१८ "नवद्वारेपुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥"

मानव तन के भी २५ भाग कहे गये हैं, जिनमें आत्मा २५ वाँ कहा गया है। उपनिषदों में केवल बृहदारण्यक में एक ऐसा स्थल है जिससे २५ का अर्थ निकालने का यत्न किया गया है। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' के 'पञ्च, पञ्चजना' का अर्थ २५ किया गया है।[७८]

परन्तु उपनिषदों में सांख्य के द्वैतभाव के होते भी प्रधानता है एक ब्रह्म की और वही ब्रह्म जलचन्द्रवत् 'भूते भूते व्यवस्थितः' माना गया है।[७९] कारिका से यहाँ भेद है, क्योंकि कारिका में द्वैत के साथ पुरुष का बहुत्व माना गया है। उपनिषदों के ज्ञानवाद की एक और विशेषता यह है कि उनमें ज्ञान की श्रेष्ठता होते भी स्वर्ग, सुख, आनन्द का सर्वथा त्याग नहीं है: सांख्य का बन्धन से मोक्ष बिल्कुल ही निष्काम तथा सुख भावना-विहीन है: क्योंकि वह सुख-दुख को अनुकूल-प्रतिकूल दशाओं का प्रतिरूप मानता है—"अनुकूलवेदनीयं सुखम् प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।" ऐतरेयोपनिषद् में स्वर्ग-सुख-अमृतत्व तीनों ज्ञान के साथ ही साफ-साफ कहे गए हैं—"स एतेन प्रज्ञेनाऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत्।"[८०] सांख्य में ऐसा असम्भव है, वहां सिर्फ शुष्क चेतना ही है। इस प्रकार सांख्य के एक-सत्ता व चिदानन्द के दो अभावों की पूर्ति उपनिषद् में सांख्य के द्वैत व गुणों के साथ किया गया है: मीमांसकों के

---

[७८] बृहदारण्यक ४-४-१७

[७९] अमृतबिन्दूपनिषद् १२ "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते ..। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"

[८०] ऐतरेयोपनिषद् ५-४

साथ भी ऐसा भाव था और वेदान्त में भी वही रहा। बल्कि वेदान्त ने द्वैत के पुरुष पर प्रकृति के प्रभाव-ज्ञान को साधारण विचार के लिए दुरूह समझ एकेश्वर को ही ग्रहण किया और उसीके भीतर सांख्य के तत्त्व त्रिगुण ज्ञान को स्थान दिया।[८८] इस ओर योग की प्रथम प्रवृत्ति हुई, क्योंकि सांख्य तत्त्वों के साथ स्पष्ट ईश्वर को मान कर चित्तनिरोध द्वारा अपवर्ग-प्राप्ति का सशोधन योगदर्शन ने ही किया। इसी से योग सांख्य का पूरक भी समझा जाता है।[८९]

अब प्रश्न उठता है कि सांख्य को ईश्वर की आवश्यकता क्यों नहीं हुई जब ईश्वर-सम्बन्धी अन्य विषयों को सांख्य ने माना ? वास्तव में सांख्य को भी ईश्वर की आवश्यकता होनी चाहिए थी और हुई भी जिसके प्रमाण स्वरूप सांख्यप्रवचन के

Maxmuller The Six Systems of Indian Philosophy p 304 "The Samkhya like the Vedanta and other systems of Indian philosophy implies strong moral sentiment in the belief of karma (deed) and transmigration Kapila also holds that deeds, when once done, can never cease except at the time of Moksha but produce effect after effect both in this life and in the lives to come This is one of the unalterable convictions in the Hindu mind There is, besides the admission of virtue and vice the dispraise of passion and the praise of dispassion '

[८९] the two are, however, complementary Systems and their goal is one ' W Douglas P Hill Bhagwadgita, introduction—p 29

गीता ५-५ "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥"

ये सूत्र हैं जिन मे ईश्वरवाद की झलक है, जिनमें जीव को ब्रह्मरूपता प्रदान की गई है और जिनमें वेदों का अपौरुषेय होना माना गया है. ** पर सांख्य की विशेषता यह है कि अपनी चिन्तन-प्रणाली को सांख्याचार्यों ने सर्वसाधारण के विचारार्थ बनाने का संकल्प नहीं किया, वे सदा शुष्क ज्ञान पर दृढ़ रहे। ईश्वर का काम उनने पुरुष से लिया और उ आत्मस्थ बनाकर अपने मत को सर्वव्यापी बनाया तथा प्रत्ये पुरुष में सर्वव्यापी पुरुष की नित्य-सत्य सत्ता को स्थिर क पीछे कृष्ण को 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' कहने का अवसर

** "केवल एक सूत्र सेही कपिल को नास्तिक कह देना ठीक नहीं जब कि सांख्य-दर्शन में अन्यत्र अनेक सूत्र ऐसे पाये जाते हैं जिनसे उनका ईश्वर-वादी होना ज्ञात होता है। हम कुछ सूत्र नीचे देते हैं:— (१) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता [सां० ३।५६]......इससे अगला सूत्र तो इस भाव को और भी स्पष्ट कर देता है। (२) ईदृशेश्वर-सिद्धिसिद्धा [सां० ३।५७]......(३) समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्म-रूपता [सां० ५।११६] (४) वेदों को कपिलमुनिने अपौरुषेय माना है अर्थात् वह मनुष्कृत नहीं हैं। नीचे के सूत्र इस भाव के साक्षी हैं:—न पौरुषेयत्वं तत् कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्। मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्। नापौरुषेयत्वात् नित्यत्वमङ्कुरादिवत्। तेषामपि तद् योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः। यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्। निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। (सां ५-४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१)"'इन छः सूत्रों पर थोड़ा सा विचार करने से ही पता चल जाता है कि कपिल न केवल वेदों को ही मानते थे किन्तु वेदों को ईश्वर-कृत भी मानते थे। फिर उनके ईश्वर-वादी होने में क्या सन्देह रहा।" गंगाप्रसाद उपाध्यायः आस्तिकवाद—पृ० ३२८-३३१

दिया । [९१]आत्मा व परमात्मा में विशेष अन्तर सांख्य के अनुकूल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहां एक पुरुष ही विद्यमान है: वह पुरुष भोक्ता होते भी निष्क्रिय है, सर्व भूताधिवास होकर भी निर्गुण है। सांख्य का पुरुष इस दृष्टि से सौम्य मानव-रूप में दिखाई पड़ता है, और यह गौण रूप पीछे वेदान्त में 'सोऽहं' रूप में साक्षात् हुआ।

अपने को "सिद्धानां कपिलो मुनिः" [९२]कहते हुए अवतारी पुरुष कृष्ण ने सांख्यमत के मानवरूपी पुरुष की ही विस्तृत व्याख्या की है। गीता में सांख्यमत का विशद वर्णन स्पष्टतः किया गया है और प्रकृति पुरुष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के उदाहरण में अर्जुन को समझाया गया है कि कर्म करता हुआ भी मनुष्य निष्क्रिय रह सकता है। सुख-दुःख की भावना का त्याग, यज्ञ-फल की सीमा, प्रकृति में कर्म-शीलता, पुरुष का कर्म-प्रार्थक्य आदि गूढ़ विषयों के समझाने में कृष्ण ने सांख्य का ही अनुसरण कर सांख्य के ज्ञानज्ञेय पुरुष को निरूपित करना उचित समझा है। गीता के निष्काम कर्मयोग और सांख्य के ज्ञान में भी वैसा ही सादृश्य है, कृष्ण का कथन है—"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" [९३] और कृष्ण की शिक्षा से ज्ञान पा कृष्ण के मानुषी रूप को देखते हुए अर्जुन ने माना है [९४]-"इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।" और कारिका का वचन है—[९५]

[९१] गीता ९-४
[९२] गीता १०-२६
[९३] गीता ५-१२
[९४] गीता ११-५१
[९५] सांख्यकारिका ६४, ६५-६६

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं कैवल्यमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः ॥
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

किन्तु कृष्ण के मानुषी रूप के दर्शन के अभाव में अर्जुन प्रकृतिगत सांसारिक सुखभोगार्थ युद्धको सन्नद्ध नहीं थे। सांख्य भी कुछ वैसा ही लक्ष्य रखता है और यह मानुषी रूप में पुरुषों के साथ समुपस्थित होकर निष्काम व बन्धनमुक्त होने का संदेश समुपस्थित करता है। सांख्य का कैवल्य निष्काम समदशा की प्राप्ति है जिस की व्याख्या गीता के कर्मयोग में की गई विदित होती है।[६] "धर्म अधर्म जनित संस्कार के क्षय हो जाने पर मनुष्य को सुख-दुःख का भाव नहीं होता, मानो प्रकृति अपना प्रभाव डालना बन्द कर देती है और सांसारिक

---

[६] "In any case, the religion of the *Sāmkhyas* is Simplicity in itself. A cultivation of the true knowledge of the essential nature of man is the keynote of the creed The claims put forward on its behalf in the Gitā are not at all exaggerated But, as we have said, this naked beauty of the *Sāmkhya* religion can not appeal to the imagination of a worldly man engaged in the pursuit by material objects It has no gorgeous prospect to offer to him. For him therefore the *Karmayoga* is ready with its brilliant pictures of blissful existence in heaven." Dr. B. K. Goswami : Bhakti cult, p 46-47.

कर्मों से आत्मा का बन्धन टूट जाता है। यह अवस्था सांख्यकार का ऐकान्तिक-आत्यन्तिक कैवल्य है।[९७]

सांख्यप्रवचनसूत्र, कारिका के ऐसे कैवल्य को मानता है, प्रकृति-पुरुष के तत्त्वों को भी वैसा ही जानता है। पर उस ग्रन्थ की रचना बहुत समय बाद की है और उसके रचयिता ने बीच के उन विचारों का संग भी अपने ग्रन्थ में किया है जिन विषयों पर कारिका चुप थी।[९८] वैसी चेष्टा मे उसने 'ईश्वर' के प्रश्न को भी उठाया और 'ईश्वरासिद्धेः', सूत्र रक्खा। किन्तु वहाँ यह सूत्र अनीश्वरवाद के प्रमाणवत् रक्खा गया किसी प्रकार विदित नहीं होता, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषावाले सूत्र १-८९ के साथ है[९९] और उसी पर तर्क के पक्षान्तर में यह सूत्र भी कहा गया है जिसका अभिप्राय सर्वथा तथ्यपूर्ण है। इसका अर्थ है-क्योंकि ईश्वर की सिद्धि प्रमाण द्वारा हो नहीं सकती जब उस योग्य प्रमाण का ही अभाव है।[१००] इसके पहले एक सूत्र है

---

[९७] सांख्यकारिका ६८ 'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥"

[९८] "The idea, that Kapila denied Iswara, was, it is quite possible, merely inferred, long after his time, from the bare fact of his silence Who can say that, when he lived, the notion of an Iswara had as yet been elaborated?'
Fitz-Edward Hall: Sānkhya-Sāra, preface p. 7

[९९] सूत्र १-९१ "लीनवस्तुलब्धातिशयसंबन्धान्न दोषः" की वृत्ति के अन्त में अगलेसूत्र का प्रयोजन बतलाते अनिरुद्ध ने लिखा है—"ईश्वरप्रत्यक्षस्यालक्षणमित्यत आह।"

[१००] अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में इससूत्र पर लिखा है—'यदीश्वरसिद्धौ

[१०१] "नत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्य सिद्धिः" अर्थात् विषय की जाँच के निमित्त प्रमाण तीन हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन। उनसे ही साधारणतया कहे जाते ईश्वर के स्वरूप की करनी चाहिए। पर ये प्रमाण बतलाते हैं कि वास्तव में ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वर सर्वों से परे परम कहा जाता है और इस दशा में न दृष्टिगत कोई पदार्थ उसका समकक्ष है न अनुमान की कोई वस्तु से उसकी समता समझी जा सकती है। पुनः सांसारिक पदार्थों से उसकी सिद्धि होने से वह मुक्त-बद्ध-भावों में भी ग्रस्त हो जाता है, पर इससे भी वह परे कहा गया है। [१०२] वैशेषिक के जीवन्मुक्त की धारणा को स्वीकार करने पर भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उस लक्ष्य में भी कोई उसका सादृश्य नहीं ठहरता है जिसके प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा ईश्वर को साधरणतया समझाया व प्रमाणित किया जा सके। इसीसे सूत्रकार को कहना पड़ा [१०३] 'उभयथाप्यसत्करत्वम्' फिर अनुमिति की पौरुषेयता के विषय में 'प्रतियन्धदशः प्रति-

---

प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रयक्षचिन्तोपपद्यते। तदेव तु नास्ति।"

[१०१] सांख्यप्रवचनसूत्र १-८८

[१०२] सांख्यप्रवचनसूत्र १-९२ "मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्नतत्सिद्धिः।"

[१०३] सांख्यप्रवचनसूत्र १-९४. "Then", [the Vaiseshika objects] "he may be different [from both], i.e., liberated in life-time(Jivan-mukta)' [To this we reply · If the Lord were] of such a kind, he would be unparalleled and the only specimen of a species, [in which case there is no basis whatever for argumentation] R. Garbe : Aniruddha's commentary p 53.

यद्दर्शनमनुमानम्' कह कर सूत्रकार ने 'आप्तोपदेशः शब्दः' से आप्तवचनप्रमाण-स्वरूप को परखा है।[१०४] सूत्रकार इस प्रमाणकोटि के भीतर आनेवाले शास्त्रवर्णित कर्मफलावगम को भूल नहीं सकता था, उस पर भी उसका ध्यान गया; सांख्य के ज्ञानवाद से इसका भी विरोध पड़ता था। ऐसी दशा में कर्मफलाकाँक्षा रखनेवालों का ईश्वर सुख-दुःख से सम्पर्क रखनेवाला ठहरता था; उस से ऊँचा कहे जाते परमात्मा की सिद्धि नहीं हो पाती थी। अतः सूत्रकार ने ज्ञान व योगके बाहर के मुक्त, निरंजन, अज, अनश्वर ईश्वर की असिद्धि को व्यक्त करना प्रमाणित समझा और 'ईश्वरासिद्धेः' कहा, किन्तु यह भी स्वीकार किया कि यदि वैसा न कह कर कोई सर्वव्यापक सर्वज्ञ सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कल्पना करे तो उसकी सिद्धि अवश्य हो सकती है[१०६] "ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धाः।" प्रवचनसूत्र की चेष्टा से विदित होता है कि उसने नैयायिकों के आक्षेपों के खण्डन में ईश्वर-सम्बन्धी दो धारणाओं पर विचार किया और उनमें एक को नैयायिकों के उत्तर में प्रमाण द्वारा असिद्ध तथा दूसरे को सिद्ध बतलाया, पर सांख्य के विचारानुकूल उसने उदासीन पुरुष को सर्वव्यापी आत्मेश्वररूप में अवश्य माना और उसके

---

[१०४] सांख्यप्रवचनसूत्र १-१००; १-१०१

[१०५] सांख्यप्रवचनसूत्र १-१०६ "अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः।"

[१०६] सांख्यप्रवचनसूत्र ३-५७, इस पर अनिरुद्ध ने वृत्ति के आरम्भ में कहा है-"यद्यस्यदभिमत आत्मेश्वरो, भवतु। न्यायाभिमते च प्रमाणं नास्ति।"

स्वरूप के सत्यज्ञान का नाम अपवर्ग दिया-[107] "द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्ग.।" इस सूत्र से यह आभास भी निकलता है कि वह अपवर्ग प्रकृति व पुरुष के भीतरी तीसरी साम्यावस्था थी और उसके अनुकूल पुरुष-प्रकृति को, समभ, निष्क्रिय पुरुष को प्रकृति से युक्त बना प्रकृति के भोग में लग जाना आध्यात्मिक व सामाजिक पतन था, कारण कि उस दशा में मनुष्य के लोभ मोह-मद स्वार्थादि दुर्गुणों की कमी ही नहीं हो पाती। इस हेतु सांख्य ने ज्ञान द्वारा इनके पार्थक्य को समझने व सुख दुःख के भावों को त्याग पुरुष को पृथक् नित्यचेतन देखते हुए प्रकृतिमें सक्रिय होने का सिद्धान्त रक्खा। साख्यप्रवचनका-[108] "नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्ति कर्मणा नत्सिद्धेः' में कर्तव्यपरायणतापूर्ण आलस्यप्रमादनाशक जिस पुरुषार्थ का सकेत है वह वयस वीर लक्ष्मण के "कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा" इस वीरताभरे वचन की याद दिला देता है। पश्चात् यह सांख्यज्ञान गीता में विशद रूप से निष्काम कर्मयोग के नाम से समझाया गया। उस शैली में कृष्ण अर्जुन को 'ब्रह्मार्पण' करते हुए कीर्सिकर

---

[107] साख्यप्रवचनसूत्र ३-६७

[108] साख्यप्रवचनसूत्र ५ २, इसका अनुवाद है— " The fruit does not proceed from [the cause] guided bythe Lord, since this results from work इस पर अनिरुद्ध-वृत्ति का अनुवाद है "If the Lord were an independent creator, he would create even without work, [i e regardless of merit and demerit,—which will not be maintained even by the theistic Naiyāyika opponent.] R Garbe इसमें theistic आदि शब्द अनुवादक के हैं।

पुरुषार्थ निष्काम भाव से करने को कहा है, यद्यपि कृष्णानुकूल सबों की भाँति अर्जुन भी मरे हुए अर्थात् नश्वर तनधारी थे। सांख्यप्रवचनसूत्र भी ऐसे ही संकेत करते हैं और प्रकृतिपुरुष के भोग्यभोक्तृभाव को ज्ञान द्वारा अनुभव करते हुए पुरुषार्थ कर त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति की शिक्षा देता है– "यद्वा यद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।"[109]

सांख्य का ऐसा परम पुरुषार्थ-द्योतक अपवर्गमतमूलक ज्ञानवाद निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता, यह भले ही कहा जाय कि इसका ईश्वर वाद के क्रमशः विकसित ईश्वरवाद से भिन्न[110], ज्ञानियों के निमित्त ज्ञानपुञ्ज व निर्गुण है जो सांख्य शब्द की गणना के अतिरिक्त विवेकात्मक ज्ञान का अर्थ रखता है।[111] वास्तव में भारतीय दर्शन सांख्य परम प्रभावशाली है और उसका पुरुष मानुषी रूप व मानवी पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला आत्मज्ञान है।[112] अर्जुन को जैसा मोह गीता में

---

[109] सांख्यप्रवचनसूत्र ६ - ७०

"Be it this or that, its destruction is soul's aim—its destruction is soul's aim." R. Garbe.

[110] 'संख्या सम्यग् विवेकेनाऽऽत्म कथनम्'—विज्ञानभिक्षु : सांख्यप्रवचनभाष्य में; 'पञ्चविंशतितत्त्वानां संख्या विचार। समधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सांख्य इति सांख्यपदव्युत्पत्ति. सङ्घ्यते।" रघुनाथ तर्कवागीश भट्टाचार्य-सांख्यतत्त्वविलास में। 'सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्यां सा सङ्ख्या क्रमपूर्वा विचारणा' देवतीर्थ स्वामी : सांख्यतरंग में; 'संख्याज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्', महाभारत १२।३१२९३;

[111] Fitz-Edward Hall : Sāmkhya-Sāra, Preface p 7

[112] "सांख्यं नाम इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मम इच्छा अहं

हुआ था, वैसे मोह से सर्वदा ग्रस्त होनेवाले संसार-संग्राम-भीत पुरुषों के मोह का नाश करना सांख्यदर्शन का लक्ष्य है, इसी से पद्म-पुराण ने सर्वसिद्धिराट् सांख्यप्रणेता के सांख्य को मोहनाशक कहा है—[113] "विश्वप्रकाशितज्ञानयोगो मोहतमिस्रहा।"

तेभ्योऽन्यस्तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षणा आत्मेति चिन्तनम्।" शंकरः गीताभाष्य १३ -,१२

V. S Ghate : The Vedānta p. 41" Above all, the Sāmkhyas, a very old and influential school, many of whose dogmas have been accepted even by the Vedanta and whose general influence is clearly seen throughout the philosophical literature of India....."

पद्मपुराण, विष्णु-व्यूह-भेद-वर्णनाध्याय में।

पाँचवाँ अंश

क्वचिदन्यतोऽपि

कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदास ने परम प्रसिद्ध रामायण के कथानक आधार के सम्बन्ध में 'नानापुराण-निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं' उल्लेख करने के पश्चात् स्वीकार किया है– 'क्वचिदन्यतोऽपि।' यह प्रकट करता है कि पुराणनिगमागम आदि शास्त्रों में वर्णित विषयों के अलावे, अन्यत्र के विचारों द्वारा भी मानस-मधुकोष मर्यादित किया गया है। संस्कृत में वाल्मीकि रामायण अध्यात्म रामायण व हनुमन्नाटक राम-कथा मूलक हैं, गोस्वामीजी ने रामायण-रचना के निमित्त इन्हें अवश्य देखा और उनके पाण्डित्यपूर्ण काव्यचमत्कार पर अन्य संस्कृत-शास्त्र-वार्ताओं की भी छाप पड़ी; परन्तु रामायण में ऐसे स्थल तथा वर्णन भी हैं जिनका आधार संस्कृत-साहित्य में उन्हा नहीं मिलता। वहां उनका रूप मिल भी नहीं सकता, क्योंकि वे 'क्वचिदन्यतोऽपि' पर अवलम्बित हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम तथा भक्तभवभयभञ्जन पार्वतीश महादेव के आदर्श विवाहावसर पर गाली, दहेज, नेग, महिलाओं द्वारा मखौल प्रभृति वर्णन ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध स्पष्टतः क्वचिदन्यतोऽपि के साथ है। विदित होता है कि समाज प्रचलित कृष्णभक्ति की बुराइयों से आर्य्य-वंशजों को बचाने के लिए रामभक्ति प्रचार में दृढ़ पण्डित-

चूड़ामणि वेदज्ञ गोस्वामीजी भी अपने को क्वचिदन्यतोऽपि प्रभाव से रोक रखने में सर्वथा असमर्थ थे और महाकवि को लाचारी की हालत में ही लिखना पड़ा—

"जेवन जानि मधुर धुनि गारी,
लै लै नाम पुरुष अरु नारी।"

किन्तु इस लोकमत-प्रभाव-ग्रस्त भाव के चित्रण के लिए गोस्वामीजी को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि लोकमत ऐसा प्रबल होता है कि उसकी शक्ति का एकदम तिरस्कार किया नहीं जा सकता। यद्यपि लोकमत का स्वरूप संस्कृत दृष्टिकोण में सर्वथा सुन्दर और सुरुचिपूर्ण नहीं हुआ करता वास्तव में 'क्वचिदन्यतोऽपि' में कुछ ऐसा ही बल भी है जिस प्रकार वायु-प्रभाव से उत्पन्न जलस्रोत की लहरें स्रोत में ही पैदा होने पर भी स्रोत-सतह को छुन्य कर कुछ समय के लिए अपना पृथक् रूप दिखा पुनः स्रोत में ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार क्वचिदन्यतोऽपि भी, जो परम्परागत सनातन विचारों से ही समय २ पर रुचि-वैचित्र्य या 'आत्मनः तुष्टि' के कारण उत्पन्न होता है, अपने नूतनत्व से कुछ समय के लिए सनातन विचारानुयायियों को उद्विग्न कर देता है और अन्त में पुरातन प्रवाह में विलय प्राप्त कर लेता है। यह दशा समाज के जीवन में अपना अनेक उदाहरण रखती है और उनके मनन से इस निष्कर्ष को पहुँचना पड़ता है कि 'क्वचिदन्यतोऽपि' दो स्वरूप में समाज में प्रकट व विलीन हुआ करता है। पहला स्वरूप इसका लोकरुचि है जो चाहे दश जनों की रुचि हो या लोकसमूह की, इसी से लोकापवाद भी सम्बन्ध रखता है और लोकापवाद की दशा में लोकरुचि इतनी प्रबलता रखती है कि बड़े २ नीतिज्ञों को भी उसके सामने घुटने टे

भाँति खड़ा होना पड़ता है। दूसरा स्वरूप समाज के वैयक्तिक जीवन की आत्मतुष्टि है जिससे प्रेरित हो मनुष्य सर्वदा चिन्तन-लीन रहता है और एक दूसरे से भिन्नता प्रदर्शित करने में आनन्द पाता है, इसीसे मत-मतान्तर-मतभेद पैदा हुए करते हैं। तीसरा स्वरूप जनसाधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इस पर शिष्ट व सभ्यों में प्रचलित मत निरन्तर प्रभावित होता रहता है और सुशिक्षित-सबल-प्रभुतासम्पन्न पुरुषों को भी उस प्रवृत्ति पर विचार करते अपने सदाचार को निरूपित करना पड़ता है। चौथा स्वरूप उपेक्षितोपकार है, यह उन समाजप्रेमियों के हृदय में पाया जाता है जो अपने काल में अपने विचारानुकूल शिष्ट व सबल पुरुषों द्वारा उपेक्षित मनुष्यों के उपकार के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को सन्नद्ध हो जाते हैं या जो लोककल्याणेच्छा से प्रेरित परिवर्त्तनकारिणी रायें समाज में प्रदर्शित कर एक क्रान्ति पैदा कर डालते हैं। पाँचवाँ स्वरूप पाण्डित्य-प्रकोप है, यह तब उग्ररूप धारण किए दिखाई देता है जब स्वार्थपर धक्का पहुँचते देख विद्वान् भी स्वाभाविक राग-द्वेष-मद-मात्सर्य के कारण पक्षपातमय कार्य को भी तत्पर हो उठते हैं। छठा स्वरूप है पार्थक्य व नूतनत्व, जो कुछ समय के उपरान्त अपना स्वरूप पुनः अनन्तकालीन सनातन स्रोत में समा क्वचिदन्यतोऽपि को लुप्तप्राय कर देता है। एवं प्रकार क्वचिदन्यतोऽपि समाज में सर्वदा कार्यगत रहता है और मानव-मन-वैचित्र्य की पताका फहराया करता है। प्रत्येक विचार व मत इससे ग्रस्त होता रहता है।

तब गोस्वामीजी वेदपुराण-इतिहासादि के आधार लेने पर भी इस 'क्वचिदन्यतोऽपि' को कैसे छोड़ सकते थे ? उनने राम में ईश्वरावतार का वर्णन करने का लक्ष्य स्थिर किया, उनकी

पूर्ति करते समय कृष्णभक्ति का प्रचलित रूप और समाज-कल्याण के प्रश्न को भी सामने रक्खा, पाण्डित्य के साथ विवेक भी उनका साथी बना रहा। उनने ज्ञानदीपक की पंक्तियों में वैदिक ज्ञानवाद की महत्ता प्रदर्शित करना मानों आवश्यक समझा, तथापि भक्तिभाव की लोकरुचि के अनुकूल दशरथात्मज राम को मर्य्यादापुरुषों की कोटि से कहीं ऊँचा सर्वव्यापक ब्रह्म बना 'भजिय राम सब काम बिहाई' कह कर ही उन्हें शान्ति मिली। इस प्रकार की चेष्टाएँ तुलसी ही ने नहीं कीं, वरन्‌ ईश्वरवादी धर्मप्रिय समाजों के इतिहास में अनेक बार की गई हैं और उन चेष्टाओं के भीतर 'क्वचिद-न्यतोऽपि' के स्वरूप हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

लोकरुचि की जाँच की कोई कसौटी नहीं, न उसकी सीमा है। अनिश्चित काल में अनिश्चित ढंग से लोकरुचि पैदा हुआ करती है। पैदा हो जाने पर वह अपना कोई प्रभाव बिना दिखाए तुरत वहीं नष्ट नहीं होती, वह तबतक दबी जरूर रहती है जब तक उसका पोषक कोई वीर-धीर पुरुष नहीं मिलता। लोकरुचि में शक्ति के साथ आह भी होती है, जो अन्याय व अत्याचार को भस्मीभूत करने को अन्त तक समाज में लहराती फिरती है। सामाजिक सुधार, धार्मिक परिवर्तन, वैज्ञानिक आविष्कार और राष्ट्रीय क्रान्तियों में मनस्वियों के मस्तिष्क के साथ लोकरुचि भी काम करती हमें दृष्टिगत हुआ करती है। इसकी ऐसी अस्थिर, अचिन्त्य और अद्भुत अवस्थाओं का अनुभव करते हुए ही स्कॉट[1] को काव्यबद्ध करना पड़ा—

[1] Sir Walter Scott : The Lady of the Lake-Canto V-XXX

Who o'er the herd would wish to reign,
Fantastic, fickle, fierce, and vain!
Vain as the leaf upon the stream,
And fickle as a changeful dream;
Fantastic as a woman's mood,
And fierce as Frenzy's fevered blood!
Thou many-headed monster-thing,
O who would wish to be thy king!

लोकरुचि से लोकापवाद की उत्पत्ति है। लोकापवाद प्रबल होता है, उसका अपमान विद्वान् और वीर भी नहीं कर सकते। यह किस प्रकार प्रभुता-प्राप्त पुरुषोंको भी परास्त कर अपनी ओर आकर्षित कर लेता है इसके परिचय के लिए ईश्वर के अवतार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता-निर्वासन के प्रश्न पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। आदि कवि वाल्मीकि के राम ने भद्र से पूछा—"काः कथा नगरे भद्र वर्तन्ते विषयेषु च"[२], भद्र ने डरते डरते लोकमत को प्रकाशित किया कि परघर में बसी सीता को जब रामने ग्रहण किया तो हम लोगों को अपनी स्त्रियों का भी ऐसा आचरण सहन ही करना पड़ेगा क्योंकि—"यथाहि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते"[३] आदर्श लोकेच्छानुकूलाचारी राम वज्राहत् हो गए, सुधि आने पर सहसा बोल पड़े—'अपवाद-भय से बचने के लिए प्राण तक दे सकता हूँ, जनकात्मजा के लिए क्या मोह—"अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ?"[४] यद्यपि, "अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीता

[२]वाल्मीकि रामायणे, उत्तर० ४३ – ४
[३] " ४३ – १९
[४] " ४५ – १२

शुद्धां यशस्विनिम् ।"[५] महाकवि कालिदास ने इस प्रसंग में 'दोहदस्याप्रदानेन गर्भोदोपमवाप्नुयात्' के आज्ञापालन में सीता के मुख से वनवास के पूर्व ही स्पष्टतः कहलाया है- 'इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि',[६] तो भी राम से उन्हें स्वीकार करानी ही पड़ी—"अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।"[७] उत्तररामचरितम् के वैदिक विचारप्रेमी महाकवि भवभूति ने सीता निर्वास के पहले से ही राम से कहलाना आरम्भ कर दिया है--'आराधनाय लोकानां मुञ्चतोनास्ति मे व्यथा ।'[८] दुर्मुख से लोकेच्छा सुनकर दृढ़व्रती राम ने पुनः कहा--'सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम् ।'[९] इस विषम समस्या-सम्बन्ध में आदि कवि ने यह भी दर्शाया है[१०]--

देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो यतो जनः ।
रक्षोगृहस्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥

फिर वाल्मीकि-रामायण में जाबालि-राम का संवाद[११] लोकरुचि सम्बन्धी मत के ही आधार पर है और उसपर वैयक्तिक आर्थिक लाभ की जो गहरी छाप है उसे कभी २ नास्तिक मत की उपाधि प्रदान की जाती है, परन्तु वह समाज के ही मत का प्रतिनिधि है और मानव समाज के आस्तिक हृदयों

---

[५] वाल्मीकि रामायणे, उत्तर० ४५ – १०

[६] कालिदास , रघुवंशम् १४ – २८

[७] " १४ – ४०

[८] भवभूति . उत्तरचरितम् १ – १२

[९] " १ – ४१

[१०] " १ – ६

[११] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड राम जाबालि-संवाद

से भी वैसे भाव प्रतिपल प्रकट होते पाए जाते हैं। बाइबिल में कुमारी मेरी के गर्भवती होने पर जोजेफ पर भी लोका-वद-भय अधिकार जमाते दिखाई देता है, जिसके कारण जेफ ने मेरी को अर्द्धांगिनी रखना नहीं चाहा,[12] पर उस मय ईश्वरीय सत्ता द्वारा यह भय दूर किया जाता है, वदूत[13] जोजेफ के पास आकर उसे शान्त करते और मेरी के र्भ से जनत्राता प्रभु जेसज के प्रादुर्भाव का विश्वास देते ; वे जोजेफ का डर दूर करते कहते हैं— "Joseph, thou on of David, fear not to take unto thee Mary y wife : for that which is conceived in her is of he Holy Ghost." ऐसा नहीं करने पर मेरी की जो यनीय दशा होती वह अनुभव की बात है, पर लोकापवाद ो वैसे विषम दारुण फल से क्या सम्बन्ध, वह तो अपने ग में अपनी सत्ता का संरक्षण चाहता है।

ऐसे प्रबल लोकापवाद का उद्गम है मनुष्य के वैयक्तिक ीवन की आत्मतुष्टि की भावना। प्रत्येक मनुष्य की रुचि भेद लए होती है और उसमे कुछ ऐसा वैचित्र्य अवश्य होता है ो दूसरे से मेल नहीं खाता। जिस प्रकार एक ही आकृति दो मनुष्य नहीं होते उसी प्रकार दो की भी रुचि एक हीं होती और ऐसे अन्तर के कारण समाज परिवर्तन-त भी हुआ करता है। आत्मतुष्टि-जनित रुचि-वैचित्र्य के

12 "Then Joseph her husband being a just man, and not illing to make her a publick example, was minded to put er away privily" Holy Bible, St Matthew 1-19

13 Holy Bible- St Matthew 1-20

अभाव में समाज निष्प्राण नज़र आता क्योंकि उसमें चेष्टा नहीं होती और समाज में जो एक बार जहाँ आसन जम लेता उसे वहीं सुख या दुःखमें जमे रहना पड़ता। इसी विचा से समाज-धारक धर्म के लक्षण में मनु ने आत्मतुष्टि को[1] भी रक्खा है। विद्वानों के भी कामों में यह आत्मतुष्टि विद्यमा रहती है, इसे गोस्वामी जी ने रामायण-रचना में प्रदर्शित कर कहा है -"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमति मञ्जुलमातनोति।" एवं प्रकार प्रत्येक युग में विद्वान परम्परा का अनुसरण करते 'स्वान्तः सुखाय' समयानुकूल कचिदन्य तोऽपि को अपनाया करते हैं और अविद्वान् साधारण पुरु भी ऐसा ही करते हैं। ईश्वरवाद में जो अनेक परिवर्त्तन हो रहे हैं और हो रहे हैं उनमें भी आत्मतुष्टिका हाथ है। ईश्वर सम्बन्धी अनेकानेक विशिष्ट विचार स्थापित किए जाने पर भी स्वान्तःसुखाय तर्क वितर्क क्रमगत रहते हैं और भावसाम्य होने पर लोकरुचि के रूप में ये प्रकट हो नूतनत्व प्रदर्शित करने लग जाते हैं। गोस्वामीजी ने ईश्वर के नाम स्वरूप-चिन्तन को ध्यान में रखते वैयक्तिक आत्मतुष्टि से व्यापकत्व कर कहा भी है—"जिनकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।"

आत्मतुष्टि के साधनों में अन्तर विद्यमान रहना भी मानव समाज में अनिवार्य है, क्योंकि विद्या-बल-बुद्धि की समानता सबों में नहीं होती और इन्हीं के अनुकूल आत्मतुष्टि का रूप भी हुआ करता है। जनसाधारण की

---

[1]मनुस्मृति २-६ "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥"

प्रवृत्ति शिष्ट व अशिष्ट दोनों ही रूप धारण किया करती है और समाज नेताओं को उसके अनुकूल रहने का प्रयत्न बराबर करते रहना पड़ता है। साधारणत. यह पाया जाता है कि जटिल व कठिन चिन्तन मे लोग अपना मस्तिष्क लगाए रहना नहीं चाहते वे सहज साधारण दिव्य और अलौकिक बातों की ओर सहसा झुक पड़ते हैं। इसी से जादू-टोना टोटका-मत्र-तत्र आदि चमत्कारपूर्ण विषयों की अत्यन्त प्राचीनता पाई जाती है। भारतीय चिन्तन के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों तक मे इनके उल्लेख उसी ढग के पाए जाते हैं जिस तरह की प्रतीति आज भी पाई जाती है। वैदिक ऋषि जिस समय प्रकृति-सौन्दर्य द्वारा एक प्रजापति के अनुभव मे लीन थे, जनसाधारण जादू-टोना मे मोद मान रहे थे।[15] वैदिक ऋचाओं के सग्रह मे तत्त्वचिन्तनपरक मत्रों के साथ वे भी संकलित किए गए और अथर्ववेद मे उनकी सत्ता स्पष्ट विद्यमान मिलती है।[16] इसी से वेद आर्य्य और अनार्य्य

---

15 ' the praises to the gods in connection with the great Soma sacrifices with their prevailing mythical colouring, darkened very often by priestly mysticism, offer but scant occasion for the mention of sorcery, or the plainer practices of everyday life Yet sorcery and house practices there were in India at all times M Bloomfield Hymns of the Atharva veda introduction p XXX—Sacred Books of the East Vol XLII

16 ' In essence it is a collection of spells for every conceivable end of human life, spells to secure success of every kind, in the assembly, in public life, to restore an exiled king, to procure health and offspring, to defeat rivals in

दोनों ही प्रकार के पुरुषों लिए निःश्वसित कहे गए हैं, इसे यजुर्वेद ने स्पष्टतः स्वीकार किया है [15]—"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय।"

किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि किसी भी काल में शिष्ट विचार के प्रतिकूल या विरोध में आत्मतुष्टि या स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण अशिष्ट भाव के उत्पन्न हो जाने पर शिष्टविचारवादी अपने प्राबल्य के लिए अवश्य ही अशिष्टवादियों को दबाने की चेष्टा किया करते हैं कुछ कालतक विरोधात्मक संघर्ष चलते हैं। अशिष्ट विचार परम्परागत से ही व्यक्त होने पर भी जब शिष्ट विचारों पर अपने परिवर्तित स्वरूप का धक्का पहुँचाने लगते हैं तो मनुष्य-बुद्धि कभी २ घृणा द्वेष-क्रोध आदि का भी शिकार बन बैठती है और सबल निर्बल को दबा देना पसन्द करता है। उस समय धार्मिक विवाद उठ खड़े होते हैं। असुर, म्लेच्छ, मेहतर आदि शब्दों के परिवर्तित अर्थों का यही कारण है [16] और वैदिक स्तुतियों मे देवनिद्, दास, अब्रह्म, अनिन्द्र, अपव्रत, आदि शब्द भी प्रमाणित करते हैं कि उस समय आर्य्य ऋषियों के शिष्ट विचार के विरोधक अनेक थे और आर्य्यऋषि उनका अनिष्ट भी चाहते

---

love, to stride away diseases in every form, to win wealth and so on" A B Keith Religion and Philosophy of the Veda, p. 18

[15] यजुर्वेद २६-२

[16] इन शब्दों के पुराने अर्थ आधुनिक अभिप्राय से एकदम भिन्न हैं, उनमें [illegible]

थे।[19] शिश्नपूजकोंको ऋषि मान नहीं देते थे,[20] तो भी शिश्नपूजक डटे रहे और कालान्तर मे ऋषि वंशजों मे शैव-वैष्णव मत चलने पर लिंग और शालिग्राम मे ईश्वरत्व की भावना धार्मिक मानी गई। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि विरोधक भावों की तबतक अवहेलना की जाती है जबतक वे सबल नहीं हो उठते, बाद मे वे व्यापक होने लगते है और ऐसी दशा में जनसाधारण की स्वाभाविक इच्छाएँ भी शिष्टविचारवादियों द्वारा अपने मे मिला ली जाती हैं[21]। एवं प्रकार अशिष्ट शिष्टता को प्राप्त हो जाता है, पर पुनः रुचिवैचित्र्य दूसरे रूप मे शनैः २ दूसरी दिशा से आने लगता है। यह आदान प्रदान का क्रम है, जो निरन्तर होता रहता है।

---

19 'The fact, however, is that there must have been a risen in the long run a strong wave of popular aversion against the Veda, whose most salient teaching is sorcery' M Bloomfield · Hymns of the Atharva-Veda—P xxix—The Sacred books of the East vol XLII

२० ऋग्वेद ७-२१५ "स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं न।", १०-९९-३ "अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत।"

21 "The priests, in fact, instead of standing apart from ordinary life and developoing their own views in difference to those of the people, appear to have aimed, as time went on, at absorbing *enmasse* the popular rites and decking them out with their own poetry and their ritual elaboration" A, B Keith Religion and Philosophy of the Veda, P 56

दण्डविधान में त्याग भी एक दण्ड है, दोषी को समाज से पृथक् कर उसे सुधार-पथ पर लाने की चेष्टा की जाती है चाहे उसका फल कुछ भी हो। धार्म्मिक दुनिया में भी दण्ड-नीतिधारी विद्वान् ऐसा किया करते हैं। पंचायतों द्वारा दण्डित और जातिच्युत करने का निर्णय उसी के प्रमाण हैं। यह जाति के शिष्ट व सबल व्यक्तियों द्वारा किया जाता है और इसका उपयोग असमय पंडितवर्ग द्वारा भी होता पाया जाता है जब उसके निश्चित विधान के विरुद्ध कोई राय समाज में विशेषता के विचार से प्रकट की जाती है इसका रूपक सुरेश्वर इन्द्र के द्वेषात्मक कृत्यों में पौराणिकों द्वारा बड़े ही सुन्दर शब्दों में बाँधा गया है, जिसका समर्थन करते गोस्वामीजी ने कहा है--"विघन मनावहीं देवकुचाली"। देवेश इन्द्र जब किसी मनुष्य को धार्म्मिक श्रेष्ठता द्वाराऊंचा उठते देखते उनका हृदय इन्द्र-पद-छीन जाने के भय से काँप उठता। उसी तरह इन्द्रोपासक याज्ञिक पण्डित-पुरोहितों का भी चित्त चचल हो जाना बहुत सम्भव है जब उनने बलिमय यज्ञों का विरोध होते अपने समाज में यत्र-तत्र देखा, उनने यह भी देखा कि अध्वर यज्ञ के पक्षपाती द्विज यज्ञ के स्थान में ज्ञानयज्ञ की इच्छा रखते हैं। वे आरम्भ में वैसे लोगों को समाज से बाहर और धर्म्मच्युत करने का ढंग निकालने के सिवाय और क्या कर सकते थे? ऐसा ही किया, जिसके भुक्तभोगी द्विजवंशी व्रात्य [२४] शास्त्र में दण्डित

[२४] मनुस्मृति—१० "द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानित्यभिनिर्दिशेत् ॥२०॥
व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥२१॥

होते हैं। किन्तु इससे उन्हें सफलता नही हुई, कारण कि वहि
र्तों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य सभी थे और वे अलग ही सबल
होने लगे। उन्हें समाज मे ले लेना ही प्रिय जॅचा, व्रात्यस्तोम
विधि[25] का आयोजन निकाला गया और उसके द्वारा व्रात्यों
को सभी अधिकार दिए गए। फिर व्रात्य वेद पढ़ने लगे
और ब्राह्मणों का उनसे सहभोज भी आरम्भ हो गया। ऋग्वेद
के व्रात और पंचविंश ब्राह्मण के गरगिर-कटुवादियों[26] का
पृथकत्व भी ऐसे ही प्रयत्न मे नष्ट होता गया क्योंकि अब वे
समाज के भीतर मान पाने लगे।

यज्ञ के विरोधकों को समाज मे ले लेने पर याज्ञिकों को
अपने विचार भी बदलने पड़े और हम पाते हैं कि ब्रह्मवाद
ने ब्राह्मणकालीन यज्ञों की प्रधानता ही नष्ट कर दी। यज्ञ के
स्थान मे ब्रह्मवादी पैदा होते गए और तार्किकों की श्रेणियाँ
भी एक के बाद दूसरी बनीं। षड्दर्शनों का जन्म उसी तर्क-
शृंखला मे हुआ और उस समय ऐसे दल भी बने जो ब्राह्मण-
मत का विरोध करते थे, वे गौतम बुद्ध के समय मे भी विद्य-

झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥२२॥
वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥२३॥"

[25] पंचविंश ब्राह्मण अ० १७ ; लाट्यायनश्रौतसूत्र ८-६ ; कात्यायनश्रौतसूत्र पृ० ८८९—९२

[26] ऋग्वेद १-१६३-८, ३ २६-२, ५-५३-११
वीणा : जनवरी-१९३४, पृ०१८५; पंचविंशब्राह्मण—अ०१७ पृ० ३५०-६६; J. B. Branch R. A. S Vol. XIX, p. 359

मान थे।[25] ब्राह्मणधर्म्म में संन्यास का निर्माण होने पर त्यागी संन्यासियों में समय २ पर ऐसे लोग भी मिलने गए जो कर्म्म से मुख मोड़ परायाभोजी पौधों की तरह समाज के मत्थे विचरण किया करते थे।[26] वे परिव्राजक नाम से इतस्ततः भ्रमण करने और वितण्डा-तर्क-न्याय मीमांसा के आधार पर कोरा विवाद किया करते।[27] इससे अकर्मण्यता का विस्तार आरम्भ हुआ। लोकरुचि को यह बुरा लगा, उसका जो झगड़ा आरम्भ किया गया और गीता-गुरु कृष्ण को गीता में कर्मयोग की श्रेष्ठता बतलाते अकर्मण्यता के मिथ्याचार को खण्डन करना पड़ा। जब गौतम बुद्ध ने भिक्षुसंघ का निर्माण किया तो ऐसे नियम बनाए कि त्याग द्वारा धर्मकार्य्य भिक्षुओं में हो सके आमोद-प्रमोद के लिए कर्म्मत्यागी बन कोई भिक्षु नहीं बने

कबसे कबतक ब्रह्मवाद की लहर और गीता के कर्मयोग

[25] "Further, to all appearance, these teachers, whethe Brahmans or not by birth, were in their general attitude as anti Vedic and anti Brahmanic as perhaps the Budha him self" A History of Pre-Budhistic Indian Philosophy, P 189

[26] "But it was not long before the starved ascetic with his wild appearance and great reputation for sanctity inspired an awe which, in the unscrupulous, was easily turned to advantage The Yogi became more or less of a charlatan, more or less of a juggler" Hopkins History of Religions, P 351

[27] "They were teachers, or sophists, who spent eight or nine months of every year, wandering about precisely with the object of engaging in conversational discussions on matters of ethics and philosophy, nature-lore and mysticism.' Prof Rhys Davids: Buddhist India, P. 140-1

का प्रभाव भारतीय समाज में व्याप्त रहा यह निश्चित रूप में कहना कठिन है, क्योंकि निश्चित समय का कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं, कल्पनाएँ तो तरह २ की की गई हैं। लेकिन ऐसे प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि सांख्यवादी आदि दार्शनिकों की स्वतंत्रता और औपनिषदिक विचारों [28] ने समाज में ऐसे लोगों को पैदा कर दिया था, जो ब्राह्मणमत की बुराइयों का दिग्दर्शन निर्भय जनता को करा सकते थे। [29] वे उस समय प्रबल हो जाते जब लोकरुचि कोई परिवर्तन चाहती। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ऐसा ही घटित हुआ। उस समय साहित्यिक भाषा संस्कृतके ही रहते भी प्राकृत का मान साधारण प्रयोग में बढ़ रहा था। तोभी धर्मग्रन्थ तो संस्कृत में ही थे और धार्मिक कृत्यावसरों पर उन्हीं के मंत्रोच्चारण किए जाते जैसा आज भी है। उस समय समाज में जातीय अभिमान और धार्मिक भेद भी जोरों पर था, जाति-च्युत करना पण्डितों के हाथ की बात थी। ऐसे लोग अधिक संख्या में थे जिन्हें ऊंचे लोगों के समान सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे; वे परिवर्त्तन के इच्छुक थे, क्योंकि ब्राह्मणमत के आडम्बर-भेद-घृणा-तिरस्कार उन्हें प्रिय न था। समय देख

[28] "The thoughts of the Upnishads led in the post-Vedic period not only to the two great religions of Buddhism and Jainism, but also to a series of philosophical systems". Dr. Paul Deussen : Outlines of Indian Philosophy, P. 34

[29] "...hundreds of years before Budha's time movements were in progrees in Indian thought, which prepared the way for Budhism and which can not be separated from a sketch of the latter". Dr. Hermann Oldenberg : Buddha-P 6

सांख्यवादी प्रभृति स्वतंत्र चिन्तकों की अनुयायी परम्परा में क्षत्रियकुमार पार्श्वनाथ और गौतम बुद्ध ने इसी लोकरुचि का नेतृत्व ग्रहण किया और उनने समाज-सुधार के यत्न आरम्भ किए। [30] वे ब्राह्मणों के विरोध में खड़े हुए और जो पहले से विरोध कर रहे थे उनसे भी उनका वादविवाद हुआ। पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बली पकुध कच्चायन, सञ्जय बेलट्ठपुत्त और निगंठ नाथपुत्त नामक छः प्रमुख श्रमणों के साथ गौतम बुद्ध के विचार-विमर्श होने के प्रमाण मिलते हैं। [31] तर्क में दार्शनिक विचारों का सुन्दर खण्डन उनकी शक्ति के बाहर था, नवीन युक्तियों से ईश्वर रूपको भी नूतनत्व देने में वे असमर्थ थे और वैदिक विचारों की भी उनमें परिपक्वता न थी तोभी लोकमतानुसरण का दृढ प्रेम उनमें था और इसी बल पर वे जनसाधारण की भाषाओं में अपनी शिक्षाएँ देने लगे। उनके द्वारा पशुवध प्रधान

---

[30] 'If it were possible to reply to the inquiry in one word, one might perhaps say that true Buddhism theoretically stated, is Humanitarianism meaning by that term something very like the gospel of humanity preached by the Positivist, whose doctrine is the elevation of man through man—that is through human intellect human intuitions, human teaching, human experiences, and accumulated human efforts—to the highest ideal perfection But such a reply would have only reference to the truest and earliest form of Buddhism Sir Monier Monier-Williams Buddhism, P 11 12

[31] Dr Beni Madhab Barua A History of Pre-Budhistic Indian Philosophy, P. 188-9

यज्ञों का खण्डन किया गया, भेद-भाव निर्मूल बताए गए, सामाजिक समानता को जोर दिया गया, आचार-पालन कर्त्तव्य कहा गया और ईश्वर तथा वेद पर प्रधानता नहीं रक्खी गई।

बौद्ध और जैनमत लोगों को उस समय बहुत पसन्द आया, ब्राह्मण-धर्म्म के विरोधक या याज्ञिक रूढ़ियों को पसन्द नहीं करनेवाले पर्य्याप्त संख्या में नए मतों का स्वागत करने लगे, नूतनमतानुयायियों की संख्या प्रतिदिन तेज़ी से बढ़ने लगी,[1] दानियों की सम्पत्ति नूतन मतों की सहायता में जाने लगी, बड़े २ मठ स्थापित किए गए, उनके खर्च के लिए गाँव दान में दिए गए और भिक्षुओं का दल तत्परता से भ्रमण कर नव मत की शिक्षाएँ देने लगा।[2] इस समय वैदिक होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्म आदि के विरोधक व्रात्य परिव्राजकों की परम्परा के बुद्धों और

[1] "If we might believe the Budhist texts on this subject, Budha's career was nothing but one great uninterrupted victorious march Wherever he comes, the masses, it is told us time after time, flock to him The other teachers are deserted, they are silent if he 'raises his lion voice in the assemblies' Whoever hears his discourse, is converted" Dr. Hermann Oldenberg Buddha, P 170

[2] "Personally the bhikshu has taken the vow of poverty and lives on alms, but the order has possesions, it is rich and the origin of its wealth is of very ancient date, if, as its traditions, which are in no way improbable, allege, it is true that some of the donations in land were made to it as far back as the life time of Budha" A Barth The Religions of India, P. 127

तीर्थंकरों की दबी आवाज़ ऊँची हो समाज का बाह्यरूप
बदलने लग गई; तब ब्राह्मणों के निश्चित पक्ष के स्थान में
हीनयान व जैनमत विराजमान दिखाई देने लगे और श्रमण
व निर्ग्रन्थ धार्मिक गुरुओं के सम्मान का पात्र बने।

विदित होता है कि कुछ काल तक ब्राह्मण अवाक् रहे, बल्कि अनेक बुद्ध के अनुयायी भी बने। ऐसा स्वाभाविक भी था जब उनके सामने उनके असंख्य यजमान ब्राह्मणिक[34] रूढ़ियों से ऊब कर नूतन मत का स्वागत करने लगे थे। पर पीछे ब्राह्मणधर्म के संरक्षकों को चिन्ता हुई, वे स्वमत-रक्षार्थ चेष्टाएँ करने लगे।[35] चेष्टा के लिए उद्यत होने का अवसर भी उनने पाया। बौद्ध भिक्षुओं में स्वार्थ था, कुछ ऐसे थे जो अपने लाभ के लिए स्वतन्त्रता चाहते थे; ऐसे लोगों से स्वयं गौतम बुद्ध को बराबर भय रहा।[36] तोभी स्वभाव स्वभाव

---

[34] "He may often have found the local influence of respected Brahmans an obstacle in his path, but against this a hundred other Brahmans stood by him as his disciples or had declared for him as lay members" Dr Hermann Oldenberg Budha P 171 2

[35] J R A S, Vol XIX, old, P 311 'It was only when the authority of the sacred books was not merely tacitly set aside or undermined, but openly discarded and denied, and the institutions founded on them were abandoned and assailed by the Buddhists, that the orthodox party took the alarm. Muir"

[36] "In his opinion it was only the wicked and selfish bhikkhus who achieved their selfish ends by introducing principles of Dhamma and Vinaya which proved sources of heated contentions" N Dutta Early History of the spread of Budhism, P 217

ही है। आगे चन्द किए नए मतों की ओर दौड़े लोगोंमें भी अनेक को गौतम की संसार-निस्पृहता की शिक्षा उतनी अच्छी नहीं लगने लगी, वे अन्तर चाहने लगे। ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड भी क्षतिग्रस्त हुआ था। वे अवसर पा बौद्धमत का विरोध करने को तुले;[27] किन्तु उन की आरम्भिक चेष्टा धर्म-द्वेष-प्रेरित हुई, जिसे पाण्डित्य-प्रकोप कहा जा सकता है। वे अपने विरोधकों को अपमानित करने पर उतारू हुए, उनके विरोधक म्लेच्छ-वृषल-नास्तिक कहे गए और अंग बंग-कलिंग सौराष्ट्र-आदि बौद्धप्राय देशों में तीर्थयात्रा के सिवा जाने पर पुनः संस्कार तक का विधान किया गया। पर इससे काम सधते नज़र नहीं आने पर उनने "क्वचिदन्यतोऽपि" का सहारा ले आत्मतुष्टि व जनसाधारण की प्रवृत्ति के अनुकूल उपचार पर उद्यत हुए। वैष्णवमत की स्थापना की जाने लगी और नए मतों की समानता की पूजापाठ-विधियाँ वैष्णवमत मे मिलाई गईं। शुंगशासन की स्थापना होने पर ब्राह्मणों को राज-साहाय्य भी प्राप्त हुआ और पुष्यमित्र तथा रानी बालश्री[28] से पूरी सहायता मिली। पुष्यमित्र ने वैदिक रीति के अनुकूल अश्वमेध यज्ञ तक किया,[29]

---

27 "Especially was it no longer possible when they had to share along with it the liberality of kings and the great. From that moment a vehement antagonism arose, and the sacredotal caste, assailed at once in its functions and its revenue, must have felt that it was its very existence that was threatened" A. Barth The Religions of India, P. 126

28 Buhlar Inscription at Kārli, No. 17. A. S. W. I. IV, 109

29 "The memorable horse sacrifice of Pushyamitra

जिस प्रोत्साहन से ब्राह्मण अपनी चेष्टाओं में अग्रसर हुए और उनका प्रयत्न गुप्त राजाओं के समय में नितान्त सफल हुआ. गुप्तवंशी राजाओं द्वारा राजसाहाय्य पाकर ब्राह्मण धर्म फिर स्थिर व प्रभावशाली हो आया, लेकिन याज्ञिक या ब्रह्मवाद के वैदिक स्वरूप में नहीं, हिन्दू धर्म के आधुनिक वेश में।

विरोध के कारण द्वेपभरी बुद्धि विवेक गँवा बैठती है और उस दशा में किसी भी समाज के विद्वान् तक अपने विरोधकों के प्रतिकूल कहने में नहीं हिचकते। ब्राह्मणधर्म के विरोधकों के विरुद्ध भी कभी २ ऐसा घटित हुआ। नास्तिकोपाधि से समन्वित किए गए कुछ नाम ऐसे हैं जिनके साथ सम्बद्ध सिद्धान्त वास्तव में मानव-हित के विरोधक नहीं कहे जा सकते, न वे ईश्वर की ब्रह्माण्डव्यापिनी सत्ता को ही परिवर्त्तनग्रस्त करनेवाले सिद्ध होते हैं। तोभी नास्तिकता की कोटि में उनकी गणना की गई, जिसका एकमात्र कारण था उनका लौकिक विभूतियों का भाव लोक-हृदय में भरना और इस कार्य्य के मार्ग के विरोधक भावों का खण्डन करना। बृहस्पति, चार्वाक गौतमबुद्ध, पार्श्वनाथ आदि के मत इसी लक्ष्य के हैं, तथापि यत्र तत्र वे नास्तिक कहे गए हैं और वे अनिश्वरवादी के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। जिसके जवाब में बौद्धमत के भी पंडित नास्तिकता का दोष ब्राह्मणों के ही मत्थे मढ़ 'जैसे को तैसा मिले' को चरितार्थ करते पाए जाते हैं। किन्तु उनके

marked an early stage, in the Brahmanical reaction, which was fully developed five centuries later in the time of Samudragupta and his successors." V. A. Smith The Early History of India, P 213

मतोंपर निष्पक्ष विचार करने से ज्ञात होता है कि उनकी बनाई नास्तिकता ईश्वरवाद का खण्डन नहीं करती, न ज्ञानमय तर्क का मूलोच्छेद ही, बल्कि उनके मत ईश्वरवादियों के अनैक्य व अनस्थिरता को दूर कर उनको ऊँचा और सबल बनाते हैं। उन्हें नास्तिक शब्द से ही ख्याति देने पर भी उन की शिक्षाओं की दृष्टि से 'नास्तिक' शब्द का कुछ और ही अर्थ उनके सम्बन्ध में करना पड़ता है, क्योंकि उनकी भारतीय नास्तिकता 'Atheism से नितान्त भिन्न है [40] और विदेशीय नास्तिकों के विचार उनकी चिन्तन-कोटि के अन्तर्गत नहीं रक्खे जा सकते। ईश्वरवाद का अभिप्राय लौकिक जुगुप्सा कदापि नहीं, न ईश्वरवाद अन्याय या अत्याचार का ही समर्थक है। ईश्वरवाद का आन्तरिक लक्ष्य मानवजाति में प्रेम पैदा कर घृणा-द्वेष-अत्याचार को दूर करना है, मनुष्य को देवतारूप बना वसुंधरा को देवलोक में परिणत करना है। बृहस्पति-चार्वाक-बुद्ध आदि के पुरुषार्थ प्रचारक व अर्थ-काम प्रदायक मत विचारने से इस व्यापक भाव के विरोधक कभी नहीं सिद्ध होते, उन से तत्कालीन किसी अन्य मत को क्षति भले ही पहुँची हो, पर यह तो इस विराट विश्व में होता ही रहता है। पुनः बौद्धमत के प्रबल प्रचार के समय की सामाजिक स्थिति पर, जो रत्थपाल सुत्तान्त और संयुक्तक निकाय में मिलता है, विचारने से स्पष्टतः विदित होता है कि कैसे युग में गौतम ने प्रेम को प्रधानता प्रदान दी।

---

40 "In the domain of Sanskrit philosophical literature, the Nastika is not generally synonymous with-Atheist" Dr Ganganath Jha Tantra vartika introduction, p ii

कौटिल्य के अर्थशास्त्र का आरम्भ 'ॐ नमः शुक्रबृहस्पति-भ्याम्' से होता है, वहाँ राम-कृष्ण विष्णु महेश-गणपति-प्रभृति में से किसी का स्मरण नहीं किया जाता। वस्तुतः वैसा उचित भी नहीं जँचता जब कौटिल्य को पूर्वाचार्यों द्वारा कथित पृथ्वी-लाभ पालन के अर्थशास्त्र का उल्लेख अभिप्रेत था।[४१] इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि शुक्र-प्रणीत शुक्रनीति और बृहस्पति रचित बार्हस्पत्याख्य ग्रन्थ समाज के आर्थिक चिन्तन से सम्बन्ध रखते थे[४२]। ऐसा

[४१] "पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्ता-वितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।" Dr J Jolly कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् पृ० १, Vol I

[४२] शुक्र और बृहस्पति समाजशास्त्रविद् अर्थशास्त्रके आचार्य थे, नास्तिकता के प्रचारक नहीं। इस सम्बन्ध में भ्रमवश डाक्टर जॉलीने ArthaSastra of Kautilya के Vol II पृ० ४ की टिप्पणी में बृहस्पति की सम्मति को heretical opinions' लिखा है, उनकी ऐसी धारणा का मूल बार्हस्पत्यसूत्र की भूमिका में Dr F W Thomas M A. की ये पंक्तियाँ जान पड़ती हैं— 'The Text here edited with a translation was brought to notice in the course of a search for a celebrated treatise also ascribed to a Brihaspati, namely the exponent of the Lokayata or Carvaka doctrine, the crude corporealism of India. डाक्टर टामस की यह धारणा सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य-कथित— "बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण' वाक्यांश पर अवलम्बित है।

कौटिल्य के आचार्य बृहस्पति को ही नास्तिक कहने पर यह विचारना और भी आवश्यक हो जाता है कि क्या वास्तव में वह नास्तिक थे, क्या कौटिल्य व चार्वाक नास्तिक थे, या इन पदार्थ

विचार समाज के लिये कदापि नास्तिकतामय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थरहित समाज कोरे धार्मिक सिद्धान्तों को कभी पसन्द नहीं कर सकता। कहा है—'भूखे भजन न होय गुपाल।' आज भी अनेक ऐसे विद्वान् विद्यमान हैं जो 'अर्थ' और 'काम' को ही सब कुछ मानते हैं और 'धर्म्म' को न कोई स्थान नहीं देते यदि देते भी हैं तो उसका विचार नैतिक विकास की दृष्टि से करते हैं। सांसारिक जीवन के महत्व के जाननेवाले बृहस्पति की दृष्टि में भी विद्या दो ही हैं—राजनीति व सम्पत्तिशास्त्र। इसीका उल्लेख कौटिल्य ने भी अपने मत के आरम्भ में किया है, यथा—'वार्ता दण्डनीति श्चेतिबार्हस्पत्या। संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद् इति।" वार्ता सम्पत्तिशास्त्र है इसे कौटिल्य ने १म अधिकरण के चतुर्थोऽध्यायारम्भ में स्पष्टतः कह दिया है—"कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।"

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तंत्र मंत्र की कल्पनाएँ नहीं हैं। वहाँ समाज को संयत व सम्पन्न बनाने के व्यवहार का विवरण है। कौटिल्य ने इसी दृष्टि से चार वर्गभेद किए हैं—आन्वीक्षकी, त्रयी वार्ता, दण्डनीति। इनमें आन्वीक्षकी के भीतर सांख्य, योग और लोकमत हैं[४]। लोकायत शब्द का अर्थ किसीने 'नास्तिकवाद' किया है पर यह गलत जान

बुद्धि से वे नास्तिक कहे गए जैसा महावीर और बुद्ध के सम्बन्ध में भी मिलता है?

[४] 'सांख्य योगो लोकायत चेत्यान्वीक्षकी" J Jolly कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्-पृ० ४

पडता है।" वास्तव में यह लोकमत, लोकप्रचलित साधारण धारणाएँ, लोकेच्छा आदि लोक-विचार सम्बन्धी भावों का द्योतक है। हिलेब्रांड्ट महोदय ने भी इसका अर्थ किया है— auf die welt gerichtet अर्थात्—'इह लोक का विचार करनेवाले।'[45] इसी कारण कौटिल्य का कथन भी है कि राजदण्डपालित हो चतुर्वर्णाश्रम के लोग—'स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु ' अपने अपने धर्मकर्म में लगे रहते हैं। कारण कि सामाजिक और व्यक्ति की उन्नति के लिये दण्ड की अत्यन्त आवश्यकता है, उचित विचार के बाद दण्ड देने में ही लोग धर्म अर्थ-काम में प्रवृत्त होते हैं। कौटिल्य ने अपने आचार्य मत से प्रमाण देते भी कहा है कि जिस किसी को संसार की उन्नति वांछनीय हो उसे चाहिये कि वह दण्ड को सदैव उठाये रहे, लोगों को वश में लाने के लिये दण्ड से दूसरा अच्छा साधन नहीं[46]। यह कथन उस युग के भी सर्वथा अनुकूल था जिस विद्रोह भेद रचना पारस्परिकयुद्ध के युग में कौटिल्य का जन्म हुआ, ऐसे भी इसकी आवश्यकता

---

[44] "शामशास्त्री जी ने इस शब्द का सभ्य अर्थ नास्तिकवाद दिया है।" गोपाल दामोदर तामसकर कौटिलीय अर्थशास्त्र मीमांसा पृ० १९

'Anvikshaki comprises the Philosophy of Sankhya, yoga, and Lokayata (Atheism ?) R Shamasastry Kautilya's Arthasastra, p 6

[45] Hillebrandt Alt—Indien p 170

इसके उद्धरण के साथ डा० जोशी ने अर्थ किया है—'संसार की तरफ झुके हुए।' सुधा वर्ष १ सं० १ पृ० २०

[46] "आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्द-

रहती ही है। प्रकृति में यही नियम जारी है, इसीसे व्यावहारिक जगत के लिए मत्स्यन्याय पर जोर दिया गया है। लोकायत युक्त आन्वीक्षकी की निम्नांकित व्याख्या भी लोकायत के सर्वहित-कामना-स्वरूप पर काफी प्रकाश डालती है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

कौटिल्यार्थशास्त्र का लक्ष्य इस तरह समाज के कल्याण के निमित्त होने के कारण वह समाज की धारण-शक्ति से युक्त माना जा सकता है; तब वह धर्म का विरोधक नहीं, न नास्तिकों का शास्त्र कहा जा सकता है। बल्कि ६ वें अधिकरण के ७ वें अध्याय के अन्त में अथर्ववेद की शरण ले 'तस्यामाथर्वणां कर्म सिद्धरम्भाश्च सिद्धयः' कह वह अपनी हार्दिक आस्तिकता स्वीकार करता है। अर्थशास्त्र विषय भी अथर्ववेद का ही उपवेद कहा जाता है—यथा 'अथर्ववेदस्य अर्थशास्त्रम्।'[४७] बृहस्पति-मत का अनुसरण करने के कारण भी कौटिल्य नास्तिक

दण्डनीति। अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। तस्यामायत्ता लोकयात्रा। तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्।''' ''सुविज्ञानप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीत कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे।" J Jolly कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् पृ० ६

[४७] पं० भगवद्दत्त : बार्हस्पत्यसूत्रम् के भूमिका भाग में, पृ० २

नहीं रहे जा सकते, बल्कि वह और उनके आचार्य लोकार्थी थे और अर्थ द्वारा जनता के प्रिय-साधक थे। तथापि समाज में उनके प्रतिकूल धारणा के फैलने के दो कारण प्रतीत होते हैं १. ला कि अर्थशास्त्राचार्य बृहस्पति लोकमत के प्रतिनिधि होने के कारण द्वेषभाव से नास्तिक कहे गए, २ रा कि बृहस्पति नाम का नास्तिक कोई दूसरा ही था; किन्तु उसका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होने के कारण उस पर कोई राय यहां नहीं दी जा सकती।[४८] एवं प्रकार चार्वाक भी समाजशास्त्र प्रणेता बृहस्पति का अनुयायी और धर्म के पवित्र लक्ष्य से भ्रष्ट स्वलाभ चिन्तक धनभेद-मोह-ग्रस्त याज्ञिक पण्डितों का विरोधी लोकायत का प्रतिनिधि था,[४९] जो पण्डितों द्वारा कभी २ नास्तिक की उपाधि से समाज के लिए अपमान-पात्र माना गया है; और कालान्तर में पुनः वैसी ही चेष्टा कर कुछ शास्त्रों में

---

[४८] Somadeva Suri (10th century A D) says in his Yashastilak बृहस्पतिनीतय इवादेवमातृका (p 13 Nirnaya—Sagar 1901) and his commentator Shrutsagar Suri says बृहस्पतिनिर्नीतय इव। यथा बृहस्पतिनीतय श्चार्वाकशास्त्राणि देवं सर्वज्ञादिविशेषं न मन्यन्ते। So, according to the commentator the Nitikara Brihaspati was the renowned Carvaka Brihaspati the politian, being connected with Manu and others of the theistic school, was certainly a theist Somadeva and his commentator confuse the two Brihaspatis' Bhagavaddatta: बार्हस्पत्य सूत्रम्, Introductory remarks p 9

[४९] महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर और कृष्ण ने चार्वाक का विस्तृत विवरण किया है, उसमें यह भाव स्पष्टतः विद्यमान है।

पार्श्वनाथ और बुद्ध भी नास्तिक कहे गए, यद्यपि वास्तविकता ऐसे भ्रान्तिमूलक उपाधि-प्रयोग का सर्वथा खण्डन करती है और कौटिल्य-बृहस्पति-बुद्ध आदि को लोकमत का प्रतिनिधि व समाज का शुभेच्छु सिद्ध करती है।

निरुक्तकार यास्क के पहले कौत्स हो गए थे, उन्हें वेदमंत्र अनर्थक जान पड़े[५०]। जान पड़ता है कि ऐसे दुरूह मंत्रों की ओट ले पहले जो याज्ञिक पशुबलिको प्रोत्साहन दे रहे थे और यज्ञ को अपनी आय की सम्पत्ति बनाए बैठे थे, उनके सामने चार्वाकमत समुपस्थित किया गया—"अनृतव्याघातपुनरुक्त दोषैर्दू षिततया वैदिककर्म्मन्यैरेव धूर्त्तबकैः परस्परं कर्म्मकाण्ड-प्रमाण्यवादिभि र्ज्ञानकाण्डस्य ज्ञानकाण्डप्रमाण्यवादिभिः कर्म्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन त्रय्या धूर्त्तप्रलापमात्रत्वेन अग्निहोत्रादेर्जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्।"[५१] यह कथन निस्सार नहीं था, इसके पीछे एक प्रबलेच्छा थी समाज की ऐसी ही धारणा बलिप्रेमी धनी याज्ञिकों की वेदप्रियता के प्रतिकूल थी। याज्ञिक किसी का सुनते न थे, लोकमत वैसे यज्ञ द्वारा ईश्वर-प्राप्ति में अविश्वास रखता था तोभी वे उसे वेद-वचन-बद्ध रखना चाहते थे। हेतुशास्त्राश्रय द्वारा श्रुति-स्मृति की अवहेलना करनेवाले द्विजों के भी बहिष्कार का दृढ़ नियम रहते

---

[५०] निरुक्त अ० १ खं० १५—"स्वार्थस्य च मन्त्रार्थप्रत्ययस्य च साधकम्। यदेत मन्त्रार्थं प्रत्ययार्थं क्रियते, अनर्थकमेव भवतीति कौत्स आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः। कस्मात्? अनर्थका हि मन्त्राः। मन्त्राणां यदानर्थक्यं तदेदनोपेक्षितव्यम्, एतेन नैरुक्तमोपगम्येक्षितव्यम्।"

[५१] माधवाचार्य: सर्व्वदर्शनसंग्रह पृ० ३

की चार्वाकमत के आचार्यों ने विरोध किया। उस विरोध का उद्देश्य था नैतिक काम के शास्त्रों के अनुकूल सर्व साधारण को सुखी बनाना और उसके मार्ग का कंटक जो प्रचलित पारलौकिक विश्वास था उसे अस्वीकार करना।[1] ऐसे पवित्र लक्ष्य के ही कारण माधवाचार्य को अपने सर्वदर्शनसंग्रह में 'नित्य ज्ञानाश्रय वन्दे निःश्रेयसनिधि शिवम्' कहने पर चार्वाक का स्मरण हो आया और उनने लिखा कि हम 'निःश्रेयसनिधि' कैसे कह सकते हैं जब बृहस्पतिमतानुयायी नास्तिकशिरोमणि चार्वाक ने ऐसी धारणा का मूलोच्छेद कर दिया है और चार्वाक की ऐसी चेष्टा का प्रभाव वास्तव में सहज ही नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि अनेक जन चार्वाक के इस वचन का अनुवादन करते हैं-[2]

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

चार्वाकमत को वास्तव में हिंसाशील वेदानुयायी धनधान्यसमन्वित परोपजीवी पण्डितों में तर्क करके पुरुषार्थ को प्रधानता देती थी, क्योंकि वही जनता धर्म में अंधश्रद्धा रखती क्रान्ति नहीं कर सकती थी। उस अंधश्रद्धा को

[1] मनुस्मृति २.११ 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥"

[2] 'अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण दूरोत्सारितत्वात्। दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत् यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमाना

दूर करने और पण्डितों की आडम्बरपूर्ण याज्ञिक क्रिया को निस्सार सिद्ध करनेके लिए चार्वाक ने प्रत्यक्ष-प्रमाण को आधार बनाया; प्रत्यक्ष प्रमाण साधारण जनता पर प्रभावशाली भी होता है, इसी से जादू-टोना-चमत्कारों मे बहुतों की रुचि सहसा हो जाया करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण से तर्क भी चार्वाक बड़ी बुद्धिमत्ता से की और पण्डितों को चकित कर डाला। ये तर्क नितान्त व्यर्थ नहीं थे, बल्कि लोकायत-सिद्ध्यर्थ सांसारिक अभ्युदय-जनक धर्मशास्त्रों पर अवलम्बित थे।[५४] चार्वाक-मत का नाम 'लोकायत' अर्थानुकूल है या नहीं इसे जानने के लिए मानव प्रकृति पर जरा हम विचार करें। हम क्या चाहते है? दुःख का त्याग कर सुखी बनना, सुख के बाधकों को दूर कर आनन्द-सोपान को निर्विघ्न रखना। इसी तरह मत्स्यार्थी काँटे निकाल कर मत्स्य खाते हैं, धान्यार्थी भूसा आदि दूर कर पकाया भोजन ग्रहण करते हैं, जंगली जानवरों के डर रहते भी किसान सानन्द निर्भय कृषि करते हैं और

पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्त्तमाना एवानुभूयन्ते। अतएव चार्वाकमतस्य लोकायतमित्यन्वर्थमपरं नामधेयम्।" माधवाचार्य: सर्वदर्शनसंग्रह पृ० 1-2

[५४] "पर मेरा मत है कि लोकायतों को नास्तिक न कह हेतुवादी अर्थशास्त्री कहना चाहिए; क्योंकि वास्तव में ये लोग सांसारिक अभ्युदय के लिये ही प्रयत्नवान् थे। इसलिये ये लोग उस कार्य की निंदा करते थे, जिसे unproductive यानी अवर्द्धनशील कहा जाता है।" डा० हेमचन्द्र जोशी: सुधा वर्ष। खंड १—पृ० २।

कर्मवीर प्राणों को हथेलियों पर लेकर कर्त्तव्य-पालन द्वारा अमर कीर्त्ति लाभ करते हैं। जो भिरु बना डर कर सुख की आशाएँ छोड़ देता है वह मूर्ख कहलाता और पशुवत् दुःख में परमुख जोहता जीवन व्यतीत करता है। यह पुरुषार्थवाद है, जिसके अभाव में समाज कदापि अपने को उन्नतिशील नहीं रख सकता। उसी की विशद व्याख्या पुरुषार्थवादी चार्व्वाक ने की; उसने सुख ही को पुरुषार्थ कह कर कोई अनौचित्य नहीं दिखलाया, न नीचे के वचन में कोई मिथ्या बात कही—

> त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
> दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
> व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
> को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥

ऐसे सिद्धान्त के दल का नाम चार्व्वाक था, जो सम्भव किसी प्रसिद्ध चार्व्वाक के नाम पर रक्खा गया था[५५]। इस ढंग का चार्व्वाक अकेला पुरुष नहीं हुआ; वरि प्रत्येक युग में धर्म्म के साथ मतान्तर का प्रचार होने लगने पर चार्व्वाक के समान लोक-प्रतिनिधि भारतीय धर्म्म-जगत में पैदा होते गए हैं। दूसरे धर्म्म के इतिहास में भी इसकी समानता है, क्योंकि यह स्वभाव से सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक जन-समुदाय में ऐसे स्वभाव के मनुष्यों का होना अनिवार्य है। इसी कारण कहा जाता है कि बिहिश्त और जहन्नुम

[५५] "They appear to have formed associations, more or less avowed, under the title of *Cārvākas* (from the name of one of their teachers) and *Lokāyatas* or secularists." A Barth : The Religions of India p. 86

का दरवाजा बन्द कर देना आसान है लेकिन लोगों की ज़बान पर ताले लगाना दुशवार है। प्राचीनतम वैदिक काल में जब इन्द्र के प्रभुत्व के आगे आर्य्यमहर्षियों के मस्तक झुके हुए थे कुछ लोग थे जो कह रहे थे--"यं स्मा पृच्छंति कुहसेति" "नेन्द्रो अस्तीति नेम त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम्"[५६] और यज्ञकाल में परलोक के निमित्त यज्ञों का सम्पादन होते भी देख संदेह प्रकट करनेवाले थे[५७]। यह प्रमाणित करता है कि पुरातन काल से ही प्रचलित सिद्धान्तों के दोषों की ओर लोकायतों की दृष्टि जाती रही और उनकी परम्परा सर्वदा कार्यरत रही फिर बौद्धमत-प्रचार के समय उनके दल ने कुछ काल के लिए सबल रूप धारण कर परिवर्तन-चक्र को चालू किया।

बौद्धमत पर विजय पाने के निमित्त लोकरुचि को अपनाने पर ब्राह्मणधर्म्मानुयायियों में भी कुछ ब्राह्मण संन्यासियों का संघ भिक्षु व निर्ग्रन्थों के मुकाबले को तत्पर हुआ। तब ईश्वर-पूजा में प्रतिमा-पूजन को विशेषता दी गई, ब्राह्मणों के भी मठ बनाए गए, मठों में धूमधाम से पूजा की जाने लगी, चमत्कारपूर्ण कहानियों की रचना जारी हुई और शाक्त तथा तांत्रिकों की धारणाओं की समानता में शैवमत तथा भक्ति समाज में समादृत की गईं। बौद्धमत के मुकाबले में नैयायिक और मीमांसक फिर एक बार सम्हल कर खड़ा हुए और

---

[५६] ऋग्वेद २-१२-५; ८-१००-३

[५७] ऋग्वेद २-१२-५, ८-१००-३;
कठोप० १२० "ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।"
तैत्तिरीय संहिता ६-१-१-१

उनने ब्राह्मणमत को प्रधानता देना आरम्भ किया। उस समय शबर स्वामी और कुमारिलभट्ट ने याज्ञिक पक्ष को ही ग्रहण किया। सोऽहं, ब्रह्मवाद आदि ज्ञानमार्ग का आध्यात्मिक आश्रय नहीं लेनेके कारण कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त सबल नहीं हो पाए, इनका पक्ष निर्बल रहा; किन्तु यह कमी शीघ्र ही गौड़पादाचार्य द्वारा दूर की गई और उनने वेदोपनिषदों का साहाय्य ले वेदान्त को काम में लाया। गौड़पादाचार्य के बाद इस क्रम में शंकराचार्य का प्रवेश हुआ और उनने अपनी नई युक्तियों से नव ब्राह्मणमत को जोर देना आरम्भ किया। अवसर आया कि बौद्ध-जैनमतों की ओर झुके लोग भी नव ब्राह्मणमत की ही ओर आने लगे; आना स्वाभाविक भी था क्योंकि गौतमबुद्ध की पुत्र-कलत्र वैरागवाली शिक्षा जनसाधारण को प्रिय नहीं थी, वे तो प्रत्यक्ष देखते थे कि संसार में जो कुछ भी वे करते हैं पुत्र-कलत्र-प्रेम के ही कारण करते हैं।

जैनमत और बौद्धमत के आचार्यों ने जब यह अनुभव किया कि ब्राह्मण अपनी उन्नति के लिए लोकरुचि के समकक्ष बनकर नूतन विचारों से समन्वित हो रहे हैं तो उन्हें भी अपनी रक्षा की धुन हुई। कुछ लोग संस्कृत में ही ग्रन्थ रचना कर अपने मतों के नूतनत्व की रक्षा करने पर उतारू हुए। सिद्धान्तों में भी परिवर्तन बौद्धों ने आरम्भ कर दिया। हिनयान महायान का रूप धारण करने लगा। उस समय उत्तर भारत के बौद्ध विचारों पर तुरुष्क, ईसाई और यूनानी विचारों के भी प्रभाव पड़े [55] और ब्राह्मणधर्म की जनप्रिय,

---

55 "In the north, Kaniska was setting up Mahayana"

बातें निःसंकोच बौद्धमत में ली जाने लगीं। ईसा बाद २ री सदी में कनिष्क सदृश प्रतापी राजा की पर्याप्त सहानुभूति बौद्धमत को प्राप्त हुई।[५८] अलावे इसके प्राकृत के बदले संस्कृत में शास्त्र रचना शुरू की गई। अश्वघोष, देव, कुमारलात और नागार्जुन ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् हुए जिनने संस्कृत-बौद्ध-साहित्य को समुन्नत किया। इससे थोड़ा बल बौद्धमत को फिर मिला। ईसा बाद ७ वीं सदी में नूतनब्राह्मण-धर्मानुयायी होते भी राजा हर्षवर्द्धन बौद्धमत के तरफ झुका और उसने दोनों के सिद्धान्तों को अपनाया। इससे यह प्रमाणित होता है कि समाज में नूतनब्राह्मणधर्म व बौद्धमत के संघर्ष के कारण पारस्परिक आदानप्रदान व अभिन्नता धारण करता जा रहा था। ईसा बाद आठवीं शताब्दी के आरम्भिक पाल राजा महायान-बौद्धमत के अनुयायी रहे, पर अन्तिम पाल राजा नूतनब्राह्मण-

---

Buddhism, the result of a 'complex interaction of Indian Zoroastrian, Christian, Gnostic, and Hellenic elements' as a forlorn hope against the rising supremacy of revived Brahmanism—first asserted by Pusyamitra, then triumphantly proclaimed by Queen mother Balsri in the second century, and carried on by the Brahmanical Andhras in the south The violent diatribe against the Brahmans in Asvaghosa's Vajrasuci explains and is explained by the dignified contempt for the Budhist in Pratijna, pp 43–6, and a calm vindication of a Brahmana's superiority in Pancharatra" Dr A Banerji-sastri : 1921 J R. A S p. 377.

[५८] "After the conclusion of the business of the council,

धर्म के सहायक बने। सम्भवतः सिद्धान्त में महायान हिन्दू धर्म के भीतर निहित होता जा रहा था। ख्रिष्ट-संवत्सर के ग्यारहवीं शतक में सहजिया-सम्प्रदाय और नाथ सम्प्रदाय वैष्णवमत के सामने निर्बल दिखाई देने लगे। उस समय की हिन्दी-बंगाली-उड़िया की रचनाओं में वैष्णवमत सम्बन्धी जो उद्‌गार मिलते हैं वे व्यक्त करते हैं कि वैष्णवमत बौद्धों के अवशेष रूप को अपने में मिलाता जा रहा था। पाण्डित्य-प्रकोप भी दूर हो गया था और बुद्ध को भी अवतार मान उनकी पृथक् शिक्षा को हिन्दूधर्म के भीतर स्वीकार कर लेने को पण्डितवृन्द उद्यत था। गीतगोविन्द-रचयिता महाकवि जयदेव[10] इसे घोषित भी करने लग गए थे, कृष्ण-भक्ति में मग्न वह लोगों को समझा रहे थे[11] —

"निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदय दर्शितपशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे॥"

बौद्धमत और जैनमत में पारस्परिक प्रेम का भाव था, वह भाव वैष्णवमत में आ जाने पर बौद्धमत के पार्थक्य की आवश्यकता जाती रही और जैनमतानुयायी तो पहले ही से

Kaniska renewed Asoka's donation of the Kingdom of Kashmir to the church, and went home through the Baramula Pass." V. A. Smith. Early History of India, p. 234.

[10] "जयदेव कविः परमः कृष्णभक्त आसीत्।...।...जयदेवकविर्गोवर्धन समयोऽपि विलासंसवत्सरैकादशशतक आसीदिति फाल्गुनार्थ" महेशलाभः ; गीतगोविन्दकाव्यम्-प्रस्तावना।

[11] श्रीजयदेवविरचितं गीतगोविन्दकाव्यम् १-९

बौद्धों की दशा से शिक्षा ले अपने उद्गम की प्रधानता आप स्वीकार करने लग गए थे। जैनमत के साथ संघर्ष की भारी आवश्यकता ब्राह्मणधर्म को हुई भी नहीं। ग्यारहवीं सदी के बाद बौद्धमत का नूतनत्व जाता रहा, अनात्मन्-सिद्धान्त पुनः ब्रह्मवाद के क्रोड़ में शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा में रत हुआ, यद्यपि इसके पूरा होने में एक लम्बा समय लगा। १६ वीं सदी तक बौद्धमत का प्रभाव यत्र तत्र कायम रहा, जिसके प्रमाण की कमी नहीं। ११ वीं सदी के भुवनेश्वर मन्दिर और १२ शताब्दी के पुरी-मन्दिर इसका पक्का प्रमाण रखते हैं। उन से विदित होता है कि बौद्धमत और नवब्राह्मणमत किस प्रकार ऐक्यसूत्र में बँध जाने को बेचैन हो रहे थे।

निर्विवाद है कि पुरी के मन्दिर को मूर्त्तियों के समान कोई दूसरी मूर्त्ति अन्यत्र नहीं मिलती, न जाति-पांति के भेद का वैसा तिरस्कार ही अन्य तीर्थों में पाया जाता है। वास्तव में पुरी पर बौद्धमत का प्रभाव था और वहां भाई-बहन की प्रतिमाएं भी बौद्धमत के बुद्ध-धर्म-संघ के सूचकरूप में स्थापित की गई थीं, जाति-पाँति का भेद भी बुद्धमतानुसार दूर किया गया था। इतने पर भी वह ब्राह्मणमत का परम प्रसिद्ध तीर्थ स्वीकार किया गया। १६ वीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु वैष्णवमत की रक्षा को कटिबद्ध हुए। उनने कीर्तन से ख्याति प्राप्त की। किन्तु चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों के पूर्वतनीय १३ से १५ वी शताब्दियों में भी अपना कार्य्य कर रहे थे। उसी सिलसिले में चैतन्य महाप्रभु गौतम की भाँति देवत्व से संयुक्त किए गए और उनने अपनी शिक्षाओं में मनुष्य मात्र को देवतावत् श्रेष्ठ माना, निष्काम प्रेम को श्रेष्ठ बतलाया। गौतम के समान चैतन्य महाप्रभु ने भी अपनी स्त्री का त्याग किया, माता का संग छोड़ा।

पर नवब्राह्मणमत ने इन कारणों से उनकी उपेक्षा नहीं की, वरन् बौद्धमत को अपने में मिलाने में तत्पर हिन्दुओं ने चैतन्यदेव को पूरा सम्मान दिया। कारण था कि उस समय समाज की नीति ही बदल रही थी, एकता को अग्रसर व्यक्ति कलंक को भी सहन कर ममता की समता के उपदेश में मान रहे थे:—

"कलंकसागरे सिनान करिवि एलो इंचा माथार केश,
निरे ना भिजिबि, जलना छुंइवि, सम दुख सुख कलेश।"

अन्त में चैतन्य महाप्रभु ने सारा संशय ही दूर कर दिया। उनने कृष्णभक्ति द्वारा प्रेम व मेल को इतना ऊँचा उठाया कि सारा भेदभाव हिन्दू-समाज से उस समय दूर हो गया। उनने न वेद को ईश्वरप्राप्ति का साधन कहा न औपनिषदिक ज्ञान को आवश्यक बतलाया, योग-याग से भी अपने को दूर रक्खा और ज्ञान-कर्म के विवेचन को भी नहीं उठाया। उनने मुक्ति का मार्ग 'राधाकृष्ण' के नामोच्चारण मात्र को प्रचारित किया। वह इस नामोच्चारण को नितान्त पवित्र रखने में सतर्क रहे और मथुरा वृन्दावन के कृष्ण से अपने कृष्ण को कुछ भिन्न रक्खा।[62] बाह्यरूप में यह ईश्वरवाद इतना सहज था कि साधारण से साधारण मनुष्य भी इसे ग्रहण कर सकता था। इससे बढ़कर सीधा मार्ग जनसाधारण के लिए दूसरा क्या हो सकता था? उनका उपदेश हुआ "सर्व त्यागकरि करे कृष्ण भजन", यह समाज में प्रतिध्वनित हो उठा और बाद

62 D. C. Sen History of Bengali Language and Literature, p 465 "Yet the Krishna of Vrindavan, Mathura and Kurukshetra is as different from Chaitanya of Navadwipa as ever were any two characters in history"

के लेखक व कवियों ने भी इसे ही दुहराना अपना कर्त्तव्य समझा। इस कृष्णकीर्तन के बाद बौद्धमत का अवशेष भी भारत में नहीं रह गया, वह नई लहर अपने पुरातन वैदिक स्रोत में निर्वाण पा शान्त हो रही।

बौद्धमत ब्राह्मणधर्म में मिलकर अपना पृथक्त्व तो गँवा बैठा सही, पर उसने जिस भाव का विकास किया था वह उसको अपने में फिर अदृश्य नहीं कर सका। उससे ब्राह्मण धर्मानुयायियों के चिन्तन व आचार में एक भारी अन्तर उपस्थित हुआ। समाज में नए २ मतों की स्थापनाएँ होने लगीं, ब्राह्मणधर्म फिर अपने आचार विचार में कट्टरता लाने लगा, जाति और आश्रम सम्बन्धी विचार बदलने लगे और ऊँच-नीच का भाव फिर सबल होने लगा। देश में इस्लाम-मतानुयायियों के आगमन के कारण छूआछूत का खयाल भी प्रबल हो चला। समाज में अनेक जातियाँ अछूत पतित कही गईं और उनसे मेल जोल में घृणा का समावेश हुआ। तीर्थ के पण्डे-पुजारियों द्वारा इसे विशेष प्रोत्साहन मिला। पण्डित-वृन्द भी इसे बल देता रहा, क्योंकि धर्म्म का रूप ही उनके हाथों बदल गया। पुरातन वैदिक ग्रन्थ नूतन पौराणिक विधान बन गए। पुराण के 'श्रुत्युक्त परमो धर्म्मः स्मृति शास्त्रगतोऽपरः' कहने पर भी व्यवहार में पुराण ही प्रधान होते गए। धर्मविद् पण्डितों द्वारा समाज में युगबल, अवतारवाद, प्रतिमा पूजन, तीर्थ-तरण, व्रतानुष्ठान, कथाश्रवण, जन्मागत जाति, पितरश्राद्ध आदि का प्रचार किया जाने लगा। वैदिक यज्ञ, वेदपाठ, वेदांगाध्ययन, उपवेद चिन्तन, दर्शन मनन और उपनिषद्स्वाध्याय की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं रहा और स्वार्थवृत्ति पालक पण्डितों ने 'समाजोपकारे

मतान्तरों से जनित पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने के निमित्त सनातनधर्मानुकूल वेदों के पवित्र ज्ञान की प्रधानता आधुनिक हिन्दूसमाज के सामने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध की और पारस्परिक भेदों का नाश कर वेदों के प्रकाश में सत्य-ग्रहण की शिक्षा दी। पौराणिक विचारों को नहीं चाहनेवाले लोग उस शिक्षा के अनुवर्त्ती बने और वैदिक मतानुयायियोंका दल 'आर्यसमाज' के नाम से स्थापित हुआ। दलितों को भी इससे सहारा मिला, वे दयानन्द के विचारानुकूल अपने उद्धार को व्याकुल हो उठे। स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि-आन्दोलन को बल दिया, लोकेच्छा थी ही शुद्धि चल पड़ी; वर्षों के विधर्मी व्रात्य व वृषलों की भाँति[६४] पुनः आर्यधर्म में लौटने लगे। इसी क्रम में तीर्थों के पंडों, सनातनधर्म के पण्डितों और धर्म-शास्त्राचार्यों के लाख ननु-नच करते रहने पर भी जनता में हरिजन-आन्दोलन का प्रचार आरम्भ हुआ और वह जनता के सहयोग-बल पर ही स्थिर रहा। यह है लोकमत का बल-वैचित्र्य! उपर्युक्त घटना-क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि लोकायत-रुचि की बाह्य गति अनियत और विचित्र है। काल-गति के साथ लोकेच्छा भी रूप बदलती रहती है और लोगों का चिन्तन-क्रम भी परिवर्त्तित होता रहता है। यह दशा संसार के मनुष्य मात्र की है, भारत के ही समान अन्य देशों में भी बराबर परिवर्त्तन लोकमतानुकूल होते रहे हैं। अतः ईश्वरवाद भी, जो जन-समाज के चिन्तन का परम प्रधान व प्रियतम

[६४] मनुस्मृति १०-४३—शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥

पाण्डित्यम्' की नीति का भी परित्याग किया।

परन्तु पुनः मुसलमानी शासन के अन्त के साथ 'कलियुग-
नोऽपि' का उदय शुरू हुआ। अँग्रेजी शासन-काल में हिन्दू
समाज ने स्वतन्त्रता की साँस ली। धर्माचार्यों की [illegible]
कौड़ व पैसों में बदलने लगीं। समय पा दलित-पतित दबी
जातियों ने ऊँची जातियों की असहानुभूति का अनुभव किया
और उनकी इच्छा स्वोत्थान की हुई, कुछ समाजप्रिय
शिक्षितों ने राम-कृष्ण-भक्तों को गुदा व गॉड का अनुयायी
बनते देख अपने बल को जीवित करने का विचार किया।
लोकरुचि परिवर्तन की ध्वजा फहराने की ओर झुकी। पर
ऐसे समय में सुधार-प्रियों को वीरता से विकट कार्यपथ
पर अग्रसर होनेवाले नेता की आवश्यकता हुई, क्योंकि धर्म
में परिवर्तनचक्र-धारण करने वालों को खड्गधार पर चलते
तरह तरह के विरोधों का सामना करना पड़ता है। 'सम्भवामि
युगे युगे' चरितार्थ हुआ, हिन्दूसमाज के नए युग का आरम्भ
हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वर्षों बाद पुनः पुरातन
वेद भगवान् का स्मरण कर वैदिक विचारों के प्रचार का
श्री गणेश किया।

स्वामी दयानन्द ने समाजसुधार के निमित्त वैदिक मार्ग
का ही अवलम्बन किया, उनके उपदेश का एक मात्र आधार
वेद रहे और अपने विचारानुकूल उनने वेद की युक्तिसंगत
युगानुकूल व्याख्या करने का भी यत्न किया।[६३] उनने मत-

[६३] J. N. Farquhar: Modern Religious movements in India p. 108 "He published a number of books, and went [illegible] town to town, delivering lectures, in Sanskrit, on the [illegible] [illegible]ation of the Vedas and the teaching which [illegible]ed they gave. This method was more successful."

मतान्तरों से जनित पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने के निमित्त सनातनधर्मानुकूल वेदों के पवित्र ज्ञान की प्रधानता आधुनिक हिन्दूसमाज के सामने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध की और पारस्परिक भेदों का नाश कर वेदों के प्रकाश में सत्य-ग्रहण की शिक्षा दी। पौराणिक विचारों को नहीं चाहने-वाले लोग उस शिक्षा के अनुवर्त्ती बने और वैदिक मता-नुयायियोंका दल 'आर्यसमाज' के नाम से स्थापित हुआ। दलितों को भी इससे सहारा मिला, वे दयानन्द के विचारा-नुकूल अपने उद्धार को व्याकुल हो उठे। स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि-आन्दोलन को बल दिया, लोकेच्छा थी ही शुद्धि चल पड़ी: वर्षों के विधर्मी व्रात्य व वृषलों की भाँति[६४] पुनः आर्यधर्म में लौटने लगे। इसी क्रम में तीर्थों के पंडों, सनातनधर्म्म के पण्डितों और धर्म्मशास्त्राचार्यों के लाख नतुनच करते रहने पर भी जनता में हरिजन-आन्दोलन का प्रचार आरम्भ हुआ और वह जनता के सहयोग-बल पर ही स्थिर रहा। यह है लोकमत का बल-वैचित्र्य! उपर्युक्त घटना-क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि लोकायत-रुचि की बाह्य रीति अनियत और विचित्र है। काल-गति के साथ लोकेच्छा भी रूप बदलती रहती है और लोगों का चिन्तन-क्रम भी परिवर्त्तित होता रहता है। यह दशा संसार के मनुष्य मात्र की है, भारत के ही समान अन्य देशों में भी बरा-बर परिवर्त्तन लोकमतानुकूल होते रहे हैं। अतः ईश्वरवाद भी, जो जन-समाज के चिन्तन का परम, प्रधान व प्रियतम

[६४] मनुस्मृति १०-४३—शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥

विषय है, लोकेच्छा से अस्त भिन्न भिन्न दशाओं में परिवर्तित होता रहा है और लोकायत भी उसके स्वरूप भेद का कारण है। इस हेतु ईश्वरवाद निश्चित रूप का नहीं हो सकता, न मनस्वियों ने ईश्वर का कोई एक रूप माना है। स्वयं ही कृष्ण ने कहा है-'न अन्तोस्ति मम दिव्याना विभूतिनां परन्तप' इसी से शब्द, संगीत शास्त्र और सांसारिक पदार्थों के अतिरिक्त सर्वेत तक ईश्वरवाद के अन्तर्गत है। बहुत लोग ईश्वर की प्राप्ति सांकेतिक भावों या विश्वादि धारण से ही सम्भव समझते है। उनकी प्रतीति को कोई बल बदल नहीं सकता, उनका आत्म विश्वास भले ही उस भाव को बदल दे। फलत लोकायत के अनुयायी या प्रतिनिधि नास्तिक या अनीश्वरवादी कदापि नहीं कहे जा सकते। कुछ भी लोक हित कर सकनेवाला व्यक्ति ईश्वर का ही कार्य करता है और वह दूसरी तरह ईश्वरवादके प्रयोजन पूर्तिकारी का ही प्रतिनिधि माना जा सकता है।

छठा अंश

सोऽहम्

यज्ञों की अपवित्रता प्रदर्शित करते हुए पुरुष-प्रकृति के ज्ञान द्वारा क्लेश-निवारण का उपदेश सांख्य में दिया गया, पर सांख्य ने दो—पुरुष व प्रकृति—नित्य पदार्थ माने और उनमें पुरुष को उदासीन और प्रकृति को कर्मशीला कहा। सांख्य का पुरुषवाद मानव-रूप की ही ओर झुका था अवश्य, पर यह मानवलक्ष्य को ऊँचा उठाने की कोई स्पष्ट राय अपने में नहीं रखता था। अतः सांख्यानुकूल ही ज्ञान को अपवर्ग का सोपान मानते पर भी कतिपय विद्वानों को सांख्य-सिद्धान्तों में योग वियोग की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और योग ने सांख्यतत्त्वों में एक और तत्त्व ईश्वर को जोड़ कर परिवर्त्तन-वादियों का नेतृत्व ग्रहण किया। तद्पश्चात सांख्यमत में सुधार करनेवाला एक दूसरा दल भी खड़ा हुआ और उस दल के ज्ञानियों ने सांख्य के तत्त्व व लक्ष्य को अपनाते हुए भी सांख्यमें अनुभूत कमी की पूर्त्ति को अग्रसर हुए। उनने 'ईश्वरासिद्धेः' के स्थान में 'सोऽहम्' सिद्धान्त का निरूपण कर सांख्य के शुद्ध द्वैतमत को रुचिकर व मनुष्यहितोचित बनाने की चेष्टा की। सांख्य ने याज्ञिक अपवित्रता का प्रश्न उठाकर याज्ञिक समाज के वैयक्तिक भेदों की ओर उसने ध्यान नहीं दिया था, सोऽहम्वाद ने इसे अपने जिम्मे लिया, जिसपर मुण्डक ने—"प्लवा हि एते अदृढा यज्ञरूपा"

कठ ने "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः २-१०" कहते हुए प्रमाण डाला है।[1] अतः सोऽहम्वाद ने सेश्वर-निरीश्वर के अन्तर को न उठा वेदवर्णित विश्वकर्मा जगन्नियन्ता ब्रह्म के रूप मानवमात्र को देकर ऐक्यस्थापना द्वारा सबों को एक रूप में, एक ही प्रकार की शक्तियों से संयुक्त एक लक्ष्य की ओर गतिशील किया। सोऽहं की शिक्षा प्रचलित होनेपर पारस्परिक अन्तर ही दूर नहीं हुआ, द्वैत के कारण ज्ञानश्रेष्ठता को स्थापित करने के मार्ग की अनेक कठिनाइयाँ भी दूर हो गईं और जो शंकाएँ द्वैतस्थापना में उठा करती थीं वे एकमूलवाद द्वारा शान्त कर दी गईं।

सोऽहम्वाद में ब्रह्म और जीव अभिन्न माना गया और ब्रह्म ही जगत् का निर्माता एक सत्य पदार्थ स्वीकार किया गया। पर इसी कारण यह सांख्य से भिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि वास्तव में सांख्य के ही मुख्य सिद्धान्त सोऽहं के आधार रहे। सांख्य के पदार्थ पुरुष प्रकृति के अनुकूल सोऽहं ने पुरुष के स्थान में ब्रह्म और प्रकृति के स्थान में जगत् को चिन्त्य विषय बनाया, सांख्य ने क्लेश का दोष भ्रान्ति के मत्थे मढ़ा था और सोऽहं ने अविद्या के सिर लादा, सांख्य में अपवर्ग-प्राप्ति का साधन तत्त्वज्ञान था तो सोऽहं ने मोक्ष के लिए ज्ञान को आवश्यक कहा, सांख्य में दृश्य जगत त्रिगुणात्मिक अनित्य व मायिक था तो सोऽहं में भी सारा संसार मायिक मिथ्या क्षणिक माना गया, सांख्य ने जगत् को नित्य प्रकृति से विकसित कहा था तो सोऽहं में भी कहा गया –'जन्माद्यस्य यतः' सृष्टि नित्य ब्रह्म से ही है, सांख्य

---

[1] कठोपनिषद् १-२—११ से २२ तक

में साधारण भाषा के ईश्वर की उपासना को कोई विशेष जगह नहीं थी तो सोऽहं ने भी वैसी सहजबोध्य उपासना की चर्चा नहीं उठाई और सांख्य में ब्रह्मप्राप्ति का भाव नहीं था तो सोऽहं में भी ब्रह्म से अभिन्न जीव के लिए इतर ब्रह्म में मिलने की जगह नहीं रक्खी गई। एवं प्रकार सोऽहं ने सांख्य के सदृश मानव-कल्याण-विधायक परमार्थ को मान दिया। परन्तु सांख्य का शुष्क ढंग सोऽहम्वादियों को प्रिय नहीं था, उन्हें उस दृष्टि में सांख्य से आगे बढ़ कुछ भिन्नता प्रदर्शित करनी थी; इसका दूसरा कारण यह भी था कि योग ने ईश्वरको तत्वोंमें खड़ा कर वैदिक ब्रह्म का भाव जाग्रत कर दिया था। अतः उनने सांख्य के पुरुष का बहुत्व नहीं माना; न प्रकृति की सत्यता की उलझन में पड़ना श्रेयस्कर समझा। उनने योग के ईश्वर और सांख्य के पुरुष का समन्वय कर 'सोऽहं' द्वारा पुरुष में जीव व ब्रह्म की एकता का समर्थन किया. इसके बीच दिखाई पड़नेवाले भेद को समझाने में उनने दार्शनिकों के 'स्वप्न' व 'माया' शब्दों को चुना। जीव को ब्रह्म कह उनने उसका एकत्व स्थिर किया और ब्रह्म को सच्चिदानन्द बता पुरुष की उदासीनता को दूर करते जीव को भी सच्चिदानन्द माना।[2] अपने विचारों को सहज ग्राह्य करने की दृष्टि से उनने सांख्य के तप-ध्यान-योग-द्वारा साध्य अपवर्ग को[3] भी अपनी सिद्ध मुक्ति

---

[2] पञ्चदशी ३-२८ "अवेद्योऽप्यपरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्॥

[3] विदित होता है कि शंकर से पहले सांख्य के अपवर्ग का भी मान वेदान्त के मोक्ष के अन्तगत था। क्योंकि भर्तृ-प्रपञ्च नामक पुराने वेदान्ती के सिद्धान्तों में मोक्ष की दो अवस्थाएँ

में परिवर्तित किया। ऐसा करने से निस्सन्देह सांख्य के लक्ष्य की भारी पूर्ति हुई और सोऽहं वैदिक कर्मकाण्ड का अन्त कर वेद के ज्ञानभाग को अत्यन्त उत्कर्ष देते हुए आगे आप वेदान्त के नाम से प्रकाशमान हुआ। जिस प्रकार पूर्वमीमांसा ने कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विधानों के विरोधों का भञ्जन कर वेदों में सामञ्जस्य दिखलाने का यत्न किया था, उसी प्रकार सोऽहं-रूप में विकसित आरम्भिक वेदान्तदर्शन ज्ञानवाद के अविरोध स्थापन में तत्पर हुआ। इसीसे सोऽहम्वाद, जो वेदान्त के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, उत्तर मीमांसा की उपाधि से विभूषित किया गया और सोऽहम्वाद का ध्येय ब्रह्म-चिन्तन होने के कारण वेदान्त का नाम ब्रह्मसूत्र भी दिया गया। किन्तु इन नामों के सोऽहम्वाद को प्रचलित वेदान्त का द्योतक मानना भूलपूर्ण होगा, क्योंकि प्रचलित वेदान्त शांकरमत अद्वैतवाद तथा रामानुजमत विशिष्टाद्वैतवाद से विशेष सम्बन्ध रखता है और उसका मूल प्रस्थानत्रयांतर्गत उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र व गीता में बताया जाता है। पर वास्तव में सोऽहं का आधार कतिपय वैदिक ऋचाएँ

की गई हैं—अपवर्ग व ब्रह्मप्राप्ति। इस सम्बन्ध में प्रो० हिरियन्ना ने लिखा है—"Bhartr Prapanca, a Vedantin who lived long before the time of Sankara. Moksa or life's end is conceived as being achieved in two stages—the first leading to *Apavarga* where *Samsara* is overcome through the overcoming of Āsanga, and the second, leading to Brahma hood when identity with Brahma is realised through the dispelling of avidya M. Hiriyanna Proceedings of the third oriental conference, p 339-440.

4 "The Vedānta is the philosophy contained in the

हैं, जिनका भाष्यरूप उपनिषदों में मिलता है और जिनकी भित्ति पर सांख्याचार्यों ने अपने सिद्धान्तों को खड़ा किया: ब्रह्मसूत्र गीता आदि तो बाद के सिद्धान्त हैं जिनके साथ मन-मुताबिक अन्य विचारों का सम्मिश्रण कर शंकराचार्य ने अद्वैतमत को सम्हाला व पुष्ट किया और उनकी चेष्टा से कहीं २ मतभेद रखने के कारण रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत तो चल दिया। वेदान्त ग्रन्थों के ऐतिहासिक विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है।

जिस प्रकार सांख्यमत के पुरातन रूप का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता उसी प्रकार वेदान्त के प्राचीनतम सिद्धान्तों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जैसे कारिका से, जो वर्षों से प्रचलित विचारों का संक्षिप्त संग्रह मात्र है, सांख्यमत का ज्ञान होता है वैसे ही बादरायण-सूत्र से वेदान्त-दर्शन का पता चलता है। पर बादरायण-सूत्र से पहले वेदान्त-विचारों के स्वरूप का पता नहीं चलता, न यही मालूम होता है कि वेदान्त पर पृथक् कोई ग्रन्थ था या नहीं: उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के बीच की कोई भी रचना लभ्य नहीं होने के कारण यह भी कहना कठिन है कि वेद और उप-

---

Upanishads, the Brahma Sutras and the Bhagwadgita. These three are called the Prasthana trayas or the three legs on which that philosophy rests It is known as the Vedanta, because it claims to be the end of the vedas."
B R Rajan Ayar Rambles in Vedanta, p 23.

5 "... it is even reasonable to think that, apart from the gradual evolution of the Sutras as the have seen than now, the author of the nucleus of these Sutras even was

निषदों के ऐसे विकास के बाद बादरायणसूत्र में वेदान्त का समावेश किया गया। बादरायण-सूत्रों से यह अवश्य विदित होता है कि बादरायण ने वेदान्त प्रचार की ही दृष्टि से सूत्रों की रचना नहीं की, बल्कि जैसे उपनिषदों में श्रुतिभाग की रक्षा श्रुति विषयों पर भाष्यों द्वारा की गई उसी प्रकार बादरायण ने भी श्रुति विषयों के व्याख्या रूप में सूत्रों में प्रचलित विचारों का संरक्षण किया, तो भी बादरायण बाद वेदान्तियों ने वेदान्त को ब्रह्मसूत्र पर ही अवलम्बित किया, इस कारण निश्चय है कि अवलम्बित ग्रन्थों में समय २ पर भाष्यकार

---

not furrowing a virgin soil Other tentative attempts must have been made before them to construe a philosophy of the Upanisads They were either over shadowed by the existing sutras and forgotten or were merged and unified in them. In any case they have not come down to us But it is unthinkable that no other tteampt at Synthesis of the Upanisads, however imperfect, was made before Bādarayana ' L C Bhattacharya Proceedings, Fifth I O conference p 812

6 With regard to Badarayana there is another im portannt fact to be noted here. He was more than the founder of the School of Brahma Vidya just as he quotes Jaimini, the latter also has occasions to quote him in the Mīmamsā Sūtrās (e-g , 2 1 5, V 2 19 etc). This shows that he too, like many others was an interpreter of Sruti as a whole, though he bestowed his special atten tion on the Upanisads ' U C Bhattacharya. Proceedings fifth I O Conference, p-835 6

लेखकों के स्वमत रुचि-वैचित्र्य के अनुकूल स्थान पाते गए। जैसे—बादरायण-ब्रह्मसूत्र पर लगभग ८ वीं सदी ईसा बाद शङ्कराचार्य ने जो शारीरिकभाष्य लिखा उस में अद्वैतमत की प्रधानता रक्खी। यह अद्वैतमत उनके बहुत पहले से चला आ रहा था[7] और शङ्कराचार्य के गुरु गौड़पादाचार्यजी की माण्डूक्य-कारिका में वह परिणत अवस्था में विद्यमान मिलता है। शङ्कराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में उपवर्ष को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है और उपवर्ष से भी पुराने ग्रन्थ योगवाशिष्ठ तथा सूत्रसंहिता में अद्वैतमत स्पष्टतः समाविष्ट है। फिर ब्रह्मसूत्र ही पर रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य और मध्वाचार्य ने पूर्णप्रज्ञभाष्य लिख क्रमशः विशिष्टाद्वैत और द्वैतमतों को पुष्ट किया। शङ्कराचार्य और रामानुज के भाष्यों पर भी आनन्द गिरि, वाचस्पति मिश्र, सुदर्शन आदि की टीकाएँ प्रस्तुत हुईं और कइयों ने शैवभाष्य-सौरभाष्य वैष्णवभाष्य के समान साम्प्रदायिक भाष्य भी प्रस्तुत किए। इस तरह वेदान्त दर्शन में अनेक मत धीरे२मिलते गए और इस सम्मिश्रण पर विचार करते हुए प्रचलित वेदान्त का अभिप्राय आरम्भिक सोऽहं से लागू नहीं हो सकता, न अद्वैत या विशिष्टाद्वैत के साथ ही गुम्फित किया जा सकता है। सोऽहम्वाद वेदान्त का प्रारम्भिक व पुरातन रूप है, जो वेद व सांख्यसे पुष्ट होता है और जिसका भाष्य पुराणों

7 "Shanka's one only of the many traitiodnal interpretations of the Sutras which prevailed at different parts of India and in different Schools." Max Muller: Indian Philosophy, p. 264

पनिषदों के वचनों में विद्यमान मिलता है। बाद में ...... में सोऽहं ने अहंवाद का रूप धारण किया और तदनन्तर अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि मतों में विकसित हो भक्तिवाद का साथ दिया।

ऋग्वेद के पुरुष व नासदीय सूक्त विद्वानों द्वारा सांख्यमत के मूल कहे गए हैं और वेदान्ती भी वेदान्त के मूल में इन सूक्तों को स्वीकार करते हैं। पुरुषसूक्त में[८] विराट् पुरुष के स्वरूप-वर्णन में मनुष्य-तन का सादृश्य विद्यमान है। उस में कहा गया है कि उस पुरुष की आँख से सूर्य, मस्तिष्क से सुधांशु, मुख से इन्द्र व अग्नि, साँस से वायु, नाभी से हवा, सिर से आकाश और पैर से पृथ्वी निकली। नासदीय सूक्त में[९] कथित है कि सृष्टि-पूर्व न असत् था न सत्, न दिन था न रात, न रज था न व्योम, न मृत्यु थी न अमृत, थी एक स्वधा के साथ प्राण रहित एक सत्ता, वही एक इस विसृष्टि का अध्यक्ष था। उस एक सत्ता की व्याख्या करते हुए छान्दोग्य

---

[८] ऋग्वेद १०·९० "चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥"

[९] ऋग्वेद १०·१२९
"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरं ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं-

ने कहा है[10]—"सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" ऋग्वेद के विश्वपुरुष का साफ वर्णन फिर अथर्ववेद मे भी मिलता है। वहाँ कहा गया है[11]—"यह पृथ्वी उस परब्रह्म का पैर है, वायु उसका उदर है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, अग्नि मुख और हवा साँस हैं।" इस मे "तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" कह कर विश्वपुरुष का नाम ब्रह्म दिया गया है। इन वचनों से वेदान्तियों ने एक ब्रह्म की अप्रतिरूपी सत्ता का निष्कर्ष निकाला और उसके स्वरूप-ज्ञान का साधन मानव रूप को बनाना सीखा, फिर ऋग्वेद के[12] "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" के अनुकूल उस वैदिक हिरण्यगर्भ एक ब्रह्म को संसार का नित्य सत्य स्वामी माना और नासदीय सूक्त मे जो स्वधा[13] ब्रह्मसत्ता के साथ आश्रित

---

[10] छान्दोग्य २-२-१,२ "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतःसज्जायेत। कुतस्तुखलु सोम्यैवं स्यादिति हो वाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।"

[11] अथर्ववेद १०-७ "यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमश्च पुनर्णव।
अग्निं यश्चक्र आस्यंतस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३॥

[12] ऋग्वेद १०-१२१-१

[13] गंगाप्रसाद उपाध्याय : अद्वैतवाद पृ० ३५९—"स्वधा का अर्थ प्रकृति है। इसी को 'सलिल' कहा गया है। 'स्वधा' शब्द पर निरुक्त भाष्य में दुर्गाचार्य ने यह टिप्पणी दी है:—स्वधा स्वशब्द उपपदे 'डु धाञ्‌ दानधारणयो' (जु० २०) — इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गेक (३,२,३)'। स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः। पूर्वं तेन

रूप में कथित है, उस से वेदान्त ने प्रकृति को सांख्य से भिन्न स्वरूपवाला ग्रहण किया। ऋग्वेद के[14] "ध्रुवं मध्य या पस्त्यानाम् वचन के अनुकूल जीव में ब्रह्म की व्यापकता की धारणा की गई। इस से ब्रह्म की आस्तिक्य बुद्धि मानवीरूप की ओर झुकी और 'विश्वतोमुख' ब्रह्म की व्यापकता का प्रमाण अथर्ववेद के "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी"[15] वचन में पाकर "अथ पश्येन सह सं भवेम" के[16] अनुकूल ब्रह्म व जीव के सम्मिलन का भाव अटल हो उठा। अन्त में वेदान्तियों ने यजुर्वेद के[17] "योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" मे ब्रह्म व जीव के सम्बन्ध की व्याख्या पाकर 'सोऽहम्' सूत्र का आविष्कार किया। फलतः वेदान्त का आरम्भिक सिद्धान्त 'सोऽहम्' सूत्र में निरूपित हुआ और सोऽहम्वादियों ने ब्रह्म-जीव को अभिन्न बतलाते ईश्वर-सत्ता के प्रचार में 'सोऽहम्' का वज्रनाद किया।

नारायणः स्मृतः (मनु० अ० १ श्लोक १०)—इति। परमात्मा का अयन अर्थात् स्थान है अर्थात् प्रकृति में ईश्वर व्यापक है इसलिये प्रकृति को स्वधा कहा है।"

[14] ऋग्वेद १-१६४-३१

"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

[15] अथर्ववेद १०-८-२७ [16] अथर्ववेद १२-६-६०

[17] शुक्ल यजुर्वेद ४०-१७

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ओ३म् खम्ब्रह्म॥"

सोऽहं के अनुयायी बढ़ते गए और सोऽहं ब्रह्मरूप के चिन्तन का सोपान बना। कुछ समय व्यतीत होने पर इस सूत्र को समझाने की भी आवश्यकता सोऽहम्वादियों को जान पड़ी। उसकी पूर्ति प्राचीन उपनिषदों में की गई और यथा-प्रसंग उपर्युक्त श्रुतिवचनों का भाष्य उपनिषद्कारों ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। कहीं २ ब्राह्मणों में और पुरानी उपनिषदों में वे आज भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण विश्वपुरुष के मानुषी स्वरूप को विशदरूप से बतलाने के अलावे उसे प्रजननशक्ति से भी युक्त करता है और ईश्वरोपनिषद् में मिलता है[18]—"वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त ँ शरीरम्", जिसे विस्तृत रूप में बृहदारण्यक कहता है[19]—"मृत पुरुष की वाणी अग्नि में, नेत्र आदित्य में, हृदयाकाश महाकाश में, त्वचा सहित लोम वायु में, केश वायु में और रुधिर-वीर्य जल में लीन हो जाता है।" यह गति आत्मा-ब्रह्म के एकत्व की ओर थी। आगे बृहदारण्यक ने आत्मा के सम्बन्ध में कहा[20]—"स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद।" इसी तरह श्वेताश्वतर ने[21] कहा—"अजं ध्रुवं सर्व्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः।" बृहदारण्यक ने दूसरी जगह उस ब्रह्म को बाहर ही नहीं आत्मा में भी प्राप्य बतलाया[22]

---

[18] ईशोपनिषद् १७ [19] बृहदारण्यकोप० ३-२-१३

[20] बृहदारण्यकोप० १-४-७ [21] श्वेताश्वतर २-१५

[22] बृहदारण्यक के अ० २ ब्रा० १ में इसका विस्तृत वर्णन है।

और प्रजापति की जननशक्ति का संकेत आत्मा में भी किया—[23] "एकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेय।" छान्दोग्य और आगे बढ़ा और उसने आत्मा और ब्रह्म पर एक साथ विचार किया, किन्तु वहाँ जिज्ञासुओं को सर्वव्यापी आत्मा की आन्तरिक व्याप्ति को जानने में सफलता नहीं हुई, उसकी सर्वव्यापकता वे अवश्य देख सके और अश्वपति ने विश्वपुरुषरूपी ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का सादृश्य आत्मा में ही झलकाया।[24] पर चिन्तन आगे गए बिना वहीं रुकना न था, उसे विदित भी होने लगा कि मुख की साँस और सूर्य दोनों एक हैं[25] क्योंकि दोनों ही में उष्णता है, तदुपरान्त इस सादृश्य ने ब्रह्म व जीव में ऐक्य का रूप भी धारण किया[26]। तैत्तिरीय ने अनुभव किया[27] कि यह जो शरीर में है और यह जो सूर्य में प्रकाशित है दोनों एक ही हैं: इसी पर जोर देते हुए मैत्री ने कहा[28]—'जो

[23] बृहदार यक १-४७

[24] छान्दोग्य अ० ५ के खण्ड ११ से १८ तक में आत्मा व ब्रह्म की मीमांसा है, आरम्भिक कथन है—"...ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसा चक्रु को न आत्मा किं ब्रह्मेति।"

[25] छान्दोग्य १-३-२ "समान उ एवायं चासौ ओष्णो-यमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमु तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत।

[26] छान्दोग्य १-७-५ "अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्साम तदुक्थ तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम।"

[27] तैत्तिरीय ३-१० "स यं आयं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।"

[28] मैत्री ६-१७ "यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासा आदित्ये स एष एका इत्येकस्य हैकत्वमेति य एवं वेद।"

अग्नि में है--जो सूर्य है, जो हृदयस्थ है—एक है।" छान्दोग्य ने[79] भी स्वीकार किया कि पुरुष के बाहर और भीतर निश्चय ही एक आकाश है और बृहदारण्यक, जो यजुर्वेद के 'सोऽहम्' को समझने में लगा था, अन्त में कह उठा—"योऽसा वसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" 'सोऽहम्' के इस अपूर्व अनुभव ने पुरुष व जीव का एकीकरण करते हुए वैदिक वाणी 'नेति नेति' को एक निश्चित रूप प्रदान किया और उस ऐक्य पर गद्गद् हो ईशोपनिषद् ने सोऽहं-सामर्थ्य की घोषणा यम-पूषन् पर भी कर दी[81]—

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य आजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोहऽमस्मि॥"

सोऽहं-सोपान पर पहुँचने में सोऽहम्वादियों ने वेद-प्रदर्शित आस्तिकतामय अनुभव को ही पथप्रदर्शक रक्खा, यह उपर्युक्त वचनों से विदित होता है। इस कारण कहना पड़ता कि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के प्रमाणों का योग तर्क पीछे के वेदान्तियों ने ही उपस्थित किया। आरम्भिक वेदान्त की श्रुतिवचनों में केवल अनुभव ही अभिप्रेत था और शङ्कर ने

---

[79] छान्दोग्य ३-१२ "यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषा-दाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियंलभते य एवं वेद ॥९॥

[80] बृहदारण्यक ५-१५-१

[81] ईशोपनिषद् १६

भी कहा है —"अनुभवावसानत्वाद्ब्रह्मविद्यायाः।" यह अनुभव ऐसा था जो सत्यासत्य तत्त्वों का अन्तर आप निकाल ले सकता था, वह ज्ञान में प्रवेश करने के पहले उसे जाँच लेना नहीं चाहता था। स्कालेस्टिक पानी में पैठने के पहले ही तैरने का ढंग सीख लेना चाहता था, पर वैसे भाव से सोऽहम्वाद दूर था। सोऽहम्वादी प्रत्यक्ष, बुद्धि, पदार्थ, स्पर्श, आदि के चक्कर में नहीं पड़े; आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्मशक्ति से मनुष्य-मात्र को सबल बनाना उनका लक्ष्य रहा और 'आत्मा च ब्रह्म' कहते वे उस ओर बढ़ते गए। सत्तावादित्व में पड़े शंकर ने भी इस भाव को आरम्भिक कथन बनाया—"सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति"। कट्टर २ से कट्टर नास्तिक या शंकावादी भी अपने स्थित्व को कदापि लुप्त नहीं कर सकता, वह मानेगा कि उसका स्थित्व है और उसी तरह यदि सारी दुनिया को उसीके समान नास्तिक या शंकावादी स्वीकार कर लेने पर भी उसीके स्थित्व का विश्वरूप प्रदर्शित होने लगता है। यही, तो 'सोऽहं' का तत्त्व है और 'तत्त्वमसि' का मंत्र इसी विश्वव्यापकता के अनन्त सत्य ज्ञान व सुख की दीक्षा आरम्भिक वेदान्त द्वारा देता है।

नैयायिक कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं और इस शृंखला में वे ईश्वर को संसार का निमित्त कारण कहते हैं, किसी कार्य के कारण के कारण को वे कार्य का कारण नहीं मानते। बौद्धों ने कहा कि कोई वस्तु जो है सो है, यह दूसरी वस्तु नहीं हो सकती पुनः सारे पदार्थ क्षणिक होने के ... एक की शून्यता ही दूसरे का कारण है, जैसे एक क्षण ... शून्यभाव से ही दूसरे क्षण का उदय है। यह कार्य-कारण ... की स्पष्ट अस्वीकृति है। लेकिन इन दोनों

विचारों में यह समता जरूर है कि कार्य और कारण में कुछ अन्तर है, कार्य कारण कदापि नहीं और कार्य कारण से उत्पन्न नूतन पदार्थ है। यह समता असत्कार्यवाद का एक पहलू है, किन्तु सोऽहम्वाद उस पहलू के प्रतिकूल कारण में कार्य की मौजूदगी मान कर सत्कार्यवाद की राह ग्रहण करता है और यह भाव वेदान्त में बराबर रहा। असत्कार्यवादी का प्रश्न हो सकता है—"यदि कार्य कारण में है ही तो उसकी उत्पत्ति की चेष्टा कैसी?" इसका उत्तर शंकर ने दिया है—"यदि कारण में कार्य नहीं है तो कार्य को बहिर्गत कर देने का यत्न क्यों?" बालू में तेल का अभाव होने के कारण सिकता से तेल निकालने का यत्न नहीं किया जाता, पर सरसों के भीतर तेल होने से ही उसे पेरने की चेष्टा सफल होती है[3] फिर पत्थर में मूर्त्ति होने से ही उसे उसका आवरण छिल देने पर वह प्रकट हो जाती है। एव प्रकार कारण में कार्य छिपा रहता है और आवरण हटते ही वह प्रकट हो पड़ता है, किसी प्रकार कार्य में कारण निहित नहीं रहता। यह तादात्म्य सिद्धान्त और ब्रह्म की जनन शक्ति तथा व्यापकता को सुलझाने

---

3 "Against Asat Karya Vada the Sankhya and the Vedantics propose Sat Karya Vada (existence of the effect in the cause). The Asat Karya Vada asks—"If the effect is already in the cause why an effort to produce it?" Against this we have Sankara's retort—"If the effect is not already in the cause why an effort to produce it?" There is no oil in sand and no effort can produce it. Oil is already in a mustard seed and efforts can produce it."

I.

का साधन है, इसी ओर संकेत करते गीता में कृष्ण ने कहा है—"न त्वहं तेषु ते मयि।"

सोऽहम्वादी व्यक्तिरूप ईश्वर पर विचार नहीं करते हैं, न सुख-दुःखनाश के लिए उसकी दैवी शक्ति का सहारा चाहते वे सोऽहम् ज्ञान द्वारा माया से परे हो अहंकार का नाश चाहते हैं; वे जानते हैं कि माया के ही कारण मानसिक पीड़ा हुआ करती है, इस कारण वे माया को जीत कर आत्मा को शरीर की नश्वर अवस्था से पृथक समझते हैं। वे अपने को संसार के लिए जानते और समत्व की दृष्टि के आगे भेद-बुद्धि को ठहरने नहीं देते। आध्यात्मिक शान्ति, शारीरिक सरलता, मानसिक प्रकाश और नैतिक निष्पक्षता उनकी प्रकृति बन जाती है। वे चाहे संन्यासी रहें चाहे गृहस्थ, उनका सोऽहम् भाव उनकी अवस्था को समझती है, वह उनके विश्वास में कोई अन्तर नहीं आने देता और उनके ज्ञान-सागर में सुख-दुःख की लहरें तरंगित होकर आपही नष्ट हो जाती हैं। इस तरह सोऽहम्वादी का जीवन संसार के अन्य पदार्थों की भाँति दुनिया भर के लिए होता है और वह न पर-बुद्धि जानता है न अपने और दूसरों में कोई अन्तर समझता है। सोऽहम्वादी वैसा कार्य करते जाना चाहता है जैसा संसार में और करते जा रहे हैं। जीवन में ही निष्काम हो बंधन के भेद से रहित हो जाना उसका लक्ष्य होता है; ब्रह्म से अपनी अभिन्नता समझने का विशेष अभिप्राय भी यही प्रमाणित करता है। सोऽहम् समझ जाने पर उसे अन्य पुरुषों की भाँति ईश्वर की खोज की धुन नहीं सताती, न वह स्वर्ग के पीछे दौड़ना चाहता है और न मुक्ति की इच्छा ही कायम रह जाती है। सोऽहम्वादी ज्ञान चाहता है और उस ज्ञान द्वारा अपने को संसार-सागर

को समोर्मियों मे मिश्रित कर देना उसका काम होता है। उस दशा को प्राप्त हो जाने पर विश्व की सारी विभूतियाँ विलग विलग 'सोऽहं' 'सोऽहं' की पवित्र ध्वनि गुंजरित करने लगती हैं और तब विराट् विश्वात्मा एक एक कण मे व्याप्त विहँसता बोध हो उठता है। उस समय 'सोऽहम्' की भावनामें पृथक् कोई ईश्वर साकेत या स्वर्ग में या किसी अन्य आस्मानी आसन पर बैठा दिखाई नहीं देता।

ऐसे पवित्र लक्ष्य के कारण सोऽहम्वाद सर्वाधार सर्वव्यापी सर्वचिन्त्य ईश्वर को विशालता को मनुष्य मे स्थापित कर सका और उसे 'मानुषश्चैकविधः' को व्यवहारयोग्य बनाया। पीछे उसी लक्ष्य के अनुसरण करके महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश किया—"घृणा व क्रोध को भस्म कर संसार के प्रति असीम मैत्री का भाव धारण करो। चलते-फिरते उठते-बैठते बराबर मैत्री के इसी भाव में लीन रहो। यही ब्रह्म विहार है।" सोऽहम् के ही अनुकूल महात्मा ईसा ने भी प्रचार किया— I and my father are one" और उनने आजीवन सर्वप्रेम का प्रकाश फैलाते अहंकार-दमन की शिक्षा दी। वास्तव मे मनुष्य मे ईश्वर को जाननेवाला ही ईश्वर के सत्यस्वरूप को पहचानता है, कहा है— "ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुःपरमेष्ठिनम्।"

किन्तु सोऽहम् अपने इस लक्ष्य पर अचल नहीं रह सका, समय-स्रोत-वेग ने उसे विचल किया और ब्रह्मवाद में परिवर्त्तित सोऽहम् ने आगे युगों मे विकृति के लिए जगह बनाई। विकार का विकास-क्रम स्थिर करना कठिन है, पर मध्यकालीन वेदान्त के जो प्रमाण लभ्य हैं उनके आधार पर सोऽहं और

है। बादरायण-सूत्रों में वेदान्त की रचना एक निश्चित दर्शन के रूप में की गई है, पर उन सूत्रों द्वारा पुरातन रूप में विशेष विचार का पता नहीं चलता। विचार का पहला दर्शन गौडपादाचार्य की कारिका में मिलता है। मध्यकालीन वेदान्त ने लोकह तथा ब्रह्मवाद से एक ब्रह्म की सत्यता व नित्यता और ससार का मिथ्यात्व का जैसा प्रचार किया उसका स्पष्ट अकन गौडपादाचार्य की ही कारिका में दिखाई पड़ता है, जिस सम्बन्ध में कथन है—[23]

> स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा
> तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।

गौडपादाचार्य ने यहाँ ससार को मिथ्या समझते हुए स्वप्न माया और गधर्वनगर की असत्यता का प्रसंग उठाया है। द्वितीय कारिका में बाह्य जगत् का अभाव सिद्ध करते हुए उनने स्वप्न की उपमा दी है। यह उपमा उनके अनुयायियों द्वारा अत्यधिक परिष्कृत की गई और शङ्कराचार्य ने अद्वैत मत का अति पुष्ट पोषण माया, स्वप्न और अविद्या के प्रमाणों द्वारा किया, ऐसा करने में शङ्कराचार्यजी ने बादरायण के ब्रह्म जीवात्मा-जगत मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों की भी अवहेलना की।[24] बादरायण-सूत्र में लोक के उदाहरण मिलते हैं और

---

[23] गौडपाद-कारिका २-३१

[24] 'There are on the whole three different theorie which try to account for the doctrine of Māyā as foun in Sankara and later writes, in three different way according to the first the doctrine of Māyā is a mer fabrication of the fertile genious of Sankara according t

उनमें कहीं भी जगमिथ्यावाद नहीं पाया जाता, तोभी शंकराचार्य ने स्वमत-स्थापना के निमित्त माया व स्वप्न का आश्रय लेकर जगत् का मिथ्या और नित्य-सत्य एक ईश्वर का ही होना सिद्ध किया। विदित होता है कि ऐसा करने में 'प्रच्छन्न बौद्ध' [२५] शंकर का निजी ध्येय था बौद्धों पर विजय पाना और एतदर्थ उनने वेद-मार्ग व बौद्ध-सिद्धान्त दोनों का अवलम्बन किया, वेदमार्ग ग्रहण कर उनने वेदानुयायियों में उस समय

the second, the doctrine of Māyā as found in Sankara is to be traced entirely to the influence of the Sunyavāda of the Buddhists; according to the third, Sankara's doctrine of Māyā is to be found already full-fledged in the Upanishads, of which he is merely an exponent" R D. Ranade. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, p. 223.

"Sankara's views about cosmology, psychology and eschatology are examined in the sections of Jagat, Jivatmā and and moksha respectively, and have been shown not to flow naturally from the Sutras of Bādarāyana as they stand at present" M T Telliwala's Essay, p. 15

[२५] शंकर की स्वमत-स्थापनेच्छा का आभास् महासूत्र में विद्यमान है। "१-१-५, ११; १-४-१-१३; १-४-२८; २-१-१; २-२-२-१; २-२-१, १०; १०; २-२-१२, १७; २-२-१८, २७; २-२-२८, ३२; २-२-३३, ३६; २-२-२७-४१; ६-३-५४-५५;" पर शांकर-भाष्य।

"The nick name प्रच्छन्न बौद्ध, which was applied to Sankara by the Vaisnavas (and by Vijnāna Bhiksu) and in certain Purānas, was not unfounded". Dr. Gangānāth Jha: Tantra Vārttika, introduction, p. IX.

ख्याति प्राप्त की जिस समय ब्राह्मणमत के मुकाबले में बौद्धमत अपने पार्थक्य का झंडा फहरा रहा था और बौद्ध-सिद्धान्त को ग्रहण इस कारण किया कि बौद्धमतानुयायी उनकी ओर साम्य पर आकर्षित हो सकें। अतः शंकराचार्य ने एक ब्रह्म की सत्ता के प्रमाण में अथर्ववेद के [26] "स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति" और उपनिषद् के "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म [27]", "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" [28] वचनों को उपस्थित किया, इसमें उन्हें कठिनाई भी नहीं हुई क्योंकि एक ब्रह्म की सत्ता ब्रह्मवाद द्वारा स्थापित की जा चुकी थी। पर यही पर्याप्त नहीं था, बौद्धमत से नितान्त विरोधक सिद्धान्त इसके साथ भी सामने लाने पर गौतममतानुयायियों का सशंक हो जाना सम्भव था। इस कारण अपने उपदेश में शंकराचार्य ने एक निस्सार या वैतथ्य या शून्य पदार्थ को स्थान दिया, क्योंकि शून्यवाद बौद्धों को अति प्रिय था इसका प्रतिपादन श्रीहर्षनामक वेदान्ती द्वारा भी 'खंडन खंडखाद्य' में किया गया है। [29] फिर शंकराचार्य के समय में बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय का शून्यवाद विशेष स्थान रखता था जिसपर विचारकर उनने परिणामवाद से दूर

[26] अथर्ववेद १३-४-२ [27] छान्दोग्य ६-२-१ [28] ऐतरेय आ० १-१

[29] "खंडन-खंडखाद्य के लेखक श्रीहर्ष वेदान्ती हैं। परन्तु खंडन-खंडखाद्य में जिस का नाम 'अनिर्वचनीयतासर्वस्व' भी है शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है, जो बौद्धों का एक संप्रदाय था। वस्तुतः वेदान्तियों ने बौद्धों के शास्त्रों से ही वैदिक धर्मी नैयायिकों का खंडन किया और आगे चलकर वह सर्वथा बौद्धों के प्रभाव से प्रभावित हो गए।" गंगाप्रसाद उपाध्याय, अद्वैतवाद, पृ० ५४ नोट

आंशिक आरम्भवाद और पूर्णतः विवर्तवाद का आश्रय लेकर घोषित किया—'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या'।[40] इस घोषणा में विरोध और साम्यानुरोध दोनों था, बौद्धमत के खण्डन तथा मण्डन दोनों का अभिप्राय था। इस पाण्डित्यपूर्ण चातुर्य से आरम्भिक वेदान्त मत को कुछ धक्का जरूर लगा, पर उस समय शंकर मत का सिक्का जम गया और बौद्धदार्शनिक उनके सामने अवाक् हो रहे। नैयायिक आदि अन्य दार्शनिक भी उस समय शंकराचार्य्य के विचारों पर स्वतंत्रतया विचार नहीं कर सके, मानो शंकर के वेदान्त गर्जन के आगे सभी दार्शनिक भयावह हो रहे थे जिस का संकेत नीचे के श्लोक में किया गया है—

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जन्ति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेसरी ॥

40 "It has been already stated that the teaching of the earlier upanishads was parinamvada, not a mayavada or vivartavada Whence, then, did this theory of the unreality of all things arise? The most probable answer is that it was adopted from the Buddhists, the great supporters of Idealism This was the opinion of Vijnana Bhikshu, the learned commentator on the Sankhya Philosophy, who flourished about 300 years ago, and who wrote of the 'quasi-Vedantins' of his time as 'upstart disguised Buddhists, advocates of the theory of Maya,' and quoted a passage from the Padma Purana where the doctrine of Maya is also stigmatised as nothing but disguised Buddhism" G A Jacob Hindu Pantheism, p 53.

गौड़पादाचार्य, शंकराचार्य्य उनके अनुयायियों ने अद्वैतवाद का जैसा रूप स्थिर किया उसमें केवल ब्रह्म ही सत्य व नित्य माना गया और माया के कारण अलग २ प्रतीत होते जीव की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित की गई[1]। "जीवो ब्रह्मैव नापरः" कह कर जीव-ब्रह्म की भाँति शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सत्य माना गया,[2] गौड़पाद ने जीव को ब्रह्म से अभिन्न कहा[3] तोभी कहीं जीव ब्रह्म का अंश समझा गया[4]। जगत् ब्रह्म से सृष्ट, पर असत् व मायिक माना गया और शंकराचार्य्य ने इस दुःखमय असत् संसार की तुलना उत्तालतरङ्गसंकुल-आवर्त-बहुलनक्रकुम्भीर-भीषण-समुद्र से की। उसमें पड़े डुबकियाँ खाते जीवों की मुक्ति के लिये अद्वैतवादियों ने ऐक्य ज्ञान द्वारा अविद्या को दूर करने का आदेश किया, क्योंकि अविद्या के ही कारण जीव सुख-दुःख से संक्रामित होता है, वास्तव में ये भाव मन तथा देह के हैं। मुक्ति का जैसा विवरण मिलता है उससे उसे सिद्ध समझना ठीक है, साध्य नहीं; बल्कि 'कण्ठचामीकरवत्' के अनुकूल मुक्ति की तलाश करेंगी विड-

---

[1] गौड़पादः माण्डूक्यकारिका ३ "जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥१३॥
मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथंचन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥१९॥

[2] "नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेव आत्मतत्त्वम्" वेदान्तसार।

[3] माण्डूक्यकारिका ३-७ "नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा, नैवात्मनः सदाजीवो विकारावयवौ तथा।

[4] योगवासिष्ठ-उत्पत्ति १४-२२ "स्वमरीचिजलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव।
सर्वाण्येवोत्थितास्तस्मात् ब्रह्मणो जीवराशयः॥

रचना है।[४५] नीति की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं, न 'तं यथायथोपासते तदेव भवति' से ब्रह्मप्राप्ति का निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है; क्योंकि ब्रह्म-जीव की अभिन्नता के कारण भक्त-भजनीय पृथक् नहीं[४६], न ब्रह्म जीव से भिन्न है। अविद्या या भाव का नाश सद्गुरु की कृपा से प्रकृत-तत्त्वोपदेश द्वारा होना चाहिये[४७], उस दशा में 'अयमात्मा ब्रह्म' और 'तत्त्वमसि' का रहस्य हृदयंगम हो जाने से जीव समझ लेता है-'सोऽहम्।' ब्रह्म स्वरूप-सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने "सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः" कहकर सगुण व निर्गुण दोनों ब्रह्म का उल्लेख किया, पर मान के लिये निर्विशेषलिङ्ग निर्गुण ब्रह्म को ही प्रतिपादक स्वीकार किया[४८]। माया का विस्तार सगुण

---

[४५] पञ्चदशी ६-२३४ "वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम्"

[४६] तोभी अद्वैतवाद में उपासना का जो स्थान है उसका विशेष अर्थ है, ब्रह्मोपासना है जिसका सार 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' के भाव की साधना है। 'गीताय ईश्वरवाद' के १२ वें अध्याय में विद्वान् लेखक ने इस पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है।

[४७] मुण्डकोपनिषद् १-२-१२ "तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

वेदान्तसार ११ "अयमधिकारी जननमरणादि संसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिव उपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति।"

[४८] "अतश्चअन्यतरलिङ्ग परिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्, न तद्विपरीतम्; सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु, अपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।" ब्रह्मसूत्र ३-२-११ पर शांकरभाष्य।

ब्रह्म पर भी करके सगुण महेश्वर को मायिक मानना भी अद्वैत-वाद को प्रिय हुआ। सृष्टि का वैतथ्य सिद्ध करते हुए शङ्कराचार्य स्मृति ने अपने तर्कों में रज्जु में सर्प का भ्रम, सीप में चाँदी की भ्रांति, जादूगर की इन्द्रजालिक लीला, उर्णनाभ की जालरचना, स्वप्न व जागृत् सृष्टि, अघटन-घटन पटीयसी माया आदि प्रमाणों को उपन्यस्त किया और उनके सहारे स्थिर किया "तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यम् स्मृतमिति"— जागृत में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं।

स्पष्ट है कि अद्वैतवाद में सोऽहं के साथ जगत के मिथ्या-पन का विचार संयुक्त करने में माया और स्वप्न से अत्यधिक सहारा लिया गया, किन्तु यह वैदिक धारणा के प्रतिकूल था। वैदिक-साहित्य में माया और स्वप्न की ऐसी व्याख्या संसार-सम्बन्ध में कहीं नहीं की गई। बादरायण को भी जगत् कोरा मायिक बताना अभिप्रेत नहीं जान पड़ता क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः'[४९] कहकर उनने जगत् के प्रादुर्भाव-पोषण-प्रलय का कारण ब्रह्म को बताया है और 'शास्त्रयोनित्वात्'[५०] सूत्र द्वारा ब्रह्म को शास्त्र की योनि भी लिखा है। जगत् को भ्रम कल्पित होने की धारणा होने पर इन सूत्रों से न ब्रह्म की . . ठहरती है न उसके अजर-अमर अमृत आदि गुणों का ही कोई मोल रह जाता है। फिर शङ्कराचार्य ने चाँद के अनेकत्व से जगत को नामरूप दे कर मिथ्यापन समझाया है, वह भी वैदिक वचन "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्व-मकल्पयत्" से पूरा विरोध रखता है, शङ्कराचार्य को वेद-वर्णित 'विष्णोः कर्माणि' के अभिप्राय पर भी ध्यान देकर विचारना चाहिये था कि यदि जगत् अविद्या-कल्पित है

[४९] ब्रह्मसूत्र १-१-२ [५०] ब्रह्मसूत्र १-१-४

तो उरुगाय विष्णु के क्या कर्म होंगे[५१]। किन्तु स्वमत की धुन में उनने इसका तनिक भी विचार नहीं किया और इसी प्रकार माया और स्वरूप के अर्थ का भी अनर्थ दर्शाया। गौड़पादाचार्य के अनुकूल शङ्कराचार्य ने माया शब्द का अर्थ 'छल-अविद्या' से किया, किन्तु वेद तथा उपनिषदों में इन अर्थों में इस शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। उपनिषदों में माया शब्द का व्यवहार भी उसी अर्थ में पाया जाता है। माया शब्द के अर्थ ऋग्वेद[५२] में प्रज्ञा ज्ञानविशेष व कर्मविशेष, यजुर्वेद में[५३] प्राण-सम्बन्धी ज्ञान, या प्रज्ञा-

---

[५१] "जगत् को अविद्या-कल्पित बता कर शंकर स्वामी ने ब्रह्म को गौरवान्वित पद से नीचे गिरा दिया, और वेदों के सहस्त्रों मंत्रों को अर्थ शून्य कर दिया। वेद में एक मंत्र है:—विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। विष्णु के कर्मों को देखो जिससे व्रत ग्रहण किये जाते हैं। अब यदि जगत् अविद्या-कल्पित है तो विष्णु के क्या कर्म होंगे? यही न कि हमने भूल से किसी को कुछ समझ लिया। और इससे क्या व्रत ग्रहण किये जा सकते हैं? यही न कि हम भी उसके समान किसी को कुछ समझ लें?" गंगाप्रसाद उपाध्याय : अद्वैतवाद, पृ०२१६

[५२] ऋ० ६-४८-१ के 'विश्वा हि माया' का अर्थ यास्क ने 'प्रज्ञा' किया है—निरुक्त १२-१७, ऋ० १०-८८-६, ५-८५-६, १०-७१-५ में भी 'माया' का अर्थ निरुक्त में वैसा ही किया है। "सायणाचार्य ने भी 'माया' का अर्थ अधिकतर 'प्रज्ञा', 'ज्ञान-विशेष', 'कर्मविशेष' आदि ही किया है।" गंगाप्रसाद उपाध्याय : आस्तिकवाद पृ० १०१

[५३] यजुर्वेद के ११-६९ में 'आसुरी माया' का प्रयोग है जिस पर उव्वट भाष्य है—"यत आसुरी माया। असुः प्राणः। रेफ उपजनः। प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा।" महीधर ने भी 'राक्षसी माया' की

महत्त्वों उपकार करनेवाली बुद्धि और अथर्ववेद में प्रज्ञा विद्या-बुद्धि-ज्ञानीपुरुष किए गए हैं।[54] प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग बहुत कम है; वह बृहदारण्यक में एक बार,[55] प्रश्न में एक बार[56] और श्वेताश्वतर में, जिसे

छठा के अनुसार''''''प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा कृतासि । असूनो प्राणानामि· वमासुरी ।" लिखा है ।

१३-४४ में भी 'असुरस्य मायामम्' आया है' उस पर उव्वट लिखते हैं—"असुरस्य असुवतः प्राणवतः प्रज्ञानवतो वा वरुणस्य मायां प्रज्ञां हे अग्ने, मा हिंसीः ।" इसी को दुहराते महीधर ने भी लिखा है—"असुरस्य मायामसवः प्राणा विद्यन्ते यस्य सोऽसुरः मत्वर्थे रः । प्राणवतो मायां प्रज्ञां मीयते ज्ञायतेऽनया माया । प्रज्ञा प्राणिनां प्रज्ञाप्रदामित्यर्थं ।"

२३-५२ में है—'एतावान्न प्रतिमन्दनो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत ।' इस पर महीधर की व्याख्या है—"किञ्च मायया बुद्धया मत मत्तः उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि । मत्तो बुद्धिमान्नासीत्यर्थः ।"

३०-७ में 'मायायै कर्मार छ' के मायायै का अर्थ स्वामी दयानन्द ने "प्रज्ञावृद्धये—ज्ञान बढ़ाने के लिये" किया है ।

[54] अथर्ववेद २-२९-६ के 'मायाम्' का अर्थ प्रज्ञा या बुद्धि है; ४-२३-५ के 'मायाः' का अर्थ 'प्राण-सम्बन्धी विद्या' है; ४-३८-३ के 'मायया' का अर्थ 'बुद्धि के साथ' है; ५-११-४ के 'मायी' का अर्थ 'प्रज्ञावान् या ज्ञानी' है, ७-८१-१ के 'मायया' का अर्थ 'ईश्वर के ज्ञान से' है; १२-१-८ में 'मायाभिः' का अर्थ 'प्रज्ञा द्वारा' है; १३-२-२ के मायया का अर्थ 'ज्ञान से' है-और अन्यत्र भी ऐसा ही अर्थ उपयुक्त है ।

अनेक मंत्रों के अर्थ देकर माया के इसी अर्थ का प्रतिपादन अद्वैतवाद में भी किया गया है ।

[55] बृहदारण्यक २-५-१९; शतपथ ब्राह्मण के १४-५-५-१९ में भी ।

[56] प्रश्न १-१६ "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।"

विद्वान औरों की अपेक्षा नया मानते हैं, ५ स्थानों में [५७] आया है। इनमें बृहदारण्यक में तो ऋग्वेद का ही एक मंत्र है, [५८] २२ प्रश्न में 'अनृतं' शब्द के साथ यह छल के भाव में है और श्वेताश्वतर में अद्वैतवादियों के अर्थ का सादृश्य जरूर रखता है; [५९] तोभी जो बल वेदान्तियों ने दिया वह उपनिषद्-कारों द्वारा प्रदान नहीं किया गया। वेदान्तियों ने विचित्रतया इसकी शक्ति प्रचारित की। कहीं माया को ईश्वर और जीव की जननी बनाया [६०], कहीं दोनों पर आधिपत्यवाली कहा, [६१] कहीं उसका दुर्घटत्व सिद्ध किया [६२] और कहीं उस पर तर्क करने के दुस्साहस को भी बन्द किया. ब्रह्म तथा मानवेच्छाओं के सम्बन्ध में भी ऐसे ही विरोधात्मक विचार व्यक्त किए गये थे। [६३] वास्तव में माया की माया ने मायावी वेदान्तियों को भी माया में डाल दिया, जिससे प्रभावित श्रीशंकराचार्य ने कहीं माया को सत् और असत् दोनों से विलक्षण

---

[५७] श्वेताश्वतर १-१० "तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः; ४-९ "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्। तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।"; ४-१० "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"

[५८] ऋग्वेद ६-४७-१८ "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश।"

[59] Prabhudutta Sāstri. The Doctrine of Maya p. 35.

[६०] पंचदशी, ६-२३६—"मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ। यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं अद्वैतमेव हि॥"

[६१] पंचदशी ६-२२६ "एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।"

[६२] पंचदशी ६-१३५ "मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः।"

[६३] पंचदशी. ६-१३७ "न. चोद्यांसं मायायां।"

बताया [५४], माया और अविद्या को एक समझा, और कहीं [५५] उनके अनुयायियों ने माया और अविद्या में भेद किया। निश्चल दास जी ने बिना साफ-साफ समझे बला टालने के समान लिख मारा--'शुद्ध सत्त्व प्रधान माया है और मलिन सत्त्व वाली अविद्या है' और विद्यारण्य स्वामी ने [५६] 'दुर्घटत्वसमन्विता माया सब कुछ कर सकती है' कह अपना पिण्ड छुड़ाया। पारमार्थिक और व्यावहारिक भेद को दर्शाने में भी अद्वैतवादियों को आकाश-पाताल का कुलाबा मिलाने का

Maganlal A Buch. Philosophy of Shankara, pp 149, 150, 151—"The problem whether individuals are free to act or are absolutely bound hand and foot to circumstances has in Shankara's systems, like other problems, a two-fold aspect."

[५४] ऐसा कहते हुए सम्भवतः शंकराचार्यजी को "नैकस्मिन्नसम्भवात् २-२-३३" के भाष्य में जैनियों के खण्डन में कहा वचन—"न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति; अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्; उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्, उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च" स्मरण नहीं रहा।

[५५] गंगाप्रसाद उपाध्याय: अद्वैतवाद पृ० ३०१

राणडे महोदय ने अपनी पुस्तक 'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy" में अद्वैत-विकास को उपनिषदों से दिखलाते हुए 'अविद्या' शब्दवाले अनेक वाक्यों से मायावाद को सिद्ध करने की चेष्टा की है, पर इन वाक्यों में 'अविद्या' शब्द अपना वैसा अर्थ रखता नहीं पाया जाता।

[५६] पंचदशी, चित्रदीपप्र० 119 "दुर्घटैकविधायिन्या मायाया का चमत्कृतिः।"

कष्ट उठाना पड़ा। पर सारी गड़बड़ी इसी कारण हुई कि सनातन धारणा के विरुद्ध मायावादियों ने माया रूपी इमामे को अपर्याप्त माया-चर्म से मढ़ने का आयोजन किया। फल हुआ कि जगत् के मिथ्यापन के बुझौवल के साथ माया भी एक पहेली ही रह गई।

स्वप्न की स्थिति भी इसी तरह एक भुलभुलैया के समान अद्वैतवाद में दिखाई पडती है, कई प्रमाणों के दिए जाने पर भी स्वप्न और दृश्यमान पदार्थों के मिथ्यापन में साम्य-सिद्धि-प्रतीति नहीं होती। शंकराचार्य ने इस ओर विशेष प्रयास किया, पर उनके तर्क से भ्रम का निवारण नहीं हो सका, बल्कि उनके हेतुओं में ही भारी विरोध पैदा हुआ।[67] इस विरोध का कारण था स्वप्न व जागृति में अन्तर ही अन्तर देखना, पर दोनों की अवस्थाओं में साम्य व अभिन्नता भी है जिस पर ध्यान दिये बिना कोई तथ्य को नहीं पहुँच सकता। स्वप्न जागृति का विभ्रम ही नहीं प्रतिरूप भी है, क्योंकि

---

[67] "As regards Sankaracharya, the fact is that different portions of his comments on the aphorisms are mutually conflicting For example, in one place he ridicules the idea of an infinite series of works and worlds subsisting in the relation of cause and effect, and then, elsewhere, distinctly advocates it Again, when opposing the Idealism of the Buddhists, he strongly maintains the *reality* of objects of perception, rebutting the objections advanced against it, and supports the tenet of the material causativity of Brahma, whilst on another occasion he accepts the theory of Maya." G. A. Jacob: Hindu Pantheism, p. 89.

जागृति के दृष्ट पदार्थों की स्मृति-अनुमनीति-विकल्पना-आभाव-भ्रान्ति स्वप्न में भी रहती हैं और स्वप्न में भ्रान्ति के होते भी जागृति की स्मृति मिथ्या नहीं हुआ करती। शंकराचार्य का यह कथन निश्चय ही विश्वासप्रदायक है कि स्वप्न में जो कुछ दीखता है वह स्मृतिमात्र होता है—[६८] 'अपि च स्मृतिरेषा, यत्स्वप्नदर्शनम्' पर स्मृति किस की? और जिस की स्मृति होती है वह सर्वथा मिथ्या किस प्रकार? रज्जु में सर्प का भ्रम होने के उदाहरण में भी वास्तव में रज्जु और सर्प दोनों की सत्यता जरूर ही है, पर रज्जु में सर्प के गुणोंको समझने का जो भाव है वही भ्रम है। इसी प्रकार सीप व चाँदी के सत्य होते भी भ्रान्ति है केवल उन दोनों के एकीकरण का मान। उर्णनाभ व जादूगर के प्रमाण भी इस दृष्टि से मिथ्यात्व की सिद्धि में पर्याप्त प्रतीत नहीं होते, क्योंकि यहाँ भी सत्यांश के साथ भ्रमांश का संयोग मिलता है। जाल-रचना में मकड़ी अपने भीतर सञ्चित वस्तु से तन्तु निकाल कर जाल की रचना करती है, उसकी वह रचना मायिक है, पर मकड़ी व उसके तन्तु-पदार्थ तो नित्य व आवश्यक जान पड़ते हैं; मधुमक्खिका के भीतर सञ्चित रेणुरस से शहद की सृष्टि के समान उर्णनाभ की क्रिया है। "य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः" [६९] वचन भी ईश के साथ ईशनी-शक्ति को प्रतिपादित करता है, यहाँ 'एक ही है' का भाव नहीं है। पर अद्वैतवाद ने एक का प्रतिपादन किया और उसकी पला में वह आप फंसता गया और उसके प्रमाण

---

[६८] सूत्र २-२-२९ के भाष्य में।

[६९] श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१

भी एकत्व के साथ ही मिथ्यापन को अध्यारोपित करने मे निर्भ्रम नहीं हो सके। जब स्वयं शंकराचार्य जी को यह कठिनाई घेरे रही तो और की क्या बात? गौड़पादाचार्य ने[६०] जगत् को स्वप्नसृष्टि की तरह मिथ्या कहा, परन्तु शंकराचार्य ने जगत् को स्वप्न की तरह झूठा नहीं माना", मानते भी कैसे जब उन्हें अपने मतके कोरा शून्यवाद हो जाने का भय था, वह तो आभास रखना चाहते थे पर शून्यवाद नाम को ग्रहण करना नहीं। अद्वैतवाद मे जगत् को यथार्थतः असत् कह कर व्यवहार में उसे सत्य मानने का कारण भी अद्वैतवादियों का मिथ्यात्व मे भ्रम का ही होना प्रकट करता है। 'स्वप्न जागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः'[६२]को स्पष्ट कहते शंकराचार्य ने 'जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्'—अर्थात् 'जागृत अवस्था मे देखी हुई चीजें मिथ्या हैं' की प्रतिज्ञा का हेतु दिया—'दृश्यमानत्वात्' दिखाई पड़ने के कारण, और उसका उदाहरण रक्खा 'स्वप्नदृश्यभाववत्'—स्वप्न मे दृष्ट वस्तुओं के सदृश, किन्तु ऐसा करने में उनने स्वप्न के स्वरूप पर ध्यान ही नहीं दिया और "वैधर्म्याच्च न

---

[६०] गौड़पाद : माण्डूक्य-कारिका ४:—

अद्वयं द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशय ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥६२॥
३-मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसी ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥"

[६१] हीरेन्द्र नाथ दत्त : गीताय ईश्वरवाद, १२वाँ अध्याय। ब्रह्मसूत्र ३-२-१ पर शांकर-भाष्य भी देखने योग्य है।

[६२] गौडपाद-कारिका २-५

स्वप्नादिवत्"[७३] सूत्र के भाष्य में अपने वचन–'नत्वेवं सति न शक्यते वक्तुं, मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता" को भी भूल गए। वहां आपने भी माना है कि यह कहना ठीक नहीं कि जाग्रत अवस्था में जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है।[७४] वस्तुतः जगत् के दृश्यमान पदार्थों के साधारणतया बने रहने पर भी नहीं होना सिद्ध करना सत् को असत् करने और आँखवालों की आँखें मूँद कर अंधा बनाए रखने के समान था, जिसमें अद्वैतवादियों को सोऽहं की माया ने सफल नहीं होने दिया।[७५] सोऽहं की बुनियाद में जो द्वैतमत था, उसीकी भित्ति पर अद्वैतमत का भवन-निर्माण कठिनाइयों से न खाली था न

[७३] ब्रह्मसूत्र २-२-२९

[७४] श्रीगंगाप्रसाद उपाध्याय : अद्वैतवाद पृ० ७६

[७५] नाथपंथीय सिद्ध ज्ञाननाथ (१२७५-१२९६ ई०) ने शंकर के अविद्या सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से जाँचने के बाद अग्राह्य कहा है, जिस सम्बन्ध में पं० पांडुरंग शर्मा ने लिखा है—"The doctrine of 'Avidyā' is examined in many ways (Siddhānu VII-11 to 278). The idea of Avidyā is condemned (Siddhānu VII-277) The world as the production of Avidyā is proved to be an impossibility (Siddhānu VII) 269— The 'Avidyā' of Sankara being beyond the province of 'pramānas' is proved unfit for consideration (Siddhānu VII-55)", Proceedings of the Third Oriental Conference, p 496

रहा, अद्वैतवादी बराबर वैमनस्यग्रस्त रहे और कुछ दार्शनिकों द्वारा विरोध भी जारी रक्खा गया।

दार्शनिकों के विरोध के सिवाय साधारण विचार के लोगों का असंतोष भी शंकराचार्य के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। मायिक सम्बन्ध से भिन्न ईश्वर-धारणा की जरूरत लोगों को थी और रामानुज ने उस पर विचार कर अद्वैतवाद के स्थान में विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त का प्रचार समयोचित समझा, वह उसी में तल्लीन भी हुए।[76] विशिष्टाद्वैतमत पहले से ही आ रहा था, रामानुज उसके प्रवर्त्तक नहीं थे[77]; उनने आचार्य्य-परम्परा-विचारानुकूल

[76] V. S Ghate · The Vedanta, pp 20-21 "No doubt Sankara in order to accomodate such people admmitted of a personal God; and popular belief attributes to him the introduction of the worship of the Pancayatma or the five gods together, so as to displease no one. But a god was after all of an illusory and second rate importance in his system. Hence there arose Rāmānuja and the other Vaisnavite leaders who introduced the event of a personal God and devotion to him or adoration of him, which gained great favour with the people"

[77] "In former times there existed the following works bearing on the doctrines of Visishtadvaita —a Vritti by the great Rishi Bodhayana, a bhashya of the Brahma sutras by Dramirāchārya and a vārtika by Tankāchārya There were, besides, other works by Bharuchi, Guhdeva and other āchāryas ; but these too having perished through the destroying agency of time, the Siddhitraya, etc. were com-

[७८] श्रीभाष्य द्वारा विशिष्टाद्वैत को सुरक्षित किया और वेदार्थसंग्रह, वेदान्तदीप व वेदान्ततत्त्वसार नामक पृथक् पृथक् ग्रन्थ भी लिखे।

विशिष्टाद्वैतमत ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता व उपादान कारण मानता है[७९] और 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्', 'आत्माधारोऽपिलाश्रय' आदि वचनों के आधार पर जीव-ब्रह्म में भेद दिखलाते हुए जीव व ब्रह्म को भिन्न समझता है[८०], वहाँ ब्रह्म जीव

---

posed by the venerable Yamunacharya in order to explain the purport of the lost treatises In these, viz, Siddhitraya etc were controverted the Bhashya and other writings of Bhartri ..... Subsequently the illustrious commentator and holy sage, Sri Ramanujacharya advanced the knowledge of the Vishishtadvaita in the world by the composition of his great work called the Shreebhashya" M. N. Rama Misra Shastri Vedartha Sangraha preface

[78] "There is evidence to show that it (the Visishtadvaita school) must have come down in the form of an unbroken tradition from very ancient times" Rangacharya. Translation of Shreebhasya, preface

[७९] वेदान्ततत्त्वसार—"वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः ॥"

[८०] "जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यं देहात्मनोरपि न संभवति । तथा श्रुतिः । द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।" ब्रह्मसूत्र १-१-१ । श्रीभाष्य, पृ० ७७

से स्वतन्त्र और जीव आध्यात्मिकादिदु:खयुक्त है, वह ब्रह्म की विभूति है पर ब्रह्म-खण्ड नहीं है[८१]। ब्रह्म को सगुण ही मानना ठीक है[८२], क्योंकि वह कल्याणकारी गुणों का आधार मुक्तिदाता सनातन विष्णु है[८३]। ब्रह्म श्वेताश्वतर के 'मायिनन्तु महेश्वरम्' के अनुकूल सदा मायाविशिष्ट है और वह कारुणिक भक्तवत्सल अपनी लीला द्वारा अर्चा विभव-व्यूह-सूक्ष्म अन्तर्यामी रूपों में अवस्थान करता है। जगत् अनादि है, पर प्रलयकाल में वह ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है क्योंकि उस समय वह नाम रूप छोड़कर अति सूक्ष्म भाव में अवस्थान करता है। प्रलय काल में सूक्ष्मभाव में जीव व जड़ ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और उस समय केवल ब्रह्म ही रहता है इसी कारण ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय' कहा गया है। ब्रह्म की दो अवस्थायें हैं—कारणावस्था, कार्यावस्था। पहली अवस्था प्रलयकाल की है जब जीव व जड़ जगत् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और सूक्ष्मभावापन्न प्रकृति व पुरुष के नाम रूप भेद मिट

---

[८१] वेदान्तसार में आया है—"न च ब्रह्मखण्डो जीवः" और "अंशो नानाव्यपदेशात्।" सूत्र २-३-४२ का अर्थ 'ब्रह्मविभूति' का किया है।

[८२] "उभयलिंग सर्वत्र हि। यत्त सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु पर ब्रह्मोभय लिङ्गमुभयलक्षणमभिधीयते। निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वल क्षणोपेतमित्यर्थ।" ब्रह्मसूत्र ३-२-११ श्रीभाष्य, पृ० ५९०

[८३] वेदान्ततत्त्वसार "वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः॥"

जाते हैं; दूसरी अवस्था सृष्टि की है जब जीव व जगत् चित्
अचित् रूप में ब्रह्म से विसृष्ट होकर व्यक्त-स्थूल-दशा को
प्राप्त हो जाते हैं“। इस दशा में अचित् (दृश्य जड़ जगत्
तीन आकार धारण करता है-भोग्य, भोगोपकरण, भोगायतन
जगत् परिणामी व विकारशील होने के कारण असत् जरूर
है, पर वह मायिक या मिथ्या या कल्पनामात्र नहीं है“
स्वप्न ज्ञान के द्वारा जागरित ज्ञान को अर्थशून्य बनाना ठी
नहीं है“। जीव का परम पुरुषार्थ ईश्वर की प्राप्ति ही है
वह साधक को अन्य प्रयोजन से रहित निरन्तर-प्रिय प्रत्यक्
सिद्ध अनुध्यानरूप भक्ति से ही सम्भव है। इस भक्ति
विद्या और अविद्या दोनों का समुच्चय जरूरी है। मुक्त पुरु
ब्रह्म में मिल कर एक नहीं हो जाता, वह ब्रह्मोचित गुणों को
प्राप्त करता है और ईश्वर के समान गुणवाला बन सकता है
सर्वकर्तृत्व सदा ईश्वर के ही साथ रहता है।“

“ "परब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्वस्तु
शरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम्।" ब्रह्मसूत्र १-२-१ पर श्रीभाष्य।
सर्वदर्शनसंग्रह के रामानुजदर्शन व वेदान्ततत्त्वसार में पूरी व्याख्या है।

“ वेदान्ततत्त्वसार—"विकारजननीमज्ञाम्", "नित्य सततविक्रियाम्
इत्यादिभिरस्या सविकारत्वेन सततपरिणामत्वेन चैकरूपाभावाच्च असत्
सत्यासत्याद्यवम्। अतएवेयमनृतादिशब्दैरपदिश्यते।"

“ स्वप्नज्ञानवैधर्म्यात् जागरितज्ञानस्यार्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुं ...
अतोऽनुपपन्नः।" ब्रह्मसूत्र २-२ २८ श्रीभाष्य।

“ "अपि साधनानुष्ठानेन निरस्तनिखिलस्य परमात्मस्वरूपस्य संभवः
... तत्स्वरूपं परमं साम्यमुपैति।" ब्रह्मसूत्र १-१-१ पर श्रीभाष्य

विशिष्टाद्वैत के उपर्युक्त सिद्धान्त सोऽहं, सांख्य और योगेश्वर के समकक्ष जान पड़ते हैं और इन में अद्वैत के माया, स्वप्न और भ्रान्ति के विचारों से उत्पन्न होनेवाली शंकाओं को भी जगह नहीं रह जाती। सोऽहं द्वारा ब्रह्म का जीव में जो अनुभव किया गया था वह विशिष्टाद्वैत की ब्रह्मलीला में प्रस्फुटित हुआ और उसी पर धीर अवतारी पुरुषों की उपासना से मुक्त होने का भी सिद्धान्त सबल किया गया।

सातवाँ अंश

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

सोऽहं के अनुभव से ब्रह्मज्ञान की लिप्सा चतुर्दिक फैल गई और सभी प्रार्थना करने लगे[1]–"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।"–अर्थात्–'मुझे असत से सत् की ओर, अज्ञानतम से ज्ञानज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर ले जा।' इसी युग में बारह वर्षों तक वेदाध्ययन करनेवाले श्वेतकेतु ने भी शंका की[2]–"कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति" और उसी ज्ञेय-सम्बन्धी शिक्षा के लिए प्रसिद्ध गृहस्थ शौनक अंगिरा के पास आए,[3] उसे ही जानने की जरूरत में वेदेतिहासपुराण-पित्र्य-राशि दैव-वाकोवाक्य-

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् १-३-१

[2] छान्दोग्योपनिषद् ६-१ "ॐ,श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥ सह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥ २ ॥ येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥"

[3] मुण्डक १-१-३ "शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः

देवविद्या-ब्रह्मविद्या-भूतविद्या-क्षत्रविद्या-नक्षत्रविद्या-आदि का अध्ययन कर लेने पर भी शोकग्रस्त नारद[४] "सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति" कहते हुए सनत्कुमार की शरण में गए और पूरी शिक्षा के लिए इन्द्र को प्रजापति के पास एकसौ एक वर्षों तक रहना पड़ा। एवंप्रकार सोऽहं के प्रचार के बाद ब्रह्म व आत्मा को जानने की महिमा इस पवित्रता व उच्चता को समाज में प्राप्त हुई कि समाज और कुछ नहीं सुन कर अविचल विश्वास से कहा करता—"ॐ ब्रह्म ही जानने योग्य है, ब्रह्मवेत्ता इसे ही वेद कहते हैं;[५] जो उस सूत्रात्मा व अन्तर्यामी को जानता है वह ब्रह्मवेत्ता, लोकज्ञाता, देवज्ञाता, वेदज्ञाता, सकलभूतज्ञाता, आत्मज्ञाता, सर्वज्ञाता हो जाता है;[६]; आत्मा के ही दर्शन से श्रवण से और मन लगाकर निदिध्यासन से यह अखिल जगत् ज्ञात हो जाता है;[७] और[८] 'तमेव

पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥"

[४] छान्दोग्योपनिषद् ७-१-१ से ३; ८-११-३

[५] बृहदारण्यकोप० ५-१-१ "ॐखं ब्रह्म। वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्।"

[६] बृहदारण्यकोप० ३-७-१ "यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति।

[७] बृहदारण्यकोप० २-४-५

[८] बृहदारण्यकोप० ४-४-२१

ज्ञाता थे ही उस ज्ञान से सेवात्मक वृक्ष हो गए।" तब ब्रह्म के स्वरूप को समझाने की आवश्यकता हुई। ईशोपनिषद् ने[16] ईश्वर नाम से ब्रह्म को अकाय, अव्रण, अस्नाविर, शुद्ध और स्वयंभू कहा। कठ ने[17] कहा कि वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त, महान् और परम ध्रुव है; वही मृत्यु-मुख-त्राता है। मुण्डक ने[18] उसे अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अव्यय, अपाणिपाद, अग्राह्य, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, भूतयोनि, रुक्मवर्ण, कर्त्ता, ईश और ब्रह्मयोनि कहने के अतिरिक्त "यथेमां वाचं कल्याणमावदानि जनेभ्यः" की वैदिक ऋचा[19] के अनुकूल "वाग्विवृताश्चवेदाः" समझाया। बृहदारण्यक में[20] आया कि ब्रह्माण्ड के आरम्भिक पञ्चभूतरूप ब्रह्मलोक में ही ओतप्रोत है और वह ब्रह्म पूर्ण है, ओङ्कार स्वरूप है। छान्दोग्य ने[21] समझाया—"मनो ब्रह्मेति "आकाशो ब्रह्मेति, प्राण ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति," तैत्तिरीय में[22] ब्रह्म पूर्ण जीवन कहा गया "प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः।

---

[16] ईशोपनिषद् ८, [17] कठोपनिषद् ३-१५

[18] मुण्डकोपनिषद् १-१-६; ३-१-२; २-१४

[19] यजुर्वेद २६-२

[20] बृहदारण्यकोपनिषद् ३-६-१; ५-१-१—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्।"

[21] छान्दोग्योपनिषद् ३-१८-१; ४-१०-५

[22] तैत्तिरीयोप० ब्रह्मानन्दवल्ली प० ३

तस्मात्सर्वायुषमुच्यत ।" और छान्दोग्य में [23] ब्रह्म के चतुष्पाद की व्याख्या शरीर व देवता के सम्बन्ध में की गई। छान्दोग्य ने यह भी दिखलाया कि ब्रह्म सृष्ट पदार्थों से अलग नहीं, वह उन्हीं में समाविष्ट है, जिसके समर्थनवत् तैत्तिरीय ने [24] कहा--"तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तँ होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विजाघसस्व। तद्ब्रह्मेति।" इस पर बृहदारण्यक ने व्याकृत् व अव्याकृत् अवस्था की एकरूपता पर प्रकाश डाला और इन सारी अवस्थाओं के निष्कर्ष-स्वरूप छान्दोग्य ने ब्रह्म की शक्ति व व्यापकता का सूत्र "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" निर्मित किया। [25] ब्रह्मवेत्ताओं को यह बड़ा ही प्रिय जँचा और सबों ने ब्रह्मशक्ति का मूलमंत्र इस सूत्र में स्वीकार किया। कठ ने इसकी व्याख्या की, मुण्डक ने समर्थन किया- "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं" और माण्डूक्य ने विशदरूप में दुहराया-" सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।" [26] सभी ब्रह्मोपासकों ने एक स्वर से उद्घोष किया —"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" तब से इस सूत्र की ब्रह्मविद्या-ध्वजा

[23] छान्दोग्योपनिषद् ३-१८-२ "तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवाऽऽदिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च।" आगे ३, ४, ५, ६ में इसी का वर्णन किया गया है।

[24] छान्दोग्योपनिषद् ६-२-१ से ४; तैत्तिरीय भृगुवल्ली १

[25] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-७; छान्दोग्योपनिषद् ६-१४-१

[26] कठोपनिषद् ५-२ ; मुण्डकोपनिषद् २-२-११; माण्डूक्योपनिषद् २

जाना वे ही उस ज्ञान से सर्वात्मक ब्रह्म हो गए।" तब ब्रह्म के स्वरूप को समझाने की आवश्यकता हुई। ईशोपनिषद् ने[11] ईश्वर नाम से ब्रह्म को अकाय, अव्रण, अस्नाविर, शुद्ध और स्वयंभू कहा। कठ ने[12] कहा कि वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त, महान् और परम ध्रुव है; वही मृत्यु-मुख-त्राता है। मुण्डक ने[14] इसे अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अव्यय अपाणिपाद, अग्राह्य, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, भूतयोनि, रुक्मवर्ण, कर्त्ता, ईश और ब्रह्मयोनि कहने के अतिरिक्त "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" की वैदिक ऋचा[15] के अनुकूल "वाग्विवृताश्चवेदाः" समझाया। बृहदारण्यक में[16] आया कि ब्रह्माण्ड के आरम्भिक तत्त्वमूलरूप ब्रह्मलोक में ही ओतप्रोत है और वह ब्रह्म पूर्ण है, ओङ्कार स्वरूप है। छान्दोग्य ने[17] समझाया—"मनो ब्रह्मेति" "आकाशो ब्रह्मेति प्राण ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति," तैत्तिरीय में[18] ब्रह्म पूर्ण जीवन कहा गया "प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः।

[11] ईशोपनिषद् ८, [12] कठोपनिषद् ३-१५

[14] मुण्डकोपनिषद् १-१-६; ३-१-३; २-१०

[15] यजुर्वेद २६-२

[16] बृहदारण्यकोपनिषद् ३-६-१; ५-१-१—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्।"

[17] छान्दोग्योपनिषद् ३-१८-१; ४-१०-५

[18] तैत्तिरीय० ब्रह्म

तस्मात्सर्वाणुपमुच्यत।" और छान्दोग्य में [२३] ब्रह्म के चतुष्पाद की व्याख्या शरीर व देवता के सम्बन्ध में की गई। छान्दोग्य ने यह भी दिखलाया कि ब्रह्म सृष्ट पदार्थों से अलग नहीं, वह उन्हीं में समाविष्ट है, जिसके समर्थनवत् तैत्तिरीय ने [२४] कहा– "तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तँ होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।" इस पर बृहदारण्यक ने व्याकृत व अव्याकृत् अवस्था की एकरूपता पर प्रकाश डाला और इन सारी अवस्थाओं के निष्कर्ष-स्वरूप छान्दोग्य ने ब्रह्मकी शक्ति व व्यापकता का सूत्र "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" निर्मित किया। [२५] ब्रह्मवेत्ताओं को यह बड़ा ही प्रिय जँचा और सबों ने ब्रह्मशक्ति का मूलमंत्र इस सूत्र में स्वीकार किया। कठ ने इसकी व्याख्या की, मुण्डक ने समर्थन किया- "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं" और माण्डूक्य ने विशदरूप में दुहराया-"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।" [२६] सभी ब्रह्मोपासकों ने एक स्वर से उद्घोष किया —"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" तब से इस सूत्र की ब्रह्मविद्या-ध्वजा

---

[२३] छान्दोग्योपनिषद् ३-१८-२ "तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवाऽऽदिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च।" आगे ३, ४, ५, ६ में इसी का वर्णन किया गया है।

[२४] छान्दोग्योपनिषद् ६-२-१ से ४; तैत्तिरीय भृगुवल्ली १

[२५] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-७; छान्दोग्योपनिषद् ६-१४-१

[२६] कठोपनिषद् ५-२; मुण्डकोपनिषद् २-२-११; माण्डूक्योपनिषद् २

धीरे विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' ब्रह्म-मुमुक्षु उसे ही जानकर प्रज्ञा-प्राप्ति करे, वह मन से ही साक्षात्कार करने योग्य भेद-रहित है—[1]

"मनसैवाऽनुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किञ्चन।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥"

ऐसे विश्वासप्रद वचनों द्वारा ब्रह्मवाद ने सर्वैकता का का भाव समाज के प्रत्येक विचार में भर कर भारतीय दार्शनिक अन्वेषणों को अभिप्रेत स्थान पर पहुँचाया। ऐतरेय ब्राह्मणने[10] "वेश्वे वै देवाः" पर विचार करते हुए प्रश्न किया था—"कुत श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्येति" और उसी समय उसका एक विस्तृत उत्तर भी दिया गया, किन्तु वह उत्तर प्रकृति-पर्यवेक्षणजनित भावों से हे ओतप्रोत था। यह प्रश्न विगत संदेह औपनिषद् काल में ब्रह्मवाद द्वारा ही सुलझाया जा सका। आत्ममय विश्व का संकेत कर छान्दोग्य ने[11] कहा—"आत्मैवाध स्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद[*] सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वाराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येन्यथा ऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।" बृहदारण्यक ने समझाया—"स्वर्गादिलोक-देवता-पृथ्वी प्रभृति सभी आत्म- हैं, आत्मा से पृथक् कुछ नहीं।" श्वेताश्वतर ने[12] दुहराया।

---

[1] बृहदारण्यकोप० ४-४-१९ [10] ऐतरेय ब्राह्मणपं० ५, अ० १ सं० ५

[11] छान्दोग्य ७-२५-२ [12] श्वेताश्वतरो०प० २-१५

"स एव जातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतो-मुखः।" फिर उद्दालक ने श्वेतकेतु पर विश्वास के साथ प्रकट[13] "तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।" श्वेताश्वतर ने[14] विचारार्थ प्रश्नोपस्थित किया कि यदि तुम्हें सर्वज्ञता में कुछ भी संदेह है तो बताओ कि तुम कहां से आए, अग्नि-आदित्य-वायु-जल-में प्रजापति की व्याप्ति को देखते हुए तुम अपनी कुमार-युवा-जरा-अवस्थाओं को देखो, क्या तुम इन पर विचारने से इस निष्कर्ष को नहीं पहुँचते—

"नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥"

सन्देह जाता रहा और सर्वज्ञता सर्वप्रिय हुई। ब्रह्मविद्या की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, वे ब्रह्म के साथ अपने सम्बन्ध को समझने में उत्सुकता प्रदर्शित करने लगे। 'किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति' प्रश्न के उत्तर में बृहदारण्यक ने[15] कहा—"पहले यह ब्रह्म ही था; वह स्वयं मैं ही हूँ ऐसा जाना, इससे वह सर्वरूप हुआ। जिन देवताओं ने उस ब्रह्म को यथावत् जाना वे उस ज्ञान से सर्वात्मक ब्रह्म हो गए और ऋषियों तथा मनुष्यों में जितने उस ब्रह्म को यथावत्

---

[13] छान्दोग्य ६-८-६ [14] श्वेताश्वतर ४-१ से ४

[15] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-६; १-४-१० ।।

और तदुपरान्त वेद के साथ ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध माना जाने लगा। सर्व प्रथम बृहदारण्यक के 'औपनिषद पुरुष' में यह परिवर्तन दृष्टिगत होता है, फिर छान्दोग्य में वेद 'रस' व अमृत गुह्यादेश और उपनिषद् 'रसाना रस' व 'अमृतानामृतानि' कही गई।[43] केन में वेद व उपनिषदों का स्पष्ट सम्बन्ध व्यक्त किया गया—"तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्" और श्वेताश्वतर में उपनिषदों का नाम वेदान्त दिया गया—"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।"[44] तोभी वेदादि का स्थान ब्रह्मविद्या के गुह्यादेशों के नीचे ही रहा और मुण्डक में[45] यह भेद दर्शाते हुए ऋग्वेदादि अपरा और अक्षर-ज्ञानदायिनी ब्रह्मविद्या परा कही गई। यज्ञ के प्रति उपनिषदों में ऊँचा भाव कहीं भी प्रदर्शित नहीं किया गया, कठ में अग्नि की विशेषता होते भी प्राधान्य है ब्रह्मविद्या का ही।

ब्रह्मज्ञानियों द्वारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कह कर सर्वेकता के प्रचार में एकवाद को प्रधानता दिए जाने पर मोटे विचार के लोग दूसरे ही चिन्तन में लगे, ब्रह्मवाद ने उनके चित्त को चंचल कर दिया था और वे शंकाग्रस्त हो रहे थे। वे सोचते थे—"ब्रह्मज्ञानी एक ब्रह्म को बतलाते हैं और उसे अदृष्ट-अचल-अमर कहते हैं, पुनः जो कुछ जनित चलायमान-मृत्युग्रस्त हम देख रहे हैं वे भी निश्चय ही ब्रह्म हैं। तब उनके ही अनुसार ब्रह्म दो हो जाते हैं—एक अदृष्ट दूसरा दृष्ट, एक अचल दूसरा चल और एक अमर दूसरा मृतमान्।" इस ओर ध्यान

[43] बृहदारण्यकोपनिषद् ३-९-२६; छान्दोग्योपनिषद् ३-५ ४
[44] केनोपनिषद् ३३; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ २२
[45] मुण्डकोपनिषद् १-१-५

देते पर ब्रह्मादियों को भी ब्रह्मवाद में वैसे कथन मिले। ईशोपनिषद्[37] का कथन था– "वह चलता है; नहीं चलता है; वह दूर है, वह पास में है : वह सर्वान्तर है, वह इन सबों से बाहर है।" कठ[38] की उक्ति थी – "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत.।" प्रश्न[39] की शिक्षा थी—"एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्।" मुण्डक ने[40] कहा था :—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिंपरिपश्यन्तिधीराः॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥

इन विचारों के ही सदृश बृहदारण्यक ने[41] व्यक्त किया था—'द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यञ्च।'—अर्थात् 'ब्रह्म के दो रूप हैं - मूर्त्त व अमूर्त्त, मर्त्य व अमर्त्य, परिच्छिन्न व व्यापक, सत्य व त्य।' मैत्री ने[42] भी ब्रह्म के शरीरी व अशरीरी, काल व अकाल, स्वर व अस्वर, दो रूपों को देखा था और मुण्डक[43]

[37] ईशोपनिषद् ५ "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥"

[38] कठोपनिषद् २-२१ [39] प्रश्नोपनिषद् २-५

[40] मुण्डकोपनिषद् १-१-६, ७ [41] बृहदारण्यकोपनिषद् २-३-१; ६-३ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च"

[42] मैत्री ६-१५ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्च"; ६-२२ "अथान्यत्राप्युक्तं द्वे वाव ब्रह्मणो अभिध्येये शब्दश्चाशब्दश्च।"

[43] मुण्डकोपनिषद् २-१-२ "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"; २-१-८ "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।"

ब्रह्मज्ञान-ज्ञान में अत्युच्च फहराने लगी और इसके सामने सारी धारणाओं के नतमस्तक होना पड़ा।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की शिक्षा से ब्रह्मविद बनने को लोग लालायित दिखाई पड़ने लगे और अवसर देख ब्रह्मविद्या के प्रति उत्सुकता बढ़ानेवाले वचन ब्रह्मोपदेशकों द्वारा निर्भय कहे जाने लगे। मुण्डक में [25] मिलता है—ओऽम्-रूपी आत्मा का ध्यान अंधकार के पार ले जाने वाला है। कठ में [26] आया है "ब्रह्मप्राप्त विरज और विमृत्यु हो जाता है और आत्मविद् को उसी गति की प्राप्ति होती है।" यदि श्वेताश्वतर ने ब्रह्म को 'निष्कल-निरञ्जन शान्त निरवद्य' बताकर उसकी प्राप्ति से मृत्यु पर विजयी होने की आशा दी तो तैत्तिरीय ने ब्रह्म को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' बतलाया और मुण्डक ने ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म ही बन जाने की प्रतीति दी। आगे बृहदारण्यकने 'अयमात्मा ब्रह्म' कहा और छान्दोग्यने 'तत्त्वमसि' कहकर अपूर्व शिक्षा समुपस्थित की। [26] ये ऐसे वचन थे जिनके ग्रहण का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता था और लोग इस ब्रह्मविद्या की ओर अधिक संख्या में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहते हुए झुके भी। उस आरम्भिक अवस्था में वेदादि ग्रन्थों के स्वाध्याय की प्रधानता भी जाती रही और ईश्वरप्राप्ति का पूर्ण श्रेय ब्रह्मविद्या को ही दिया गया। बृहदारण्यक ने [27] मनन व ध्यान को विशेषता देते कहा—" तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्"

[25] मुण्डकोपनिषद् २-२-६ " ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।" [26] कठोपनिषद् ८-१२

[26] श्वेताश्वतरोप० ६-१९ ; तैत्तिरीयोप० २-१-१ ; मुण्डकोप० ३-२-९; बृहदारण्यकोप० २-५-१९; छान्दोग्योप० ६-८-७

[27] बृहदारण्यकोपनिषद् ३-५-११; ४-४-२१

और बहुत से शब्दों व ग्रन्थों के पारायण की आवश्यकता बतलाई—"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति।" तैत्तिरीय ने ईश्वरानन्द के लिए शब्द व मन को सामर्थ्यरहित समझा और कठोपनिषद् ने आत्मा को वेदाध्ययन बुद्धि व श्रवण से प्राप्य कहा।[३१] इसी प्रकार याज्ञिक विधियों पर भी ब्रह्मोपदेशकों ने ब्रह्मविद्या का आधिपत्य स्थिर करने की चेष्टा की। बृहदारण्यक ने यज्ञों की चुटकियाँ लीं और छान्दोग्य में व्यंगात्मक उल्लेख किए गए।[३२] जहां उदारता दिखलाई गई वहां याज्ञिक कृत्य पितृयान-प्रवेशक कहे गए[३३]। परन्तु ब्रह्मविद्या का प्रचार हो जाने पर जब वेद व यज्ञों के अनुयायी ब्रह्मविदों के भीतर प्रवेश कर गए ब्रह्मोपदेशकों को भाव बदलना पड़ा

---

[३१] तैत्तिरीयोपनिषद् २-४, कठोपनिषद् २-५

[३२] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-१०, ३-९-६ "कतम इन्द्रः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति।" ३-९-२१; "किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति।"

छान्दोग्योपनिषद् १-१२-१ "अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज।" १-१०-१०, ११ "एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति।" "एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रति हरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ... ह समारतास्तूष्णीमासां चक्रिरे।"

[३३] बृहदारण्यकोपनिषद् १-५-१६, छान्दोग्योपनिषद् ५-१०-३; मुण्डकोपनिषद् १-२-१०, ६-२-१६

प्रश्न[14] तथा श्वेताश्वतर[15] ने भी सोचने पर दो रूपों में ब्रह्म को पाया था। निश्चित हो गया कि अनुभव में ब्रह्म के दो रूप आए हैं, पर ब्रह्मवादी ब्रह्म के एक रूप को मानते हुए इतना आगे बढ़ गये थे कि पीछे लौटना प्रिय नहीं हुआ अतः वे भ्रमनाश के लिए वेदों के शरणापन्न हुए क्योंकि उन्हीं के आधार पर वे सोऽहं-विकसित ब्रह्म की सर्वेकता के प्रचार में कटिबद्ध हुए थे।

वेद में 'तं एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की शिक्षा मिली, पर यह रहस्य से भरी थी। खोज जारी रही, अन्त में 'माया' द्वारा एक से बहुत्व की प्रतीति का होना पाया गया जिसका उल्लेख बृहदारण्यक ने[16] ऋग्वेद की एक ऋचा में होना किया। ऋग्वेद की[17] यह ऋचा है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" अर्थात्-'परमात्मा माया के द्वारा बहुरूपवाला प्रतीत होना

[14] प्रश्नोपनिषद् ५-२- "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।"

[15] श्वेताश्वतरोपनिषद् १-१३ "वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥"

[16] बृहदारण्यक २-५-१९ "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।"

[17] ऋग्वेद ६-४७-१८

है।' इस पर मैत्री ने[48] निश्चित किया—"ब्रह्म के दो रूप हैं अवश्य, पर जो अशरीरी है वही सत्य है, जो शरीरी है वह असत्य है।" कठ ने[49] भी कहा—"हाँ, अन्तरात्मा एक ही है उसीसे बहुत्व होता है।" श्वेताश्वतर[50] भी अन्त मे यह कहने में समर्थ हुआ कि संसार मे बहुत्व माया से है, पर बहुत्व का आन्तरिक रूप एक ब्रह्म ही है, वह शक्तिमान् तो माया का भी बनानेवाला है। यहां ब्रह्मवाद में मायावाद के जन्म और विकास पर आयें स्थिर हो गईं और माया की मायाविनी चेष्टाओं से ब्रह्मवादी सन्तान-समाज में कालान्तर में हिन्दी के सन्त-कवि काल तक अनेक लुभावनी लीलाएँ प्रादुर्भूत हुईं, जिन पर विचार करते व्याकुल मन कबीर[51] चिल्लाकर कह उठे—

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥
केशव के कमला ह्वै बैठी शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ मे भइ पानी॥
योगी के योगिनी ह्वै बैठी राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी काहु के कौडी कानी॥
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो यह सब अकथ कहानी॥

---

[48] मैत्री ६-३ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म तज्ज्योतिः स आदित्यः ......"

[49] कठोपनिषद् ५-१२ "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥"

[50] श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-९-१०

[51] पाण्डेय रामावतार शर्मा : रत्नत्रय, कबीर मायावाद

ब्रह्मवाद में मायावाद का समावेश होने पर मुक्ति व ईश्वरप्राप्ति की दशा पर ध्यान देते ब्रह्मवेत्ताओं ने जीवन-मृत्यु-मुक्ति के प्रश्नों का मनुष्य के सोने जागने की चार दशाओं में सुलझाया। दिन के बाद रात और रात पर भोर का क्रम है। मनुष्य दिन को दुनियावी कार्य में लगा रहता है, काम की धुन उसे बेसुध किए रहती है; रात में सूर्यास्तबाद वह विश्राम करता है, उस समय उसे बाहरी कार्य से विश्राम मिलता है। सुषुप्त दशा में स्वप्न-भाव प्रकट होने पर मनुष्य सोया हुआ भी हाथी को अपने पर आक्रमण करते, साँप को काटने दौड़ते, महाजन को तकाज़ा करते, अपने को गढे में गिरते, फसल की कटनी होते, चोरों को घर में चोरी करते आदि प्रतिदिन की घटनाओं को देखने लगता है, उस समय भी दिन की ही विस्मृत दशा के समान उसे हर्ष शोक-खेद-भय होते हैं किन्तु वह सोया हुआ कार्य्य-रहित रहता है। तदनन्तर जब गाढ़ी निद्रा का आगमन होता है न खेद रहता है न चिन्ता, एक निर्विघ्न शान्ति छा जाती है, अलौकिक आनन्द का आधिपत्य हो जाता है। उस दशा से ब्रह्ममुहूर्त में उठने पर आँखें लालिमामयी परम मङ्गल आनन्ददायनी प्राकृतिक आभाओं के बीच से आनेवाले प्रकाश को ओर प्रेम से देखने लगती हैं। यह एक अनिर्वचनीय अवस्था है और इसे ही उपनिषदें ब्रह्ममिलन या मुक्ति की तुरीय दशा बतलाती हैं।* उसके पहले की गाढ़ी निद्रा की दशा के सम्बन्ध में छान्दोग्य

* छान्दोग्योपनिषद् ८-३ "अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति

ने[५३] कहा है—"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मे ति।" स्वप्नवाली सुषुप्ति-दशा पर बृहदारण्यक ने[५४] प्रकाश डाला है—"अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति।" इस दशा का ऐसा काल्पनिक बोध अविद्या के कारण कहा गया। उसके पहले जागता हुआ मनुष्य माया से ग्रस्त रहता है। उस दशा में उसे एक ब्रह्म का ध्यान नहीं रहता और वह ब्रह्म के नानारूपों को देखता हुआ विस्मृत रहता है। मनुष्य के जीवन की तीन दशाएँ भी इसी प्रकार विस्मृत-सुषुप्त जागृत अवस्थाओं से मेल रखती हैं। कुमारावस्था में खिलौने तथा आमोदप्रमोद विस्मृत किए रहते हैं और उस समय जैसे कोई आमोद-मस्त प्रेमोत्पादक पुतुलेय पदार्थों की क्षणभंगुर दशा से अनजान रहता है वैसे ही पुरुष भी विस्मृत दशा में सांसारिक कार्यों

होवाचैश्दमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४॥ तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्मात्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥५॥" कठोपनिषद् ५-१४ "तदेतमिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखं। कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥" तैत्तिरीयोपनिषद् २-४ "यतोवाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति।" मण्डुक्योपनिषद् ११ "सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवती य एवं वेद।"

[५३] छान्दोग्योपनिषद् ८-११-१ [५४] बृहदारण्यकोपनिषद् ४-३-२०

की चिन्ता में ब्रह्म की नित्यता को भूला रहता है, युवावस्था में आराम के लोभ-मोह कमजोरी चिन्ता भयादि पैदा करते हैं और वृद्धावस्था में ब्रह्ममुहूर्त में जागरण से पूर्व की गाढ़ी निद्रा व्याप्त हो जाती है और मृत्यु द्वारा भंग होने पर मनुष्य जाग्रत दशा में ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसी से मृत्यु की व्याख्या सत्य से मिलन का करते हुए छान्दोग्यने[55] कहा है—"प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" और मुण्डक का[56] कहना है कि ब्रह्म मिलन की दशा में सारे बन्धन टूट जाते हैं, माया विनष्ट हो जाती है और कर्म-जीवादि सभी अक्षय ब्रह्म में लय हो जाते, यथा—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

विस्मृत-सुषुप्त जाग्रत दशाओं पर विचार करते समय ब्रह्मवेत्ता शुभाशुभकर्मफलभोग और पूर्वजन्मक्रम के महत्वपूर्ण निर्णयों पर भी पहुँचे। देखा जाता है कि कुकर्मी अपने कुत्सित कर्म के भय का मूलोच्छेद नहीं कर पाता, स्वप्न में भी उसे भय होता है और जाग्रत दशा में भी उसे पूर्णानन्द नहीं मिलता, उसका भय मानो ब्रह्म-निलय के समय भी बना रहता है। सभी बुरे कर्म करनेवालों की यही दशा होती है। इसके प्रतिकूल परोपकारी व शुभकर्मी संतोषपूर्ण और धीर होते हैं; जरावस्था उन्हें ईश्वर के पास पहुंचने की दशा ज्ञात पड़ती है

---

[55] छान्दोग्योपनिषद् ६-८-६   [56] मुण्डकोपनिषद् ३-२-७,८

और जागरण-काल में ब्रह्मनिलय की प्रतिज्ञा से प्रेम तथा आनन्द से करते हैं। इस अन्तर के अनुकूल ब्रह्मवादियों ने शुभकर्म के करने और कुत्सित कर्मों के त्यागने की शिक्षा से ब्रह्मज्ञान को संयुक्त किया। वे कहते कि ज्ञानमय शुभकर्मों के सम्पादन से लगातार मृत्यु की शंका दूर हो जाती है,[५७] लेकिन कुत्सित कर्मों के कारण आवागमन बना रहता है और ऊँचों से नीची योनियों में जाना पड़ता है। बुरे कर्मों से होनेवाले फलों पर विचारने से पूर्वान्तरजन्म का सिद्धान्त निकला और यह सिद्धान्त दोधाराओं में पुष्ट हुआ। ब्रह्म में लीन होने का भाव प्रचलित था, जगत को लोग आत्ममय या ब्रह्ममय मानते थे और संसार की अनेक मूर्त्तियाँ ब्रह्म के ही मूर्त्त रूप थीं; अतः ब्रह्म प्राप्ति का अभिप्राय था जराग्रस्त शरीर त्याग कर ब्रह्म के दूसरे मूर्त्त शरीर में चला जाना। यहाँ कल्पना थी कि भला काम करनेवाला नीच योनि को नहीं जा सकता और बुरे कर्मों में रत भली योनि को नहीं प्राप्त कर सकता। इस तरह एक जन्म से दूसरे जन्म का निष्कर्ष समुपस्थित हुआ, जिसका प्रमाण छान्दोग्य के[५८] इस वचन में मिलता है—"तद् इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वावैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।" ज्ञान व कर्म के अनुकूल पुनर्जन्म का समर्थन इसी तरह कौषीतकी[५९] द्वारा भी होता है। कठोपनिषद्

---

[५७] बृहदारण्यकोपनिषद् १-५-२　[५८] छान्दोग्योपनिषद् ५-१०-७

[५९] कौषीतकी १-२

का[60] भी ऐसा ही मत है और मुण्डक[61] में स्पष्टतः कथन मिलता है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'

'पुनः पूर्वजन्मसिद्धान्त का विकास स्वप्न की दशा से होने का भी उल्लेख कुछ ब्रह्मवेत्ताओं ने किया। उनका कथन था कि स्वप्न में जो ऐसे दृश्य देखे जाते हैं जिनका अनुभव या दर्शन इस जीवन में कभी नहीं हुआ उनका उद्‌गम पूर्वजन्म के अनुभव या दर्शनों में समझना चाहिए। बृहदारण्यक के[62] "तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति। तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति" कथन पर शांकर भाष्य में[63] इसी सिद्धान्त का

[60] कठोपनिषद् ५-७ "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतं॥

[61] मुण्डकोपनिषद् १-२-१८,१९

[62] बृहदारण्यकोपनिषद् ४-३-९

[63] बृहदारण्य० के ४-३-९ पर शांकरभाष्य में—"तत्कथमवगम्यते परलोकस्थानभावितत्पाप्मानन्ददर्शनं स्वप्ने इत्युच्यते—यस्मात् इह जन्मनि अननुभाव्यमपि पश्यति बहु; न च स्वप्नो नाम अपूर्वं दर्शनम्; पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नःप्रायेण; तेन स्वप्नजागरित स्थान व्यतिरेकेण स्तः उभौलोकौ।"

समर्थन किया गया है। गीता में[६४] इसी कल्पना के अनुकूल कहा गया है—"तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानी देही।" जान पड़ता है कि कर्मवाद-विकास से पूर्व ब्रह्मज्ञानियों का लक्ष्य था—'ब्रह्म-प्राप्ति के उपरान्त पुनः शरीर नहीं धारण करना।' तब ब्रह्मोपदेश करते समय वे जीवन के इसी लक्ष्य पर ज़ोर देते समझाते होंगे कि ब्रह्म-ज्ञानी का ब्रह्मलोक से पुनरागमन नहीं होता। उपनिषदों के इसके प्रमाण दिखाई पड़ते हैं। बृहदारण्यक में[६५] कहा है—"तेषां न पुनरावृत्तिः।" प्रश्न में[६६] मिला है—"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मा नमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतम भयमेतत्। परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इति।" कठ में[६७] कथित है—"स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।" छान्दोग्य का[६८] विश्वास है—"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते नाऽऽवर्तन्ते" और श्वेताश्वतर ने[६९] भी कहा है—

"ज्ञात्वा देवं सर्व्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।"

परन्तु कर्मवाद के पश्चात् पहले का भाव बदलने लगा, लोगों के ब्रह्मज्ञान व ब्रह्मलोककी धारणाओं में अन्तर आने लगा। ब्रह्मलोक में निवास का समय शुभ व अशुभ कर्मों के

---

[६४] गीता २-२२ "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।"

[६५] बृहदारण्यकोपनिषद् ६-२-१५। [६६] प्रश्नोपनिषद् १-१०

[६७] कठोपनिषद् ३-८ [६८] छान्दोग्योपनिषद् ४-१५-५

[६९] श्वेताश्वतरोपनिषद् १-११

अनुसार माना जाने लगा और ब्रह्मज्ञान की अग्नि[50] व विद्युत्शक्ति[51] के आगे ब्रह्मज्ञानी के किसी 'गुनाह' में लिप्त नहीं होने का विश्वास भी पनप उठा। अब ब्रह्मज्ञान के कोरे आध्यात्मिक लक्ष्य के साथ लौकिक विजय[52], ब्रह्मज्ञानियों के समादर[53] और आचार-पालन[54] की ओर भी लोगों की दृष्टि दौड़ी, जिसके प्रमाण बृहदारण्यक, मुण्डक और छान्दोग्य में लभ्य हैं। इससे गुरु के सम्मान और आचारपालन की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। यहाँ यह भी जानने योग्य है कि इस विकासकाल तक ब्रह्मज्ञानियों या उनके अनुयायियों में कुछ प्रमाद भी आने लगा था, जिसे प्रदर्शित करते कठने[55] कहा है—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः"। ऐसी दशा में ज्ञानवाद की कुछ न कुछ अवहेलना स्वभाविक ही है। इस भाव का भी

---

[50] बृहदारण्यकोपनिषद् ५-१४-८ "तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्सन्दहत्येव छ हैवैवंविदयपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतसंभवति।"

[51] बृहदारण्यकोपनिषद् ५-७ "विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद् विद्युद् विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म।"

[52] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-१०; मुण्डकोपनिषद् ३-२-१

[53] बृहदारण्यकोपनिषद् १-४-१७; छान्दोग्योपनिषद् १-२-८ "एव यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः"।

[54] कठोपनिषद् २-२४ "नाविरतो दुश्चरिताश्चाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥"

[55] कठोपनिषद् २-२०

धीरे धीरे आरम्भ हुआ ही, जिससे प्रेरित भक्तिमय चुनाव का उल्लेख[७६] कठ और मुण्डक में आया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

प्रमाद का भाव बढ़ता ही गया, क्योंकि कर्म व आचार की गति मनुष्य को सांसारिक कृत्यों की ओर ले जाया करती है और उसकी विद्यमानता ब्रह्मज्ञानियों में भी जोर पकड़ती जा रही थी। जब ब्रह्मज्ञानी धीरे २ सांसारिक कृत्यों की ओर आकर्षित होने लगे तो जन साधारण में तरह २ के तर्क शुरू हुए। सम्भवतः लोग साधारणतया सोचते होंगे कि आचार-पालन के सांसारिक कृत्य तो मनोरथपूर्त्ति के सोपान हैं, पर आत्मानुभव या ब्रह्मप्राप्ति के बाद कोई इच्छा क्यों रहने लगी इसकारण ब्रह्मप्राप्ति के लिए सारी इच्छाएँ त्याग कर एकान्तिक जीवन की आदत ब्रह्मज्ञानियों के लिये आवश्यक है। उपनिषदें ऐसे संकल्पविकल्पों पर आप विचार करती मिलती हैं। बृहदारण्यक में[७७] शंका की जाती है— "किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।" मुण्डक में[७८] इच्छाओं को आवागमनकारिणी बताते कहा जाता है— "कामान्यः कामयते मन्यमानः सकामभिर्जायते तत्र तत्र।" फिर बृहदारण्यक में[७९] भिक्षाचारी के जीवन को मनोरथरहित बताते कहा जाता है— "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।" उधर मैत्री में[८०] ब्रह्म-निलय के निमित्त योग की व्यवस्था मिलती है—

---

[७६] कठोपनिषद् २–२३; मुण्डकोपनिषद् ३–२–३

[७७] बृहदारण्यकोपनिषद् ४–४–१२। [७८] मुण्डकोपनिषद् ३–२–२

[७९] बृहदारण्यकोपनिषद् ४–५ २२ [८०] मैत्री ६–१८

"तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्गा इत्युच्यते योगः। अनेन यदा पश्यन् पश्यति रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं।" और कठोपनिषद् इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग इच्छा-नाश, मन-स्थिरता और बुद्धि-दृढ़ता के समक्ष रखते हुए समझाती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

इस अवस्था के बाद ब्रह्मवाद की उन्नति की क्रम-गति अवरुद्ध हो गई और 'सोऽहं'-जनित आत्मा की विश्वव्याप्ति को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ने यहाँ लाकर ह्रास-मार्गोन्मुख बन अपने रूप को विकृत करना आरम्भ किया। यहाँ से ब्रह्मवाद शनैः २ लौकिक सुखप्राप्ति, आचारपालन, संन्यास, और योगाचार की ओर झुकता गया। ब्रह्मविद्या-प्रचार पर रक्खे गए प्रतिबन्ध और जगत के मिथ्यात्व की शिक्षा से ब्रह्मवाद को लाभ के बदले हानि ही हुई, उसके उलटे फल से तप-साधन ब्रह्म का समकक्ष बनता गया। ऐसी बदलती दशा की ओर संकेत करते मैत्री में कहा भी गया है—"अथान्यत्राप्युक्तमतः परास्य धारणा तालुरसनाग्रनिपीडना-द्वाङ्मनः प्राणनिरोधनाद् ब्रह्म तर्केण पश्यति यदात्मनात्मानमणो-रणीयांसं द्योतमानं मनःक्षयात् पश्यति तदात्मनात्मानं दृष्ट्वा निरात्मा भवती निरात्मकत्वादसङ्ख्योऽयोनिश्चिन्त्यो मोक्ष-लक्षणमित्येतत्परं रहस्यमित्येवं ह्याह।

कठोपनिषद् ६-१० व ११; मैत्री ६-२० में भी उद्धृत है।

मैत्री ६-२०

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभं।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते इति ॥"

आरम्भमें ब्रह्मविद्या की शिक्षा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, बिना किसी विशेष विचार या पाबन्दी के ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञान प्रचार किया करते थे। छान्दोग्य में [83] कथन है—"श्रुत ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति।' इस वचन में किसी कड़े नियम का उल्लेख नहीं मिलता और इसी प्रकार केकयनृप अश्वपति द्वारा प्राचीनशाल-सत्ययज्ञ-पौलुष-इन्द्रद्युम्न-जन-बुडिल उद्दालक नामक छः ब्राह्मणों को निराग्रह ब्रह्मशिक्षा दी जाने का उल्लेख है [84] और बृहदारण्यक में [85] याज्ञवल्क्यने अपनी स्त्री मैत्रेयी को मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी और राजा जनक से [86] कहा--"पितामेऽमन्यत नाऽननुशिष्य हरेतेति।" गार्गी ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मतत्त्व के प्रश्न ब्राह्मण-सभा में किए हैं और वहां एकत्रित सभी स्वतंत्रता से ब्रह्मविद्या का श्रवण करते थे, [87] आर्त्तभाग के सम्बन्ध में इतना अवश्य आया है कि पुनर्जन्म के रहस्य को समझाने के लिए याज्ञवल्क्य ने [88] उससे कहा—'हे आर्त्तभाग चलो, एकान्त में चलकर हम इस जाननेयोग्य तत्त्व पर विचार करेंगे।' किन्तु इससे भी किसी रुकावट का बोध नहीं होता। आगे गुरु की आवश्यकता मानी जाने लगी, जिस सम्बन्ध में छान्दोग्य ने [89] कहा है--"एवमेवेहाऽऽचार्यवान्पुरुषो वेद" और कठ में [90] किसी सुयोग्य आचार्य से ही आत्मज्ञान प्राप्य बतलाया गया है—

---

[83] छान्दोग्योप० ४-९-३ [84] छान्दोग्योप ५-११; [85] बृहदारण्यको प० २-४-४ [86] बृहदारण्यकोप० ४-१-३ [87] बृहदारण्यकोप० ३-८ [88] बृहदारण्यकोप० ३...१२ [89] छान्दग्योप० ६-१४-२ [90] कठोप० २-८

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

समय आया जब ब्रह्मविद्या की शिक्षा ज्येष्ठपुत्र या श्रद्धावान शिष्य को ही देने का नियम बनाया गया, जिसके प्रमाणस्वरूप ऐतरेय आरण्यक में [९१] मिलता है—"अक्षर-रहस्य शिष्य को ही बतलावे, वह शिष्य भी जब स्वयं गुरु बनने की इच्छा से १ वर्ष तक अध्ययन करे।' छान्दोग्य ३-११-५ में पिताद्वारा ज्येष्ठ पुत्र को या विश्वस्त शिष्य को शिक्षा देने का विधान है, जिसके अनुकूल बृहदारण्यक भी कहता है—"तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात्" और श्वेताश्वतर तथा मैत्री में यही नियम स्वीकार किया गया है; [९२] आगे चलकर ब्रह्मविद्यार्थी के लिए कई गुणों की आवश्यकताएँ बतलाई गईं। कठ ने [९३] कहा कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अविरत-दुश्चरित-अशान्त-असमाहित को नहीं हो सकती, बृहदारण्यक ने [९४] इस ज्ञान के साथ शान्ति-दान्ति-उपरत्व-तितिक्षा-सहनशीलता-एकाग्रचित्त को सम्बद्ध किया, मुण्डक ने [९५] विधान किया—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।" व दूसरी जगह 'शिरोव्रत-धारण' कहा, छान्दोग्य ने [९६] आहारशुद्धि तथा सत्त्वशुद्धि का नियम ...। अन्तिम काल में ये नियम अति संकीर्ण कर दिए, नृसिंहतापोपनिषद् ने [९७] स्त्री व शूद्र को ब्रह्मविद्या का

---

[९१] ऐतरेय आरण्यक ३-२-६ ९; ५-३-३-४ [९२] बृहदारण्यकोप० ६-३-१२; श्वेताश्वतरोप० ६-२२; मैत्री ६-२९ [९३] कठोप० २-२४ [९४] बृहदारण्यकोप० ४-४ २३ [९५] मुण्डकोप० १-२-१२; ३-२-२० [९६] छान्दोग्योप० ७-२५-२ [९७] नृसिंहतापोप० १-३,

ज्ञान मना किया और रामतापोपनिषद् ने [98] प्राकृत को इसका पात्र स्वीकार नहीं किया। आगे संकीर्णता और भी बढ़ी और अन्त में ब्रह्मविद्या कोरी शास्त्रविद्या ही रह गई।

ब्रह्मविद्या के आरम्भ मे अविद्या व विद्या का साधारण अर्थ असत्य व सत्य ज्ञान था, पर जैसे २ संकीर्णता की ओर ब्रह्मवेत्ता बढ़ते गए वैसे२ यह भाव भी बदलता गया और अविद्या द्वारा जगत के मिथ्यात्व का अभिप्राय निकाला गया। ऋग्वेद की [99] ऋचा है-"स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश।" इसमे सृष्टिनिर्माता के रूप के आच्छादन के संकेत पर ब्रह्मोपदेशके परब्रह्म की सत्यता, जगत् की असत्यता और ब्रह्म के सत्य स्वरूप पर जगत् की मिथ्या माया के आवरण के भाव की ओर अग्रसर हुए। शतपथ मे [100] भी ब्रह्म के सम्बन्ध में 'पदार्द्ध मच्छन्' पाकर बृहदारण्यक ने [101] कहा - "तदेतदमृत ॐ सत्येनच्छन्न", तैत्तिरीय २-६ में ब्रह्म को सत्य नाम दिया गया है और बृहदारण्यक ने [102] सत्य का अर्थ 'अनुभव का सत्य' किया है और इसी प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ 'सत्यस्य सत्यम्' दिया गया है। बृहदारण्यकने [103] आत्म व सांसारिक पदार्थों की तुलना दुंदुभि-शंख-वीणा व उनके शब्द के साथ की गई है, उसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार शब्द का ग्रहण विना उन वाद्ययंत्रों के या उनके आघात के ग्रहण विना असम्भव है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों मे मूर्त्तमान बहुत्व का वास्तविक बोध आत्म-

---

[98] रामतापोपनिषद् ८४ [99] ऋग्वेद १०-८१-१ [100] शतपथ ब्राह्मण ११-२-२ [101] बृहदारण्यकोप० १-६-३ [102] बृहदारण्यकोप० २-१-० [103] बृहदारण्यकोप० २-४-७ से ९,

ज्ञान के बिना अघटन है। छान्दोग्य ने [१०४] सांसारिक विवर्त्त को वाचारम्भण व नामधेय मात्र और वेदादि के व्यावहारिक ज्ञान को नाम एव कहा। आगे आठवें अध्याय के तीसरे खण्ड में समझाया गया कि सत्य काम भी झूठ के आवरण से आच्छादित हैं, मृत्यु के बाद देही पुनः यहाँ देखा नहीं जाता, मूढ़ नित्य ब्रह्मलोक में रहते भी मिथ्या आवरण के कारण उस सत्य ब्रह्म को नहीं देख पाते और अमृत-सत्य ब्रह्म को जाननेवाले ही स्वर्ग को प्राप्त हुआ करते हैं। बृहदारण्यक ने [१०५] नाम-रूप असत्य-आदि के लिए अविद्या का प्रयोग किया और 'अयमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा-ऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति' कह कर अविद्या में मिथ्यापन का अध्यारोप किया। श्वेताश्वतर ने [१०६] अविद्या को अनित्य और विद्या को नित्य माना और कठ में [१०७] अविद्या प्रेय व विद्या श्रेय कही गई और दोनों के दो भिन्न २ लक्ष्य बतला कर मोहग्रस्त मूढ़ को अविद्या ही प्रिय बतलाई गई, फिर यह भी उक्त हुआ कि अविद्याप्रेमी मूढ़ समझते हैं कि 'अयंलोको नास्ति पर इति।' इस विचार से

---

[१०४] छान्दोग्योप० ६-१-३ से ५; ७-१-२ से ४ [१०५] बृहदारण्यकोप० ४-४-३ [१०६] श्वेताश्वतरोप० ५-१ [१०७] कठोपनिषद् २—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥२॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

इस संसार को अनित्य मोहकारिणी अविद्या का रूप दिया गया। तदुपरान्त मुण्डक, मैत्री और बृहदारण्यक ने आत्मज्ञान की श्रेष्ठता व अविद्याग्रस्त की दुर्गति का वर्णन किया,[108] और ईश ३ ने आत्महन पुरुषों के विषय में राय दी—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृत्ताः।
तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'को स्थायित्व व विशेषत्व प्रदान करने की दृष्टि से ही मायिक संसार का मिथ्यात्व दर्शाया गया, पर कालान्तर में इस का प्रतिकूल फल ब्रह्मवाद पर पड़ा। तप के भाव को दबा कर ध्यान को मान दिया गया था और सोऽहं तथा ब्रह्मवाद में ब्रह्म व जीव में सच्चिदानन्द की धारणा निहित की गई थी, उस धारणा पर तप का पुनराघात आरम्भ हुआ जब अविद्यामय असत्य संसार को लोग मिथ्या मानने लगे। इस विचार से संन्यास-जीवन को ऊँचा स्थान मिलने लगा। तभी छान्दोग्य में[109] यज्ञ का धर्म-स्कन्ध कह कर ब्रह्मस्थ का अमृतत्व बतलाया गया है और अध्याय ४ के १० वें खण्ड मेंब्रह्मचारी को ब्रह्मशिक्षा के आख्यान में तप पर ब्रह्म के प्राबल्य का भाव मिलता है। छान्दोग्य में ही[110] तप के साथ श्रद्धा भी संयुक्त की गई है और बृहदारण्यक में[111] श्रद्धामय तप, यज्ञ और दान से ब्रह्मज्ञान का भेद समझाया गया है। बृहदारण्यक ३-८-१० में कथन है

---

[108] मुण्डकोप० १-२-२ से १०; मैत्री ७-९; बृहदारण्यकोप० ४-४-११ व १२ [109] छान्दोग्योप० २-२३-१ [110] छान्दोग्योप० २-२३-१, ५-१०-१ [111] बृहदारण्यकोप० ४-४-२२, ६-२-१५; अन्यत्र मुंडकोप० १-२-११, प्रश्नोप० १-१०

कि प्रसिद्ध अक्षर को न जानकर सहस्रों वर्षों त
होम व तप का अनुष्ठान करनेवाला अन्तवाला ही होता
और ५-११-१ में आत्म-विचार लीन जीवन की आधिव्याधि
सहन का ही 'परमं तपः' नाम मिलता है। पर ऐसे भाव
अन्तर तैत्तिरीय में दिखाई पड़ता है, शिक्षावल्ली के अध्या
११ में सत्य से तप व स्वाध्याय-प्रवचन संयुक्त किए गए
और केन ३३ में तप का वर्णन ब्रह्मप्रतिष्ठा के अन्तर्गत मिलता है
तैत्तिरीय के भृगुवल्ली अध्याय २ में तप ब्रह्म माना गया औ
श्वेताश्वतर ने पुनः ब्रह्मज्ञान को आत्मविद् व तप प
आश्रित किया। अन्त में मैत्री ने कठिन तप को गौरव प्रदा
किया, जिसके बाद ब्रह्मवाद की विशेषता जाती रही औ
भविष्य में तपश्चर्या के सम्मान व उपदेश के लिए 'स
खल्विदं ब्रह्म' की जगह बनानी पड़ी।

आठवाँ अंश

सम्भवामि युगे युगे

विकट परिस्थिति थी—भारत के प्रसिद्ध पवित्र रण-स्थल कुरुक्षेत्र के मैदान मे एक ओर पाण्डवों की सप्त अक्षौहिणी दूसरी ओर कौरवों की एकादश अक्षौहिणी सेनाएं पिपासाकुल खड्ग को मानवरक्त से शान्त करने को डटी थीं, दोनों ही ओर एक से एक विख्यात वीर नरहत्या को कटिबद्ध थे और 'विना युद्ध सूच्यग्र भर भी भूमि नहीं देने'[1] का हठ-वादी दुर्योधन किसी प्रकार युधिष्ठिर से मेल करनेवाला न था। युद्ध अवश्यम्भावी था। अन्यायी कौरवों पर वीरता का सिक्का जमानेवाले अर्जुन का सारथी नीतिज्ञ कृष्ण थे, मेल के लिए जिनका यत्न व्यर्थ हो चुका था। अर्जुन ने कहा—"सेनयो रुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मे ऽच्युत"[2], ताकि देखलूं—'कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे'[3]—युद्धार्थ कौन कौन प्रस्तुत हैं और किन किन से मुझे संग्राम करना है।

कृष्ण ने रथ बढ़ाया, रथ को उभयपक्ष के सैनिकों के बीच ला खड़ा किया। अर्जुन ने दृष्टि फेरी, विपक्ष मे बाबा भीष्म व

---

[1] महाभारत उद्योग पर्व, अध्याय १२७-२५

" म्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्ध्येदग्रेण केशव॥
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥ "

[2] गीता १-२१ [3] गीता १ २२

गुरु द्रोण को लड़ने को तैयार पाया, उनके साथ अन्यान्य वीर भी दृढ़ थे; अपनी और देखा तो धर्मराज युधिष्ठिर के साथ अपने भाइयों, स्वजनों, और सहायकों को उसी तरह तत्पर देखा। भाव बदलने लगा, वीरता शिथिल हो गई, गाण्डीव स्रंसित हो गया, तरकस के तीर निस्तब्ध हो गए और अर्जुन को राज्यार्थ रण का उत्साह नहीं रह गया। वह सोचने लगा कि इस भयकर युद्ध में उन सबों का नाश ही होगा और यदि स्वजनों के संहार पर राज्य किसी को मिला भी तो उसका क्या मूल्य! यह परिवर्तन चाहे मोह के कारण हो या भय के कारण, पर यह निश्चय है कि अर्जुन का उत्साह उस समय भंग हो गया, अर्जुन का हृदय कहने लगा—'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।'[१] क्योंकि राज्य व विजय के लिए यहां तो उन्हीं आचार्य-मातुल-पुत्र-पौत्रादि सम्बन्धियों का नाश करना पड़ता है जिनके लिए सम्पदा की आवश्यकता होती है; मोह-दशा में अर्जुन ने निर्णय कर लिया-'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।'[२]

कृष्ण ने ऐसी प्रतिकूल प्रवृत्ति पर ध्यान दिया, सोचा और अर्जुन से पूछा-'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'[३] के 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकर' शब्दों का प्रभाव अर्जुन पर नहीं पड़ा, वल्कि अर्जुन का मोह घनीभूत हो गया। अर्जुन ने कहा भी-"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।"[४] कृष्ण के सामने विकट समस्या उपस्थित हुई। युद्ध रुकनेवाला था नहीं पाण्डव भाग भी क्यों न जांय, अर्जुन लड़ने को तैयार न था। अब सारथी कृष्ण को समय के अनुकूल अर्जुन को समझाना पड़ा और तत्काल उनने अर्जुन को गीता का

[१] गीता १-३२ [२] गीता १-३५ [३] गीता २-२ [४] गीता ३-२

–ान देना आरम्भ किया और नाना युक्तियों से कृष्ण ने अर्जुन ो युद्ध मे भाग लेने की आवश्यकता समझाई। उस चेष्टा ा अर्जुन का हृदय-दौर्बल्य दूर हुआ और गाण्डीवधारी ने ृष्णोपदेश के अनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा की[८]—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

ाधारणतया कहा जाता है कि वे ही शिक्षाएँ आज संस्कृत ं श्रीभगवद्गीता या गीता के नाम से लभ्य है—और उसमें ग्रित विषय उत्साहच्युत अर्जुन को युद्धार्थ सन्नद्ध करने नमित्त कृष्ण द्वारा दिए गए उपदेश हैं, पर यह सत्यपूर्ण नहीं ााना जा सकता। गीता के विषयो के स्वरूप को समझने के लिये साधारण विश्वास पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। एत-र्थ हमे गीता के स्वरूप और विषय वर्णन-शैली पर विचार रना चाहिये। जन साधारण का ध्यान ऐसे प्रश्नों की ओर हीं जाना स्वभाविक है, क्योंकि मनन का विषय विद्वानों का ;, जन साधारण किसी निश्चित निष्कर्ष को श्रद्धाभक्ति से वीकार करने मे ही आनन्द पाते हैं।

---

[८] गीता १८७३

[९] "That all these eighteen chapters were repeated before Arjuna in his chariot in the din of the battle appears quite probable to some, but I cannot bring myself to that point of view and think with them that all the *seven hundred* verses of the Gita (including even those that describe the three types of food of XVII 8-10, were repeated before Arjuna there to hearten him up for the struggle." V G Bhat A study of the Bhagwadgita, p 72

गीता को युद्धकाल में प्रकाशित माननेवाले उसकी पहली पंक्ति—'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः' को अपनी कल्पना का स्तम्भ मानते हैं। किन्तु इससे ऐसा निष्कर्ष नहीं निकल सकता, यह पंक्ति यह नहीं सिद्ध करती कि विद्यमान गीता की पंक्तियाँ लड़ाई के मैदान में युद्धार्थ सजीसजाई सेनापंक्तियों की बीच अट्ठारह अध्यायों में विभक्त कर नीतिज्ञ कृष्ण द्वारा अर्जुन को शिक्षारूप में रची गई। सर्व प्रथम तो पाण्डवों के रक्त के प्यासे कौरव रण ठानने को मैदान में आकर कायर अर्जुन को कृष्ण से विस्तृत व्याख्यान पाकर सजग हो जाने के समय की प्रतीक्षा करें—उधर गीता-रचना होती रही यही असम्भव है, यह विश्वास के भीतर आनेवाली बात कदापि नहीं। फिर महाभारत के अध्यायों के अनुकूल गीता में भी १८ अध्यायों की शैली देखकर मानना पड़ता है कि विद्यमान गीता युद्धोपरान्त काल की सोची-विचारी रचना है और ऐसी रचना का कुछ लक्ष्य है। यह धारणा गीता में धृतराष्ट्र और सञ्जय की उपस्थित देख कर और भी दृढ़ हो जाती है। गीता के श्लोक सञ्जय के मुख से निकले हैं। जब अपने प्राणप्रिय पुत्रों की चिन्ता से व्याकुल धृतराष्ट्र ने पूछा—'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय', सञ्जय ने गीता सुनाना आरम्भ किया। यदि इस घोर प्रतीति को भी मान लें कि उधर युद्धक्षेत्र में कृष्ण कह रहे थे इधर सञ्जय समझा रहे थे,[10] तो भी गीताके श्लोक संजय-कथित ही सिद्ध होते हैं कृष्ण-वचन नहीं[11]।

[10] गीता १८-७५ व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यतम परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

[11] गीता १८-७४ इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौ...

अन्तिम अध्याय के श्लोक ७६-७७ में 'राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य' और 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य' पद संजय के कथन काल-सबंध में भी भारी शंका उपस्थित कर देते हैं और प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' का लिखा मिलना भी गीता की रचना-चेष्टा को ही प्रमाणित करते हैं। कृष्ण स्वयं दुर्योधन को पहचानते थे, वैसी दशा में उन्हें प्राचीन आध्यात्मिक विवेचनों की आलोचना का भी समय कहाँ था, वहाँ अर्जुन को मोह होने पर भी उनकी बुद्धिमानी थी कतिपय शब्दों में देशकाल दिखा अर्जुन को भिडा देने में, व्याख्यान का काम शिविर में ही मोह-दुर्बल अर्जुन के सामने सम्भव था। अतः युद्धकाल में सम्बन्धियों के मोह के कारण क्षणिक दौर्बल्य अर्जुन में आ जाना सम्भव है और वही लोक-काल दिखा कृष्ण द्वारा दूर किया गया, पीछे उसी आधार पर किसी विद्वान् दार्शनिक ने पूर्वप्रचलित धारणाओं पर विवेचन करते हुए मानवसमाजहितार्थ कर्मयोग पर गंभीर गवेषणा की और लोकरुचि, शास्त्र, ईश्वरवाद तथा मोक्ष के दृष्टिकोण से निष्काम कर्म की श्रेष्ठता और ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता प्रतिपादित की, क्योंकि संहिताकाल से षड्दर्शनकाल तक स्तुति-कर्म ज्ञान-भक्ति-योग संन्यास पर तरह २ के विचार प्रदर्शित हो चुके थे और समाज की परिस्थिति अन्त में कुछ विकट थी, इन विषयों के नाम पर मिथ्याचार भी धर्म-स्वरूप धारण कर रहा था।

४८ गीता में नरहत्या दोषादोष-निर्णय की चेष्टा नहीं की जाती, आदि से अन्त तक दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों पर गंभीर गवेषणा की जाती है और उसका लक्ष्य मनुष्य को कर्तव्यपरायण बनाना विदित होता है। कुरुक्षेत्र-रूपी मानवधर्मक्षेत्र में

सैनिकों के सदृश जीवनसंग्राम करने में वीरता दिखाना प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है, विश्वव्यवस्था अपनी विचित्र सृष्टि में जन्म मरण के स्वाभाविक नियत नियमों से यह शिक्षा दिया करता है।[12] सृष्टि कार्यशील है, संसार में कर्म प्रतिफल होता रहता है और सारी सांसारिक विभूतियाँ कर्म का ही मुख जोहा करती हैं, कर्म से दूर रहनेवाला निरुत्साह और आलसी अपने जीवन को भी भार स्वरूप पाता है। जिस प्रकार विकास शक्तिरहित बूंदे पृथ्वी पर पड़े जल्दी २ सड़ते हुए मिट्टी में मिला करते हैं उसी प्रकार मोह माया ग्रस्त व कर्म विमुख कायर अकर्मण्यता का शिकार बना सड़ता ही रहता है और वैसों का समुदाय कोई जाति या देश कदापि समुन्नत नहीं हो पाता। संसार एक विशाल युद्धक्षेत्र है और इसकी नीति है विचारशील होकर समुचित रूप में युद्ध करना—वह युद्ध कर्म है, श्रद्धाभक्ति से कर्तव्य का निष्काम पालन है,[13] या यों कहा जाय कि मानव धर्मक्षेत्र का संग्रामस्थल यह संसार

---

[12] गीता ३-५ नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

[13] 'Here on earth, we are soldiers fighting in a foreign land, that understand not the plan of campaign and have no need to understand it, seeing well what is at our hand to be done. Let us do it like soldiers, with submission, with courage, with a heroic joy.' Carlyle: Characteristics, p 38

कर्मप्रधान है और इसमें सुपद कीर्तिमय जीवन के लिए युद्धस्थल के निर्मोह विचारशील मनुष्यों को सैनिकों की भाँति कर्म करना अनिवार्य है। भगवद्गीता का अर्जुन उन कर्मवद्ध विचारवान् मनुष्यों का प्रतिनिधि[14] और उसे कर्मयोग का उपदेश करनेवाले कृष्ण सर्वदर्शन—मूल ब्रह्म हैं,[15] गीता उस ब्रह्म द्वारा मानव कर्मनय की[16] आध्यात्मिक शिक्षा है जिसके उसी प्रसिद्ध पवित्र कुरुक्षेत्र में दिए जाने का उल्लेख किया गया जिस कुरुक्षेत्र में बहुधा-स्वयं देवताओं द्वारा यज्ञ कृत्य सम्पादित किए जाने के प्रमाण मिलते हैं।[17] जान पड़ता है कि इन सभी बातों पर ध्यान रखते आरम्भ में ही रूपक बाँधा गया है—'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।'

---

[14] "Arjuna stands for the average good man Like all good men he knows and fears the power of evil, and longs to conquer it Conscience urges him to his duty, while caution and humanity bid him hesitate till he is sure where duty lies" W Douglas P Hill The Bhagavadgita-introduction, p 33

[15] इसी भाव को दर्शाते कृष्ण ने अपने को ब्रह्म स्थान में रख कर कर्म को अनिवार्य बतलाते कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ गीता ३-२२

[16] "The message of the Gita is a message to the ordinary man" W. Douglas P Hill The Bhagavadgita, introduction p 33

[17] "Kurukshetra, 'the land of the Kurus,' in particular, is regarded as a holy land, in which, as it is frequently put, the gods themselves celebrated their sacrificial feasts" Winternitz A History of Indian Literature Vol I, p 196

यदि वास्तव में कुरुक्षेत्र में गीतोपदेश युद्धारम्भकाल ं किया जाता तो अर्जुन का पहला प्रश्न नरहिंसा पर होता और कृष्ण को हिंसाहिंसा के पाप-पुण्य-रूप पर प्रकाश डालन पड़ता। लेकिन न उस सम्बन्ध का प्रश्न हुआ न उस प विचार किया गया, मानो उसकी आवश्यकता ही नहीं न हिंस वृत्ति का बुराभला बतलाना गीता-गुरु का ध्येय था। मन ने कहा है—'विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन।' किन्तु गीता इस ओर चुप है। कृष्ण अर्जुन के मोह को दूर करने के यह नहीं समझाते कि अर्जुन तुम्हारे प्रिय वृद्धजन, जो स्वभाव से युद्धप्रिय हैं, तुम्हें व तुम्हारे प्रियजनों की हत्या को डटे हैं और यदि तुम हट भी जाते हो तो युद्ध रुकेगा नहीं क्योंकि विपक्षी सजे-सजाए आक्रमण को दौड़े आरहे हैं। कृष्ण युधिष्ठिर आदि के धर्म पर प्रकाश डालते यह भी नहीं कहते कि अन्यायी कौरवों से प्रजा को बचाना युधिष्ठिर का धर्म है और युधिष्ठिर का साथ देना अन्य पाण्डवों का। वे बातें ही गीता में नहीं उठाई जातीं। इसका कारण यही जान पड़ता है कि गीताकार को राजनीतिक प्रश्नों में पड़ना प्रिय नहीं था न उसे हिंसाहिंसा के स्वरूप पर स्पष्टतः विवेचन करना उसका ध्येय था तत्कालिन सामाजिक आध्यात्मिक धारणाओं पर दृष्टिपात कर युगधर्म का निरूपण करना। गीता में समाज के सामने सभी प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का एकमूलक सार, ब्रह्मनिष्ठ निष्काम कर्मयोग को रखते हुए वैसाही युगधर्म वर्णित है, कृष्ण ने विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्म ही को बतलाया भी है—'अध्यात्म विद्या विद्यानाम्।'[१८] जान पड़ना है कि उस समय वेदान्तका प्राबल्य था। औपनिषदिक ब्रह्मवादमें विश्वमत

[१८] गीता १०-३२

आ गई थी,[19] संन्यास व वैराग के भ्रम में लोग अकर्मण्य हो रहे थे[20] और जीवन-सुख के लिए शौर्य-वीर्य द्वारा कर्म-पालन को प्रधानता नहीं दी जाती थी।[21] गीता ने इस पर सभी सम्भव दृष्टिकोणों से विचार किया, शास्त्र-सम्मतियों पर तर्क किया, लौकिक धारणा से जाँच की, और स्वर्गसुख-सोपान को समक्ष समुपस्थित किया।

प्रश्न हो सकता है कि तोभी गीता से अर्जुन की सभी शंकाएँ दूर क्यों नहीं हो गईं और कृष्ण को विश्वरूप की आयोजना क्यों करनी पड़ी?[22] ऐसा तो उचित ही था, आज भी तो यही स्थिति है। गीता के पाठकरनेवाले व गीता को अपना धर्म-ग्रन्थ स्वीकार करनेवाले आत्माअमरवादी पुनर्जन्म-विश्वासी धर्मात्मा विद्वान्-साधुसंत भी आत्मत्याग को तैयार हो मर-कट कर विघ्न-बाधाओं को दूर कर देने की ओर नहीं झुकते, क्योंकि अन्य उपदेशों की भाँति गीता को भी वे कोरा उपदेश ही समझते हैं, किन्तु कृष्ण का विराट्-रूप-प्रदर्शन उन्हें ऐसा नहीं समझने का संकेत है, उस विराट् दर्शन का अनुभव करते गीता की शिक्षाओं की व्यावहारिकता का अनुगमन करना

---

[19] गीता १८-३ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥

[20] गीता ३-४ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

[21] गीता ३-७ यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

[22] गीता ११-९ एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥

चाहिए। गीता के—'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' के निर्यु-क्तिक व्याख्यान पर भी अर्जुन का हृदय विगतसन्देह नहीं था। कृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखलाया, जिस का अनुकरण कर पीछे की रचनाओं में भी कई बार संदेह दूर करने को कृष्ण द्वारा विराट् रूप दिखलाया गया है। गीता का विश्व रूप अर्जुन के चर्मचक्षु द्वारा दृष्ट कृष्ण में सारी भौगोलिक स्थिति नहीं थी, वह इस विराट् विश्व के भीतर ब्रह्मशक्ति सञ्चरण के आत्मानुभव का संकेत था, क्योंकि वस्तुतः ऐसे ही अनुभव से मोह व शंका का समूल नाश होता है, कोरे व्याख्यान-श्रवण से कदापि नहीं। संदेह-शृंगों के बीच स्थित अर्जुन ने जब सारी शिक्षाओं को सुन कर कृष्णप्रदत्त दिव्य चक्षु द्वारा[23] ब्रह्म में ही जगत् को स्थित देखा तो उन्हें ब्रह्म-कृष्ण भी कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र में एक वीर योद्धा के रूप में मानव-प्रतिनिधि के रथचक्र को गतिशील करते दिखाई पड़े।[24] अर्जुन शान्त नहीं रह सका, बोल उठा—"पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।"[25] परमार्थदर्शन में इसी भाव का प्रकाशन करते कहा गया है—

---

[23] गीता ११-८ न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

[24] गीता अ० ३ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४

[25] गीता ११-१५

हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति ॥

ब्रह्मेच्छा के सामने मनुष्य को नतमस्तक हो निर्विकल्प कर्म करना चाहिए[26] और गीता का कर्मयोग उस कर्म पालन में अनुत्तरता की कोई जगह नहीं रखता, वह चाहता है कि कर्म निष्काम हो। निष्काम की विशेषता का भी कारण गीता में स्पष्टतः वर्णित है। कामवासना से जो कर्म किया जाता है उसमें व्यक्तिगत लाभ की मात्रा अत्यधिक रहती है और सामाजिक कल्याण तथा लोकहित की भावना गौण, कभी २ गायब हो जाती है। गीता इसे अकर्म समझती है, उसका सिद्धान्त है कि कर्म अवश्य प्रत्येक व्यक्ति करे पर उसका फल निष्पन्न ब्रह्मकर्मवत् सर्वभूतहितार्थ हो, यह आप होता जायगा यदि मनुष्य में स्वकर्मफलभोग की बलवती लिप्सा नहीं होगी।[27] समाज में वीर धीर विद्वान् धनाढ्य जो भी हों उनका कर्म देववत् सर्वलाभार्थ होना आवश्यक है और इसके निमित्त उन्हें अपने लोभ को छोड़ कर कर्मशील होना चाहिए, जो श्रेष्ठ पुरुष हैं उनका ध्यान सर्वदा

[26] "Man is sent hither not to question but to work, the end of man, it was long ago written, is an action not a thought" Carlyle Characteristics, p 13

[27] "The Gita has really no love for an individualist who seeks the salvation of his own soul, leaving the rest of humanity at the mercy of its suffering and wretchedness. The Gita wants a man to engage himself in moral action for the uplift of the whole of humanity and indeed of all beings in this universe" V G Bhat A study of the Bhagvadgita, p 15

ऐसे ही आचरण पर होना उचित है ताकि वे साधारण जन, जो विशेष चिन्तन करना नहीं चाहते, आसानी से उनका अनुकरण कर सकें। ऋषियों की ब्रह्मप्राप्ति इसी के द्वारा होती है, जिसके सम्बन्ध में गीता ने कहा है—"छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।[२८]" जिस प्रकार यज्ञ को अपने कर्म के फलभोग की इच्छा नहीं रहती और उसके त्याग से औरों का हित होता है उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ श्रेष्ठ पुरुषों के त्यागमय निष्काम आचरण औरों के लिए ही होना चाहिए, सच्चे ब्रह्मविश्वासी आस्तिक ऐसे ही पुरुष होते हैं। कहा है—[२९]

"गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥"

कर्मयोग की ऐसी आवश्यकता गीता में ही प्रथमवार नहीं कही गई, न यह कल्पना ही सत्यमूलक होगी कि गीता से पहले आर्य्य-समाज में कर्म-श्रेष्ठता को लोग नहीं जानते थे। कर्म्म की आवश्यकता मनुष्य प्रतिदिन [३०]मालूम करता आया है, अर्जुन से बहुत पहले भी कर्म होता था। जिसे कृष्ण ने कहा है—'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।' किन्तु सिद्धान्त का पवित्र स्वरूप न सदा एक सा रहता है, न स्थिर होता है। विचार के अनुकूल सामाजिक आचरण भी परिवर्त्तित होता जाता है। गीता के समय में प्राचीन कर्म-सिद्धान्तों में परिवर्त्तन आ गया था और समाज में कुछ नूतन चिन्तन की आवश्यकता थी। इस कारण गीता-गुरु ने प्राचीनतम कर्मनय से विचार करते हुए अपने समय तक के आचार

---

[२८] गीता ५-२५ [२९] गीता ४ २३, २४ [३०] गीता ४-१५

पर मनन किया और ऐसी बडी आलोचना के साथ परम्परागत निश्चित धारणाओं के बाहर की कल्पनाओं पर भी दृष्टि डाली, फलस्वरूप गीता में कुछ नूतनत्व लिए सिद्धान्त दृष्टिगत हुए, यद्यपि कर्म्मपरम्परा की शैली का परित्याग कहीं भी नहीं किया गया[31]। यह साधारण कार्य्य न था, इस चेष्टा में मनस्वी गीता ज्ञानी को गभीर चिन्तन करना पडा और उसने वेद से षड्दर्शन तक के कर्म्मयोग और ईश्वरवाद को बड़ी विज्ञता से तर्क कसौटी पर कसा[32]। जो गीता-

---

[31] 'The Parampara or tradition was held so sacred and commanded by its venerable antiquity such a respect from the people, that at the time of the composition of the Gita, as available to us it was quite necessary for its compiler to make a respectful mention of all the ancient schools of thought and make his work look like being in harmony with them The author of the Gita has clearly performed this task of paying a tribute to all these various systems in courteous enough words without sacrificing his own point of view V G Bhat A study of the Bhagavadgita, p 32

[32] "The poet is determined to appease the orthodox the Veda and its *devas* the Upanisads with the Vedantic theory of Brahman—Atman the *purusa isvara*, samkhya knowledge and Yoga practice—none of these are neglected, liberation is won by work, by knowledge by devotion—by all these three in due proportion, and over all these broods the grace of God that stirs and meets the love of man W Douglas P Hill The Bhagavadgita—introduction p 16.

विद्यार्थी गीताकार के इस अवलम्बन पर ध्यान न दे स्वतन्त्रता से गीता के वर्णन वैचित्र्य को समझना चाहते हैं वे गीता के विशेषात्मक निष्कर्ष को कदापि हृदयंगम नहीं कर सकते, बल्कि ऐसे समझनेवालों ने बार बार भूलें की हैं। हाप्किन्स को गीता में बेमेल अयुक्तिक पुराने दार्शनिक विचार दिखाई पड़े हैं[१] और जर्मन अनुवादक डा० लोरिन्सर को गीता पर बाइबल के न्यू टेस्टामेंट की छाप नजर पर आई है। किन्तु ऐसी धारणाएँ गीता के साथ अपना कोई मूल्य नहीं रखतीं, न वे तथ्यपूर्ण हैं। ऐसी धारणाओं के बुद्धिमोह जनित होने की सम्भावना गीता रचयिता को भी विदित करा देना था और उसने इसीकारण अर्जुन द्वारा कहलाया है[२]—

"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।"

तदुपरान्त गीता में बुद्धिमोह करनेवाले सभी मुख्य विषयों पर विचार किए गए और ज्ञान-योग कर्म भक्ति प्रभृति पर प्रकाश डाला गया। तोभी गीता के विषय वर्णन वैचित्र्य को समझने में वैयक्तिक असमर्थता के कारण गीता की शिक्षाएँ बेमेल नहीं कहीं जा सकतीं। केजलिक[?] के शब्दों में गीता में "बेमेल विचार ही नहीं हैं, बल्कि गीता पूर्वके सभी विचारों का विमर्श है।"[३] गीता में पूर्व की धारणाओं का विश्लेषण बड़ी ही सरस युक्ति से किया गया है, वैदिक मत के कर्मवाद, उपनिषदों के ब्रह्म-ज्ञान द्वारा कर्मकाण्ड की आलोचना

---

१. Hopkins History of Religions, pp 390, 399

२. गीता ३–२

३. Dr A Banerji Sastri The Bhagvadgita, B J R S 1929, March—June

और षड्दर्शनों में कर्म की श्रेष्ठता के साथ गीता के ईश्वरवादलक्षित भक्तिमय कर्मयोग की तुलना करने से गीता-रचयिता की युक्ति विदित हो जाती है। गीताकार ने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है[२६]—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मात् ॐ इत्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

संहिता की स्तुतियों में कामभाव विद्यमान मिलते हैं, अनेक स्तुतियाँ किसी न किसी मनोरथ से की गई हैं, किसी में पुत्र की चाहना है तो किसी में शत्रुनाश की। ऐसी भावनाएँ व्यावहारिक रूप में विकसित हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थ काल में यज्ञ इतना प्रबल हुआ कि सारी सिद्धियों का विधायक यज्ञ ही माना जाने लगा। वैदिक मन्त्रों के सारांश यज्ञ के प्रभुत्व के आगे याज्ञिक काल में निस्तेज सा रहे। याज्ञिक कर्मकाण्ड को इतनी विशेषता मिली कि सांसारिक दुःखनाश का सोपान यज्ञ ही समझा जाने लगा[२७]। 'स्वर्गकामो यजेत' के साथ यज्ञ-

[२६] गीता १७ २३, २४, २५

[२७] "Nothing is more significant for the Brahmanas than the tremendous importance which is ascribed to the sacrifice. The sacrifice is here no longer the means to an end, but it is an aim in itself, indeed, the highest aim of existence. The sacrifice is also a power which overwhelms all, indeed, a creative force of Nature. Therefore the sacri-

वादी 'यजने जातमपूर्वम्' में विश्वास रख स्वर्ग व अमृतत्व की प्राप्ति कर्मकाण्ड द्वारा करने में लीन हुए। तब उन्हें शत्रुओं का भय नहीं रहा, वे खुल कर कहने लग गए 'कि नन अस्मान् कृणवत् अरातिः।' वे ईश्वरवाद के भरोसे नहीं रहे, न किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ईश्वर को प्राप्त करने की आवश्यकता उन्हें रह गई। यज्ञ ने याज्ञिकों को अमर बना दिया, ईश्वर को शान्ति दे याज्ञिकों ने उसे संसार के बाहर बिठा दिया। कर्म में डूब कर कामी बन जाना कर्मकाण्ड के अनर्थ की पराकाष्ठा थी।

ब्रह्मज्ञान के युग में ज्ञान द्वारा कर्मकाण्ड जनित बुराइयां दूर करने की चेष्टा की गई। कामप्रय यज्ञों का विरोध किया जाने लगा। कहा गया—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा', क्योंकि जो ज्ञानहीन मूढ यज्ञरूप कर्म को भला समझते हैं वे जरामरण को ही प्राप्त होते हैं—'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।'[२८] यह भी समझाया गया कि कर्म-फल तो भोगना ही पड़ता है, उससे सहसा निवृत्ति कदापि नहीं होती। कर्मफल के साथ पाप व पुण्य दोनों रहते हैं और उनके अनुकूल कर्मी नीच ऊँच लोकों को प्राप्त हुआ करते हैं। प्रश्नोपनिषद् ने कहा—'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम्।'[२९] सारांश कि कर्म द्वारा जीव बद्ध होता है और मुक्ति के लिये ज्ञान चाहिये—'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते।' अतः मनुष्य को ज्ञान की भारी जरूरत है।

---

fice is identical with Prajapati the creator Winternitz A History of Indian Literature Vol I p 197

[२८] मुण्डकोपनिषद् १-२-७ [२९] प्रश्नोपनिषद् ३ ७

कर्म्मवाद के ही समान ज्ञानवाद भी कर्म्म का विरोध करते २ इतना आगे बढ़ गया कि श्रेयोलाभ का सोपान ज्ञान समझा जाने लगा। समाज के सामने ब्रह्मज्ञान की शिक्षा इस सीमा तक दी गई कि कर्म्म का कुछ भी मान समाज में नहीं रह गया, तब सभी ब्रह्मज्ञानी बनने लग गये। संसार नाशवान और दुःखों का घर समझा जाने लगा, विचारशील त्याग को उत्तम समझ अमरत्व का मार्ग उसे ही मानने लगे। महानारायणोपनिषद् में कहा गया— 'न कर्म्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः।'[४०] ऐसे त्याग-भाव से प्रेरित लोग साधु-संन्यासी के रूप में निश्चिन्त विचरण कर अमृतत्व प्राप्ति को चरितार्थ किया करते थे। इस अमृतत्व में आलसी बने आनन्द पाने की गुञ्जाइस देख अनेक कायर जीव भी संन्यास ले साधु-संघ में शामिल होते गये। साधु-वेश उनके लिये आवश्यक था, पर वेशानुकूल कर्म व हृदय था या नहीं इसे देखने वाला कोई नहीं था। समाज के लिये यह बुराई का मार्ग था। पर इसे रोकने का उपाय ही क्या था जब तक किसी कर्म्म की कसौटी पर संन्यास-योग के नाम पर होते मिथ्याचार[४१] की परख नहीं की जाती? इस कारण शनैः २ पुनः कर्म्मवाद की ओर मननशील पुरुष आकर्षित हुए और उनके द्वारा षड्दर्शनों के आरम्भिक विचार प्रदर्शित किये जाने लगे।

न्याय और वैशेषिक दर्शन एक श्रेणि के हैं, क्योंकि न्याय के बताए पंचावयव-मार्ग से सम्बन्ध रखते हुए वैशेषिक में परमाणुवाद का प्रतिपादन किया। न्याय का मुख्य विषय रहा

---

[४०] महानारायणोपनिषद् १०-५

[४१] गीता ३-६ 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥'

आत्मा शरीर इन्द्रिय मन के पारस्परिक कृत्य की आलोचना करना, तथापि मनुष्य को कर्ममें अवकाश नहीं होने का भी सकेत नहीं किया गया। न्याय ने मनुष्य के कर्मों का फल ईश्वर के हाथों[४३] सौंपते भी मनुष्य और ईश्वर दोनों की कर्म शीलता पर प्रकाश डाला, चाहे वह प्रसगवश ही क्यों न हो। कर्म की ऐसी सदावाहिनी गति का सकेत न्याय सूत्र ४-१ १९ की वृत्ति में 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत्[४४]' अर्थात्, जगत का बनाने वाला ईश्वर घट निर्माता कुम्हार के समान है' कह कर विश्वनाथ ने किया है। कुम्हार का जीवन ही कर्ममय है वह बैठकर कुम्हार शब्द को सार्थक नहीं कर सकता और भरण पोषण के निमित्त कुम्हार को अवश्य अपना कर्म करना पडता है, उधर ससार स्वामी होते भी ईश्वर को वैसे ही जगत बनाने के काम को सम्पादित करना पडता है। यही दशा मानव मात्र की है, काम सबों को कोई न कोई करना ही पडता है। वैशेषिक ने भी न्याय के सदृश तत्त्वज्ञान को माना और उसके साथ ईश्वर-प्रेरणा को भी रक्खा पर कर्मवाद को स्वीकार करने के उपरान्त तत्त्व ज्ञान परमाणुवाद और ईश्वर प्रेरणाके चिन्तन की आवश्यकता हुई। 'सत्ता कर्मत्वसम्बद्धिशिष्टाना लिङ्गम्' और 'प्रयत्नप्रत्युत्पन्न सज्ञा कर्मण' सदृश[४५] स वैशेषिक नाम और कर्म का उल्लेख है और कर्म के अन्तर्गत पृथ्वी आदि सबों को कार्य्य रूप में ग्रहण किया गया है इससे कर्म की सार्वभौमता है

---

[४३] न्यायदर्शनम् ४ १ १९—"ईश्वर कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात।"

[४४] न्याय दर्शन ४ १ २१ सूत्र पर विश्वनाथ-वृत्ति।

[४५] वैशेषिकदर्शनम् २-१ १८ - १ १०

प्रमाणित होती है। तत्त्वज्ञान की आवश्यकता भी इस कर्म-चक्र से विमुक्त होने के लिये ही वैशेषिकों को हुई।

पूर्वमीमांसा में वैशेषिक की भाँति तत्त्वज्ञान के ऊहापोह में कर्मवाद तिमिराच्छन्न नहीं रक्खा गया, मीमांसकों ने कर्मवाद को ही सर्वोपरि बतलाया। सारी सृष्टि को कर्म से ओतप्रोत पाकर मीमांसक कर्मवाद के ही कट्टर अनुयायी बने, उनने वैदिक यज्ञों को अपनी भित्ति बनायी और ज्ञान द्वारा कर्म-विरोध का ज़ोरदार खण्डन आरम्भ किया। उनने घोषणा कर दी—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्।'[४५] उपनिषदों के ज्ञानात्मक वचन इस तरह अर्थवाद के अपवाद से युक्त किए गए। यज्ञ-बल को बतलाने में यज्ञ ब्रह्महत्या से उत्तीर्ण करने वाला कहा गया- यथा "तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्या ᳫ सर्वां ब्रह्महत्यामपजघान सर्वां ह वै पापकृत्या ᳫ सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते।"[४६] 'किमुधूर्त्तिरमृतमर्त्यस्य' कह कर जीवन के अमरत्व का सब्ज़बाग दिखाया गया। समझाया गया कि जीव बराबर ही दुख पाने का उपाय करता है और संसार स्वयं दुःख से भरा है, इसको त्यागने पर सुखमय स्थान पाने की चेष्टा भी अवश्य करनी चाहिए, वह चेष्टा यज्ञ ही है, ऐसे यज्ञ देवताओं से भी अधिक सामर्थ्यवाले हैं। साफ है कि देवताओं के प्रति लोगों की भारी श्रद्धा थी, उससे भी अधिक श्रद्धा यज्ञ में उत्पन्न करने के लिए ही देवता गौण किए गए, उनके स्वतंत्र अस्तित्व को हटा कर यज्ञ-मंत्रों को मान दिया गया। 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवत् भोजना

---

[४५] जैमिनि : पूर्वमीमांसासूत्र १-२-१ [४६] शतपथब्रा० १३-५-४-१

[१७] कहकर देवता का प्रयोजकत्व मिटा दिया गया। यज्ञ-फल द्वारा स्वर्गप्राप्ति का विश्वास दिलाने का भी पूरा यत्न किया गया और स्वर्ग का सुन्दर वर्णन कर यह सभी सुखों का धाम कहा गया, यथा—

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥"

सांख्य और योग ने भी कर्म की प्रधानता स्वीकार की, सांख्य के मूलतत्त्व पुरुष और प्रकृति में प्रकृति कर्म्मशील कही गई और प्रकृति का स्वभाव अवस्थान्तरगत परिणाम माना गया, पर अवस्थान्तर कर्म्म द्वारा ही सम्भव है। पुरुष ऐसी प्रकृति से कहीं बाहर बैठा व्यक्ति नहीं है, प्रकृति के अवस्थान्तर में उस का भी संयोग रहता है, इसी से कहा है—'तत्कृतः सर्गः'। योग ने सांख्य की प्रकृति को माना और योग को मुक्ति-सोपान समझाने के पहले कर्म्म व उसके फल को समझाया। योगदर्शन ने भी जगत् में कर्म्म का तारतम्य अवलोका और कर्म्मफलेच्छा को ही सांसारिक क्लेश का कारण पाया, तदनन्तर 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' चित्तवृत्तिनिरोध की शिक्षा दी।[१८]

वेदान्तदर्शन द्वारा यद्यपि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' की विशेषता दी गई, तथापि कर्म्म पर चिन्तन मूल में रहा ही क्योंकि संसार-सागर में डुबकियाँ खानेवाले जीव का कर्म्मबंधन से ही उद्धार करने का लक्ष्य वेदान्त का रहा। सर्वकर्मा ब्रह्म पर शङ्कराचार्य ने विचार किया और उसे निर्गुण मानने पर भी ब्रह्म की मायाशक्ति के

[१७] शांकरभाष्यम् मीमांसादर्शनम् ९-१-६ [१८] योगदर्शन १-१२

की अघटन-घटन-पटीयसी सत्ता में जगत् को सत्य कहे बिना भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। आगे चल कर रामानुजाचार्य ने निर्गुण ब्रह्म के पक्ष की कठिनाइयों को साक्षात् पाया और उनने जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय को ब्रह्म द्वारा ही सम्पादित होते देख सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया। रामानुज ने भोक्ता-भोग्य नियामक रूप चित् अचित्-ईश्वर भेद को मान कर पुनः कर्म्म पर चिन्तन का अवसर वेदान्त के भीतर उपस्थित किया। कार्य्यशीलता की उपेक्षा करने पर ईश्वर-चिन्तन की आवश्यकता भी व्यावहारिक जगत में नहीं रह जाती थी। 'कार्य्यमपि सर्वं ब्रह्मैव इति'[४९] कह कर रामानुज ने वेदान्त के भीतर मिथ्या जगत् के कर्म्मवाद को पुनः चिन्तन का विषय बनाया और परब्रह्म से उसके कार्य्य जगत् की भिन्नता का खण्डन किया।[५०]

एवं प्रकार षड्दर्शनों में कर्म्म पर विचार होता रहा, पर उपनिषद् के ज्ञानवाद के तारतम्य में कर्म्म से मुक्त होने के उपायों पर ही दार्शनिकों का विशेष ध्यान रहा। सबों ने स्वीकार किया कि कर्म्म की गति अगाध है, किन्तु जीवन का लक्ष्य भी कर्म्म-बंधन से मुक्त होने की ओर ही होना चाहिये; कर्म्म जन्म-मरण-क्लेश को पैदा कर जीव को बंधनग्रस्त बनाता है, इस कारण कर्मरहित होने के उपाय ग्रहण करना मनुष्य के लिए उचित है। मनन जारी होने पर नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्यिक, योगिक और वेदान्तियों ने अपने२विचार प्रकट किए। नैयायिक और वैशेषिकों ने केवल तत्त्वज्ञान की साधारण दशा को दर्शाया—अर्थात् तत्त्वों के ज्ञान के साथ

[४९] सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन

[५०] २-१-२३ ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य

कर्म-सम्पादन की सम्मति दी, पर मीमांसकों को उतने में ही संतोष नहीं हुआ, उनने 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' का समर्थन करते हुए वैदिक यज्ञ का आधार ले कर्मवाद को ही मोक्षदायी बतलाया। ज्ञानवादी सांख्यिकों के विकसित विचार को कर्म का ऐसा स्वरूप अनुचित जँचा. वहाँ प्रकृति पुरुष का पार्थक्य ज्ञान ही विचार का विषय रहा। योगविदों ने सांख्य के ऐसे निर्णय को स्वीकार किया, किन्तु प्रसिद्ध ईश्वर को भी व्यवहार में लाकर साथ ही उनने कर्म संन्यास द्वारा ही पार्थक्य ज्ञान को सम्भव कहा। उनका कर्मसन्यास भाव बढ़ते बढ़ते इस अवस्था को आ पहुँचा कि वे सांसारिक कर्मों से विलग होने को खुलकर प्रोत्साहित करते लग गए, 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' उनकी नीति बन गई। वेदान्तियों ने आरंभ में मीमांसकों के जवाब ज्ञानकाण्ड को अत्यन्त बल दिया और वे कर्मसंन्यास से सहमत हुए, उनने ब्रह्म को मिथ्या जगत् से बाहर निर्गुण रूप से समझा. संन्यास की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इस तरह समाज घोर विरोधात्मक विचारों का घर बन गया और तरह २ के विरोधी विचार समाज को उच्छृंखलता की ओर ले जाने लगे। ऐसी दशा में वैदिक धारणाओं के तारतम्य की छीछालेदर धार्मिक संसार में आरम्भ हो गई।

ऐसी ही अवस्था में गीता में कृष्ण ने 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' पर पार्थ से कहा—"हे धर्मभूमि भारत के वीर पुरुष अर्जुन! जब २ वेद विहित प्रवृत्ति-निवृति लक्षणमय धर्म की हानि होने लगती है, तब तब अपने ब्रह्मरूप के अनुप्रवेश द्वारा वेदनिषिद्ध अधर्माभ्युत्थान को रोकने की आवश्यकता हो जाती है और जीव-सदृश

रा अवतरण काल-नियम नहीं होने भी दुष्कर्म को दूर कर ाधु-परित्राण द्वारा वैदिक धर्म की रक्षा को मैं हर युग ं प्रस्तुत हो जाता हूँ।"[53] विदित है कि गीता में कृष्ण के म सिद्धान्त की पूर्ति की गई और जितने कर्म-दुष्कर्म सम्बन्धी वेचार थे उन सबों का समन्वय वैदिक-सिद्धान्त-परम्परा मे ीताकार ने किया और ब्रह्मावलम्बित कर्मवाद-परम्परा को यान में रखते हुए कर्म करने की राय दी। यहीं[54] कृष्ण ने र्जुन से कहा है—

"एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥"

कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग के स्वरूप को समझाने के पहले ब्रह्म या ईश्वर में अटल विश्वास रखने को कहा क्योंकि कर्म उसी ईश्वर के नियम हैं और वे ईश्वर के ही अलौकिक जन्मकर्म रूप हैं।[55] रागभयक्रोध से रहित हो ज्ञान भक्ति से ईश्वरोन्मुख होने से ही ईश्वर में विश्वास होता है। पश्चात् कृष्ण ने कर्माकर्म का विवेचन आरम्भ किया और इस क्रम मे नैयायिक मीमांसक-सांख्यिक वेदान्ती-आदि

---

[53] गीता ४-३,८, श्लोक ७ पर ब्रह्मानन्दगिरि का भाष्य है—"न जीवस्येव ममावतारे कालनियमोऽस्ति, किं तु यदा यदा धर्मस्य वेदविहितस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य ग्लानिर्हानिर्भवति, यदायदा च अधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य अभ्युत्थानमुद्भवो भवति, तदा आत्मानं देहं सृज्याम्हमेव स्वेच्छया। न तु कर्मगस्तत्र कारणत्वेनानुप्रवेशोऽस्तीत्यर्थः।" पृ० २१५

[54] गीता ४-१५।

[55] गीता ५-९ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

कर्मकाण्ड-वादियों के मतों की आलोचना आरम्भ की, किन्तु इस आलोचना में विरोधात्मक भाव प्रदर्शित नहीं किया गया। प्रचलित विचारों का हृदयहीन खण्डन न कर गीता ने उन्हें स्वीकार किया, पर उनमें कुछ योग वियोग कर और वेदों के प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्गों का भी अनुसरण सावधानी से किया गया। ज्ञान और कर्म दोनों को समान ले चलने की चेष्टा को कृष्ण ने व्यक्त भी बड़े ही सुन्दर ढंग से किया[*]—

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

'पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः' कृत कर्म की आलोचना को कृष्ण ने वेद से ही आरम्भ किया। वेद वचन है 'तं एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' उस एक ईश्वर को विचारशील भिन्न भिन्न तरह से कहा करते हैं। इसके अनुकूल गीता ने समन्वयात्मिका बुद्धि का अवलम्बन किया क्योंकि रुचिवैचित्र्य के अनुकूल भिन्न विचारों के भीतर भी सत्य अवश्य रहता है। गीता में सर्व प्रथम एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई, पुनः उसका बहुत्व माना गया और 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' 'स ईक्षत' 'स ईक्षां चक्रे' आदि वचनों के अनुकूल प्रकृति के गर्भधारण का वर्णन करते हुए गीता में ब्रह्म की सर्वव्यापकता भी बतलाई गई[**]—

"सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मनुष्यरूप में ईश्वर की अलौकिकता का अनुभव किया गया था और पुरुष को ईशान कह

[*] गीता ४-१९ [**] छा० ६-२-३, प्रश्न० १-१-१ ऐत० ६-२०, गीता १४-४

कर उसमें अमरत्व पाया गया था।[56] बृहदारण्यक में यह ईशान एवं आत्मा के अर्थ में व्यवहृत हुआ,[57] पर श्वेताश्वतर में ईश्वर पर्याय ही रहा। गीता में कृष्ण ने आत्मा को दृढ़तापूर्वक अमर बतलाया और परमात्मा को दिव्य दृष्टि द्वारा दर्शनीय कहा। ईश्वर की मायात्मिका शक्ति के वर्णन में भी गीता को मायिक इन्द्र का स्मरण रहा, जिस सम्बन्ध में ऋग्वेद की ऋचा है —[58] "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" इसी कारण कृष्ण ने माया को प्रकृति या अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया, किन्तु अज अव्यय भूतपति ईश्वर की शक्ति के अन्तर्गत रखते कहा—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।'[59] किन्तु आकांक्षामय वेदस्तुतियों को गीता ने मोक्ष-बाधक पाकर उनकी फलेच्छाओं के त्याग का उपदेश कृष्ण को दिया क्योंकि वे स्तुतियाँ लौकिक भोगैश्वर्य की विधियाँ होने के कारण जन्मकर्मप्रदा हैं और प्रवृत्तिमार्ग की व्यवसायात्मिका बुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं। निवृत्तिमार्ग निस्त्रैगुण्य होता है, जिसके निमित्त 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्'[60] होना आवश्यक है, अतः अर्जुन को कृष्ण ने कहा — 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' एवं प्रकार न्याय और वैशेषिक के तत्त्वज्ञान के साथ ईश्वर का सम्बन्ध कर

---

[56] ऋग्वेद १०-९०-२ "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्य। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥"

[57] बृहदारण्यक ४-४-२२ "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः..."

[58] ऋग्वेद ६-४७-१८ [59] गीता ४-६ [60] गीता २-४२ से ४५ तक

ता ने वैदिक ईश्वरवाद को प्रधानता दी। 'समूमि विश्वतो त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम'[६७] को ध्यान में रखते हुए गीताकार ने ब्रह्मज्ञान को ईश्वर पर पूर्णतः अवलम्बित किया और ईश्वरवाद को प्रधानता देते हुए अन्य दर्शनों पर भी प्रकाश डाला।

ब्रह्म में श्रद्धा की आवश्यकता समझा लेने पर इसका ध्यान मीमांसकों की ओर गया। मीमांसक भी कर्मवादी ही थे और वैदिक कर्मकाण्ड को मानते थे। गीता वेदों के प्रतिकूल जाने का सामर्थ्य नहीं रखती थी। उसने वैदिक यज्ञ को स्वीकार किया क्योंकि उससे लोकोपकार होता था[६८] और इसका जन्म वेदों से था—'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।' कर्मकाण्ड को भी गीता ने उत्तम बताया क्योंकि 'कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम'[६९] और यज्ञ की प्रतिष्ठा में यहां तक कहा—[७०] 'नाय लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम।' यहांतक मीमांसक से गीताकार सहमत हुए, प कर्मकाण्ड को विशेषता देने में ईश्वरत्व का भी जो ह्रास पू मीमांसा व मीमांसकों द्वारा हुआ था उसे गीता ने पसन्द न किया, उसने भोगैश्वर्य के लिए स्वार्थपरायण यज्ञों को त्या बतलाया,[७१] ऐसे भाव से कर्मकाण्ड-रत कर्मों का फ अल्पकालभावी कहा,[७२] यज्ञार्थरहित व सकाम कर्म-बन्धन कारण समझाया[७३] और देवता की प्रसन्नता के लिए सब

---

[६७] ऋग्वेद १०।८१।१। [६८] गीता ३।१४; ४।३२ [६९] गीता ३ [७०] गीता ४।३१ [७१] गीता २।४२ से ४४ तक [७२] गीता ९।२०, [७३] गीता ३।९—यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। ३-१० से १२ तक

कर्मों को भी बुरा माना। [६८] सकाम यज्ञ व कर्म को त्याज्य समझाते हुए कृष्ण ने कहा [६९]--'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय' अर्थात् फलासक्तिभावशून्य हर्ष-विषाद में समत्व रखते हुए कर्म करो। समत्व बुद्धि द्वारा कर्म-कौशल्य प्राप्त करना ही योग है [७०] यह योग स्थितप्रज्ञ बना संयमी व निष्काम बनाता है।' कर्म में योग-निरूपण की सम्भावना को भी कृष्ण ने ब्रह्मा के सृष्टिरचना-कर्म में प्रदर्शित करते हुए समझाया कि सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा विश्वसृजन करता हुआ भी अपने कर्मों में ही लिप्त नहीं हो जाता, वह पूर्ववत् अव्यय रहता है; [७१] इस कारण ज्ञानावस्थितचेत मनुष्य को भी ब्रह्म के कर्माचरण को आदर्श रखते हुए कर्मफल रहित होना ब्रह्मकर्म-समाधि को प्राप्त करना चाहिए, [७२] ऐसी दशा के कर्मों का अन्त भी उसी ज्ञान में होता है जिसके सम्बन्ध में कथन है--' ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।' [७३] जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञानप्रकाश में ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त पाते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्म करने वालों को भी कर्मस्वरूप में ईश्वर को सर्वव्यापी जानना चाहिए, तभी कोई कर्म-फलेच्छा पर संयम प्राप्त कर कर्म-योगी बन सकता है। इसी से कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का मूलमंत्र सिखलाया--[७४]

> "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥"

---

[६८] गीता ९-६,७,२५; ७-२३ [६९] गीता २-४८ [७०] गीता २-५०
[७१] गीता ४-१३,१४ [७२] गीता ४-२३,२४
[७३] "गीता ४-३३" श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः।
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥"
[७४] गीता २-४७

कर्म्मयोग की शिक्षा आरम्भ करने पर गीताकार को सांख्य-योग पर विचार करना आवश्यक हो गया और जान पड़ता है कि उस समय सांख्यिकों का बाहुल्य था,[58] क्योंकि गीता के विशेषांश पर सांख्य की छाप है और मुख्य विषयों का प्रतिपादन सांख्यमतानुकूल ही किया गया है, पर गीताकार ने वैदिक विश्वास को मूल ईश्वरवाद को नहीं छोड़ा है। योगदर्शन के आत्मसंयम को कर्म्म के साथ मिला कर मिथ्याचार व कर्म्मसंन्यास-पराकाष्ठा का सम्यक् विरोध करने के उपरान्त सांख्य और योग पर मिश्रित विवेचना करते कृष्ण ने सांख्य-योग को अन्योन्याश्रित[59] स्वीकार किया, समझाया[60]—

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

सांख्य के चिन्तन का विषय है जीव-जगत् के आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों से रहित होने का उपाय[61], वह उपाय सांख्यमतानुसार है—'ज्ञान'।[62] पर ज्ञान किसका?—सांख्यिक

---

[58] "It is probable that at the time when the Bhagavad gita was being composed Samkhya notions were afloat." V. Douglas P. Hill: Bhagavad gita-introduction, p. 28.

[59] गीता ३-३ 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।'

[60] गीता ५-४,५ [61] "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" सांख्यदर्शन १-१ जीवानन्द सं०

[62] "ज्ञानान्मुक्तिः" सांख्यदर्शन ३-२३, जीवानन्द सं० पृ० १४२

कहते हैं—'प्रकृति-पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान'[८०]। वे प्रकृति और पुरुष दोनों को ध्रुव नित्य व सद् मानते हैं और प्रकृति को जड़-परिणामी-गुणमयी-दृश्य-भोग्या, तथा पुरुष को चेतन-निर्विकार-निर्गुण-द्रष्टा-भोक्ता-विषयी-अकर्ता-उदासीन-साक्षीमात्र स्वीकार करते हैं[८१]। पुरुष के सम्बन्ध में सांख्यमत यह भी है कि पुरुष बहुत हैं[८२], प्रत्येक पुरुष विश्वव्यापी है। योग-प्रणेता पतञ्जलि इसका अनुमोदन करते हैं, किन्तु वह ईश्वर को भी विशेषरूप से मानते हैं यद्यपि कहींभी सांख्य के भीतर ईश्वर नाम से ऐसा कोई स्पष्ट विवेचन लभ्य नहीं है। सांख्ययोग के इन मुख्य सिद्धान्तों को गीता स्वीकार करती है। संसार को क्षणभंगुर[८३] तथा दुःखों का घर[८४] मान कर इससे उद्धारकेमार्ग पर गीता ने भी विचार किया है, पर विचार में भिन्नता है। गीता सांख्य की नाई ज्ञान को और योग कीभाँति ज्ञान व ईश्वर को मोक्ष का देनेवाला स्वीकार कर लेती है, लेकिन उनके अलावे भी कुछ मान कर। इस कारण गीता के मुक्तिसोपान की तीन सीढ़ियाँ हैं—सर्वोच्च ईश्वर, मध्यम कर्म्म, तीसरा ज्ञान; तद्-

---

[८०] "तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्" सांख्यकारिका २

[८१] ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका १०, ११, १९

[८२] सांख्यदर्शनम् १ १४९ "जन्मादिव्यवस्थातः" जीवानन्द सं० पृ० १०२; "पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः" ६-४५ पृ० २३४; "पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥" सांख्यकारिका १८

[८३] "मृत्युसंसारवर्त्मनि" ९-३; "अनित्यमसुखंलोक" "मृत्युसंसारसागरात्" १२ ७

[८४] "पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्" ८-१५; "जन्म[मृत्युजराव्या]धिदुःखदोषानुदर्शनम्" १३-८

नुकूल मुमुक्षु को ज्ञानदृष्टि से कर्म करते हुए कर्म-फल को सभक्ति ईश्वरार्पण कर देना गीता का ब्रह्मविशिष्ट कर्मयोग है[८४]। यही कारण है कि कृष्ण ने ब्रह्मनिष्ठा और कर्म-पालन की आवश्यकता के साथ ज्ञान की भी प्रशंसा की। उनने अर्जुन से कहा-'सभी कर्म ज्ञान को ही प्राप्त होते हैं'[८५] सर्वकर्मफलभूत ज्ञान का उपदेश प्रणिपात-परिप्रश्न-सेवा द्वारा तत्वदर्शी ज्ञानियों से लेना चाहिये[८६], ज्ञानाग्नि सभी कर्मों के पाप-पुण्य को भस्मसात् कर देती है[८७], ज्ञान पवित्र कर्मपापशोधक है[८८] और श्रद्धावान् व संयतेन्द्रिय ज्ञान पाकर परमशान्ति को प्राप्त होते हैं।[८९] किन्तु गीता के ज्ञान का प्रयोजन उस तत्त्वज्ञान में है जिसके द्वारा जीव सबों को अपने में तथा ईश्वर में देख सके[९०], जो ईश्वर के सर्वात्मकत्व विश्वतोमुख दर्शन को कराने में समर्थ हो[९१] और जो सर्वव्यापी ईश्वर की अव्यभिचारिणी शुद्ध भक्ति[९२]

---

[८४] गीता १३-२७, २८, २९

[८५] गीता ४-३३ "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥"

[८६] गीता ४-३४ "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन.॥"

[८७] गीता ४-३७ "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥"

[८८] गीता ४-३८ "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

[८९] गीता ४-३९ "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

[९०] गीता ४-३५ "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥"

[९१] गीता ९-१५ "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥"

[९२] गीता १३-१० "मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥"

हृदय में उत्पन्न करा सके। फिर प्रकृति पुरुष के स्वरूप को भी गीता ने क्षेत्र क्षेत्रज्ञ[९४] तथा प्रकृति जीव[९५] के अन्तर्गत मान लिया है व प्रकृति के प्रसवधर्मी विशेषण का ज़ोरदार समर्थन किया है।[९६] सांख्य के पुरुष के सम्बन्ध की शंका को दूर करने के निमित्त गीता 'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष पर.'[९७] 'उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत'[९८] और 'द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षर एव च'[९९] वचनों मे पुरुष के दो भेदों को प्रकट किया है। गीता ने साफ शब्दों में परमात्मा की स्वतन्त्रता और प्रकृति की परतन्त्रता का प्रतिपादन किया है, इसका पुरुष सांख्य पुरुष की नाईं एकदम निष्क्रिय उदासीन नहीं है न प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम है[१००], बल्कि पुरुष के अधिष्ठान से प्रकृति चराचरमय जगत् का विपरिवर्तन करती है।[१०१]

वेदान्त द्वारा प्रचारित एक ब्रह्म[१०२] की सत्ता पर भी गीता ने उसी विनम्र भाव से विवेचन किया जिस भाव से अन्य

---

[९४] गीता क छठ अध्याय १३ म इसी का विशेष वर्णन ह।

[९५] गीता १३ २३ "य एव वेत्तिपुरुष प्रकृतिच गुणे सह।"

[९६] गीता अध्याय ७ के ४ ६ और अध्याय १४ के ३ ४ श्लोक देखें।

[९७] गीता १३–२२ [९८] गीता १५–१७ [९९] गीता १५–१६

[१००] गीता ९–८ "प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन पुन।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवश प्रकृतेर्वशात् ॥"
४ से ७ श्लोक भी इसी सम्बन्ध के हैं।

[१०१] गीता ९–१० 'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥"

[१०२] "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ऐतरेय १–१

दर्शन-सिद्धान्तों पर, गीता-रचयिता को वेदान्त के 'एकमेवाद्वितीयम्'[103]-सिद्धान्त पर विचार करना अनिवार्य था जब कर्मयोग की आवश्यकता प्रतिपादित की जा रही थी, क्योंकि वेदान्ती कर्मवाद पर ज्ञानवाद को प्रबल करना चाहते थे और उनके ब्रह्मवाद के आगे कर्मों को कौन कहे कि जगत का ही स्थित्व कुछ नहीं था। वेदान्ती जगत को असत्य, काल्पनिक, विजृम्भणमात्र, सूर्यरश्मि में जलवत्, सीप में चाँदी की भाँति और रज्जु में सर्पभ्रान्तिवत् मिथ्या कहा करते थे।[104] गीताकार ने ब्रह्म की एकता को स्वीकार किया और उसीसे सारे जगत का प्रवर्तन बतलाया—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'[105] किन्तु सारे जगत-विस्तार के भीतर ब्रह्म को ही बीजरूप में कहा यद्यपि ब्रह्म कर्मफल से संयुक्त नहीं होता। कहा गया—'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'[106] और 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।'[107] कृष्ण ने 'व्यक्तमध्यानि'[108] के अलावे जगत में ईश्वरी कर्म की सर्वव्यापकता को भी स्थिर किया—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।'[109] परन्तु गीता भर में कोई भी जगत के मिथ्यात्व का उपदेश नहीं मिलता, बल्कि सांख्यवादियों के 'नासदुत्पद्यते

[103]"सदेव सौम्य इदमग्र आसीत। एकमेवाद्वितीयम्।" छान्दोग्य-६-२-१

[104] योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्र० ४४-२५ "स्वप्नेजाग्रदसद्रूपः स्वप्नो। मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माप्यसन्मयम्।

[105]गीता १०-८ [106] गीता ७-१० [107] गीता ९-१८

[108] गीता २-२८"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥"

[109] गीता ९-४

न सद् विनश्यति' के अनुकूल 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'[११०] कह कर जगत् के मिथ्यात्व-धारणा के मूल पर भी आघात किया गया है। पीछे यह तर्क वेदान्तियों में भी बहुतों को अच्छा व सुन्दर जँचा और विशिष्टाद्वैतमत में जगत् ब्रह्माधीन ब्रह्म-प्रकार रूप मिथ्या नहीं सत्य माना गया। बाद् रायद्वारा भी यही स्वीकृत पाया जाता है।[१११] 'भावेचोपलब्धेः। न भावो व नुपलब्धेः।' और ब्रह्म को सर्वगत[११२] मानते हुए कोई वेदान्ती जगत् को किसी युक्ति से अलीक सिद्ध भी नहीं कर सकता।

वेदान्त का दूसरा मुख्य विषय जीव और ब्रह्म की अभिन्नता है।[११३] कथन है-'जीवो ब्रह्मैव नापरः' और वह जीव नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त-सत्यस्वभाव है, वही ब्रह्म है;[११४] जीव-ब्रह्म में जो भेद दिखाई देता है वह माया के कारण वैसा प्रतीत होता है,[११५] ब्रह्म ही कोषोपाधि विवक्षा से जीव कहलाता है[११६], अतः जीव भी ब्रह्म-लक्षण-समन्वित सच्चिदानन्द है।

---

[११०] गीता २-१६　　[१११] सूत्र २-१-१५; २-२-३०

[११२] "अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्य." बादरायण-सूत्र ३-२-३७

[११३] आत्मैवेदं सर्वम्।' छान्दोग्य ७-२५-२

[११४] "स एवेदं सर्वम्..। आत्मैवाधस्ताद् आत्मा पश्चाद् आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणत आत्मा उत्तरत आत्मवेदं सर्वम्।" छान्दोग्य ७-२५-१, २

[११५] नेह नानास्ति किञ्चन।" बृहदारण्यक ४-४-१९; "मायया भिद्यते ह्येतत् न तथाजं कथञ्चन।" माण्डूक्य का० ३-१९

[११६] "कोषोपाधि विवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्। पञ्चदशी ३-४।" इससे शंकराचार्य्य सहमत नहीं है, और बादरायण को भी वैसा ही मानते हैं।

नोमी अविद्या के कारण जीव उपाधि-धर्म्म से संक्रामित हो संसार-सागर-तरङ्गों में दुःखी होता रहता है और अज्ञानांध पुरुष जीव-लक्षण को ठीक २ नहीं समझ मन के धर्मों को भी आत्मा में ही संयुक्त कर डालते हैं[११५]। संक्रामित जीव ब्रह्म निष्ठ सद्गुरु के ज्ञान से 'तत्त्वमसि, सोऽहं' और 'अयमात्मा ब्रह्म' को अनुभव कर शोकमोह रहित ब्रह्म-महिमा को प्राप्त कर लेता है। जिस ब्रह्म की महिमा को जीव प्राप्त करता है वह ब्रह्म अस्थूल, असूक्ष्म, अह्रस्व, अदीर्घ, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्रक, अवर्ण, अनवयव अव्यवहार्य, अनिर्देश्य, अनिरुक्त अवाच्य, अद्वैत आदि है[११६]। मनुष्य-बुद्धि में वह सविशेष और निर्विशेष लिङ्ग वाला माना गया है, सविशेषलिंगी उसे सर्वकर्म्मा सर्वकाम-सर्वगन्ध-सर्वरस मानते हैं और निर्विशेष लिंगी उसे निर्गुण कहा करते हैं[११७]। वेदान्त के प्रचार होने पर अद्वैतवादियों ने निर्गुण ब्रह्म को ही माना यद्यपि व्यवहार में वह भाव सगुण ही रहा[११८]। उस सर्वेश्वर-सर्वज्ञ-अन्तर्यामी[१२१] 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' ब्रह्म को संशयरहित हृदय

---

[११५] ब्रह्मसूत्र ३ २ २० "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्या देवम्।" छान्दोग्य ६-३-२ 'अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य"

[११६] बृहदारण्यक ३-८ १९, २, ८, ८; कठ २-१५, ६-१२;

[११७] ब्रह्मसूत्र २-२-२१ "दर्शनाच्च" पर शाङ्करभाष्यम्।

[११८] ब्रह्मसूत्र ३-२-११ पर शाङ्कर भाष्य "सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इत्येवमादिषु अपास्त विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।" बादरायण सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" १-१-

[१२१] "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।" माण्डूक्य ६

में अध्यात्म योग द्वारा[१२२] देखने का आदेश वेदान्ताचार्यों ने किया, यह आदेश उपनिषदों का ज्ञानवाद ही था। जीवब्रह्म के भेद के कारण वेदान्त की 'अहंग्रह' उपासना 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि भाव के अनुभव की ही हुई, इसीसे अद्वैतवादी भक्ति को मान नहीं दे ब्रह्मज्ञान को सम्मानित करते हैं और ब्रह्म को ज्ञान ब्रह्म ही हो जाने को मुक्ति मानते हैं, जिसको लक्ष्य कर गीता ने कहा है—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

वेदान्त का जीव-ब्रह्म-ऐक्य गीता में भी वैसा ही रहा। गीता ने जीव को अज, नित्य, शाश्वत, पुराण, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अदाह्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य मानते हुए प्रतिपादित किया है कि जीव जन्म मरण रहित है, आदि-अन्त से मुक्त है, सर्वव्यापी है, अमेय है और अविकारी है: ये गुण ब्रह्म के भी हैं। स्पष्टतः भी कहा गया है— 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'[१२३] और शरीर-रूपी क्षेत्र में 'क्षेत्रज्ञ' नाम आत्मा को ही दिया गया है—"क्षेत्रज्ञंचापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत"[१२४]। ब्रह्म-कृष्ण ने जीव को अपना ही अंश कहा है—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः[१२५]।' देह के भीतर परमात्मा ही देही है और उसे यत्नशील योगी ही अपने में स्थित देखते हैं, इसे भी गीता ने माना है—'पर-

---

[१२२] कठ २-१२ "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं। मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥" ६-९ "हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो। य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥"

[१२३] गीता १०-२० [१२४] गीता १३ २ [१२५] [illegible]

मात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।'[१२६] तथा 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।'[१२७] संसार-व्यापी अव्यय के अविनाशत्व,[१२८] परमेश्वर के सर्वव्यापकत्व,[१२९] आत्मा के निर्लेपत्व[१३०] और उपनिषदों के जीवतत्त्वानुसरण[१३१] द्वारा गीता जीव-ब्रह्म के ऐक्य को ही स्थापित करती है, पश्चात् वह यह भी मान लेती है कि जीव बहुत नहीं एक है[१३२] पर उपाधि-भेद से विभक्त व बहुत प्रतीत होता है,[१३३] जैसा-'अंशो नानाव्यपदेशादित्यादि। २-३-४३' ब्रह्मसूत्र में कथित है।

वेदान्तियों में ब्रह्म के सगुण-निर्गुण स्वरूपों में मतभेद है, अद्वैतमत में ब्रह्म निर्गुण और विशिष्टाद्वैतमत में सगुण

---

[१२६] गीता १३-२२ [१२७] गीता १५-११

[१२८] गीता २-१७ "अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥"

[१२९] गीता १३-२७ "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥"

[१३०] गीता १३-३१ "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥"

[१३१] 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।' श्वेताश्वतर ६-११; 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' मुण्डक ३-१-९; 'असङ्गो ह्यय पुरुषः' बृहदारण्यक ४-३-१५; 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।' कठ २-१८; 'स वा एष महान् आत्मा अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः।' बृहदारण्यक ४-४-२२

[१३२] गीता १३-३३ "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥"

[१३३] गीता १३-१६ "अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥"

माना जाता है; सगुण-रूप के भी दो भेद 'सरूपलक्षण' व 'तटस्थ-लक्षण' कहे जाते हैं। ऐसे भेद का आधार उपनिषदों के ही-वचन हैं [१३४] जिनके शब्दानुसरण के कारण पीछे वेदान्तियों में मतभेद घटित हुआ, यद्यपि उपनिषदों ने कहा भी कि वही एक आत्मा समस्त जगत् के भीतर भी और बाहर भी व्याप्त है, यथा—'अयमात्मा ऽनन्तरोऽबाह्यः'[१३५] 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः।'[१३६] श्वेताश्वर ने उस सत्-असत् से पृथक् शिव कहा है—'न सत् चासत् शिव एव केवलः।'[१३७] तथा मनुष्य, जिसके निमित्त ज्ञान की आवश्यकता बताने में श्लाघनीय श्रम चिन्तकों द्वारा किया गया है, अधिकांश में काम मायात्मिका दृष्टि से विचार किया करते हैं—ज्ञान द्वारा चिन्तन करनेवालों की संख्या बहुत ही थोड़ी होती है। ऐसी दशा में निर्गुण-सगुण दोनों भावों का मान रहना आवश्यक है और वह बराबर रहा है। गीता ने इस विचार से ऋग्वेद के 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्[१३८]' से छान्दोग्य के 'ब्रह्म तज्जलानिति[१३९]' बादरायण के 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' [१४०] और तर्क के सारे जीव-ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को विशद व्याख्या के साथ स्वीकार किया है। गीता में वेद से वेदान्त तक ईश्वर-विषयक चिन्तनों की गूढ़ता के प्रकाशन की ओर संकेत भी कृष्ण द्वारा कराया गया है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।' [१४१]

---

[१३४] 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' बृहदारण्यक २-३-१ 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तैत्तिरीय २-१-१; 'ब्रह्म तज्जलानिति' छान्दोग्य ३-१४-१

[१३५] बृहदारण्यक ४-५-१३; [१३६] ईश-५; [१३७] श्वेताश्वतर ४-१८

[१३८] ऋग्वेद-पुरुषसूक्त १०-९० [१३९] छान्दोग्य ३-१४-१

[१४०] सूत्र १-१-३७ [१४१] गीता १५-१५

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'[१४२] कहने के सिवाय कृष्ण ने अर्जुन को[१४३] 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' का ब्रह्मज्ञान भी कहा[१४४]—"अर्जुन! मुझ में (ब्रह्म रूप में) तुम सारे चराचरों को देखो, मुझ से परे कुछ भी है, मैं ही सर्वभूतों का बीज हूँ, भूतों का आदि-मध्य-अन्त मैं ही हूँ, मैं अक्षय काल हूँ, मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, मैं शाश्वत धर्म-गोप्ता व अमृताधार हूँ, मेरा जन्म नहीं मैं अनादि हूँ, जगत्-प्रकाशक सूर्य-चन्द्र-अग्नि मेरे ही हैं, मैं वेदों में प्रणव-आकाश में शब्द व पुरुषों में पराक्रम हूँ, मैं ही श्रौत स्मार्त्त-पितृ-यज्ञ हूँ, मैं संसार का पिता-माता पितामह हूँ, मैं ओंकार-ऋग्वेद-सामवेद-यजुर्वेद हूँ, वेदों की सहायता से लोग मुझे ही जानते हैं और वेद-वेदान्त का प्रवर्त्तक भी मैं ही हूँ, प्रत्येक भूत के हृदय में वास करता हुआ मैं अपनी माया से जीवमात्र को चक्र पर चढ़ा कर फिरा रहा हूँ, तोभी मेरी समदृष्टि को कोई भी न प्रिय है न अप्रिय" इस ज्ञान के साथ कृष्ण के विश्वरूप का दर्शन कर अर्जुन ने, वास्तव में कृष्ण को वेद-वेदान्त का चिन्त्य ब्रह्म ही

---

[१४२] गीता १०-२

[१४३] गीता ५-१९ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि परं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥"

[१४४] गीता ९, "इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ११, मत्तः नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ७-७, 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ७-१०, अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च १०-२०, अहमेवाक्षयः कालो १०-३३, १४-२७, १०-२, १५-१२, प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ७-८, ९-१६, पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ९-१७, वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ९-१७, १५-१५, समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ९-२९"

गया, वह कहने लगा—"[१४५]हे अनन्तरूप ? तुम सचमुच ही विश्वव्यापी हो। तुम अनन्तवीर्य्य हो, अमितविक्रम हो। तुम चराचर के पूज्य पिता हो, लोकत्रय में तुम्हारे गुण व कर्म की कोई समता नहीं, तुम अप्रतिम प्रभाववाले हो। मैं तुम्हारी ही हुताग्नितेज से समस्त विश्व को तपता हुआ देख रहा हूँ। तुम आधार हो, सत्-असत् हो और सदसत् के परे हो। तुम विश्वेश्वर हो, तुम्हारे विश्वरूप का आदि-मध्य-अन्त कुछ भी दिखाई नहीं देता, अनेक बाहु अनेक मुख व अनेक चक्र से युक्त तुम्हारा रूप अनन्त है। तुम्हारा नाम सर्व ठीक ही है, क्योंकि—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यश्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
वायुर्यमोग्निर्वरुणःशशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥"

ब्रह्मसाधना के प्रश्न पर भी वेदान्त में भेद है। अद्वैतवादी सगुण और निर्गुण दो प्रकार की उपासना को मानते हैं, पर सगुणोपासना द्वारा क्रमपूर्वक परब्रह्म में लीनता प्राप्त होती है और निर्गुण-मार्ग द्वारा शरीर त्याग करते ही; विशिष्टाद्वैत-वादी ऐसा भेद न मान सगुणोपासना का ही उपदेश करते हैं। किन्तु, सगुण-निर्गुण को भिन्न २ तत्त्व नहीं मानने के कारण गीता इनकी साधना में भी कोई भेद नहीं मानती, यह

[१४५] गीता—"त्वया ततं विश्वमनन्तरूपं ११-३८, अनन्तवीर्य्यामित-विक्रमस्त्वम् ११-४०, पितासि लोकस्य चराचरस्य ११-४३, ११-१९, त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ११-३७, नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ११-१६, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ११-४०, ११-३८, ३९।"

अवश्य है कि निर्गुण-साधना कठिन है।[145] "सर्वभूतहितमिरत गीता ने किए सगुणोपासना-मार्ग को अधिक प्रशस्त माना स्वाभाविक भी है। अतः गीता मत में एक ओर समदर्शी व आत्मभाव स्थितप्रज्ञ सभी कामनाओं का त्याग कर निस्पृह निर्मम निरहंकार बन ब्रह्मनिर्वाण को ब्रह्मनिष्ठा व परम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते हैं,[147] दूसरी ओर यज्ञ-तपस्या तः जगदीश्वर को एकाग्रचित्त से आराधना करनेवाले अनन्यगति होकर सन्तोषी बने अनन्यभाव से पूजा-भजन कर भक्त चिदानन्द-परायण बुद्धि से ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं।[148] दोनों ही एक ही ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं, तथापि निष्काम कर्म-रत श्रद्धावान् ब्रह्मनिष्ठ भक्त सगुणोपासना की समदृष्टि से ब्रह्म को बिना अधिक कष्ट के प्राप्त होता है।[149]

ब्रह्म पर चिन्तन के उपरान्त ब्रह्म की प्राप्ति के प्रश्न सुलझाने की ओर गीता का ध्यान हुआ, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति जीवन लक्ष्य है और गीता-रचना के समय चार मार्ग[150] अपनी २ डफली अलग २ बजाने में मस्त थे। कर्म-मार्ग अपने

---

[146] गीता १२-५ "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥"

[147] गीता २-५५ से ५७, ७१ व ७२, ५-१७, १८, २०, २१, ५।

[148] गीता ५-२९ "भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥"
८-८ व १४, ९-१३, १०-९ व १०-आदि।

[149] गीता १२-२ से ५ तक

[150] १३-२४ "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥"

को श्रेष्ठ समझता, ध्यान-मार्ग अपनी प्रशंसा करता, भक्ति-मार्ग अपने को उत्तम बताता और ज्ञानमार्ग अपने को परम पवित्र मानता। इस पक्षपातपूर्ण धाँधली से होनेवाली सामाजिक बुराइयों पर गीता ने व्यापक विचार किया और वह अपने ब्रह्मविशिष्ट कर्मयोग के निष्कर्ष को पहुँचा। गीता ने अपूर्व समन्वय के साथ निर्णय किया कि चारों ही मार्ग ठीक हैं, पर कोई एक ही समाज के लिये कदापि पर्य्याप्त नहीं, उचित मात्राओं में चारों के सम्मिश्रण से मानवसमाज का कल्याण व सर्वभूतहित सम्भव है। इस सम्मिश्रण के निमित्त गीता ने ५ सोपान[१५१] नियत किए:-१-ईश्वरार्पण, २-फलाकांक्षावर्जन, ३-अभिमान रहित कर्म्म-पालन, ४-ज्ञानयोगावलम्बन, ५—श्रद्धासमन्वित भक्तियोग। कृष्ण ने इन पाँच सोपानों का वर्णन भी बड़े ही मार्मिक शब्दों में अर्जुन के सामने किया और उन्हें मोह-लोभ-भय-निरुत्साह-कारी दौर्बल्य को दूर कर उन्हीं मार्गों द्वारा कर्म्मयोगीवत् ब्रह्मप्राप्ति कर सच्ची शान्ति प्राप्त करने का आदेश किया।[१५२]

ईश्वरार्पण है-ईश्वर में ही सब कामों का अर्पण उसी भाँति करना जिस भाँति ईश्वर में विश्वास रख कर्म्मी

---

[१५१] 'कुरुष्व मदर्पणम्' ९-२७; 'कर्म्मण्येवाधिकारस्तु माफलेषु कदाचन' २-४७; 'निस्पृहः निर्ममो निरहंकारः' २-७१; 'ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः' ६-८; 'माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्ति-योगेन सेवते' १४-२६।

[१५२] गीता १५-५ "निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥"

निष्काम यज्ञ करता है।' अतः सारे कर्मों को यज्ञ की आहुति के समान ईश्वरार्पण करके सच्चे त्याग का भाव ग्रहण करना चाहिए।[१५३] यही सच्चा संन्यासकर्म भी है, जो हृदय से पैदा होता है। संन्यासयोग-युक्तात्मा ईश्वरार्पण के इसी पवित्र भाव को कर्मसंन्यास समझता है।[१५४] कर्म-संन्यास का अभिप्राय संसार के कामों से भाग जाना, या शरीर पात कर देना, या सिर्फ बाह्येन्द्रियों का संयमी बन भभूत लगा लाभार्थ द्वार २ भटकना नहीं है। यह तो मिथ्याचार है। गीता का कर्मसंन्यास मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है, वह मानसिक विराग उत्पन्न कर कर्म करते रहते भी कर्मों में लिप्त नहीं होने देता, और वह निष्काम रख मनुष्य को निवृत्ति-धर्म्म का अनुयायी बनाता है। उपनिषदों के जनक याज्ञवल्क्य प्रभृति क्षत्रिय थे, संसारी थे और जीवन के सारे जरूरी काम दिनरात तत्परता से किया करते थे; तोभी त्यागी ब्राह्मणकुमार उनके पास ब्रह्मज्ञान के लिये जाते और पवित्र शिक्षा ग्रहण कर निरभिमानी बना करते थे। यह प्रथा सिखलाती है कि संन्यासी वे ही हैं जो बिना जंगलों में भागे भी सांसारिक कृत्य सर्वभूतहितार्थ करते कर्मफलाशा को ईश्वरार्पण कर आप संतुष्ट रहा करते हैं। इसे ही गीता ने कहा है—"शारीरं केवलं कर्म

---

[१५३] "The dedication is not possible without the simultaneous conciousness of a purified, strengthened, 'saved' self, nor these without the dedication To give ourselves to God is to have God with us and in us" A Faith that quires, p 287.

[१५४] गीता ९–२८ "शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपैष्यसि॥"

कुर्व्वन्नपि न लिप्यते ।" [१५५] यज्ञ-दान-तप-कर्म्म चित्तशुद्धि के लिए ही आवश्यक हैं और इन्हें करना भी चाहिए [१५६], किन्तु फलाशा त्यागे विना निग्रह का आडम्बर किसी लाभ का नहीं होता—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।' [१५७] इस हेतु कृष्ण ने अर्जुन को कर्म्मसंन्यास की राह पर लाते हुए सर्वप्रथम कहा कि तुम ईश्वर-शरण में जावो, क्योंकि 'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ', [१५८] फिर ईश्वर में दृढ़ विश्वास को समझाते व्यक्त किया—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।' [१५९] और बाद में ईश्वरार्पण का स्वरूप 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्' कह कर 'कुरुष्वम दर्पणम्'[१६०] में स्पष्टतः उपन्यस्त कर दिखाया; सारांश अर्जुन को यों समझाया गया—[१६१]

"ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥"

'गोप्यः कामात्'—काम द्वारा गोपियों ने कृष्ण को प्राप्त किया, [१६२] 'यथा व्रजगोपिकानाम्'—व्रजगोपियों के समान भगवान् का भजन करना चाहिए [१६३] आदि वचन भक्तिवाद के कामपूर्ण अंग से सम्बन्ध रखते हैं । गीता ऐसे कर्म्म व

---

[१५५] गीता ४–२१ [१५६] गीता १८–५ [१५७] गीता ३–३३
[१५८] गीता १८–६२ 'तमेव शरणंगच्छ सर्वभावेन भारत ।'
[१५९] गीता ९–३४ [१६०] गीता ९–२७ [१६१] गीता १२–६ व ७
[१६२] भागवत ७-७-२९ [१६३] [illegible]

भक्ति का समर्थन न कर कर्म में चित्तवृत्तिनिरोधक योग की आवश्यकता बतलाती है। उसका सूत्र है—'योगः कर्म कौशलम्।[१६४]' और जो इसके अनुकूल 'विहाय कामा सर्वान्' निस्पृह [१६५] कर्म करता है, अपने कर्मों के फल प तनिक भी आकांक्षा नहीं रखता वही गीता की ब्रह्मप्राप्ति ' दूसरे सोपान को सानन्द पार कर सकता है। इसकार गीता के 'समः सिद्धावसिद्धौ[१६६]'हो 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः[१६७]' बन 'ब्रह्म समाधिना' [१६८] कर्म में प्रत्येक व्यक्ति को अभिप्रवृत्त होना चाहिए, कर्म-फल को ईश्वर को समर्पित कर आप निर तृत कर्म के पालन पर ही ध्यान देना ठीक है। ईश्वरार्पित कर्मफल में लिप्ति नहीं होती, और न निस्पृह ईश्वर पर कर्म-फल का प्रभाव पड़ता है-'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न कर्मफले स्पृहा।' [१६९] निष्काम कर्म करने में जीवन-मरण की चिन्ता भी छोड़ देनी चाहिए, मृत्यु-भय मोह व हृदय दौर्बल्य से ही आता है और मृत्यु का डर हृदय में आ जाने से कर्मफल का याग नहीं होने पाता। इसी से कृष्ण ने अर्जुन को आत्मा का अमरत्व समझाते हुए कहा—"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। [१७०] यह जीव तो सर्वदा से 'अव्यक्तोऽयम-

---

[१६४] गीता २-५०

[१६५] गीता २-७१ 'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।'

[१६६] गीता ४-२२ 'यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥'

[१६७] गीता ४-२१ 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।'

[१६८] गीता ४-२४ [१६९] गीता ४-१४ [१७०] गीता २-१९

वन्त्योऽयमविकार्योऽयम्' कहाता आया है।[१५१] वल्कि इसकी चन्ता छोड़ कर जो नैष्ठिक निष्काम करता है वह मर कर भी मर रहता है—स्वर्ग का अक्षय यश प्राप्त करता है और लोक ं उसकी प्रतिष्ठा होती है।[१५२] कर्मक्षेत्र से भागनेवाला तयर लोक में अकीर्त्ति का भागी वन जुगुप्सित जीवन व्यतीत रना है।[१५३] मरने मारने का तो भय ही निर्मूल है, क्योंकि हा-नियम के भीतर सभी मरे ही हुए हैं—'मयैवैते निहताः [पू]र्वमेव।[१५४] प्रकृत्यात्मक वय-क्रम में किशोरावस्था-युवा-स्था-वृद्धावस्था के वाद मृत्यु ही है जिस का न समय है न ाल।[१५५] मृत्यु सांसारिक नियम है, उस से कोई वच नहीं कता, विना मारे भी सभी मृत्युग्रस्त होंगे क्योंकि जन्म से ी मृत्यु लिए आए हैं।[१५६] ब्रह्म को विश्व की रचना ही नहीं

---

[१५१] गीता २-२५

[१५२] गीता २-३३ 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।'
२-३४ संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥'

[१५३] गीता २-३५ 'भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं वहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
३६ अवाच्यवादांश्च वहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥'

[१५४] गीता ११-३३ 'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्। मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥'

[१५५] गीता २-१३ 'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥'

[१५६] गीता २-१८ 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥'
२-२७ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'

पोषण व नाश भी करना है, यहाँ एक दूसरे का पोषण है और जब दूसरा एक के पोषणमार्ग से दुःखद विघ्न बने बैठता है तो उसे हटा कर पोषण-क्रिया की रक्षा की जाती है। पुनः प्रकृति में ब्रह्म का अटल नियम परिवर्तन है। [१७७] जो मारकाट या मरण माना जाता है, वास्तव में तो वही पोषण-क्रम है और बिना एक जीव के मारे दूसरा जीव जी नहीं सकता। इस कारण अजर अमर आत्मा के मरण का भय छोड़ कर [१७८] उपस्थित कर्म तत्परता से करो, फलाफल को ब्रह्मार्पण कर दो क्योंकि तुम्हें उसी का नय-पालन करना पड़ता है। इस कारण [१७९] अर्जुन !

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥"

किन्तु फलत्याग कर सकने की शक्ति की प्राप्ति अनायास नहीं हो सकती, गीता के अनुकूल होकर कामनारहित कर्म के निमित्त 'निर्ममो निरहङ्कारः' होना अत्यावश्यक है। [१८०] इस महद् गुण की प्राप्ति अन्य गुणों के अभ्यास पर अवलम्बित है। राग-भय-क्रोध का त्याग, यतेन्द्रियत्व, मोक्षपरायणता, संतोष, निश्चयता और मैत्री निरहङ्कारत्व के सहकारी हैं [१८१] और इनके अभ्यास से चित्त की शुद्धि हो जाती है। मन

---

[१७७] गीता २-११ 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥'

[१७८] गीता २-२१ 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुष पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।'

[१७९] गीता ३-३० [१८०] गीता २-७१; १२-१३

[१८१] 'वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता' ४-१०; 'यतेन्द्रिय-

से दुर्गुणों के नाश में ये ही सहायक होनेवाले सद्गुण हैं और इसी से इनके ग्रहण पर गीता ने ज़ोर दिया है।

गीता की ब्रह्मप्राप्ति के चतुर्थ सोपान ज्ञानयोगावलम्बन का विशद वर्णन कृष्ण ने किया है और कहा है कि ज्ञान से ही ब्रह्म-प्राप्ति-योग्य पवित्रता प्राप्त होती है, क्योंकि ब्रह्म-जगत् में 'पण्डिताः समदर्शिनः' ज्ञानयुक्त पुरुष ही समदर्शी होते[१८२] हैं। अतः गीता के ज्ञान की आवश्यकता उस दिव्य दृष्टि के लिए होती है जो सर्व भूतों में भगवान को ही देखनेवाली समान-बुद्धि पैदा कर सके,[१८३] जो मिट्टी-सोना के प्रति समभाव उत्पन्न करे[१८४] और जो ब्रह्म को निर्दोष समझने में सहायिका बन सके।[१८५] ऐसा ज्ञान हो जाने से सुख-दुःख-द्वन्द्वों से मुक्त ज्ञान ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उस दशा में ज्ञानी 'दैवी सम्पद् विमोक्षाय'[१८६] में संकेतित दैवी सम्पत्ति, जिसकी व्याख्या अध्याय १६ के १ से ३ तक के श्लोकों भी की गई है, की प्राप्ति की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। तब ज्ञानी में भेद-बुद्धि भी नहीं रहती और ज्ञानी की दृष्टि ही बदल जाती है[१८७], यथा—

मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः' ५-२८; 'संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़-निश्चयः १२-१४, 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणएव च' १२-१३

[१८२] गीता ५-१८ 'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'

[१८३] गीता ४ ३५ 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥'

[१८४] गीता ६-८ 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्तइत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥'

[१८५] गीता ५-१९ [१८६] गीता १६-५ [१८७] गीता १२-३०;

"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥"

पाँचवाँ सोपान श्रद्धा व भक्ति का है क्योंकि इससे निष्ठा व विश्वास पैदा होता है। बिना श्रद्धा-भक्ति के बुद्धि प्रकाश की ओर नहीं जाती, अपने ही अंधकार में भटकती फिरती है। इसी से गीता ने कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'—श्रद्धायुक्त पुरुष ज्ञान प्राप्त करते हैं और 'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—मन-बुद्धि को ब्रह्मार्पण कर देनेवाला भक्त ईश्वर को प्रिय होता है।[१८८] श्रद्धा-भक्ति को एक साथ रख ईश्वरभजन करनेवाले को ही गीता ने श्रेष्ठ योगी भी समझा है—'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।' गीता लोभ मोह ग्रस्त भक्त को ईश्वर प्रिय नहीं मान 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' के सिद्धान्तवाले समदर्शी[१९०] को भक्त स्वीकार करती है। 'आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' कहकर चार प्रकार के बताए गये भक्तों में कृष्ण ने ज्ञानी भक्त को ही श्रेष्ठ कहा है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'[१९०] बारहवें अध्याय में वर्णित भगवद्भक्त लक्षण समदर्शी ज्ञानी से ही सम्बन्ध रखता है और अन्यत्र भी उसी का उल्लेख है और वैसे ही भक्त पर ब्रह्मानुकम्पा का संकेत करते कहा गया है—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।'[१९१] कृष्ण ने अपने भक्त को ऐसी ज्ञानमय भक्ति को[१९२] साफ-साफ कहा है—

---

[१८८] गीता ४-३९, गीता १२-१४ [१८९] गीता ६-२९
[१९०] गीता ७-१६; गीता ७-१७ [१९१] गीता १२-१३ से, गीता ८-१०, १४, २२; ९-३४; १०-९; ११-५४; १४-१५-१९, १८-५५ १८-५८ [१९२] गीता ११-५५

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"

गीता का अन्तिम विषय ब्रह्मप्राप्ति के फल का वर्णन है। वेदान्ती ब्रह्म प्राप्ति से ब्रह्मवत् होने का वर्णन करते हैं और ब्रह्मवत् होने पर मनुष्य अनुभव करने लगता है—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'-वह पुरुष जो है वही मैं भी हूँ। गीता के कर्मज्ञानी की भी यही दशा होती है, कृष्ण ने कहा है—[193] 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।' दूसरे शब्दों में—'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते'—जन्म मृत्यु-बुढ़ापा—कष्ट से मुक्त को मोक्ष-पद प्राप्त हो जाता है।[194] इस मोक्ष पद की स्थिरता-अनस्थिरता पर भी गीता में प्रकाश डाला गया है। उपनिषदों के देवयान और धूमयान का वर्णन भी गीता में उत्तरायण व दक्षिणायन प्रयाण कहकर किया गया है। आठवें अध्याय में लिखा है कि अग्नि-ज्योति दिन शुक्लपक्ष व उत्तरायण में प्रयाण करने वाले ब्रह्मविद् ब्रह्म में मिल जाते हैं और धूम-रात्रि कृष्णपक्ष व दक्षिणायन में प्रयाण करने वाले योगी चन्द्र की ज्योति में मिल पुनः लौट आते हैं, इस प्रकार का मत है।[195] गीता को ऐसे प्रमाण पसन्द नहीं आते जान पड़ता है क्योंकि गीता ने शुक्ल-पक्ष तथा कृष्णपक्ष में जाने-आने वालों का वर्णन अपने विषयों के अनुकूल

---

[193] गीता १४-२   [194] गीता १४-२०

[195] गीता ८—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्रप्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥'२५॥

दूसरे ही रूप में किया है। ११६ अनावृत्ति पर गीता का मत है कि ब्रह्म में मिल जाने वाले का फिर जन्म नहीं होता— 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'· अन्यत्र भी कहा है--'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम', 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम', व 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' इस कारण अनावृत्ति मार्ग को ही ग्रहण करना चाहिये—'ततः पदं तत्परिमार्गितव्य यस्मिन गता न निवर्तन्ति भूयः।' ११७ परन्तु ऐसा न कर जो पाप मोचन आदि के लिये या स्वर्ग-लालसा से वेदाध्ययन कर काम्य-यज्ञ कर्म करते हैं वे इन कर्मों का पुण्य भोगकर फिर मृत्युलोक में आजाया करते हैं.'११८ यथा-"त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिविदेवभोगान्॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥"

ऐसे निष्कर्ष के साथ गीता ने वेद से षड्दर्शन-काल तक के ज्ञान-कर्म ध्यान-योग भक्ति-सन्यास-आदि के गहन विषयों पर विचार करते हुए अपने ब्रह्मनिष्ठ कर्म-योग का प्रतिपादन किया, जिस चेष्टा में ईश्वरवाद का विषय बड़ा ही अपूर्व व्यापक व परस्पराश्रित है। गीताकार ने अध्यात्म मूल वेदों के सर्वेश्वर सिद्धान्त की जैसी समन्वयात्मक आलोचना गीता में की है वैसी आलोचना अन्य किसी संस्कृत

११६ गीता ८-२६ 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥'

११७ गीता १८-१६; ८-२१, १०-१, १४-२०; १५-४

११८ गीता ९, २०, २१

साहित्य में नहीं मिलती। गीता में आदि से अन्त तक ईश्वरवाद की ही झलक है और इस दृष्टि से 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' की उक्ति गीता के लिए अक्षरशः सत्य है। अतएव गीता वास्तव में उपनिषदों का ही सार नहीं है, वह वेद से दर्शन तक के अनेक विचारों का आन्तरिक ऐक्य है और इस कारण 'सर्वोपनिषदो गावः' या 'दुग्धं गीतामृतं महत्'[199] का कथन गीता की महिमा के उपयुक्त नहीं माना जा सकता। वेदों के सिद्धान्त के अनुकूल ही गीता का परम ज्ञान भेद-भाव-रहित कर्म्मनय का पोषक है और मानव मात्र के कल्याणार्थ अमर जीवन पर[200] चिन्तन करता है और, गीता के इसी स्वरूप को प्रकाशित करते हुए कृष्ण ने कहा है-[201]

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
येभजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचाप्यहम्॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

---

[199] पूराश्लोक है—"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत॥"

[200] 'It appears to you in every place of your life, in every mood of your mind, and as you are infinite in your inside, so is the Gita' Rambles in Vedant, P 296

[201] गीता ९-२९ से ३३ तक

नवाँ अंश

तीर्थङ्कर

[illegible] निष्काम कर्मयोग का प्रभाव समाज पर कब तक रहा यह जानने का कोई भी आधार नहीं, पर यह बतलाने वाली सामग्रियाँ हैं कि अन्य सिद्धान्तों के ही समान वह भी, प्रभुता-मद-राग-अवहेलना-अन्तर पतन-प्रतिद्वन्दिता की अन्तर्दशाओं से अवश्य ही ग्रस्त हुआ।[1] लोग निष्काम से पुनः सकाम कर्म को झुक पड़े और उनकी तृष्णापूर्ण इच्छाएँ उन्हें पुनः मानव श्रेष्ठता से नीचे ले जाने लगीं। ऐसी दशा में "धर्म संस्थापनार्थाय" आचार को प्रधानता देनेवाले लोगों का आविर्भाव हुआ। वे शुद्धाचार-पालन के निमित्त ज्ञान व तप के पुरातन सूत्र के अनुगामी हुए। तपश्चर्या द्वारा एक बार बहुत पहले काम्य कर्म की श्रेष्ठता समझाई जा चुकी थी और उस शिक्षा में विश्वास रखनेवाले स्थायी सुख की प्राप्ति का

---

[1] "Nor will he be surprised to find that the tendency of every religious movement is towards deterioration and disintegration. Nor will it appear strange to him that the chief conservative force is antagonism As time goes on disagreements among the followers of any great leader seem to be inveitable, and always lead to sectarian divisions and sub-divisions Yet it is this opposition of religious parties that usually operates to mitigate the worst extremes of corruption, and tends to bring about re-forming movements" Sir M. M. Williams' Buddhism, P. 148.

साधन तृष्णा-भजन व इन्द्रियनिग्रह को ही मानते थे और गीताकाल के उपरान्त भी उस पुरातन मार्ग पर चलने वाले योगी-यति-मुनी नश्वर शरीर को तपा कर नित्य आनन्द की आशा रखते थे। उन के सामने ऋग्वेद का वचन था[a]—

"मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजि यति यद्देवासो अविक्षत॥

अथर्ववेद में भी कहा है—"यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण।"[a] ऐसे तपस्वी वैदिक काल में भी कालचक्र प्रभाव से बचकर त्याग द्वारा दिव्य जीवन की कामना करते थे। एतदर्थ वे भिन्न भिन्न विधियों से शरीर को सुखा कर ध्यान में रत रहना पसन्द करते थे,[4] पर ऐसे लोग अल्पसख्यक थे और उनका दल ब्राह्मणवाद काल तक प्रबल बनता दृष्टिगत नहीं होता, चतुर्थ आश्रम में सन्यास को जगह मिलने का विधान कालान्तर में अवश्य बनाया गया। इससे तपश्चर्या के मार्ग का सरक्षण ही हुआ। अन्त में ऐसा समय भी आया जब तप द्वारा दिव्य जीवन प्राप्त करने वाले मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाने लगे और ईसापूर्व लगभग ६ ठी शताब्दी में उन्हें तीर्थंकर नाम से ईश्वर-पद प र सम्मानित किया गया।

---

[a] ऋग्वेद १० १३६ २ [a] अथर्ववेद ४ ३५-२

[4] From the earliest times a favourite doctrine of Brahmanism has been, that self inflicted bodily suffering is before all things efficacious for the accumulation of religious merit, for the acquirement of supernatural powers, and for the spirit s release from the bondage of transmigration and its re absorption into the one Universal spirit," Sir M M, Williams Buddhism, p 30

तीर्थंकर के ऐसे गौरवमय महत्त्व का शृंखलाबद्ध प्रामाणिक वर्णन प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलता। तीर्थंकरों के उपासक जैनियों के धर्मशास्त्रों से २४ वें तीर्थंकर महावीर द्वारा जिनों की शिक्षा के विशेष प्रचार का पता चलता है और यह भी प्रकट होता है कि महावीर को जैनमत के प्रचार में अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा, क्योंकि नाशवादी आजीविक-अक्रियावादी अज्ञानवादी-शून्यवादी-ब्राह्मणमतानुयायी आदि से बराबर ही वादविवाद करना पड़ा था[५]। महावीर के उपदेश उनके जीवनकाल में लेखबद्ध नहीं किए गए, महावीर के[६] निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं का संग्रह किया[७]। जैनधर्म-ग्रन्थों में महावीर की महिमा भी इस विशेषता के साथ कही गई है कि उससे महावीर द्वारा जैनमत के प्रचार में भारी सहायता मिलना प्रकट होता है[८]। इस से

५ A Sen Schools and Sects in Jaina Literature, P 1

६ A Sen, Schools and Sects in Jaina Literature, PP 5,23,28 Sutrakrtanga Sutra II 1 30 33, I-i-2, I xii 1,7, Upāsakadasā Sūtra 6 166

७ 'When we say that there is a tradition that Mahavira spoke to his disciples what has been embodied in the Canonical works of the Jains, it must be understood that, though the fundamental truths of Jainism were preached long before Mahāvira, it was after the Nirvana of this last Tirthankara that the teachings of Jainism, were reduced to writing which formed the basis of the Jaina Canonical works now extant" S C Ghosal Dravya Sangraha, p 3

८ 'In the Nandi Sutra Mahāvira has been eulogised as the moon who ever vanquishes the Rahu of Akriyā-Vāda,

साधारणतया महावीर को ही जैनमत का जन्मदाता समझ लेने का भ्रम हो जाया करता है, किन्तु जैनग्रन्थों के अलावे पुराणों से भी प्रकट होता है कि जैनमत महावीर के पहले से आरहा था जिसके प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव थे और बहुत काल बाद महावीर ने उस मत का विशेष प्रचार किया। बल्कि गौतम के अनात्मन्—सिद्धान्त के साथ जैनमत की तुलना करने से यह भी प्रकट होता है कि दोनों मत एक दीर्घ काल तक सम्पर्क में रहे पर अपनी २ स्वतंत्रता स्थिर रखने के कारण वे पारस्परिक अन्तर को मिटा कर एकरूप नहीं हो सके। तोभी दोनोंमें एकमूलत्व बना रहा और जैनमत ने गौतम के बौद्धमत से अधिक सम्बन्ध ब्राह्मण-मत के साथ स्थिर रक्खा, और इसी से उसकी स्थिति आज तक बनी रही[10]।

as the destroyer of the lustre of other schools, and as the destroyer of the pride of false faiths. " A Sen : School and Sects in Jaina Literature, P 3

9. "Viewed as a whole Jainism is so exact a reproduction of Buddhism that we have cosiderable difficulty in accounting for both their long continued existence by each other's side, and the cordial hatred which seems always to have separated them " A Barth Religions of India, P. 142 किन्तु सादृश्य का कारण दोनों का एक ही मूल से निकलना भी सम्भव है, अतः सादृश्य के कारण जैनमत को बौद्धमत की शाखा मानना युक्तिसंगत कदापि नहीं।

10. "Nevertheless, their differences are as great as the resemblance between them and what Jainism at first appeared to have got of Buddhism seems now to be rather the common loan made by each sect from Brahmanism." E. W. Hopkins . Religions of India, P.283

ऋषभदेव से महावीर तक २४ तीर्थंकर हुए। सबों ने अपनी शिक्षाओं में सांसारिक विघ्नों पर विजय पाने के मार्ग पर चलने की शिक्षा दी। उनकी शिक्षाओं में अहिंसा, शुद्धाचार और द्रव्य-ज्ञान प्रधान विषय थे। विश्वस्रष्टा ईश्वर या शक्तिरूप देवों को उनकी शिक्षा में कोई स्थान न था। उनके उपासक तीर्थंकरों को ही जन्म-मरण-भय-मद-राग-तृष्णा-घृणा-कामना-वासनादि दुर्गुणों से रहित परमात्मा मानते और उन्हीं की भक्ति करते थे। तीर्थंकरों की ज्ञान भरी वाणी श्रुति-वचन के समान पवित्र मानी जाती थी। तीर्थंकर अविद्या-रहित, निरञ्जन, सर्वदर्शी, अमर, अजेय, सदानन्द और इच्छारहित समझे जाते थे। उन में न यश की कामना थी, न वे प्रशंसा चाहते थे; वे पूर्ण थे, पूर्णता के आदर्श थे, और सभी सद्गुणों के पुञ्ज थे[1]।

ऐसे सम्मान के बीच २४ वें तीर्थंकर महावीर ने जैनमत की शिक्षा का विस्तार किया। जैनमत जिन प्रभुओं का धर्म था, उसका ध्येय जैनमतानुयायियों को विजयी बनाना था। जिन शब्द का अर्थ है—विजयी, अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त होकर राग-द्वेषादि दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करनेवाला।[2]

---

[1] "They are above the reach of desire and want. Their perfections are immeasurably greater than language can praise; their virtues transcend all that can be described by words. Their worship is not idolatory but *idealatry*, they are models of perfection for us to copy and imitate and to walk in the footsteps of." C. R. Jain: Confluence of Opposites, pp. 361-2.

[2]. A. Barth, Religions of India, p. 142

'जिन' शब्द शून्यवादी बौद्धों के 'बुद्ध' का भी पर्याय था, अमरकोष में भी ऐसा ही अर्थ मिलता है।[13] किन्तु जैनमत मे 'जिन' शब्द बौद्धों के 'मार-विजयी' के अर्थ से भिन्न अर्थ रखता है[14] और उसका प्रयोग तीर्थङ्करों वा तीर्थङ्कर-शिष्यों के लिये किया गया है, उसी अर्थ में जिनेन्द्र, जिनेश्वर आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

तीर्थङ्करों की शिक्षा थी—"विश्व द्रव्यमय है और द्रव्य दो प्रकार के हैं—जीव, अजीव। जीव उपयोगमय, अमूर्त्त, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और ऊर्ध्वगतिवाला है।[15] व्यवहारनय से यह त्रिकाल में चतुःप्राण, बली, आयुष्मान् व श्वासप्राण है, बन्धन से मूर्त्त है, पुद्गलकर्म्मों का कर्त्ता है, पुद्गलकर्म-फल व सुख-दुःख का भोक्ता है, और छोटा-बड़ा शरीर धारण करता है; निश्चयनय के अनुकूल असंख्यदेशवाला है, चेतनभाव है व चेतनकर्म्म-कर्त्ता है; शुद्धनय उसे शुद्धभाव-कर्त्ता जानता है।[16] जीव के दो प्रकार हैं—

---

[13] श्रीहर्ष : नागानन्द—"सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो जिनः पातु वः।" अमरकोष १—"सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः। समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥"

[14] किन्तु जैनग्रन्थ परीक्षामुख के १-१ "नमो जिनाय दुर्वारमारवीर मदच्छिदे" कथन में जिन के साथ मार-विजय का भाव भी सम्बद्ध किया गया है।

[15] द्रव्यसंग्रह-१ "जीवमजीवं दव्व"; द्रव्यसंग्रह-२; पञ्चास्तिकायसमयसारः २७, २८.

[16] द्रव्यसंग्रह-३ "तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य

संसारी, मुक्त। मुक्त जीव निष्कर्म, अष्टगुणयुक्त, चरमदेह से बहुत थोड़ा छोटा, सिद्ध, नित्य, उत्पादव्यय-संयुक्त और लोकाग्रस्थित होता है।[16] संसारी जीवों के दो भेद हैं—समनस्क, अमनस्क; इनमें अमनस्क के दो उपभेद; त्रस व स्थावर, हैं। फिर शुद्धनय में सभी जीव शुद्ध होते भी मार्गणा व गुण-स्थान के भेद से संसारी जीव १४ प्रकार के हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु, वनस्पति स्थावर हैं—एकेन्द्रिय हैं और शंखादि, त्रस हैं, दो-तीन या अधिक इन्द्रियाँ वाले हैं।[18] एकेन्द्रिय जीवों की दो श्रेणियाँ हैं—बादर, सूक्ष्म। पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल अजीव हैं; इनमें पुद्गल मूर्त, रूपयुक्त व स्पर्श-रस-वर्ण वाले होते हैं, ये अनन्त हैं।[19] मत्स्यगति को जल द्वारा साहाय्य की नाईं धर्म्म पुद्गल व जीवों के गति-परिणत में सहकारी होता है, पर अधर्म्म दोनों के स्थान

ववहारा" ; ७—"व्यवहारात् मूर्त्तबन्धतः"; ८—"पुग्गलकम्मा [illegible] कत्ता"; ९—"सुदहुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि"; १०—"अणुगु[illegible] देहपमाणो";

[16] द्रव्यसंग्रह—१४

[18] द्रव्यसंग्रह—१ से १२; तत्त्वार्थाधिगमसूत्र २—१०,१२-१४ "संसारिणो मुक्ताश्च। संसारिणस्त्रसस्थावराः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।"; गोम्मटसार-जीवकाण्डम् ७२—"बादर-सुहुमे इंदिय बिति चउरिंदिय असण्णिसण्णी य। पज्जत्तापज्जत्ताएवं ते चोद्दसा होंति।"

[19] भट्टारक श्रीसकलकीर्ति : वर्द्धमानचरित्र—

"अथ पुद्गल एवात्र धर्मोऽधर्मो द्विधा नभः।
कालश्च पञ्चधैवेत्यजीवतत्त्वं जगौ जिनः ॥१६-११५"।

द्रव्यसंग्रह १५; तत्त्वार्थाधिगमसूत्र [illegible]

गुन में क्षणिक स्थान-सहकारी बनता है जिस प्रकार छाया पथिक को अल्पकालीन विश्राम में साहाय्य पहुँचाती है।[20] आकाश के दो प्रकार हैं—लोकाकाश, अलोकाकाश; लोकाकाश में ही धर्म अधर्म काल-पुद्गल-जीव ठहरते हैं और उसके बाहर दूसरे द्रव्य से रहित केवल आकाश अलोकाकाश है जो अनंत है, नित्य है, अमूर्त्त है, क्रिया-रहित है और सर्वज्ञ माना गया है। द्रव्य-परिवर्त्तन का कारण व्यावहारिक काल है।[21] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश नामक पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं: उनके भिन्न २ प्रदेश होते हैं, किन्तु काल

---

[20] चन्द्रप्रभचरितम् १८—

"जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम् ।
जीवादीनां पदार्थानां सधर्मः परिवर्णितः ॥ ६९ ॥
लोकाकाशमभिव्याप्य संस्थितो मूर्तिवर्जितः ।
नित्यावस्थितिसंयुक्तः सर्वज्ञ ज्ञानगोचरः ॥७०॥
द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।
लोकेऽभिव्यापकत्वादिधर्मो धर्मोऽपि धर्मवत् ॥७१॥

तत्वार्थसार ३–३३ से ३६; द्रव्यसंग्रह १७,१८; वर्द्धमानचरित्र १६–२९, ३०; धर्मशर्माभ्युदयम् २१–८३, ८४—"धर्मः स तात्त्विकैरुक्तो या भवेद् गतिकारणम् । जीवादीनां पदार्थानां मत्स्यानामुदकं यथा ॥ छायेव धर्मतप्तानामश्वादीनामिव क्षितिः । द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ॥"

[21] द्रव्यसंग्रह १९, २० तत्त्वार्थसार- ३–३८, वर्द्धमान-पुराण १६–३१; तत्वार्थाधिगमसूत्र ५–१८ "आकाशस्यावगाहः ।"
वर्द्धमानचरित्र १६– "धर्माधर्मयुताः कालः पुद्गला जीवपूर्वकाः ।
मे यावत्यत्र तिष्ठन्ति लोकाकाशः स उच्यते॥३२॥

स्वयं एकप्रदेशी है और काल को मिलाकर ही जिनमत के छः द्रव्य हैं।[22] तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, मोक्ष। इनमें पाप व पुण्य को मिला देने से ये नव हो जाते हैं। आत्मा में कर्म का आस्रव भावास्रव द्वारा होता है और उसका प्राचुर्य संवर द्वारा रोका जा सकता है किन्तु जो कुछ कर्म प्रविष्ट हो गया है वह निर्जरा द्वारा वहिर्गत किया जा सकता है। भावास्रव के पाँच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग, कषाय।[23] पुनः मिथ्यात्व के भी ५ भेद हैं—एकान्त, विपरीत, विनय, समस्या अज्ञानः और प्रमाद के अन्तर्गत विकथा, कषाय, इन्द्रिय निद्रा व राग भी हैं। मोक्ष के दो स्वरूप हैं—भावमोक्ष द्रव्यमोक्ष[1]। साधारणतः रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग है। रत्नत्रय हैं—ठीक दर्शन, ठीक ज्ञान, ठीक चारित्र; किन्तु वास्तव में मोक्ष का साधन जीव ही है, उसका ही सम्बन्ध रत्नत्रय से होना ठीक है। ठीक ज्ञान में संशय, विमोह व विभ्रम नहीं रहता, तभी वह तथ्यातथ्य-निर्णय में समर्थ होता है।[2]

तस्माद्बहिरनन्तो स्यादाकाशो द्रव्यवर्जितः।
नित्योऽमूर्त्तो क्रियाहीनः सर्वज्ञ दृष्टिगोचरः ॥३३॥
नवजीर्णादिपर्यायैर्द्रव्याणां यः प्रवर्त्तकः।
समयादिमयः कालो व्यवहाराभिधोऽस्ति सः॥३४॥

[22] द्रव्यसंगह २३, २४, २५

[23] द्रव्यसंग्रह २८, २९, ३०; वर्द्धमानचरित्र १६–४०, ४१

[24] द्रव्यसंग्रह ३७, ३८, ३९, ४०,

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १०–१, २: सूत्र २ के भाष्य में "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"; चन्द्रप्रभचरित्र १८-१२२ "ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपायः प्रकीर्त्तितः ॥"

ठीक दर्शन साधारण ज्ञान है, जैनसिद्धान्तों में भक्ति से भी इसका सम्बन्ध है; इसी कारण संसारी जीवों में ज्ञान के पहले सम्यग्दर्शन होना चाहिए। सम्यक् चारित्र में बाहरी व भीतरी क्रियाओं का रोध हो जाता है और संसार के कारण भी नष्ट हो जाते हैं, तब जीव के सत्य स्वरूप को पहचानने के मार्ग में कोई बाधक नहीं रह जाता।[२५] चित्त को ध्यानस्थ करने में इष्टानिष्ट के भाव से रहित होजाना चाहिए, वैसा पवित्र भाव आए बिना चित्त शान्त नहीं रह सकता। शान्त चित्त से गुरूपदेश के परमेष्ठिवाचक का जाप व ध्यान करना चाहिए.[२६] दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का समुचित पालन करनेवाला व पालन के उपदेश करनेवाले धर्माचार्य मुनि ध्यानयोग्य है।[२७] वह सिद्ध आत्मा अष्टकर्मदेह-रहित लोकालोक का ज्ञाता, सर्वज्ञ, पुरुषाकार, लोकाकाश-शिखरस्थ सिद्धशिला पर निवास करता है; वही वन्द्य है।"[२८]

---

[२५] द्रव्यसंग्रह ४६, ४७

[२६] द्रव्यसंग्रह ४८, ४९; पूरा जाप है—"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणम्।"

[२७] द्रव्यसंग्रह ५० "णट्ठचदुघाईकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईयो।
सुह देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो॥"

[8] 'A siddha has not therefore a gross body which results from eight kinds of Karmas He lives at the summit of Lokākāśa, or the Universe in a place called the Siddhaśilā, beyond which Alokākāśa begins A siddha, however, has knowledge of everything in Lokākāśa and Alokākāśa which existed in the past, exists in the present or will exist in the future" S C. Ghoshal Dravya-Sangraha, pp 115-6

स्पष्ट है कि उपर्युक्त शिक्षा-क्रम में किसी जगत-कर्त्ता ईश्वर को कहीं स्थान नहीं, क्योंकि जैनमत में ऐसे संसार-पिता की कल्पना ही नहीं। जैनियों के सिद्धान्तानुसार यह संसार अनादि व अनन्त है, व जीवादि से भरा है और उसमें प्राणी नाना गतियों में कर्मपाशवश जन्मते व मरते हैं। [५१] मूलाचार में कथन है—[५२] "यह लोक अकृत्रिम है, अनादि है। अनंत है, स्वभावस्थित है, जीवाजीवों से भरा है और नित्य है। इसमें जीव अपने २ कर्म द्वारा सुख-दुःख, जन्म मरण, व पुनर्भव का अनुभव करते हैं। यह संसार-सागर भयानक व अशांत है।' किन्तु जिन शिक्षाओं में ईश्वर का ऐसा अभाव ठीक वैसा ही है जैसा ब्राह्मणमत के उपनिषदों में शुद्ध ब्रह्म अनादि-अविनाशी आत्मा का स्वरूप, जिसके समक्ष परमात्मा की आवश्यकता कुछ काल तक नहीं ही प्रतीत हुई। जैन ग्रन्थों में आत्मा-सम्बन्धी वाक्य पाए जाते हैं। उनमें आत्मा का वर्णन दो दृष्टिकोणों से किया गया है और उनके नाम हैं—(१) व्यवहारनय व (२) शुद्धनय। व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध व भेदग्रस्त दशाओं पर विचार किया गया है, पर शुद्धनय आत्मा के उस असली स्वाभाविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है जो ज्ञानमय, परमानन्दमय, अति सूक्ष्म, अविनाशी, विकारशून्य, निरञ्जन परमाणुहीन, स्पष्ट, शांत,

---

[५१] श्रीशुभचन्द्र ज्ञानार्णव—"अनादिनिधनः सोऽयं सिद्धोऽप्यनश्वरः।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः सम्भृतो भृशम् ॥४–११॥
यस्मिन् जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशं गताः ॥६–११॥"

[५२] आचार्यवट्टकेर-मूलाचार २२–८, २०

अजन्मा आदि हैं।[31] तीर्थङ्कर स्थिर होकर उसी आत्मा को आत्मा में आत्मा के द्वारा देखते हैं, क्योंकि उसी के ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति मोक्ष है और कर्मबद्ध जीव पुद्गलादि से ममत्व को त्याग इस आत्मा को ग्रहण करने से संसार से पार हो सकते हैं।[32] वह शुद्ध चेतनस्वरूप जिन शरीरादि, कर्मबद्ध जीव, और सांसारिक व्यवहार से अन्य है; वह अमूर्तीक है. ज्ञानमय है, नित्य है, सर्वरूप है और ज्ञानी ही उसे ज्ञान द्वारा देखते हैं।[33] व्यवहारनय के अशुद्धरूप के मिटने पर मोक्ष होता है. अर्थात् शुद्धरूप का ज्ञान-प्रकाश लभ्य होना है। यही तो ब्राह्मण-मत का मोक्ष या ईश्वर-मिलन भी है और शुद्धनय का स्वरूप 'ईश्वर' या 'परमात्मा' का परिचायक है तथा व्यवहारनय का प्रकृति-बद्ध जीव-स्वरूप जीवात्मा का समकक्ष है। ऐसी दशा में जैनमत के दर्शन में ईश्वर की वैसी कुछ

---

[31] श्रीकुन्दकुन्दाचार्य . समयसार—"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सयारूवी। णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥४३॥" श्रीपूज्यपादाचार्य : इष्टोपदेश—"स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः। अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोचनः ॥२१॥" श्रीअमितगति श्रावकाचार—"ज्ञानदर्शनमयं निरामयं मृत्युसम्भवविकारवर्जितम्। आमनंति सुधियोऽत्र चेतनं सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥८९-१५" श्रीपद्मनंदि · एकत्वसप्तति—"अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितम् ॥१८॥"

[32] श्रीपद्मनंदि · एकत्वसप्तति १८ १९, २०. श्रीयोगेन्द्राचार्य . योगसार ५४;

[33] श्रीपद्मनंदि : निश्चय पञ्चाशत २०: श्रीयोगेन्द्राचार्य : परमात्मप्रकाश. ८७ ...-योगसार २६

आवश्यकता ही क्या थी ? सम्भवतः इसी कारण तीर्थङ्करों ने निश्चयनय का ग्रहण कर पूर्वनिश्चित सर्वशक्तिसम्पन्न आत्मा को ही अपनाया और पुरुषार्थ को बल देने में शुद्धदर्शनसे काम लिया। जैनमत में ईश्वर के अभाव पर विचार करते समय ध्यान में यह भी रखना चाहिए कि तीर्थङ्कर काम्यकर्म या धर्ममार्ग के अनुयायी नहीं थे, बल्कि उनने अपने पहले देवताओं पर याज्ञिक ऋषियों को ही सबल होते देखा था। इसके अतिरिक्त "अमृतत्वाय गातुम्" के अनुयायियों द्वारा "सोऽहम्" का जैसा अनुभव किया जा चुका था वह भी उनके सामने था। ब्रह्मवाद ने ब्रह्मकोटि को मनुष्यों के पहुँचाने की जैसी आध्यात्मिक चेष्टा की थी वह भी तीर्थङ्कर देखते आरहे थे। उनने सांख्य-काल से ब्रह्मवाद के प्रचार-काल तक मनुष्य को ईश्वरत्व से अभिन्न करने का एक लगातार प्रयत्न देखा था। सांख्यिकों के पुरुष में उन्हें किसी भी ईश्वर का दर्शन नहीं मिला। संसार-दुःखों से मुक्त होने का साधन ज्ञान जिस सनातन रूप में काल स्रोत में प्रवाहित होता आ रहा था वह भी तीर्थङ्करों के सम्पर्क में आया। तीर्थङ्करों ने उसे स्वीकार कर आचार को ऊँचा बना श्रेष्ठतम मनुष्य ही को ईश्वर बनाना मानव हितार्थ सर्वोत्तम समझा [३४]। वे आरम्भ से ही पुरुषार्थवादी रहे और कर्म्म की श्रेष्ठता को प्रधानता देते रहे। प्रतीत

---

३४. "When man has actually become what he is now potentially, he will no longer be a man but a released soul (siddha) The qualities he will then actually have are infinite, . That is to say, he will be omniscient, he will have unlimited undifferentiated knowledge, will be blissful will have permanent right conviction and right conduct

होता है कि उनने सांख्य के पुरुष को और उपनिषदों के शुद्ध आत्मा को तीर्थङ्कर नाम देकर उसे श्रेष्ठाचार से भी युक्त किया और गीता के[२५] 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्' के अनुकूल उसे रागद्वेष-तृष्णा-कामादि दुर्गुणों से एकदम रहित बनाया। यज्ञ का विश्वहित तो उन्हें प्रिय था, पर पशुओं का वध नहीं। उनके पूर्ववर्त्ती तत्त्वदर्शी पशुवध से यज्ञों की अपवित्रता का समर्थन कर चुके थे, उसे उनने भी स्वीकार किया। अतः दर्शन-ज्ञान और आचार के साथ जिनेन्द्रों ने अहिंसा को भी अपनाया और अहिंसापालन की शिक्षा को अत्यधिक प्रधानता प्रदान की। महावीर के बाद अहिंसा का पालन जैनों द्वारा पूर्णतः किया गया, बल्कि अहिंसा-पालन ही शुद्धाचार मे मुख्य रहा। वस्तुतः 'अहिंसा परमोधर्म्मः' का व्यावहारिक उपयोग जैनों ने ही किया, अन्य किसी मतावलम्बी ने नहीं।

---

everlasting life, no material body, equality of status, and he will have infinite capacities of activity." Herbert Warren · Jainism, page 49

[२५] गीता ३-४३; गीता में कृष्ण द्वारा कर्म करते भी कर्म से अलग रहने और फलासक्त नहीं होने का जैसा उल्लेख किया गया है वैसाही वर्णन आत्मा व जिन के स्वरूप-विवरण मे कुछ जैनग्रन्थों में भी विद्यमान है, यथा, नागसेन मुनि : तत्त्वानुशासन—

"तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥१४७॥
नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः।
त्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥१४८॥

तीर्थंकरों द्वारा तप और अहिंसा को इतनी विशेषता मिलने का एक कारण और भी विदित होता है। यह है काम्ययज्ञ विधायकों के प्रतिकूल अध्यात्मिक दल का एक सतर्क प्रयत्न जिसमें ब्राह्मण व उनके नायक क्षत्रिय दोनों का ही हाथ था। बलि प्रेमी याज्ञिकों के सहायक अनेक राजा थे, इस कारण अहिंसावादी ब्राह्मण-दल बिना क्षत्रिय-साहाय्य के उन्हें दबाने में समर्थ नहीं हो सकता था, अतः इस दल ने अपना नेता क्षत्रियों को बनाया। वैसे अहिंसावादी ब्राह्मण-नेता क्षत्रियों ने काम्यकर्म का घोर विरोध किया और तत्वज्ञान द्वारा अहिंसा के प्रचार में पूरा भाग लिया। अन्त में महावीर तथा गौतम ने अपने समय में उस यज्ञ को ही मिटा देने की चेष्टा की जिसे यज्ञ के पवित्र अवशेष के पात्र क्षत्रिय नहीं समझे गए थे,[2] जिस यज्ञ से याज्ञिक विप्रों ने धन-सम्पन्न हो, ब्रह्मवाद

अचेतनं भवे नाहं नाहमप्यस्म्यचेतनं ।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥१४९॥
सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥१५३॥
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किंतूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किंतु स्वयमुपेक्षिता ॥१५७॥"

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७-२ के अन्त में—"यज्ञो वै यजमानभाग । स ब्रह्मणे परिहृत्य पुरोहितायतनं वा एतत्क्षत्रियस्य यद् ब्रह्मायतनस्मै ह वा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहित उपाह परोक्षेणैव प्राशितरूपमाप्नोति । यह उ ह वा एष प्रत्यक्षं यद् ब्रह्मा ब्रह्मणि हि सर्वो यज्ञः यज्ञे यजमानो यज्ञ एव..."

से दूर रहना ही भला समझा था[३७] और जिस याज्ञिक प्रमाद ने समाज में जातिभेद द्वारा पारस्परिक घृणा का प्रचार आरम्भ कर दिया था।

यह तो निर्विवाद है कि २४ वाँ तीर्थंकर महावीर क्षत्रिय-कुमार थे। उनसे पूर्व अहिंसावादी त्यागी साधुओं के संघ-निर्माता पार्श्वनाथ भी क्षत्रिय थे,[३८] व आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव भी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे। उपनिषदों में भी ब्रह्म विद्या की शिक्षा ब्राह्मण-कुमारों को ब्रह्मात्मदर्शी राजा अजात शत्रु, प्रवाहण, जनक द्वारा मिलने के विवरण हैं। इससे प्रकट होता है कि अति प्राचीन काल से ज्ञान का प्रचार क्षत्रियों के द्वारा होता आया और जैनमत-प्रचारक तीर्थङ्करों द्वारा भी वही काम किया गया। पर ऐसी परम्परा के प्रचलित होने का कारण ब्राह्मण-सूत्र-उपनिषद्-जैन ग्रन्थादि में नहीं मिलते पर पुराणों में वैसे विवरण दृष्टिगत होते हैं जिनसे अहिंसावादी दल के प्रादुर्भाव होने के कारण अनुमित किए जा सकते हैं। एक विवरण है कि मानव राजाओं के साथ याज्ञिक ब्राह्मणों का निरन्तर सम्बन्ध था, ब्राह्मण उनके पुरोहित थे; किन्तु यज्ञ लेकर दो बार उन में वैमनस्य घटित हुआ। ब्राह्मणों के राजाओं के इच्छानुकूल यज्ञ का सम्पादन नहीं करने के कारण

[३७] बृहदारण्यकोपनिषद् ६-१-७ में आख्यान है कि महाज्ञान की शिक्षा के निमित्त गए उद्दालक ने दान माँगने के उत्तर में राजा प्रवाहण से कहा—"मालूम हो कि मेरे पास सुवर्ण का ढेर है गौ घोड़े, दासी, परिवार और अच्छे २ रेशमी वस्त्र भी बहुत हैं।"

[३८] "Very probably he did something to draw together and improve the discipline of the homeless monks who were outside the pale of Brahmanism, much as St. Benedict did in Europe." The Heart of Jainism, p. 49.

थे उनके विरुद्ध हुए।[39] सम्भवतः उसी समय से यह विरोध बढ़ता गया और याज्ञिकों के प्रतिकूल एक दल बन गया और उसी के विचारों के अनुकूल समय २ पर याज्ञिकों का विरोध होता रहा। दूसरा विवरण है एक २ राजा द्वारा सहस्रों मेध किए जाने का, यदि वे यज्ञ हिंसापूर्ण थे तो उनका दृश्य अवश्य ही ऐसा भयंकर होता होगा जिसका कुछ न कुछ करुणाजनक प्रभाव यज्ञकर्त्ता क्षत्रिय राजाओं के हृदय पर पड़ता रहा और उनने "मुनयो वातरशनाः पिशंगाः" का[40] अनुसरण कर तप व ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का निश्चय किया। सम्भवतः इसी दशा में धर्म्म-निर्णायक याज्ञिक विप्रों को क्षत्रियों द्वारा संन्यास लेने के विरुद्ध नियम बनाना पड़ा[41]। पर ऐसे द्वेषात्मक कार्य से विरोध कमा नहीं, क्षत्रिय तत्परता से ब्राह्मणों का विरोध करते गए और संन्यास-जीवन को ग्रहण

"Two occasions are alleged when very earl[y] Manva kings had disagreements with brahmanas, namely very early between Nimi and Vasistha, and much late[r] between Marutta and Brhaspati, and both arose, no[t] through antagonism but through injured friendship because those brahmanas failed to sacrifice as those king[s] desired" Pargiter A I Historical Tradition, p 305.

[40] ऋग्वेद १०-१३६-२

[41] "Again in its origin, Jainism was a protest on th[e] part of the kshatriyas, or warrior caste, against th[e] exclusiveness of priests who desired to limit entry into th[e] mendicant stage (Sannyasin Ashram) to persons of th[e] Brahmanic caste alone" Rev G P Taylor's Heart o[f] Jainism—introduction, p XIII.

करने के अधिकार को त्याग द्वारा प्राप्त करना ही निश्चय किया। तीर्थङ्करों ने इस झगड़े में सफलता प्राप्त की और अपने आचरण को मानव समाज की स्वतंत्र उन्नति का आदर्श बनाया। एक तीसरा विवरण भी प्रायः सभी पुराणों में मिलता है। उससे प्रमाणित होता है कि आर्य्यावर्त्त में ब्राह्मणों का याज्ञिक सम्बन्ध सभी राजाओं से नहीं था, ऐल राजाओं के पुरोहित थे ही नहीं; ऐलवंशी राजा ब्राह्मणों के विरोधी थे[४२]। कथानक है कि पुरूरवा ने विप्रों का धन लूट लिया[४३] और वह नैमिष के ऋषियों के शाप से नष्ट हुआ[४४], पुरूरवा-पौत्र नहुष ने अपने अभिमान में ऋषियों से कर वसूल किया[४५] और देवयानी के कथन पर ययाति को

बी० आर रामचन्द्र दीक्षितर M A ने भी The History of Early Budhism in India' शीर्षक लेख में उपर्युक्त मत के अनुकूल दिखलाया है—"Mahavira and Gautam then can be regarded as the representatives of the Kshatriya movement which aimed at ascetic life Both of them were Kshatriyas," Proceedings 5 th I O Conference p. 916.

[४२] Pargiter A I Historical Tradition p. 305

[४३] मत्स्यपुराण अ० २४ में उपाख्यान, पद्मपुराण ५-१२-७०, महाभारत १ अ० ६९—

"विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्त पुरूरवाः ॥२३
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि ॥२४॥"

वायुपुराण २-१४ से २३, ब्रह्माण्डपुराण १,२,१४-२३—१,१६२ भी देखें; शिवपुराण ५-२ ९४—"मुनिभिर्यत्र सक्रुद्धैः कुशवज्रैर्निपातितः॥

[४४] महाभारत १ अ० ६५ "स हत्वा दस्युसंघातान्नृपान्करमपादयत ॥ २१", २-९९,५-१०से१७,१२-१६२,पद्मपुराण ५ १७-१७९,२-१९-१८।

ब्राह्मणों के शाप का भागी बनना पड़ा। आरम्भ में जाति जन्मगत नहीं रहने पर ब्राह्मण-क्षत्रियों में विवाह-सम्बन्ध भी होता था और विश्वामित्र के पहले भी मान्धाता, कण्व और गृत्समद ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए। नहुष पुत्र यति अपने भाई ययाति को राजा बना आप ब्राह्मण मुनि हो गया था[४६], इसे मत्स्य तथा पद्म पुराणों ने वैखानस योगी कहा है[४७]। इससे बोध होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में अभिन्न सम्बन्ध थे और क्षत्रियों में ऐसा समुदाय भी था जो याज्ञिक ब्राह्मणों के सम्बन्ध से बाहर था, उनका विरोधी था और आप त्याग द्वारा तपश्चर्या को नित्य सुख का सोपान मानता था। उस समुदाय के साथ ब्राह्मण भी थे जो अहिंसा के समर्थक और संन्यासाश्रम के धनी थे, जिनका आभास चैद्य-उपरिचर के आख्यान में मिलता है[४८]। ऐसा समुदाय याज्ञिक काल से ही चला आ रहा था और सोऽहं तथा ब्रह्मवाद की धारणाओं में उसने पूरा हाथ बटाया। फिर गीता में इन दो विरोधी समुदायों का सुन्दर सहयोग कृष्ण के रूप में किया गया। गीता में न किसी क्षत्रियकुमार का नाम दिया गया, न ब्राह्मण विशेष का; गुरु कृष्ण हुए, जिनमें जन्मतः

---

[४६] ब्रह्माण्डपुराण ३-६८-१५ "स यतिर्मोक्षमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः।" महाभारत १ अ० ७५ "यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मीभूतोऽभवन्मुनिः।" ब्रह्मपुराण १२-३; वायुपुराण ९३-१४ हरिवंश ३०-११०१; लिंगपुराण १-६६-६३

[४७] मत्स्यपुराण २४-५१ "यतिःकुमारभावेऽपि योगी वैखानसोऽभवत्" पद्मपुराण ५-१२-१०४,

[४८] Pargiter A I Historical Tradition pp 315-16

क्षत्रियत्व और स्वभावतः ब्रह्मगुण अध्यारोपित मिलता है, पुनः कृष्ण ने जो कुछ कहा ब्रह्म की ओर से ही कहा। गीता के बाद सकाम कर्म की प्रधानता होने और समाज में मानव सत्ता पर मिथ्यात्व का आवरण आ पड़ने पर पुनः एक बार उसी क्षत्रिय वैखानश-परम्परा का आचरण पार्श्वनाथ तथा महावीर ने किया। महावीर ने इसमें विशेष भाग लिया और समय के अनुकूल समाज में निष्काम शुद्धाचरण की शिक्षा दे मानवमात्र को तीर्थङ्कररूपी ईश्वर के पद को उठाने का त्यागमय यत्न किया। उन्हें सफलता भी पूरी हुई, जिसका प्रमाण आज तक स्वच्छन्दतः प्रचलित जैनमत है। यह जैनमत महावीर की शिक्षा के समय और वर्षों तक उसके बाद भी आज से कहीं प्रभावशाली था, उसके अनुयायियों की संख्या कहीं अधिक थी और उसे दीर्घकाल तक राजसाहाय्य भी प्राप्त रहा। किन्तु जैनियों में मतभेद और बौद्धों के उत्थान होने के कारण जैनमत का वह प्राचीन शौर्य धीरे २ कमने लगा।

महावीर के पहले से ही जैनमत के भीतर दो विचारों के लोग थे, एक पहरने के वस्त्रादि तक का विरोधी था और दूसरा शरीराच्छादन के लिये कपड़ों का व्यवहार आवश्यक बतलाता था; पहले के मतानुकूल जैन निग्रन्थ कहलाते थे। दोनों ही मतों के लोग महावीर के बाद भी सुधर्म्म व उसके सहयोगियों के सञ्चालन में वर्षों तक एक साथ रहे। महावीर की मृत्यु के लगभग २०० वर्ष उपरान्त मगध एक भयानक दुर्भिक्ष से ग्रस्त हुआ, उस समय जैन साधुओं के संघों का पालन सहज ही सम्भव नहीं था। इस बार एक दल भद्रबाहु की अध्यक्षता में दक्षिण की ओर चला गया और

उसके द्वारा तामिल देशों में मैसूर तक जैनमत का प्रचार किया गया। उस समय मगध में, स्थूलभद्र जैनसाधु-संघ की रक्षा में यत्नवान् रहा। ईसापूर्व ३री शताब्दी में जैनमत-संरक्षण के निमित्त मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र में एक जैन-सभा हुई, जिसमें जैनधर्म-ग्रन्थ के नियम निश्चित किए गए; किन्तु इन नियमों के उस समय लेखबद्ध किए जाने का प्रमाण नहीं मिलता। तो भी यह विदित होता है कि उसी समय से जैनसम्प्रदाय को विशेष राजसाहाय्य प्राप्त हुआ, वह वृद्धि करने लगा।

८२ ई० में जैनियों के दो दल हुए—श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनके सम्बन्ध में अनेक बातें कही जाती हैं, पर निश्चित यही है कि जो दो भिन्न विचारों के लोग पहले से आ रहे थे, उनमें भारी मतभेद घटित हुआ और उन्हें दबानेवाले दृढ़ व्यक्ति के अभाव में ये दोनों पृथक् हो गए। धीरे २ जैनसम्प्रदाय के लोग विहार से पश्चिम भारत को हटते गए और ५१३ ई० में जैनों की २ री महासभा भावनगर के पास वल्लभि में हुई, उसके सभापति का आसन देवर्द्धि ने ग्रहण किया। उस सभा में जैनधर्म के नियम सम्पादित व लेखबद्ध किए गए और धर्मग्रन्थों की कई प्रतियाँ भी तैयार कराई गईं। सम्भवतः दिगम्बरों के प्रतिनिधि इस महासभा की कार्य्यवाही में सम्मिलित नहीं हुए। तो भी जैनमत ईसाब्द १३ वीं शताब्दी तक वृद्धि पाता गया; जिस समय बौद्धमत भारत से अदृश्य हो रहा था उस समय भारतीय जैनियों की संख्या यहाँ काफी थी। १२९७ ई० में अलाउद्दीन ने गुजरात पर अधिकार कर लिया, उसके द्वारा जैन पुस्तकालय भस्म और मन्दिर नष्ट किए गए. तब से उत्तर पश्चिम में जैनियों की

वृद्धि-गति रुकने लगी।[48] भद्रबाहु द्वारा प्रचारित जैनमत की पूरी उन्नति दक्षिण में हुई। दिगम्बरों की समुन्नत दशा का उल्लेख प्रसिद्ध चीनीयात्री युअनच्वांग ने किया है, वह ६४० ई० में भारत मे आया। ७ वीं शताब्दी में एक जैन राजा कून[49] शैव मत मे दीक्षित हुआ, यह जैनियों की अवनति का कारण था, जैनमत को अब उन्नति के पथ पर अग्रसर वैष्णव तथा शैव मतों का सामना करना पडा और कभी २ जैनियों पर अन्य मतावलम्बियों के अत्याचार भी भीषण हुए। अतः जैनमत शैव-वैष्णव मतों के सामने ठहर नहीं सका।

वैष्णव और शैव मतों मे ईश्वर की सत्ता थी, ईश्वर की भक्ति के भावार्थ देवताओ का सम्मान था, उपासना प्रणाली थी और पूजा की विधियाँ व्यवहृत थीं। पर जैनमत के तीर्थङ्कर, जिन, अर्हंत और सिद्ध का आदर्श आचारमय होते भी वह इन बातों से सम्बन्ध नहीं रखता था, यद्यपि साधारण विचार के लोगों को यही प्रिय थी। तीर्थङ्करो की शिक्षाओं मे उपासना व पूजा का कोई भी निश्चित विधान नहीं था, वहाँ अहिंसा-त्याग तपस्या के आचरण की प्रधानता थी। पर जैनमत में ऐसे लोग सम्मिलित होते जाते थे जो ब्राह्मणधर्म्म के स्वरूप में श्रद्धा व विश्वास रखते आए थे और वे वैष्णव शैव मतोंकी पूजा

[49] "He razed many of their temples to the ground, massacred their communities and destroyed their libraries Many of the most beautiful Mohammedan mosques in India have woven into their fabric stones from Jain shrines which the ruthless conquerors had destroyed" Mrs Sinclaire Stevenson The Heart of Jainism, p 18

[50] Vincent A Smith The Early History of India, 3rd,
461 477

भक्ति की ओर भी रुचि रखते थे। वे अपने स्वभाव से परास्त हो भक्तिमार्ग की ओर झुकते जा रहे थे और जाति-प्रथा को भी मानने व पुरोहित-पुजारियों का सम्मान करते थे। ऐसी परिस्थिति में जैनमताचार्यों ने ब्राह्मणधर्म का विरोध करना श्रेयस्कर नहीं समझा, उनने कट्टरता का भी त्याग किया। वे ब्राह्मणधर्म के व्यावहारिक धार्मिक विचारों को जैनमत में स्थान देने के पक्षपाती हुए। उनकी उदारता के कारण धीरे २ जैनमतानुयियों में अपने गुरुओं के लिए स्तुति का भाव पैदा हुआ, जिसका मूल था श्रद्धा व विश्वास स्तुतिप्रियता से। नियमित उपासना और तीर्थङ्करों तथा गुरुओं की मूर्तियों की पूजा भी आरम्भ हुई। पूजा भव्य मन्दिरों में विशेष आयोजन व आडम्बर के साथ की जाने लगी। इसका समय ईसापूर्व २री या १ली शताब्दी के लगभग कहा जाता है। ब्राह्मण-धर्म्म की जाति प्रथा और ब्राह्मण-सम्मान को जैनियों ने भी माना। इससे जैनमत में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र सभी समाविष्ट हुए और जैन रहते भी प्रत्येक व्यक्ति की जाति ज्यों की त्यों बनी रही, किसी अजैन के जैनधर्म में दीक्षित होते समय उसकी आजीविका-वृत्ति और रहन-सहन के अनुसार वह उपयुक्त जाति में सम्मिलित किया [illegible]।[5] इस भाव से ब्राह्मण-धर्म्म के देवता तथा स्वर्ग-नरक [illegible] धारणाएँ भी जैनमत में लोगो की रुचि के अनुकूल प्रविष्ट होकर तीर्थङ्कर-शिक्षाओं का अंग बनने लगीं।[6]

देवताओं की धारणा समाविष्ट होने पर जैनमत मे लोक-

---

[5] आदि पुराण पर्व ३९

[6] कामताप्रसाद जैन. संक्षिप्त जैन इतिहास २रा भाग, पृ० ५

विभाग नर तन अंगानुरूप किया गया। पैर के सदृश सप्तनरकों वाला अधोलोक नीचे कहा गया, इस लोक के सात नरक हैं—रत्न-प्रभा, शर्कर-प्रभा, वालु-प्रभा, पंक-प्रभा धूम्र-प्रभा, तम-प्रभा, तमतम-प्रभा; इन में बुरे कर्मों के फलभोग के लिए जीव जाते हैं और वहां के दुष्टात्मा देवों से नाना प्रकार के संताप भोगते हैं, कर्म-क्षय पर वे वहां से मुक्त होते हैं "[52]। कटि के समान यह तिर्यक् लोक है, जिसके निवासी मोक्षाधिकारी हैं; उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसमें दश प्रदेश के और विमानवासी देवता बसते हैं। वक्षस्थल सदृश देवलोक, ग्रीवावत् ग्रवेयिक लोक, और मुखमण्डल के समान अनुत्तर-विमान लोक है, और ताज के सदृश मोक्ष को समझना चाहिये। इसीके अनुकूल देव दानव-राक्षसों को भी भिन्न-भिन्न स्थान दिया गया है, पर इस चेष्टा में अनेक उच्च व मान्य ब्राह्मण-देवता नरक व पाताल लोक के देवताओं में रक्खे गए हैं जैसे—अम्ब, अम्बरस, साम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, असिपत, धनु, कुम्भ, वालु, वेतरणी, खरस्वर, महाघोष नामक नरक के देवता और असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, वायुकुमार दिशाकुमार, स्थनितकुमार पाताल के देव हैं। पाताल के देवता पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महारोग आदि भी माने गए हैं। इन देवताओं के नामकरण गुणानुरूप प्रतीत होते हैं और ये ब्राह्मण-देवताओं से रूपान्तरमात्र हैं, या संहिता-ब्राह्मण काल के प्राकृतिक देवताओं के गुण-सकेतरूप हैं। संहिता

[52]. Mrs. Sinclair Stevenson: The Heart of Jainism Chapter XIV—Jain Mythology.

काल के इन्द्र जैन-देवताओं के भी अधिपति माने गए हैं, और उनका परमेश्वर्य भी स्वीकृत मिलता है[५३], पर जिनों का स्थान इन्द्र से भी कहीं ऊँचा वर्णित है, इसके अनुरूप द्रव्यसंग्रह के मंगलाचरण में मिलता है — "देविंदविंद-वंद वंदे तं सव्वदा सिरसा।" शासनदेवियों की कल्पना में शक्ति-सत्ता को स्वीकार करने का प्रमाण भी जैनमत में विद्यमान है और यह शक्ति-सत्ता बौद्धों की तारा की समानता की मानी जा सकती है, ब्राह्मणों द्वारा पुरातन धर्म्म के पुनरुत्थान में ऐसी शक्तियों की उपासना हिंदुओं द्वारा भी भक्तिपूर्वक जारी की गई[५४]।

काल व युग सम्बन्धी जो वर्णन जैनशिक्षा में हैं उनपर भी ब्राह्मण-सिद्धान्तों की गहरी छाप विद्यमान है और ब्राह्मण-मत के देवताओं का पूरा सम्पर्क उनसे रक्खा गया है। जैनमत में सनातन काल एक चक्र की भाँति ऊपर-नीचे चक्कर काट रहा है, उसकी अधोगति अवसर्पिणी है और ऊर्ध्वगति उत्सर्पिणी। इन गतियों का प्रभाव मानव जीवन के सुख दुःख पर पड़ा

---

[५३] अकलंकदेव : तत्त्वार्थराजवार्तिकम् ४-४-१ "परमैश्वर्या-दिंद्रव्यपदेशः।"

[५४] "They (the Jinas) have at their side the Çâsanadevîs, goddesses, who execute their commands, and who remind us of the Çaktis of the neo—Brahmanic religions, and the like of which we meet with also among the Buddhists of the North, in the persons of Târâ and the other goddesses of the Sanskrit books of Nepal." A Barth · The Religions of India, p. 143

करता है और उसीके अनुकूल-उत्कर्ष या अपकर्ष के युग बना करते हैं। प्रवाहित कालस्रोत का आरम्भ सुषम-सुषमयुग से हुआ है, वह आरम्भिक युग आदर्श युग था जब सर्वत्र सुख ही सुख था, किसी को कोई भी चिन्ता न थी, क्योंकि कल्पवृक्षों से उनकी इच्छाएँ आप पूरी हो जाया करतीं। उस समय बच्चे युग्म ही पैदा होते और लोग बड़े ही विशाल-काय व हृष्ट-पुष्ट थे। तब धर्म्म का विचार नहीं था, मरनेवाले सीधे देवलोक को प्राप्त होते थे। उसके चार करोड़ वर्षों के बाद सुषमयुग आया जब पूर्वयुग के सुखों की मात्रा आधी रह गई। इस समय मानव भूख व इच्छा अधिक बढ़ गई। फिर सुषम-दुषम-युग का आगमन हुआ। यह युग सुख के साथ दुःख भी लिए आया और इसी में तीर्थङ्कर ऋषभदेव का प्रादुर्भाव हुआ और उनकी पुत्री ब्राह्मी ने जैनविद्याओं का प्रचार तत्परता से किया। तब दुषम-सुषमयुग का आरंभ हुआ, इसमें दुःख प्रमुख रहा और इसी कारण इस युग में जैनमत का पूरा प्रचार किया गया। प्रचारार्थ २२ शेष तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव अवतीर्ण हुए। इस युग के लोग देव-लोक प्राप्त करने के अधिकारी नहीं रहे। वे नरक, स्वर्ग, मानव और पशु गतियों को भी जाने लगे। सिद्ध बनने के लिए उन्हें जिनों की शिक्षाओं का पालन करना पड़ा। अब स्त्रियों की इच्छाओं में भी वृद्धि हुई। उस युग की समाप्ति से वर्त्तमान दुषमयुग का प्रवेश हुआ, जिसमें आयुबल इतना कम गया कि १२५ वर्षों से अधिक रहने की आशा जाती रही। इसका आरंभ महावीर-मोक्ष के तीन वर्ष बाद से हुआ है और इसका राज्य २१ हजार वर्षों तक रहेगा। इसके बाद का दुषम-

दुषम-युग और भी बुरा होगा, उस समय आनन्द कुछ भी नहीं रह जायगा, सभी जीव जन्तु कष्ट-ग्रस्त रहेंगे। अन्त में किसी श्रावण मास के कृष्णपक्ष से उत्सर्पिणी गति का संचार होगा। दशा बदलने लगेगी। दुषमा से कुछ कुछ का बढ़ना शुरू होगा। फिर दुषम-सुषम आने पर पद्मनाभ, सुरदेव, सुपार्श्व, स्वयम्प्रभु, सर्वानुभूति, देवश्रुत, उदयप्रभु, पेढाल, पोट्टिल, शतकीर्त्ति, मुनिसुव्रत, अमम, निष्कषाय, निष्पुलाक, निर्मम, चित्रगुप्त (रोहिणी), समाधि, संवरनाथ, यशोधर, विजय (कुणिक), मलयदेव, देवजिन, अनन्तवीर्य और भद्रजिन नामक २४ तीर्थङ्कर प्रादुर्भूत होंगे,[*] इनमें प्रथम तीर्थङ्कर पद्मनाभ वर्तमान युग के महावीर तीर्थङ्कर के सादृश्य के होंगे और महावीर के ही समान जैनमत को स्थापित करने में यत्नवान् होंगे, उनके बाद के तीर्थङ्करों द्वारा केवल प्रचार कार्य सम्पादित होगा।

इस प्रकार ब्राह्मणधर्म की बातों को तीर्थङ्कर की शिक्षाओं में मिश्रित कर जैनमताचार्यों ने जो दूरदर्शिता दिखलाई उसीके फलस्वरूप जैनमत भारत में अपना स्वरूप स्थिर रखने में समर्थ हुआ। उन्हों ने बौद्धों की भाँति ब्राह्मण धर्म से एकदम पृथक् रहने या विरोध करते हुए अपने पार्थक्य को बनाये रखने की चेष्टा नहीं की। वे अहिंसाप्रेमी थे, शान्ति से उनने काम लिया और विरोध को प्राबल्य के लिए मान नहीं दिया। वे अपने आदिम स्थान से भारत के

---

[*] इनमें कृष्णमत से सम्बन्ध रखनेवाले व ब्राह्मण ऋषि देवकी, कृष्ण, बलदेव, रेवती, द्वैपायन, नारद, रावण-पुर हरसत्यकी आदि भी सम्मिलित हैं और उनका निवास भिन्न २ लोक में कहा गया है।

दूसरे २ हिस्सों में फैल कर अपने मत की रक्षा को तैयार रहे। जैन विहार से भारत के उत्तर और पश्चिम भागों में हटते गए और मध्यभारत में भी जहाँ तहाँ फैले, पर बंगाल के आसपास मे नहीं ठहरे। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाएँ प्रमाणित करती हैं कि उनके आसपास मे जैनियों का निवास था, पर आत्मरक्षार्थ उसे छोड़ देने में भी वे नहीं हिचके। उनने उस समय सचमुच ही शान्ति व सहन शीलता से काम लिया। इसीसे आज भी जैनियों के दल मथुरा, दिल्ली, जयपुर, अजमेर, गुजरात, मारवाड आदि स्थानों में फैले मिलते हैं; वे सुख-सम्पन्न हैं और अब स्वतंत्रता-पूर्वक सर्वत्र फैल रहे हैं। यद्यपि उनकी आज की धार्मिक गति तीर्थङ्करोपदेश से परिवर्तित ही दृष्टिगत होती है और अहिंसा के विशेष सम्मान के अतिरिक्त और कोई प्रधान अन्तर उनमे और सनातनियो मे नहीं पाया जाता तथापि वे अपने तीर्थङ्करों की शिक्षा व आदर्श को अब तक क़ायम रक्खे हुए हैं।

दशवाँ अंश

अनात्मन्

जैनमत के २४ वें तीर्थङ्कर नातपुत्त महावीर के ही समय में शाक्यवंशी क्षत्रियकुमार गौतम क्षत्रियों द्वारा शान्ति रहस्योद्घाटन की परम्परा का पालन करते हुए स्थायी सुख की खोज में घर से बाहर हुए। जिसप्रकार रोग, जरा और मरण को देख कर पूर्ववर्ती तत्त्व-चिन्तकों ने[1] अमृतत्व-प्राप्ति के उपायों को चिन्त्य विषय बनाया था उसीप्रकार वृद्ध बीमार-मृतक को देख गृहस्थ गौतम के भी हृदय में उद्गीत हुआ—[2]

धिग्यौवनेन जरया समभिद्रुतेन
आरोग्य धिग्विविधव्याधिपराहतेन।
धिग्जीवितेन विदुषा नचिरस्थितेन
धिक्पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसंगैः॥
यदि जर न भवेया नैव व्याधिर्न मृत्युः
तथपि च महद्दुःखं पंचस्कन्धं धरन्तो।
किं पुनः ज्वरव्याधिर्मृत्युनित्यानुबद्धा-
साधु प्रतिनिवर्त्यां चिन्तयिष्ये प्रमोक्षम्॥

गौतम ने अपने पिता से कहा—"मैं निर्वाण की खोज परिव्राजक बनना चाहता हूँ, क्योंकि राजन्! संसार

---

[1] A. Coomaraswamy Buddha and the Gospel Buddhism, p 216 17

[2] ललितविस्तर, स्वप्नपरिवर्त १४वाँ अध्याय

सारी सुखसामग्रियाँ अनित्य और परिवर्त्तनग्रस्त है।[३]" उनने प्रिय यशोधरा का प्रेम भुला दिया, नवजात पुत्र राहुल को संसार-बंधन का रज्जु समझा, घरेलू जीवन को प्रलोभन माना और सबों के त्याग में ही नित्य सुख का आभास पाया। उनने महाभिनिष्क्रमण की समाप्ति की और मार की लुभावनी आशाओं को ठुकरा कर अपने संकल्प का मार्ग ग्रहण किया। राजगृह में आलार-कालाम और उद्दक-रामपुत्त के यहां दार्शनिक विचारों की शिक्षा ग्रहण की,[४] किन्तु उनके उपदेश पूर्वप्रचारित ब्राह्मण-विचार थे जिनमें नवीनता की खोज गौतम का व्रत था। उपदेशक बनने की लिप्सा में उनने पुरातन आत्मन्-शिक्षा को ग्रहण कर अपना व्यक्तित्व गँवा बैठना ठीक नहीं समझा, न उनने कर्म्मकाण्ड को ही श्रेष्ठ माना। नवमत-स्थापना की धुन में उन्हें राजगृह के ब्राह्मण गुरुओं की शिक्षा भी अच्छी नहीं लगी, अतः उनका परित्याग कर वह अन्य मार्ग के शरणापन्न हुए।

---

[३] जान पड़ता है कि गौतम के हृदय में परिव्राजक बन अनित्य सुखों के ठुकराने का संकल्प अपने आसपास में विचरते त्यागी वैरागियों के दर्शन से ही हुआ और सम्भवतः उनमें उनका बाहुल्य था जो ब्राह्मणमत के आत्मवाद व ईश्वरवाद से भिन्न शरीर से पृथक् किसी आत्मा को स्वीकार नहीं करते थे और ऐसे लोगों में जैनियों के तीर्थङ्करों के सम्प्रदाय का होना भी सम्भव है, क्योंकि उसी समय दूसरे क्षत्रियकुमार ने तीर्थङ्कर-सम्प्रदाय की विशेषोन्नति में अपना सर्वस्व अर्पण कर, जैनमत को सबल बनाने में समर्थ हुआ।

[४] विनय पिटकः महावग्ग १-६, धर्म-चक्र-प्रवर्तन; मज्झिम-निकाय :- ८५-बोधि राजकुमार-सुत्तन्त, २६-पास-रासि-सुत्तन्त

पश्चात् गौतम ने तप मार्ग का अनुगमन किया। इसके अनुसार चलनेवाले शारीरिक कष्टों का सहन करते तपस्या में लगे रहते थे और उनकी धारणा थी कि तप के कठिन दुःखद कृत्यों द्वारा नश्वर शरीर के नाश पर दिव्य जीवन की प्राप्ति होती है। महावीर द्वारा भी उसी तप को प्रधानता दी गई कारण कि या तपस्या जिस सम्प्रदाय की प्रिय सम्पत्ति थी उसके क(उपदेशक पहले हो चुके थे। गौतम ने उन्हीं तीर्थङ्करों के अनुकूल या अन्य त्यागी योगियों के साथ तपस्या के कठिन मार्ग क(अनुसरण किया और उरुविल्वा कानन में पाँच अन(तपस्वियों के साथ घोर तप आरम्भ किया। घाम शीत वायु वर्षा से शरीर को निराश्रित रख, भोजन का त्याग कर औ(साँस को बन्द कर उनने तरह २ की क्रियाएँ कीं, पर सभी व्यर्थ अपने और औरों के लिये जिस स्थायी शान्ति और सच्चे सुख की खोज में गौतम ने यह साधना आरम्भ की थी उसकी प्राप्ति तपस्या से नहीं हुई, कोई भी अलौकिक प्रकाश हृदय क(आलोकमय नहीं कर सका*। तब गौतम ने पुनः भोजन-जल ग्रहण किया और वहाँ से बुद्धगया पहुँचे। बुद्धगया में उन(ब्राह्मणों के योग प्रथा के अनुसार पवित्र पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान (ध्यान) आरम्भ किया और निश्चिन्त योग समाधिस्थ

* बुद्ध की आरम्भिक तपस्या के लिखित विवरणों से विदि(होता है कि आरम्भ में उनने तीर्थङ्करों की दिनचर्या का पालन आर(किया, पर वह उन्हें प्रिय नहीं हुआ। अतः उनने कायताप प्रथा क(धारा को भी त्याज्य कहा और जैन-परम्परा से भी पृथक् नवपथ क(

होकर सुख-दुःख के कारणों पर विचार करने लगे [6]। सत्य व भ्रम, भला व बुरा, ज्ञान व अज्ञान, आलोक व अंधकार के भिन्न २ दृश्य गौतम के दिव्य चक्षु के सामने आए; संसार की मनोहारणी छटाएँ भी सामने आईं और चली गईं; सौन्दर्य्योपभोग की लालसाएँ लोभ दिखा २ कर लौट गईं; मायावी मार की पुत्रियों ने अपने प्रलोभनों के पुष्पबाण भी छोड़े, पर वे बेकाम सिद्ध हुए। गौतम शान्त स्थिर निर्मोहभाव से अपने जीवन-ध्येय को विचारते रहे, अन्त में संग्राम बन्द हुआ और गौतम के हृदय में प्रकाश का आगमन होने लगा, ध्यान की चारों अवस्थाओं को उनने समाप्त किया। अब गौतम ने हृदयालोक में शान्ति की मन्जुल मूर्त्ति को विद्यमान पाया, उसके पैरों के नीचे तृष्णा रौंदी पड़ी थी और काम पराजित हो अदृश्य हो गया था। गौतम के अन्तस्तल से आवाज़ आ रही थी—[7] "नश्वर तनरूपी

---

[6] "In this he merely conformed to the Hindu yoga—a method of attaining mystic union with the Deity" Sir M. M. Williams . Buddhism, p 31-32.

ध्यान शब्द 'ध्यै' धातु से है, प्रसिद्ध गायत्रीमंत्र में भी इसका प्रयोग 'धीमहि' शब्द में किया गया है और योग द्वारा भी इसको विशेष मान दिया गया। ध्यान द्वारा दोष दूरीकरण का उल्लेख मनुस्मृति ६-७२ में है और गीता ६-११,१२,२५ में भी इसका सुन्दर वर्णन मिलता है।

[7] धम्मपद—"अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥१५३॥
गहकारक दिट्ठोऽसि पुन गेह न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥१५४॥"

गृह के कारक के पीछे अनेकों जन्म व्यतीत हुए; जन्ममरण-दुःख लौट २ कर आते ही रहे, पर अब उसका अन्त हुआ; क्योंकि तन्हा (तृष्णा) के नाश से आवागमन का मूलोच्छेद हो सका और आगे नश्वर गृह का निर्माण भी नहीं होगा।" गौतम ने इस पवित्र वाणी में अपने आनन्द को अनुभूत किया, यही उनके भविष्य का निर्माता था और इसी से उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। अब उन्हें इस रूप में प्राप्त निर्वाण-दायिनी निवृत्ति का ही भोग करना था, पर उनका ध्यान अपनापन के अतिरिक्त औरों के प्रति भी था, इस कारण वह अपने संतापग्रस्त भाइयों के कल्याणार्थ शिक्षा के प्रवृत्ति-मार्ग पर दृढ़ हुए। जिस पर उनके चित्त में वितर्क भी पैदा हुआ—[८] "मैंने गंभीर, दुर्दर्शन, दुर्ज्ञेय, शांत, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पा लिया। यह जनता काम-तृष्णा रमण करनेवाली काम-रत काम में प्रसन्न है। ......मैं यदि धर्मोपदेश भी करूँ और दूसरे उसको न समझ पावें, तो मेरे लिये यह

Sumangala—Vilasini General introduction 46, p. 16

[८] विनयपिटक : महावग्ग १-५ महायाचन कथा, अनुवाद पृ० ७८

पं० रामचन्द्र शुक्ल : बुद्धचरित, पृ० १४५—

"आय बोल्यो 'बुद्ध हौ यदि करौ तुम आनंद,
जाय भटकन देहु औरन, फिरौ तुम स्वच्छंद।
गुनी तुम हौ तुमहि, उठिकै मिलौ देवन माहिं,
अमर हैं, निर्द्वंद्व हैं, जे करत चिन्ता नाहिं।'
बुद्ध बोले 'कहत उत्तम जाहि तू, हैं नीच;
स्वार्थ में रत होय जे बकु जाय तिनके बीच॥"

नरदुःख, और पीडामात्र होगी।" यह उत्साह को ठंडा कर देनेवाला विकल्प था, इससे संकल्प का मार्ग दुष्कर प्रतीत हो सकता था। पर सौभाग्य कि ब्रह्मा सहपति ने प्रकट होकर भगवान् से निवेदन किया—[9]

"उत्थेहि वीर विजितसंगाम सत्थवाह अनण विचर लोके,
देसेतु भगवा धम्मं अञ्ञातारो भविस्सन्तीति ॥"

स्व-प्रकाश द्वारा अज्ञानांधकार को दूर करने को सन्नद्ध बुद्ध गोतम ने अपनी यात्रा शुरू की। सर्वप्रथम उन्हें राजगृह के दोनों आचार्यों की याद आई, पर शीघ्र ही उनके स्वर्गवासी होने का समाचार मिला। पश्चात् बुद्ध ने अपने साथ तप आरम्भ करनेवाले पाँचों तपस्वियों से मिलने की इच्छा की, वे वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में विहार कर रहे थे। बुद्ध ने ब्राह्मणधर्म-केन्द्र बनारस को प्रस्थान किया। राह में आजीवक सम्प्रदाय के उपक नामक एक नग्न तपस्वी ने गौतम के मुखमण्डल के अति परिशुद्ध होने का कारण पूछा, जिसपर बुद्ध ने अपने पवित्र उच्च नव ज्ञान के लक्ष्य को प्रकट करते हुए कहा[10]—"धम्मचक्कं पवत्तेतुं गच्छामि कासिनं पुरम्।"

बनारस में पञ्चवर्गीय भिक्षु बुद्ध की शिक्षा से प्रभावित हो बुद्ध-संघ में सम्मिलित हुए, उस समय बुद्ध और उन पाँच दीक्षित तपस्वियों द्वारा प्रथम बुद्धसंघ निर्मित हुआ। वहाँ बुद्ध ने उन भिक्षुओं को अपने उद्देश्य का उपदेश दिया[11]—"भिक्षुओ! संसार-त्यागियों को काम और आत्म-

---

[9] विनयपिटकम् : महावग्ग १-५ [10] विनयपिटकम्: महावग्ग १-६, ८

[11] विनयपिटक . महावग्ग १-६-धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन,अ० पृ० ८०-८१

क्रमथ की अतियों का त्याग करना चाहिए और इनके बीच में मध्यम प्रतिपद् पर चलते हुए तथागत द्वारा आविष्कृत आर्य-अष्टांगिक मार्ग के साधनों द्वारा दूरदर्शिता, बुद्धि, उपशाम ज्ञान, सम्बोधि, तृष्णानाश और निर्वाण प्राप्त करना चाहिए।" फिर बुद्ध ने अरियसच्चानि (आर्य-सत्यानि) की शिक्षा दी[22]—"संसार में चारों ओर दु:ख ही दु:ख है। जन्म भी दुःख है, जरा भी दु:ख है, व्याधि भी दु:ख है, अप्रियों का संयोग दु:ख है, प्रियों का वियोग भी दुःख है, इच्छा करने पर किसी चीज का नहीं मिलना भी दु:ख है। संक्षेप में सारे भौतिक अभौतिक पदार्थ ही दु:ख हैं। दु:ख राग या तृष्णा से पैदा होता है, तृष्णा के तीन प्रकार हैं—काम, विभव, भव। दु:ख का नाश राग तृष्णा और काम के ही नाश के साथ होता है। राग-तृष्णा, काम और दु:खों का नाश अरिय-अट्ठाङ्गिक मग्ग (आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग) के ग्रहण से सम्भव है वे मग्ग हैं—ठीक-दृष्टि, ठीक-संकल्प, ठीक-वचन ठीक-कर्म, ठीक जीविका, ठीक-स्मृति, ठीक-समाधि।" इस शिक्षा से संतुष्ट हो पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने बुद्ध के भाषण का अभिनादन किया। यही

---

[22] बुद्ध के आर्य-सत्य चार हैं— दु:ख-सत्य, समुदाय-सत्य, निरोध-सत्य, मार्ग-सत्य। दुःखसत्य के अन्तर्गत दु:ख आठ प्रकार के हैं—जाति, जरा, व्याधि, मरण, प्रिय-विप्रयोग, अप्रिय-संप्रयोग, यदपि इच्छन् नो लभति तमपि, पंच उपादान स्कंध। पंच स्कंध हैं—विज्ञान, संस्कार, संज्ञा, वेदना, रूप। समुदाय-सत्य के भीतर दु:ख कारण हैं, वे सब १२ हैं जो निदान कहलाते हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति जरा-मरण। निरोधसत्य का सम्बन्ध अर्हत व निर्वाण से है।

उनका धर्मचक्र—प्रवर्त्तन था, जिसपर भूमि के देवताओं ने शब्द किया—"भगवान ने यह वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में इस अनुपम धर्म के चक्र को घुमाया जोकि किसी भी साधु, ब्राह्मण, देवता, मार, ब्रह्मा या संसार के किसी व्यक्ति से रोका नहीं जा सकता।"[13]

तृष्णा और काम के पूर्ण त्याग के निमित्त बुद्ध ने अपनी नई उक्ति उपस्थित की, जिसके समझाने में उनने सिद्धान्तनय व देशनानय का आधार लिया और सूत्र भी नीतार्थ व नेयार्थ प्रस्तुत किये; भिन्न २ रुचि व योग्यता के मनुष्यों के लिये उनने शिक्षा के यान भी भिन्न बनाए[14]। किन्तु शिक्षाओं का सार एक ही रहा[15]। उनने द्रव्ययज्ञ का परित्याग कर ज्ञानयज्ञ को ग्रहण किया और मनुष्य को कम्मदायाद बताते हुए कर्म को उनकी अपनी सम्पत्ति कहा। उनने स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म का कारण कम्मयोनि को मानते हुए कर्म को 'कम्मप्रतिशरण' भी कहा।[16] परन्तु आत्मविदों के 'आत्मन्' से उनका

---

[13] विनयपिटक : महावग्ग १-६ धर्म-चक्र-प्रवर्तन, अनुवाद पृ० ८२

[14] लंकावतार सूत्र—"देवयानं ब्रह्मयानं श्रावकीयं तथैवच।
तथागतं च प्रत्येकं यानान् एतान् वदाम्यहम्॥"
"परिकर्षणार्थं बालानां यानभेदं वदाम्यहम्"॥

[15] सर्वदर्शनसंग्रह : बोधिचित्तविवरणे—"देशना लोकनायानां सत्त्वाशयवशानुगा:। भिद्यते बहुधा लोके उपायैर्बहुभि: किल॥"

[16] मज्झिमनिकाय-पृ० २०३ [17] दीघनिकाय : पातिक सुत्तन्त

The questions of king Milind, pp. 105 6 "Just so great king it is through the influence of karma that that brings in purgatory, though they burn for thousands of years, yet are they not destroyed. If they are reborn there, there

मतभेद रहा। जिसका कारण समझाते हुए बुद्ध ने ही कहा है—[15]"मैं ईश्वर से सृष्टि को बतलानेवाले श्रमणों और ब्राह्मणों के ब्रह्मवाद को जानता हूँ, किन्तु उन्हें जानकर मैं अपने ज्ञान को गदला नहीं कर सकता। मेरा विषय सृष्टि का आरम्भ या मनुष्य का आरम्भ नहीं है। बोधिसत्व का आधार युक्तिशरण है, धर्मशरण है—पुद्गलशरण नहीं।" ऐसे सिद्धान्त के साथ तृष्णा-काम के नाश-निमित्त बुद्ध ने सिद्धान्त बनाया—[16] "दुःखों की उत्पत्ति काम से होती है और काम का उद्गम अहंकार व ममकार है, अहंकार आत्मन् के भाव से पैदा होता है और ममकार पंचस्कन्धयुक्त आत्मीय विचारों का भाव है। आत्मन् वास्तव में प्रज्ञप्तिसत् है, द्रव्यसत् नहीं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान पंचस्कंध हैं, ये आत्मीय के साथ आत्ममोह पैदा करते हैं; जो सत्कायदृष्टिवाले आत्मन् को सत्य समझते हैं वे आत्मीय में लीन रहा करते और उसके मोह का कदापि त्याग नहीं कर सकते। इसकारण योगी संक्लेश का कारण आत्ममोह को ही जानकर आत्मन् का त्याग करते हैं। अतः अनात्मवादी होना ही ठीक है। अनात्मन् या शून्यता या नैरात्म्य ही सत्य है; इस अनुभव के ज्ञान को आत्ममोह नहीं हो पाता, तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

do they grow up, and there do they die. For this, O king, has been declared by the Blessed One: He does not die until that evil karma is exhausted."

[15] मज्झिमअवतार ६-१२६; विनयपिटकम्—महावग्ग १-६—१८,

[16] मूलमध्यमकारिका १८-२५

नेर्वाण की प्राप्ति ही सच्चा सुख है, जिस समय तृष्णा-राग-काम का ज्वर कोई संताप नहीं पहुँचा सकता।''

बुद्ध का यह 'अनात्मन्' औपनिषदिक शुद्ध ज्ञानवाद का ही दूसरा नाम या स्वरूप था और बुद्ध द्वारा इस नाम के देए जाने का भी उस समय एक प्रधान कारण था। बुद्ध के सामने आत्मा पर दो मत प्रचलित थे। ब्राह्मण, योगी आदि का कहना था कि आत्मा शरीर के भीतर व शरीर से भिन्न कोई नित्य चेतन कूटस्थ वस्तु है जिसके शरीरान्तर में चले जाने से शरीर निष्प्रभ व्यर्थ व चेष्टारहित हो जाता है, किन्तु व्यवहारनय में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' व 'सोऽहं' द्वारा इसका दुरुपयोग होते बुद्ध ने देखा, सोचा कि क्यों प्रज्ञा के अभाव में ज्ञानवादी भी अज्ञ अलगद्द-गवेषी की भाँति राग-द्वेष-काम-तृष्णा के अधीन आत्मप्रिय ही हो रहे हैं, परार्थ में आत्मत्याग को कहीं मान नहीं है[१९]। अतः बुद्ध ने इस दोष को त्याज्य माना। जो इस दोष के मूल आत्मवाद को नहीं माननेवाले दूसरे दल के लोग थे उनसे बुद्ध ने सुना कि शरीर से भिन्न आत्मा कोई वस्तु है ही नहीं, शरीर में प्रभाव व चेष्टा का होना भिन्न २ परिणाम में मिश्रित रसों का फल है। यह आत्मज्ञान के त्याग की वह चरम सीमा थी जिससे और भी बुराइयाँ जन-समाज में सम्भव थीं। इस हेतु बुद्ध ने न रूपनाम-गत आत्मा को स्पष्टतः स्वीकार किया, न शुद्ध आत्मा का खंडन किया, अर्थात् उनने न आत्मा को

---

[१९] मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपम-सुत्तन्त, अनु० राहुल सांकृत्यायन—पृ० ८६।

सर्वथा नित्य माना न सर्वथा अनित्य [20]। उनने अध्यात्म-परिवर्तन और स्कन्धयोगोत्पन्न शक्ति को अपनी शिक्षाओं में समुचित मान देते हुए 'अनात्मन्' सिद्धान्त का प्रचार आरम्भ किया, और सर्वदा अपने को अनित्य दुःखरूप इंद्रियादि अनात्मा से भिन्न समझते हुए वह प्रज्ञा-सम्पदा के ज्ञानदान में तत्पर रहे। [21] तदनुकूल उनने बनने-बिगड़ने वाली सर्वावस्थाओं के अनित्य होने का उपदेश दिया और प्रत्येक के लिये निर्वाणदशा को नित्य माना। इस निर्वाण का स्वरूप अपने व्यक्तित्व का त्याग कर ज्ञानज नित्य आनन्दमय अमरत्व में लीन होना है, जिसको श्रेष्ठता समझाते हुए बुद्ध से कहीं पहले यम ने शुद्ध आत्मज्ञान जिज्ञासु नचिकेता को 'गोतम' नाम से सम्बोधित करते हुए उपदेश दिया था—[22] "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनं।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥"

---

[20] दोनों के एकान्त मानने से जो दोष सम्भव है उसे दर्शाते हुए स्वामी समंतभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में कहा है—

"नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत् फलं ॥३७॥
क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभ कुतः फलं ॥३८॥"

[21] मज्झिमनिकाय, भयभेरव-सुत्तन्त (४)—"पञ्ञाय सम्पन्नोऽहं स्मि, ये हि वो अरिया पञ्ञा संपन्ना अरञ्ञे। ते सं अहं अञ्ञतमो, एतं अहं पञ्ञा संपदं अत्तनि संपस्समानो भिय्योपल्लोमं अरञ्ञे विहाराय।"

[22] कठोपनिषद् अ० २-व० ५-६; अ० २-व० ६-१५

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"

वस्तुतः यह अनात्मन् का दृढ़ज्ञानपक्ष था और उसे कट्टर-ज्ञानवादियों की ही भाँति 'ईश्वर' के पृथक् निरूपण की भी आवश्यता नहीं हुई। तीर्थङ्करों ने भी जगत् को अनंत व अनादि मान आत्मा के अस्तित्व से ही संतोष धारण किया था वे जगत-निर्माता किसी ईश्वर की खोज में व्याकुल नहीं हुए, क्योंकि जैनतत्वज्ञान में शुद्ध स्वयं चैतन्यमय अविनाशी पूर्ण आत्मा के बाद किसी परमात्मा को जगह नहीं रह जाती थी [२३]। बुद्धने भी अस्पष्टरूप में वैसी ही शुद्ध आत्मा का अवलम्बन किया, इस हेतु उन्हें भी उससे भिन्न किसी परमात्मा या ईश्वर की ज़रूरत नहीं रह गई। फलतः उनने अनात्मन्-सिद्धान्त में जगत् के कर्ता किसी ईश्वर को कतिपय शब्दों में स्थान नहीं दिया, बल्कि व्यवहारनय के दृष्टान्त द्वारा समझाया कि कोई वैसे अनन्त ज्ञान शक्ति व सुख के स्वामी का विचार कैसे कर सकता है जो अपने बच्चों को पैदा कर आपही दीर्घ काल तक नरक में डाले रहे; या पैदाकर उसे संसार में भेज देवे जिसमें वह उसके जानने में ऐसा अपराध करे जिसके दण्ड में आजीवन क़ैद में रहना पड़े [२४]। पर ईश्वर के नहीं

---

[२३] ज्ञानार्णवे- "अनादिनिधनः सो ऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥४-११॥
यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः।
उत्पद्यंते विपद्यंते कर्मपाशवशं गताः ॥ ६-११ ॥"

[२४] George Grim: The Doctrine of the Buddha, p. 306—"How can human insight bear the thought of a God ...ht to ... the su... of ... ite gr...

मानने से ही ईश्वरवादियों के उन्नत आदर्श का अभाव उनकी शिक्षाओं में नहीं रहा, क्योंकि ईश्वर-प्रेमी ईश्वरप्राप्ति द्वारा जैसे मोक्ष की चाहना करते थे उसका समकक्ष निर्वाण बुद्धमत में जीवन का सर्वश्रेष्ठ ध्येय रहा।

बुद्ध का निर्वाण भी नियतलुप्त स्थान स्वर्ग से भिन्न था, वह बुद्धत्व भी नहीं था, बल्कि बुद्धदशा का अमर शांत निरंजन जीवन था। वह अभावरूप न होकर शुद्ध आत्मा का अज्ञात अमर अनुभवगम्य, योगक्षेम, जरारहित, शोकहीन, अनुत्तर स्वभाव था[२६]। निर्वाण इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द होते

---

power, creating beings whom he knows to be condemned in an overwhelming majority to eternal damnation in a hell What would we think of a father who would send his child into the world, knowing for certain that it would later on commit 'voluntarily' a crime that would be punished with life-long imprisonment-"

[२५] मज्झिमनिकाय, महामालुक्यसुत्तन्त (६४)—"वह उन धर्मों से चित्त को निवारण करके अमृत (= निर्वाण) धातु (= पद) की ओर चित्त को एकाग्र करता है—यह शांत प्रणीत (= उत्तम) है, जो कि यह संस्कारों का शमन, सारी उपाधियों का परित्याग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध (रूपी) निर्वाण है।" अनु० राहुल सांकृत्यायन, पृ० २५६

[२] मज्झिमनिकाय, अरियपरियेसन (पासरासि) सुत्तन्त—"निब्बानं परियेसमानं अजातं अनुत्तरं योगक्खेमं अज्झगमं। अजरं अब्याधिं अमतं असोकं असंकिलिट्ठं। अधिगतो खो मे अयं धम्मो गंभीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो, अतक्कावचरो, निपुणो, पंडित-
।"

मरण के उपरान्त मिलनेवाला नहीं था, वह इसी जीवन में लभ्य धर्मपद से उच्च आनन्द की दशा का द्योतक था। संसार न थके पुरुषों के लिए वह एक पवित्र आदर्श था, जो सारिपुत्र के अनुकूल काम-घृणा-अज्ञान-जरा से रहित था। वह एक नया जीवन था जिसमें पूर्ण शान्ति थी, निर्भयता थी, मृत्युभय पर विजयोल्लास था, अमृतत्व की दृढ़ धारणा थी और तृष्णा से रहित योगक्षेम था। मृत्यु के विकराल भय से अमर होने के तरह २ के विश्वास अन्य सिद्ध दिया करते थे पर अधिकांश में वे अमृतत्व को मृत्यु के बाद लभ्य कहते थे; अनात्मन् ने उसी विश्वास को निर्वाण द्वारा जीवन में ही लभ्य कहा और सांख्य वेदान्त तथा गीता की नाई कर्मशीलता से संयुक्त मानव विश्वव्यापकता को दूसरे शब्दों में निर्वाण द्वारा प्रकाशित किया। निर्वाण अर्हत की मरणदशा की समानता रखता था और इस प्रकार उसकी अपनी स्वतंत्र सत्यता थी, जिसके साथ वैयक्तिक कर्मफल का अवशेष नहीं रह जाता था। उसकी ऐसी अनिर्वचनीया सत्यता में न जन्म था न मरण, न उपाधि थी न उपादान, न स्कन्ध था न संस्कार या विज्ञान, न जल था न आकाश; वह शिक्षा-समुच्चय के शब्दों मे भिन्न अनश्वर विज्ञान था जिसमें सत्यता ही नहीं प्रियता और सुभगता भी थी। यह कोरा शून्य नाश तो कदापि नहीं था, बल्कि नाश से बचने का अचल विश्वास था यद्यपि भाव और प्रपञ्च से मुक्त करने वाला था। सारांश कि ध्रुव शुभ व सुखमय निर्वाण ध्यान व ज्ञान से संलग्न दुःखनाश और शान्ति-लाभ द्वारा आचार-श्रेष्ठ महापुरुषों के निर्माण के लक्ष्य की ओर प्रवाहित होनेवाला आध्यात्मिक स्रोत था, जो बुद्ध के

अनात्मन् आवरण से आच्छादित होने पर भी सनातन महास्रोत की एक शाखा रूप में प्रकट होकर तृष्णा काम-दग्ध जीवों को परम शान्ति देने के लिये पैदा हुआ था।

'अनात्मन्' के ऐसे स्वरूप पर ध्यान देने से विदित होता है कि बुद्ध ने 'धर्म्म-चक्र-परिवर्तन' कर वास्तव में सनातन-मार्ग से विचलित स्वकालीन आर्य-समाज को पुनः पुराने मार्ग पर ही लाकर सामाजिक घृणा-राग-द्वेष आदि द्वारा किये जाते अधर्म्म को रोकने का यत्न किया। पर उनने "आत्मानं चेद्विजानीयादयस्मीति पुरुषः" के [२७] आत्मवादीत्व से जो अहंकार फैल रहा था उसे दूर करना श्रेयस्कर समझा और "द्वितीयाद् वै भयं भवति" की [२८] भी 'अस्तीति' से रहित नई व्याख्या कर पारस्परिक द्वैत के नाश पर ध्यान दिया। अनात्मन् के समझाने की युक्ति में नवीनता अवश्य थी, किन्तु उसका प्राण व शरीर पूर्वप्रचारित सिद्धान्तों से ही बना था [२९]। क्योंकि तपस्या के पूर्व बुद्ध ने जो शिक्षा ब्राह्मण-दर्शन से ली थी उसकी छाप उन पर विद्यमान रही, उसीसे उन्हें योग में प्रवृत्ति हुई और जान पड़ता है कि उसी कारण से सफलता के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम अपने उन्हीं गुरुओं के दर्शन का विचार किया, पर वे स्वर्गगत हो चुके थे।

---

[२७] बृहदारण्यकोप० ४-४-१२ [२८] बृहदारण्यकोप० १-४-२

[२९] "This teaching contains, in itself, absolutely nothing new, on the contrary, it is entirely identical with the corresponding Brahmanical doctrine, only the fashion in which proclaimed and disseminated it was something altogether novel and unwonted" Weber . History of Indian p 289.

पुनः काम्यचक्र को दूषित बतानेवाले तत्त्वज्ञान से ही आन्तरिक ज्ञान का प्रकाश बुद्ध ने भी प्राप्त किया और 'चित्तवृत्ति-निरोध' के योग की चार अवस्थाओं को पार कर बुद्धावस्था की उनने प्राप्ति की। 'अरिय सच्चानि' की शिक्षा अत्यारम्भ में देने की स्वीकृति बुद्ध ने स्वयं की और पीछे दुःखमय संसार से अमृतत्व पाने की शिक्षा भी ब्राह्मणदर्शनों के ही अनुकूल हुआ जिसके उद्देश्य को सर्वप्रथम सांख्य ने [20] प्रकट किया था--"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।" बुद्ध की अनात्मन् व्याख्या का आरंभ भी बृहदारण्यक के [21] "येतत्प्रेय : पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादनंतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं छे रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति।" वचन से होता है। उसके दूसरे वचन में [22] बुद्ध ने पाया कि इसी आत्म-प्रियता--"आत्मनः कामाय" के कारण संसार में प्रगाढ़ आसक्ति होती है, फिर वह इस आलोचन मे लगे कि वैसी दशा मे आत्मबन्धन की सारी सामग्रियों का ही शून्यरूप क्यों न समझा जाय। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। वही उनका नैरात्म्यसिद्धान्त हुआ। उनने अनात्मन् का पक्ष लिया और आसक्ति के पदार्थों की अनित्यता समझाना आरंभ किया।

सांख्य ने प्रकृति को नित्य व सत्य कहा था और उसके कार्य का भोक्ता पुरुष को रक्खा था, यह धूममार्ग का प्रत्युत्तर था। बुद्ध ने इससे भिन्नता रखते भोगवृत्ति

---

[20] सांख्यकारिका--१ [21] बृहदारण्यकोप० १-४-८

[22] बृहदारण्यकोप० २-४-५

में ही उदासीनता समाविष्ट करने की चेष्टा कर वैदिक विचार-साहाय्य से काम का सर्वथा त्याग उत्तम समझा। पर सांख्य के तत्वज्ञान को वैसा ही स्थान दिया और अविद्या का अर्थ तत्व में मिथ्या प्रतिपत्ति करते हुए कहा—[२३] "तत्वे प्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानं अविद्या।" यह प्रज्ञा-पारमिता से दूर होती है। इति वुत्तक में[२४] कहा गया कि दुर्भाग्य अविद्यामूलक है जो काम-वासना से पैदा हुआ करता है और संयुक्तनिकाय ने[२५] कहा कि सारी बुराइयों की जड़ अविद्या ही है।

बुद्ध के जीवन में 'मार' से विशेष संग्राम करने की अनेक घटनाएँ वर्णित हैं और मार पर विजयी होकर ही गौतम बुद्ध बन सके[२६]। बुद्ध के अनात्मन्-सिद्धान्त में इस प्रकार मार का प्रमुख स्थान है, पर इसकी छाप गौतम के विचारों पर वैदिक धारणाओं की ही जाननी चाहिए। कठोपनिषद् में नचिकेता का आख्यान है। नचिकेता ने अविद्या

---

[२३] शालिस्तम्बसूत्र, माध्यमिकावृत्ति, पृ० ५६४

[२४] इतिवुत्तक ४०, पृ० ३४ [२५] संयुत्तनिकाय२ ०—१

[36]. Dr. J. Denıker The Gods of Northern Buddhism-introduction, p x x - "To all the causes of difficulty inherent in his taste bas been added the malevolence of Mara, the Genius of Evil and his personal enemy. . ..... But Sakya comes Victorious from these trials. It will be recognized that these narratives are a parable, easily comprehensible by the multitude, of the inward strife waged in the soul of Sakya between natural attachment to the outer world and pleasures of life and the total renunciation of the ascetic."

का त्याग किया, ज्ञान को अपनाया, जीवों के प्रति दया कर अपने को मृत्युदेव यम के हवाले कराया, सांसारिक नाशशीला विभूतियों का उसने परित्याग किया, फलतः यम पर वह विजयी हुआ, यम के प्रलोभन व्यर्थ गए और अमृतत्व का रहस्य नचिकेता को प्रतिभाषित हुआ। गौतम के जीवन में इसका पूरा सादृश्य है[२७]। क्षत्रियकुमार होकर उसने आपही सुखों का त्याग किया, अविद्या से असंतुष्ट हो विद्या को श्रेयष्कर माना, सांसारिक सुखों का त्याग कर जीवनकल्याण के लिए भूखाप्यासा रह कर परम ज्ञान पाने की चेष्टा की, मार ने इस चेष्टा में अनेक विघ्न पहुँचाए अनन्त लोभ दिखलाए और समय २ पर प्रवृत्ति की ओर लगने की राय दी। पर गौतम को बुद्ध होने का उत्साह था, वह अमृतत्व के प्यासे थे, उन्हें मार पर सफलता मिली और ज्ञान पाकर वह पुनः नचिकेता की भाँति अपने स्वजनों की ओर लौटकर नए ज्ञान का प्रचार करने लगे। मार व मृत्यु दोनों ही मृ-मरना धातु से सिद्ध हैं, और बौद्ध ग्रन्थों में मार व मच्चु (मृत्यु) का प्रयोग भी एक ही अर्थ में किया गया[२८] है। यम का सम्बन्ध मृत्यु से ही है और,

---

37. "If I am correct in my surmise as to the time of the prodution of this Upanishad, it contains an important contribution to the history of thought preparatory to Buddhist thought namely, we here find the Satan of the Buddhist world Mara, the Tempter, the demon death-foe of the deliverer, in the form of Mrityu, the God of eath" Oldenberg Buddha, p 54 5.

२८ धम्मपद ३४—"मारधेय्यं पहातवे" ८६—"मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं", ४६—"छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे", ५७—"मारो मग्गं न विन्दति" १७०—"मच्चुराजा न पस्सति।"

यह मृत्युदेव है। फलतः मारविजय का मूल नचिकेतोपाख्यान में गौतम से पहले ही विद्यमान था, इसमें सन्देह नहीं और इस वर्णन से गौतम की शिक्षा भी अवश्य ही प्रभावित हुई।

काम या तृष्णा का त्याग बुद्ध की शिक्षाओं का दूसरा प्रमुख विषय था, बल्कि धम्मपद के अनुसार यह प्रकाश की १ ली किरण थी। इसका प्रचार करने में भी बुद्ध ने पुरातन विचारों से भारी सहायता पाई। संहिताकाल की स्तुतियों में काम-सम्बन्धी अनेक उल्लेख वर्त्तमान हैं और गीता तक उन पर रायें प्रकट होती गई हैं। बुद्ध ने उनपर विचार कर उसे ही दुःखों का मूलकारण पाया। ऋग्वेद का[39] का कथन है—"कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि" और अथर्ववेद में[40] आया है—"क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता काम समुद्रमा विवेश। कामेनत्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते।" इन वचनों में काम या तृष्णा समुद्र के सदृश अनन्त कही गई है जिस भाव को अथर्ववेद ने[41] अन्यत्र भी व्यक्त किया है— "ज्यायान् निमिषतोसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।" काम के स्वरूप पर अति सुन्दर सम्मति मनुस्मृति में[42] भी दी गई है—

> "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

तैत्तिरीय ब्राह्मण ने[43] भी काम की विशालता की उपमा

---

[39] ऋग्वेद ४-१२९-४ [40] अथर्ववेद ३-२९-७
[41] अथर्ववेद ६-२-२३ [42] मनुस्मृति २-९४
[43] तैत्तिरीय ब्राह्मण २-२-५-६; २-८-९-५

समुद्र से देते हुए "समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यन्तोस्ति" और कठने[44] काम को शान्त करने पर ही अमृतत्व को सुलभ बताया है, जिसपर बृहदारण्यक ने भी[45] कहा है—'तदेष श्लोकोभवति—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।"

बल्कि बृहदारण्यक एक स्थल में अनात्मन् का स्पष्ट मूल आरोपित करते हुए कहता है-- "याज्ञवल्केति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं॰ शरीरमाकाशमात्मा... निधीयते.. ...तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशं॰ सतुः कर्म हैव तत्प्रशशं॰ सतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो जारत्कारव आर्त्तभाग उपरराम।" इस कथन मे आत्मा का आकाश में लीन होना कहा गया है और यह भी कि उस दशा में केवल कर्म या कर्मफल ही रह जाता है।[46]

एव प्रकार बुद्ध के अनात्मन्-सिद्धान्त व उससे सम्बन्ध रखनेवाले मुख्य विषय ब्राह्मणमत के प्राचीन सिद्धान्तों में

---

[44] कठोपनिषद् ६-१४ [45] बृहदारण्यकोप॰ ४-४-७

46 "In Brih 3 2-13 it is stated that after death the different parts of a person return to the different parts of Nature from whence they came, that even his soul (atman) goes into space and that only his *Karma* or effect of work remains over This is out and out the Budhist doctrine." Hume: The Thirteen Principal Upanishads Introduction, p 6.

मूलभूत सिद्ध होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् का अनात्म्य-रहस्य प्रकट करता है कि बुद्ध ने 'अनत्त' शब्द भी ब्राह्मण दर्शन से ही ग्रहण किया और अव्यक्त असत् सम्बन्धी पुरातन धारणाओं को ध्यान में रखते हुए उसके अनिर्वचनीय स्वरूप पर अपना युक्तिनिपुण शिक्षा महल निर्मित किया [४५]। तदर्थ या तो उन्हें ब्राह्मण दर्शन का अध्ययन किया या उस मूल पर विकसि जैनमत के सिद्धान्तों से अपना मन निश्चित किया। पता चलत है कि आरम्भ में जैनमत के आचरण का पालन भी बुद्ध ने किय पर वह उसपर स्थिर नहीं रहे [४६], फिर उनने ब्राह्मणमत वे

---

[४५] तैत्तिरीयोपनिषद् २-७ "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयंगतो भवति" बृहदारण्यकोपनिषद् १-२-१ "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया । अशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति ।" कठोपनिषद् ६—८ "अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥" ऋग्वेद १०—७२—२ "देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत ॥"

जीवन व मृत्यु की दशाओं के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०—१२१—२ "यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम" और उनकी अभिन्न अवस्था के विषय में ऋग्वेद १०—१२९—१,२ "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।", "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।"

[४६] मज्झिम-निकाय के महासीहनाद सुत्तन्त (१२) में बुद्ध ने सारिपुत्र से अपनी तपस्या व मुनि-अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—"अचेलको होमि . हत्थापलेखनो......एकाहं च आहारं आहारेमि द्वीहिकं व आहारं आहारेमि, सत्ताहिकम्पि आहारं आहारेमि । इति अद्धमासिकंपि परियाय भत्तभोजनानुयोगं अनुयुत्तो विहरामि...

अनुकूल निष्काम कर्म के मार्ग का चिन्तन किया। अनन्तर, उसका भी त्याग कर उनने दोनों के बीच के मध्यम मार्ग को अपनाया। बुद्ध के प्रथम भाषण से ही यह प्रमाणित है कि इनका उद्देश्य था लोगों को कामयज्ञ व कायक्लेश की अतियों से बचा कर [१९] मध्य मार्ग पर अग्रसर करना। कामयज्ञ से ब्राह्मणों की याज्ञिक क्रियाओं की ओर और कायक्लेश से जैनियों के शरीर-शोषक तप की ओर बुद्धका संकेत प्रतीत होता है और इन दोनों के दोष-रूप को निकाल देने पर उनकी शिक्षा में जैनियों के पवित्र अहिंसात्मक आचार व ब्राह्मणों की आत्मबोधजनक ज्ञान-सम्बन्धिनी धारणाएँ शेष रह जाती हैं। किन्तु गौतम बुद्ध ने इनके निमित्त अपने को ग्रन्थ-प्रमाण के संकट में नहीं डाला, चाहे उसका जो भी कारण हो। उनने बुद्धि व अनुभव की प्रामाणिकता पर तत्कालीन जैनमत के अनुकूल चारित्रसम्बन्धी वर्णनों को शिक्षा का आधार बनाया और मनुष्य का अपना मालिक आप कह उनके कल्याण को कर्म्मनय पर दृढ़ किया।

केस्स मस्सुलोचको विहोमि केथयस्सु लोचनानुयोगं अनुयुत्तो, यावउद विन्दुम्हि पिभे दया पच्च पदिता होति। माहं खुद्दके पाण विसगमते सघातं भायादेस्संति। गाथा—सो तत्तो सो सीनो एकोमिंसनके वने। नग्गो न च अग्गिं असीनो, एसनापसुतो मुनीति॥"

इसमें वस्त्ररहित रहने, केशलोंच क्रिया के पालन व कायता-पाचार का जैसा वर्णन है वह जैनियों के आचार के अनुकूल है और दिगम्बर जैनमुनि की चर्या से मेल रखता है। श्रीवट्टकेर स्वामी के प्राकृत-ग्रन्थ "मूलाचार" वर्णन जैनमुनि-क्रिया से इस अंश की पूरी समानता है।

[१९] संयुक्तनिकाय ५५, २—१ महावग्ग

ऐसा करने में उन्हें न किसी ग्रन्थ से प्रमाण लेना पड़ा, न न्याय-तर्क आदि की सहायता से प्रमाण कोटि को सजाने की आवश्यकता हुई। वादविवादवाले विषयों से भी अपने को कुछ दूर ही रखते हुए उनने उन्हें अनुभवगम्य घोषित किया। तीर्थङ्करों की शिक्षाओं में आत्मा पर स्पष्ट कथन थे, पर उनकी व्याख्या में भी पड़ना बुद्ध को अच्छा नहीं लगा। निष्काम कर्म पर ही बुद्ध ने ज़ोर दिया और काम-वासना-तृष्णा-फलाशा के त्याग को उत्तम कहा। कर्ममार्ग पर जैसा उपदेश उनने दिया उससे विदित होता है कि गीता का कर्मनयोपदेश उन्हें प्रिय था और गीता के सिद्धान्त को सम्प्रदाय-रूप में प्रचार करना भी बुद्ध को अभिप्रेत हुआ[59]। गीता-सिद्धान्त के साथ बुद्ध-मत के कतिपय प्रमुख विचारों की तुलना करने से इस सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

गीता में[60] कृष्ण ने चक्रपरिवर्तन का प्रसंग छेड़ते हुए कहा है—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवार्जुन," किन्तु यह भेद केवल कृष्ण ही जानते थे क्योंकि उनकी बुद्धि निष्काम कर्मयोग से निरंजन हो गई थी; फिर उनने अर्जुन को देह-त्याग पर तथा ब्रह्मप्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होने का भी विश्वास दिया—[61]"त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।"

---

[59]. Dr. Macnicol . Indian Theism, P. 65—"The Budhist radition certainly moves in a Krisnaite atmosphere . . Wore or less altered and distorted, a certain Visnuite inheritance survives, carried down by Budhist currents".

[60] गीता ४-५; ३-१६ "एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।"

[61] गीता ४-९; ८-१६ "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।"

बुद्ध में भी ये बातें ज्योंकी त्यों मिलती हैं। बुद्ध की जो प्रथम शिक्षा बनारस के मृगवन हुई उसका नाम है--"धम्म-चक्क-पवत्तन-सुत्त,"[५३] अर्थात्--"धर्म-चक्र प्रवर्तन-सूत्र" और आन्तरिक प्रकाश के आते ही बुद्ध को अनेक पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया और उसे उनने[५४] "अनेक जाति संसार" कहकर प्रकट भी किया। तदुपरान्त इनकी शिक्षा अनात्मन् पर हुई, जिसमें देहत्याग के उपरान्त पुनर्जन्म नहीं होने का समर्थन किया गया। गीता को यज्ञ प्रिय नहीं था, इसका ध्येय था मनुष्य को ऊँचा उठाकर कर्मशील बनाना और कर्म करते हुए भी विश्वव्याप्ति की भावना के निमित्त कर्मफल को ब्रह्मार्पण कर देना; बुद्ध की भी शिक्षा यौगिक विवेचनों से रहित काम्य चक्र से दूर रह निष्काम होने की हुई और विश्व-प्रियता उसका ध्येय रहा, बुद्ध कर्म्मफलवादी थे, उनके मन में निर्वाणलाभ का एक मात्र उपाय कर्म्मबुद्धि ही थी। कृष्ण ने[५५] 'यो मे भक्तः समप्रियः' के सिद्धान्त के साथ साथ 'बुद्धौ-शरणमन्विच्छ' का आदेश किया, ब्रह्मप्राप्ति का नाम निर्वाण-प्राप्ति दिया और निर्वाण की व्याख्या शान्ति से की। बुद्ध ने वही किया, उनने स्वानुयायियों का संघ भी बनाया,

[५३] श्री जगन्मोहन वर्मा : बुद्धदेव, पृ० १०६--"आजीवक के प्रश्न पर गौतम बुद्ध ने कहा--वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिकां पुरीं। धर्मचक्रं प्रवर्तिष्ये लोकेस्वप्रतिवर्तितम्॥

[५४] धम्मपद-जरावग्गो ८

[५५] गीता २-४९; २-७२; "ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति;" ६-१५ "शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति,"

'बुद्धं शरणं गच्छामि' की प्रतिज्ञा का नियम बनाया, ब्रह्मप्राप्ति के स्थान में अनिर्वचनीय निर्वाण को उपस्थित किया और निर्वाण की दशा में सच्ची शान्ति के उपभोग का कथन किया। संघ के बाहर घरेलू जीवन में जातिभेद अपरिहार्य था और वहां बौद्धमतानुयायी भी नीचजातिगत जन्म को पूर्वजन्मार्जित पाप का फल मानते थे, भिक्षुओं द्वारा भी जात्याभिमान का सहसा परित्याग नहीं किया जा सका, तथापि संघजीवन के लिए बुद्ध ने शिक्षा दी कि जिस प्रकार गंगा-जमुना-सरयू-प्रभृति महानदियाँ समुद्र में मिलकर अपना २ नाम गँवा सागरांश हो जाती हैं उसी प्रकार क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य शूद्र संघप्रविष्ट होकर अपने जातिगत पार्थक्य को गँवा एकसा श्रमण बनजाते हैं; [६६] यह शिक्षा सर्वांश में कृष्ण की समबुद्धि-'यो मे भक्तः स मे प्रियः' के ही समान थी। अन्य विशेष समता यह है कि गीता में सांख्यमत का प्राचुर्य है और उसके सिद्धान्तों का विशद विवेचन नाना युक्तियों से किया गया है, जैसा करने में गीताकार ने सरल-सरस शैली में अविरोधात्मक भाव के साथ मध्यवर्ती पद का अनुसरण किया है; धर्ममूल वेद के सम्बन्ध में अर्जुन से कृष्ण ने कहा था— [६७] "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" और ब्रह्म के विश्वरूप को ही दर्शाते हुए कर्म को ही प्रधान रक्खा था। बुद्ध ने भी अपनी शिक्षाओं में ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों का उल्लेख किया, वेद को विशेष स्थान नहीं दिया, वैदिक पशुओं का विरोध किया [६८],

---

[६६] श्री ईशान चन्द्रघोष : जातक २रा खण्ड, पुरातत्वारम्भ में।
[६७] गीता २-४५
[६८] Oldenberg: Budha p 172 दीघनिकाय : अम्बठ सुत्त।

कर्म को विशेषता दी, निष्काम हो तृष्णा से दूर रहना कल्याणप्रद माना और योग तथा सांख्य के सिद्धान्तों का अपने उपदेशों में प्राचुर्य रक्खा। कोलब्रुक, हॉजसन, बर्नफ, लैसेन, वेबर, डेविस आदि पश्चिमी विद्वानों ने सांख्य व बौद्धमत में समानता परिदर्शन कराते हुए बौद्धमत का आधार सांख्य के होने की जनश्रुति को प्रमाणित किया है[५९]। बुद्ध-मत में कपिल व पञ्चशिख बुद्ध के पूर्ववर्ती भी माने गए हैं और जिस कपिलवस्तु में गौतम का जन्म कहा जाता है उसका सम्बन्ध भी कपिल से प्रकट होता है[६०]। सांख्यसूत्रों में[६१] "वृत्तयः पञ्चतय्यः", "तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्", "अशक्तिरष्टा विंशतिधा", "तुष्टिर्नवधा", "सिद्धिरष्टधा" आदि संख्या परक वचन आए हैं, उन के सदृश बुद्ध-शिक्षाओं में भी कई संख्यात्मक कथन यत्र तत्र मिलते हैं। सांख्य ने[६२] कहा था—

---

[५९] Colebrooke Miscellaneous Essays Vol I, p 240, JASB III p 522,

Weber. History of Indian Literature, p 284 "Buddhist tradition has itself preserved in individual traits a renunciance of this origin of Buddha's doctrine, and of its posteriority to and dependence upon the Samkhya system, a far earlier date

[६०] "The place was evidently named after the great sage in his honour, but it is not known whether he was born there or lived there" R Garbe Aniruddha's Commentary-introduction p xx

[६१] सांख्यप्रवचनसूत्र २-३३, कारिका ४६, सा० प्र० सूत्र ४-३८, ३-२९, ४-४०   [६२] सांख्यप्रवचन सूत्र ६,६ ८

"कहीं कोई सुखी नहीं है, कहीं कोई है भी तोदुःख ही सामर्थ्यवान् है।" इसी विचार से बुद्ध का गृह त्याग हुआ था और वह नित्य सुख की खोज में बहिर्गत हुए थे। शरीर तपाने के विरुद्ध सांख्य व बौद्ध मत दोनों ही रहे। सांख्य के 'नास्ति' 'नमे' 'नाहम्' के अनुकूल ही बुद्ध का 'अनात्मन्' रहा और सांख्य के 'संस्कार' का प्रयोग भी बुद्ध ने 'संखार' द्वारा किया। ऐसा कर वैदिक धर्मानुयायियों द्वारा पददलित दीन-हीन-पुरुषों को ज्ञान-प्रकाश में लाकर धर्मवान् बनाना ही बुद्ध का लक्ष्य था। उसकी पूर्त्ति भी संघ-स्थापना द्वारा की गई, यह संघ ब्राह्मणों के चार-आश्रमों का ही एक आश्रम संन्यास का था; अन्तर यही था कि ब्राह्मण संन्यासियों से अधिक तत्परता बौद्ध संन्यासियों ने प्रचार-कार्य में दिखलाई, बौद्ध भिक्षुओं का वेश-भूषा भी वैदिक संन्यासियों के सदृश ही रक्खा गया।[63] संघ में धर्म की शिक्षा तात्कालिक मागधी में ही दी जाती थी, क्योंकि संघ में आनेवालों में अधिकांश संस्कृत नहीं जानते थे। बुद्ध ने धार्मिक रूढ़ियों के कुफल पर विचार किया था, इस कारण सांख्य—गीतादि के मतों को समझाते हुए भी उनने भिक्षुओं को उनसे बचकर विचारपूर्वक संघोपकार के कामों में लगे रहने का उपदेश दिया, वह अपने शिष्यों से सर्वदा कहते रहे—"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यमद्वचो न तु गौरवात्"

संघ की स्थापना होती गई और अनुयायी भी बढ़ते गए; बुद्ध ने अनात्मन् की शिक्षा उन्हें दी, किन्तु उनने देखा कि अनात्मन् की उच्च शिक्षा सबों के लिये सुग्राह्य नहीं थी। कारण था कि उनके अनुयायियों में जो अपरिपक्व विचार के थे वे

[63] Indian Theism, p. 34, Introduction to the Jain Sutras—S. B E. Vol 21

उसे समझ नहीं सकते थे और संघ की वृद्धि के निमित्त संघ के बाहर की रुचि पर भी ध्यान रखना अनिवार्य था। सर्वप्रिय नये धर्म का निर्माण सहज नहीं था, अत्यन्त दुष्कर था। बुद्ध ने वेद को प्रधानता तो नहीं दी, क्योंकि वर्षों पहले से उसे दार्शनिक विचारों ने गौण बना रक्खा था; पर पूर्वजन्म-कृतफलाफलभोग और नित्य सुख के सर्वप्रिय होने के कारण उन्हें स्वीकार करना पड़ा। तो भी उनके सामने एक दूसरी भारी कठिनाई यह थी कि चामत्कारिक कृत्यों में साधारण पुरुषों का भारी विश्वास था और गौतम के संघ में वैसे ही लोग अधिक थे[६४]। यद्यपि वे अनात्मन् शिक्षा को मानते थे, उनकी पूर्व-धारणाएँ किसी प्रकार नष्ट नहीं की जा सकती थीं। इस पर भी जादू-टोने-मंत्र आदि की गहरी छाप को कम करने का यत्न बुद्ध ने किया, उनकी शिक्षा हुई—"मैं इन चामत्कारिक कृत्यों के भयानक परिणाम को जानता हूँ, इस कारण इनसे घृणा करता हूँ बल्कि इनके कारण लज्जित होता हूँ।" तो भी पीछे उन्हें लाचार साधारण लोगों को प्रभावान्वित करने के लिए कुछ चमत्कारों को मानना पड़ा[६५] और उनसे लाभ उठा

---

64. "Budha had naturally to be content with the va t majority of the Varātyās and the aboriginal inhabitants, who were not raised to the status of the sudras probably because of their not getting any apportunity of coming in contact with orthodox Brāhmanism" Benoytosh Bhattacharyya Budhist Esoterism, pp 16 17

T W. Rhys David Pali-Coglish Dictionary, p 121. c f Budhist Esoterism, p 18.

65 "India in Budha's time was so steeped in superstition

उनके शिष्यों ने बाद में धर्मग्रन्थों में वैसी बातों का काफी वर्णन किया। बुद्ध की जातक-कथाएँ चमत्कारपूर्ण हैं, ब्रह्मजालसूत्त में ऐसे ऐन्द्रजालिक विद्याओं के नाम मिलते हैं, जो बुद्ध के समय में प्रचलित थे और तिरच्छान कह कर जिन्हें बुद्ध ने घृणित कहा था। मञ्जुश्रीमूलकल्प में, जो ईसापूर्व १ ली शताब्दी के समीप की रचना है, प्रायः गौतम के समय से प्रचलित अनेक मंत्र-मुद्रा मण्डल-धारिणियों के उल्लेख हैं। गौतम के समय में और अनुयायियों में तंत्र-मंत्र आदि के प्रचार के पर्याप्त प्रमाण पालीग्रन्थों में मिलते हैं, जिनके बल पर मानना पड़ता है कि ये विश्वास गौतम के पहले से समाज में इस प्रकार दृढ़मूल हो रहे थे कि उनका उन्मूलन नहीं किया जा सका। अनात्मन् की शिक्षा से प्रकाश फैला अवश्य और कुछ काल तक भक्ति-भावना से बुद्धानुयायी उसका संदेश सुदूर स्थानों तक पहुँचाते रहे, पर धीरे २ अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की भाँति अनात्मन् भी सनातनस्रोत में शान्त पड़ने लगा और कुछ कारणों ने उसे एक समय पुनः पुरातन-गर्भ में विलीन कर दिया। यह इतिहास की एक अपूर्व चकितकारिणी घटना है, क्योंकि बुद्ध की अनात्मन्-शिक्षा भारत में तरंगित हुई और भारत के पार्श्ववर्ती देशों तक फैली, पर कालान्तर में अपने जन्मस्थान में ही वह अदृश्य हो गई।

---

that any religion which dared forbid all kinds of magic sorcery and necromancy could hardly hope to withstand popular opposition A clever organizer, as Budha was, he did not fail to notice the importance of incorporating magical practices in his religion to make it popular from all points of view and attract more adherent thereby" Budhist Esoterism, pp 48-49

इस अघटन-घटन के ४ मुख्य कारण अनात्मन् से सम्बन्ध रखते पाए जाते हैं।

अनात्मन् का निर्वाण-सिद्धान्त अत्युच्च था और यही उसके लोप का १ला कारण हुआ। निर्वाण की सन्तोषजनक निश्चित व्याख्या गौतम ने स्वयं भी नहीं की, वह अनुभव पर छोड़ दी गई पर बुद्ध ने उसका अर्थ, 'अभाव या सर्वथा नाश' भी नहीं किया। बुद्ध ऐसा अर्थ करते भी किस प्रकार जब वह-राग, द्वेष व मोह की तीन तृष्णाग्नियों को बुझाकर ज्ञान-प्रकाशोदय के सहारे जीवनमुक्त अवस्था की परमानन्द-प्राप्ति के उपदेशक थे[66], पर उनने अनिर्वचनीय व अतर्कनीय[67] निर्वाण के सम्बन्ध

---

[66] श्री बौद्ध साधु वी० आनन्द मैत्रेय ने १९३२ ई० १९ मई के Hindu Organ (जाफ़ना, सीलोन) में निर्वाण के सम्बध में लिखा है—"Though it is neither this nor that, Nirvana is not nothingness, yet it is a third possibility" George Grimm Budhist Wisdom, the mystery of the self, p. 57

मज्झिमनिकाय, भयभेखसुत्त चतुर्थ—"अयं खो मे ब्राह्मण रत्तिया पच्छिमे यामे तमो विहतो आलोको उप्पन्नो, यथा तं अप्पमत्तस्स आतापिनो पहितत्तस्स विहरतो।" मज्झिमनिकाय, मूल परियायसुत्तं पठमं—"योपि सो भिक्खवे भिक्खु .... अत्तमनाते भिक्खू भगवतोभासितं अभिनंदुति।"

धम्मपद-सुखवग्गो—"जिघच्छापरमा रोगा सङ्खारपरमा दुखा।
एवं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं ॥२०३
आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति निब्बाणं परमं सुखं ॥२०४"

[67] George Grimm : The Doctrine of the Buddha, p. 475 "Liberated from what is called coporeality, Vachha, the

में जो अनेक अनुभवयोग्य विवरण दिये थे उनके अर्थ में उनके बाद अनर्थ किया जाने लगा और आवागमन से मुक्त होने की आशा में उसकी ओर आकर्षित होनेवाले बौद्धमतानुयायियों के पाण्डित्यहीन स्वमत भी निर्वाण की व्याख्या में मिश्रित होने लगे। जो लोग निर्वाण-गत की निश्चित अवस्था की खोज में व्याकुल हो रहे थे उन्हें शान्त करने के लिये भी धर्मोपदेशकों को अपनी २ युक्तियाँ उपस्थित करनी पड़ीं। इस उलझन में व्यतीत होते समय के साथ बुद्ध का निर्वाण भी बदलता गया। ईसा पूर्व पहली शताब्दी के मिलिन्द-पण्ह में[६८] निर्वाण का तो सुन्दर वर्णन किया गया, पर निर्वाणगत का स्वरूप अंकित नहीं हुआ, अतः यह अशान्ति बनी रही। अश्वघोष ने[६९] अपने सौन्दरानन्द काव्य में निर्वाण की तुलना लहर की शान्ति से की जो हीनयान-मत की अन्तिम व्याख्या कही जा सकती है। यहाँ तक निर्वाण के भाव का अतिक्रमण नहीं हुआ, किन्तु महायानियों ने, निर्वाण पर मनन जारी रक्खा और कहा कि निर्वाण शून्य है, जिसका अर्थ माध्यमिकों ने किया–[७०] "अस्तिनास्तितदुभयानुभयचतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यरूपम्", ईसाबाद द्वितीय शताब्दी में नागार्जुन ने व्याख्या की–[७१] "अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मक-चतुष्कोण–विनिर्मुक्तं शून्यमेव।" किन्तु शून्यरूप किसी के लिए भी संतोष-

---

perfected one is indefinable, insoluable, immeasureable, like the ocean."

[६८]. The Questions of king Milinda, S. B. E. Part II, P. 186—"The Outward form of Nirvana."

[६९] अश्वघोष : सौन्दरानन्द १०–४१ से ६०

[७०] सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ० १४ [७१] मध्यमकारिका २५.२०

ज्ञनक नहीं था। संतोषार्थ योगाचारियों ने शून्य के साथ विज्ञान को मिलाया और इससे कुछ काल तक शान्ति मिली, फिर वज्रयान-सिद्धान्त ने महासुखवाद को निर्वाण में मिश्रित किया। अब शून्यवाद के ३ तत्व हुए—शून्य, विज्ञान, महासुख। यह धारणा वज्रयान-मत के अनुकूल वज्र के सदृश दृढ़, अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी समझी गई[72]। वज्रयानियों ने स्थिर किया कि शून्य निरात्मा और एक देवी है, उस देवी के सनातन क्रोड़ में बोधिचित्त या विज्ञान बन्द है और वहीं अनन्त ऐश्वर्य के सुखों का उपभोग करता है। यह धारणा धीरे २ पतन-गर्त्त की ओर इस तेज़ी से अनात्मन् को खींचती गई कि कोई नियम बौद्धों को अधःपतन से बचा नहीं सका और जो भय गौतम बुद्ध को महाप्रजावती गौतमी के विहार-प्रवेश के समय में हुआ था,[73] वह विकराल रूप धारण कर बौद्धविहारों में प्रविष्ट हुआ और उसे ग्रसने लगा।

बौद्धमत के ह्रास का दूसरा कारण हीनयान और महायान

---

72. Budhist Esoterism p 27 में—"दृढं सारमसौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥"

73. A. Coomaraswamy Budha and the Gospel of Budhism, p. 161—162.

श्री जगन्मोहन वर्मा: बुद्धदेव, पृ० १५२—१५३ "महात्माबुद्धदेव ने पहले तो इन्कार किया और कहा कि स्त्रियों को प्रव्रज्या का सदा निषेध है। ब्रह्मचर्य बहुत कठिन है। जब पुरुष उसके पालन करने में असमर्थ हैं तब स्त्रियों से क्या आशा की जा सकती है। पर आनन्द के बहुत कुछ कहने सुनने पर उन्होंने महा प्रजावती को अष्टांगी धर्म स्वीकार

नामक दो सम्प्रदायों का बनना हुआ[74]। इन दो दलों ने गौतम की शिक्षाओं के थिर रहने में भारी बाधा पहुँचाई। हीनयान अपने मूल मार्ग पर रहने के यत्न में रहा, पर महायान ने उसे कहीं भी ठहरने नहीं दिया। महायान में ऐसी २ बातें समाविष्ट होती गईं जिनसे हीनयान की समुन्नति रुक गई। महायान ने औरों के प्रति कारुण्य-प्रदर्शन का जो भाव दिखलाना शुरू किया उससे बौद्धों का व्यक्तिगत जीवन शिथिल पड़ता गया, क्योंकि भिक्षु या भिक्षुणियाँ तब अपनी २ दशा पर विशेष ध्यान न दे पर-कल्याण की ओर झुकीं; उन्हें निर्वाण का भी ख्याल नहीं रहा। अन्त में सर्व-दयालु बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के आदर्श में पर-हित भाव द्वारा निर्वाण-निवृत्ति-सिद्धान्त दूर फेंक दिया गया, वह गौण हुआ और करुणा प्रधान। करुणा यहाँ तक बढ़ी कि दिन-रात भिक्षुणी-भिक्षु मानव जाति के हित का ही मनन करते। अन्तिम दशा में वह भी भाव मात्र ही रह गया और विहार-महंथ उससे व्यभिचार में सहायता लेने लग गए। सिद्धान्त बन गया—[75]

करने के लिये कहा और उसे वचन दिया कि इनके स्वीकार करने पर वे संघ में ले जा सकते हैं।"

[74]. "It is well known that, Mahayan Budhism, and to a certain extent the Hinayana also, drafted practically the the whole of the Hindu pantheon headed by Indra or Sakra (Pali, Sakko) to serve as attendants upon the Buddha.' Belvalkar and Ranade · Indian Philosophy II, pp 472—73

[75]. I. A. S. B LXVII—p 178, आर्यदेव-कृत पुस्तक का श्लोक १३

"बोधिचित्तं समुत्पाद्य सम्बोधौ कृतचेतसा ।
तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगदुद्धरणाशया ॥"

दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों पर ग्रन्थ भी इतने लिखे गए कि उनका यथोचित अध्ययन अध्यापन असम्भव हो गया। पूरे ग्रन्थों के पढने मे कठिनाइयाँ होने पर उनके सारांश प्रस्तुत किए गए, पश्चात् सारांश के भी सारांश बने और बाद उनके सूत्र बनाकर पाठ का काम लिया जाने लगा। जैसे, 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' से 'शतश्लोकी प्रज्ञा पारमिता', उससे 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र', उससे 'प्रज्ञापारमिताधारणी' और उससे भी 'प्रज्ञापारमिता' मंत्र का जन्म हुआ और किसी एक का भी पाठ उतना ही महत्व का माना गया जितने महत्व का आठहजारी श्लोकों का पूरा मूल ग्रन्थ। तिब्बत मे इससे भी आसान प्रक्रिया निकाली गई। वहाँ प्रार्थना-चक्र बनाकर उसमें सभी धर्मग्रन्थ रख दिए जाते और उस चक्र का एक चक्कर देने से सारे ग्रन्थों के पढने का पूरा फल पूजक को प्राप्त हो जाता[66]।

२रा कारण बौद्धमत मूलोघात का हुआ बौद्धों के संघ-जीवन के आदर्श का नष्ट होना। आरम्भ से विहारों में भिक्षुओं को तपस्या में रत त्याग का जीवन व्यतीत करना पडता था, पर समय बीतने पर उन्हीं विहारों में वे भिक्षुणियों के सम्पर्क से विषयोपभोग मे कालयापन करने लगे, उनके त्याग की शक्ति दूर हो गई और उनकी रुचि आगे की ओर प्रबल हुई[67]। ऐसी दशा में न उनका आरम्भिक धार्मिक

---

[66] Benoytosh Bhattacharya Budhist Esoterism, pp 30—31

[67] There were many internal causes which led to

जीवन रहा, न बुद्ध भगवान् की शिक्षा का सम्मान। विनय-पिटक में [५८] आया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जब अवीत-राग भिक्षु रो-कलप रहे थे, सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित ने उन भिक्षुओं से यह कहा—"मत आवुसो ! मत शोक करो, मत रोओ। हम सुयुक्त हो गये, उस महाश्रवण से पीड़ित रहा करते थे, यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे उसे न करेंगे।" ऐसा ही घटित भी हुआ। बुद्ध के बाद स्वेच्छाचारिता खूब बढ़ी और देवयान, ब्रह्मयान, गोत्रयान, वज्रयान, मध्यमयान, सहज-यान आदि कई स्वतन्त्र मार्ग निकल पड़े। गौतम ने समझाने के निमित्त जिन युक्तियों का प्रयोग किया था, उन पर यानों की नींव डाली गई और ऐक्य बराबर के लिए संघों से विदा हुआ। जहाँ तहाँ बौद्धसंघों में मतभेद और पारस्परिक द्वेष भी पैदा हुआ। धीरे धीरे बौद्धों के चार विभाग हो गये:—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्य-मिक और योगाचार। उनके उपविभाग भी बनने लगे और वैभाषिक तीन उपश्रेणियों में विभक्त हुए—सर्वास्ति-

---

the disintegration of Budhist Church. The corruption of the church was one such factor The abuse of Tantric practices ended in moral degeneration, and there was an absolute lack of any element of check or restraint upon the free play of passions. All this ended to the overthrow the dignity of Budhism The story of persecution is exaggerated." Dr. Ganganath Jha: Tantra Varttika, introduction, p. Vii

[५८] विनयपिटकम् : चुल्लवग्ग, ११·१, अनुवाद पृ० ५४१

वाद, महा सांघिक, सम्मतीय और स्थविर। इनमें महा सांघिकों का स्थविरों से इतना झगडा बढ़ा कि स्थविरों ने महा सांघिकों को च्युत कर संघ से बाहर कर दिया। महासांघिक उस समय से बुद्ध द्वारा जुगुप्सित तंत्र-मंत्रों का सग्रह-संपादन करने लगे। ऐसा ही भारतीय धर्म के इतिहास में एक बार बहुत पहले देव और असुरों के बीच भी प्रदर्शित हो चुका था। वहाँ एक ने दूसरे के पूज्य देवताओं को स्वरूप-च्युत किया था, यहाँ निर्बल महा सांघिकों ने सबल स्थविरों के आदर्श को ही गिराने पर ध्यान दिया। तंत्र-संग्रहों के नव मात्र संगीति नाम से चल पड़े, पर इनमे बताया निर्वाण-मार्ग सरल था और वह मंत्रजाप, धारिणी-संग्रह व देवीदेवताओं की उपासना से प्राप्य बतलाया गया था। यह विचार ज़ोर पकड़ने लगा और शनैः २ सबल हो बौद्ध तांत्रिकों की उत्पत्ति में सहायक हुआ। तंत्र ने बौद्धमत के ब्रह्मचर्य को क्षति पहुँचाने के साथ आचार का भी मूलोच्छेद किया इस से लोगों में घृणा का प्रादुर्भाव हुआ और बौद्धमत की निन्दा की जाने लगी।[९]

जिस समय बौद्धमत परिवर्त्तन-ग्रस्त हो रहा था ब्राह्मण वेदमार्ग के पुनरुत्थान की चेष्टा में लगे हुए थे। बौद्धमत के साथ उनका कोई बाह्य विरोध नहीं होने के कारण बौद्ध मतानुयायियों के पार्थक्य को अपना स्वरूप देने की ओर उनने तत्परता से ध्यान दिया। ब्राह्मणों द्वारा शैव व वैष्णव मतों के प्रचार

---

[९] "And far worse than this, Buddhism ultimately allied itself with Tantrism or the worship of the female principle (Sakti) and under its sanction encouraged the grossest violations of decency and the worst forms of profligacy" Sir M. M. Williams Buddhism, p 152

ग्यारहवाँ अंश

त्रिपुरसुन्दरी

संहिता-काल से बौद्धमत-प्रचार समय तक वैदिक विचार चार मार्गों पर समुन्नत होते रहे, कभी कर्ममार्ग प्रबल रहा तो कभी ज्ञान मार्ग को विशेषता दी गई और कभी तप-मार्ग प्रिय रहा तो कभी भक्ति-मार्ग प्रधान बना। इन मार्गों पर चलने-वालों के लक्ष्य में भी भेद रहा, कभी मुक्ति चाही गई तो कभी भुक्ति; पर एक मार्ग पर-चलकर भुक्ति मुक्ति दोनों की प्राप्ति का विधान किसी ने नहीं किया। पर मानव मस्तिष्क की विचित्रता मौन नहीं थी, उन मार्गों के भीतर वह उस सोपान की जगह बनाती जा रही थी, जिस पर चलनेवालों को भोग व वैराग्य दोनों की ही प्राप्ति हो। क्योंकि मानव समाज में आधिक्य उन्हीं लोगों का पाया जाता है जो भुक्ति-मुक्ति दोनों की आकांक्षा रखते हैं, भोग में लगे रह कर विराग-ध्यान से दूर होते भी वे ईश्वर-प्राप्ति या परम ज्ञान या मुक्ति या निर्वाण की चाहना करते हैं। इसी से चमत्कार की ओर मनुष्य अनायास दौड़ पड़ते हैं, अशिक्षित जादू-टोना-टोटका को ग्रहण करते और विद्वान् विज्ञान द्वारा प्रकृति पर विजय पा बलशाली बनना चाहते हैं। सारांश कि मनुष्य सरल मार्ग से सुखों की प्राप्ति करना चाहते हैं और उन्हें प्राप्त सुख जितना ही स्थायी व ऊँचा हो उतना हो अच्छा। हम देख रहे हैं कि आविष्कार में आगे बढ़ते २ वायुयान तक वैज्ञानिक पहुँच गए हैं तो भी वे बेचैन हैं और

उस वेचनी की जड में वही उनकी अलौकिक सुखों की स्वाभाविक कल्पना है। वास्तव में निर्गुण या सगुण ईश्वर के चिन्तन के मूल में भी अवश्य ही एक ऐसा ही उद्देश्य है जो मनुष्यमात्र को अपनी ओर आकर्षित किए रहता है और दृढ विश्वास भी आस्तिकमात्र का है कि ईश्वर ही अनिर्वचनीय आनन्द का पुञ्ज है और उसकी प्राप्ति से बढ कर मूल्यवान् पदार्थ दूसरा कोई भी नहीं। इसी से ईश्वरवादी धर्म्म मनुष्य-मण्डल में स्थायी रहता है, चाहे उसका स्वरूप जैसा भी हो। अस्तु, चिन्तनरत भारतीय धर्म्मनिष्ठ धीरे २ एक ऐसे मार्ग की ओर आए जिस पर चलकर उन्हें भुक्ति मुक्ति दोनों की प्राप्ति सम्भव प्रतीत हुई और उनने अपने मार्ग को तन्त्रमार्ग कहा, जिस पर चलने से एक अलौकिक शक्ति के लाभ का विश्वास दिलाया गया। तन्त्र प्रचारकों ने व्यक्त किया कि इस मार्ग से अनिमादि गुण, दूरासदर्शन, दूरात्तश्रवण, रूपादि-परिवर्त्तन, आकाशभ्रमण, परपिण्डप्रवेश, घट पाषाणस्फोटन, प्रचण्ड वेगसिद्धि, मृतकोत्थापन, जरामरण नाशन आदि की सहज शक्ति से समन्वित हो साधक अलौकिक आनन्द अनायास उठा सकता है। एव प्रकार तन्त्रवादी वैज्ञानिकों की शक्ति से भी आगे बढ गये, वैज्ञानिक केवल अपरा प्रकृति पर विजय पाने की चेष्टा किया करते थे, तांत्रिकों ने तन्त्र द्वारा अपरा के अतिरिक्त परा प्रकृति को भी वश में रखने के योग शिक्षा प्रदान का आरम्भ किया।

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति काशिकावृत्ति में 'तितुत्रतथ सिसुरकसेपुच ८ २ ६' सूत्र के अन्तर्गत 'तन्' धातु से औणादिक नियम 'सर्व्वधातुभ्य· ष्ट्रन्' द्वारा बताई गई है; किन्तु

किए जाने पर बौद्धमत से स्पष्ट आदान-प्रदान आरम्भ हुआ, ब्राह्मण और बौद्ध मत दोनों एक दूसरे से प्रभावान्वित हो लगे। अनात्मन् में शून्यवाद था, ईश्वर में प्रतीति का अभाव था, और आध्यात्मिक शिक्षा के आचार्य की कल्पना भी नहीं थी। ऐसी कमी मानव स्वभाव की साधारण दशा को बहुत ही खटकनेवाली थी। लोग शून्यवाद के अनुकूल स्त्री—पुत्रादि के प्रेम को प्रधानता नहीं दे सकते थे किन्तु यह स्वाभाविक प्रतीति के नितान्त विरुद्ध बात थी। अतः बुद्ध की शिक्षा के प्रतिकूल प्रचारकों ने धीरे २ बुद्ध-मत में ईश्वर के मानव स्वरूप का भाव दृढ़ किया और बुद्ध को देवातिदेव मानने की भावना की पुष्टि की गई तब वैसी स्तुतियाँ रची गईं, मूर्तियों का सम्मान जारी किया गया और आत्ध्यामिक शिक्षा के लिए आचार्य-पद की आवश्यकता समझी गई। इससे बौद्धमत के आरम्भिक रूप में पूर्ण परिवर्त्तन घटित हुआ। आरम्भ से ही ब्राह्मणों से सम्बन्ध था, अन्त में भी ब्राह्मणों ने बौद्धमत को अपने में एक करने की

जिसके स्मृति-स्वरूप में जगन्नाथपुरी का बौद्धमन्दिर वैष्णव-कृष्णभाव-संयुक्त हुआ और गोतम को शिवध्यान का स्वरूप प्रदान किया गया;[८१] इस सम्मिश्रण से तंत्रान्तर्गत औपचारिक कुकृत्यों का भी अन्त हुआ और सभी मतों के स्थान में पौराणिक देवतावाद आर्यवंशजों द्वारा सम्मानित किया गया।

---

blending was gradual." Sir M. M. Williams : Buddhism, pp 166 7.

[८१]. Sir M. M. Williams . Buddhism, pp. 165-6.

ग्यारहवाँ ॥

त्रिपुरसुन्दर

संहिता-काल से बौद्धमत-प्रचार समय तक वैदिक विचार चार मार्गों पर समुन्नत होते रहे, कभी कर्ममार्ग प्रबल रहा तो कभी ज्ञान मार्ग को विशेषता दी गई और कभी तप-मार्ग प्रिय रहा तो कभी भक्ति-मार्ग प्रधान बना। इन मार्गों पर चलनेवालों के लक्ष्य में भी भेद रहा, कभी भुक्ति चाही गई तो कभी मुक्ति; पर एक मार्ग पर चलकर भुक्ति मुक्ति दोनों की प्राप्ति का विधान किसी ने नहीं किया। पर मानव मस्तिष्क की विचित्रता मौन नहीं थी, उन मार्गों के भीतर वह उस सोपान की जगह बनाती जा रही थी, जिस पर चलनेवालों को भोग व वैराग्य दोनों की ही प्राप्ति हो। क्योंकि मानव समाज में आधिक्य उन्हीं लोगों का पाया जाता है जो भुक्ति-मुक्ति दोनों की आकांक्षा रखते हैं, भोग में लगे रह कर विराग-ध्यान से दूर होते भी वे ईश्वर-प्राप्ति या परम ज्ञान या मुक्ति या निर्वाण की चाहना करते हैं। इसी से चमत्कार की ओर मनुष्य अनायास दौड़ पड़ते हैं, अशिक्षित जादू-टोना-टोटका को ग्रहण करते और विद्वान् विज्ञान द्वारा प्रकृति पर विजय पा बलशाली बनना चाहते हैं। सारांश कि मनुष्य सरल मार्ग से सुखों की प्राप्ति करना चाहते हैं और उन्हें प्राप्त सुख जितना ही स्थायी व ऊँचा हो उतना ही अच्छा। हम देख रहे हैं कि आविष्कार में आगे बढ़ते २ वायुयान तक वैज्ञानिक पहुँच गए हैं तो भी वे बेचैन हैं और

उस बेचैनी की जड़ में वही उनकी अलौकिक सुखों की स्वाभाविक कल्पना है। वास्तव में निर्गुण या सगुण ईश्वर के चिन्तन के मूल में भी अवश्य ही एक ऐसा ही उद्देश्य है जो मनुष्यमात्र को अपनी ओर आकर्षित किए रहता है और दृढ़ विश्वास भी आस्तिकमात्र का है कि ईश्वर ही अनिर्वचनीय आनन्द का पुञ्ज है और उसकी प्राप्ति से बढ़ कर मूल्यवान् पदार्थ दूसरा कोई भी नहीं। इसी से ईश्वरवादी धर्म्म मनुष्य-मण्डल में स्थायी रहता है, चाहे उसका स्वरूप जैसा भी हो। अस्तु, चिन्तनरत भारतीय धर्म्मनिष्ठ धीरे २ एक ऐसे मार्ग की ओर आए जिस पर चलकर उन्हें भुक्ति-मुक्ति दोनों की प्राप्ति सम्भव प्रतीत हुई और उनने अपने मार्ग को 'तंत्रमार्ग' कहा, जिस पर चलने से एक अलौकिक शक्ति के लाभ का विश्वास दिलाया गया। तंत्र-प्रचारकों ने व्यक्त किया कि इस मार्ग से अनिमादि गुण, दूरात्तदर्शन, दूरात्तश्रवण, रूपादि-परिवर्त्तन, आकाशभ्रमण, परपिण्डप्रवेश, घट-पापाणस्फोटन, प्रचण्ड वेगसिद्धि, मृतकोत्थापन, जरामरण-नाशन आदि की सहज शक्ति से समन्वित हो साधक अलौकिक आनन्द अनायास उठा सकता है। एवं प्रकार तंत्रवादी वैज्ञानिकों की शक्ति से भी आगे बढ़ गये; वैज्ञानिक केवल अपरा प्रकृति पर विजय पाने की चेष्टा किया करते थे, तांत्रिकों ने तंत्र द्वारा अपरा के अतिरिक्त परा प्रकृति को भी वश में रखने के योग-शिक्षा-प्रदान का आरम्भ किया।

तंत्र शब्द की व्युत्पत्ति काशिकावृत्ति में 'तितुत्रतप-सिसुरकसेषुच ८-२-९' सूत्र के अन्तर्गत 'तन्' धातु से औणादिक नियम 'सर्व्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' द्वारा बताई गई है; किन्तु

सम्बन्ध उसकी गिरती दशा में हुआ, उस समय तंत्र केवल पाखण्डियों व दुराचारियों के पेटपोषण का साधन रह गया था और मूर्खों ने तंत्र को मद्य-मांस सेवन व व्यभिचार का आधार बना लिया था। उस घोर पतन ने तंत्र के अतीत गौरव को भी नष्ट किया और तब से तंत्र की दशा उन्नत नहीं हो सकी। समाज में भी अघोर आचरण को देख प्रतिदिन तंत्र व तांत्रिकों से घृणा बढ़ती गई। अन्तमें तंत्र व्यर्थ समझा जाने लगा और तंत्र के अनेक ग्रन्थ भी लुप्त हो गए। वैसी दशा में तंत्र के भीतर सनातन वैदिक धर्म के विज्ञान-मंत्र-याग-साधना-भक्ति-ब्रह्मचिन्तन-आदि विषयों का क्या स्वरूप रहा यह भी स्मृति-परम्परा से लुप्तप्राय हो गई। जिसके अभाव में भारतीय ईश्वरवाद-विकाश का एक मुख्य अंग, तिमिराच्छन्न हो विस्मृति में विलीन होता गया।

तांत्रिक सिद्धांतों पर विचार करते समय मानव स्वभाव को ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि तंत्र मानवी प्रवृत्ति की साधारण दशा से सम्बन्ध रखता है और सभी युगों में इसका स्वरूप ऐसा ही रहता है। आज की सभ्यता को भली मानने पर भी भूला नहीं जा सकता कि सभ्य संसार से विलग इस विज्ञान-प्रकाश-युग में भी असभ्यों और अशिक्षितों की दुनिया कायम है, विशाल नगरों से बाहर देहातों में उसी का साम्राज्य है। यद्यपि देहातों के रहनेवाले सभ्यता के विकास-सम्पर्क में आते जा रहे हैं तो भी उनके विचारों पर एक छाप है, जो दूसरे शब्दों में असभ्यता या मूर्खता मानी जाती है। किन्तु वह भी विचारने ही योग्य दशा है। मनुष्य-जाति की सभ्यता के विकास-इतिहास के जाननेवाले बतलाते हैं कि मानव मनोवृत्ति क्रमशः सूक्ष्म भावों की ओर आती है, आरम्भ

में वह प्राकृतिक दशा में रहती और प्रवृत्ति के बाह्य साहाय्य पर निर्भर करती है। सभ्य व्यक्ति नंगा रहना पसन्द नहीं करता, वह उसे अश्लील मानता है पर शतशः सतर्कता पर भी उसका बच्चा वस्त्राच्छादित शरीर लिए पैदा नहीं हो सकता; प्रकृति की गोद में सर्वप्रथम वह शिशु सुकुमार नंगा शरीर लिये आता है, उसी तरह नाचता-खेलता बढ़ता जाता है और जैसे २ बड़ा होता है ज्ञान प्राप्त कर वह अपने नंगे भावों का त्याग करता जाता है। इसी प्रकार सभ्यता के इतिहास का आरम्भ वह जीवन है जिसमें सभ्य संसार आज भी अपने असभ्य अशिक्षित भाइयों की दुनियाँ को पाता है। इस दुनियाँ के लोग अपने रोग-दुःखों का कारण दैव को ही जानते हैं। वे दैविक व्याधियों से बचने को पूजा-पाठ-ओझाई-मंत्र-जड़ीबूटियों के प्रयोग आदि उपचारों से अधिक काम लेते हैं। सामाजिक जीवन में तामसी जीवन इन्हें प्रिय होता है, वे मांस-मांछ-भक्षण को बुरा नहीं मानते, सुरापान में मोद पाते हैं और नैतिक नियमों की इतनी ऊँची पावँदियाँ नहीं वर्त्तते। आज की जंगली जातियों का जीवन इसका प्रमाण है। कोल-भील-ऊराँव-चेरो-खरवार-मुसहर-वारीआदि अनेक पहाड़ी जातियों का जीवन इसीप्रकार का है और उनके अड़ोस-पड़ोस में बसे ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्यादि पर भी भूतप्रेतादि में विश्वास का प्रभाव जोरों में पाया जाता है, सिद्धि-जादू में विश्वास तो शहरों तक में फैला मिलता है। जीवन की इस अवस्था पर विचारने से प्रतीत होता है कि मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्ति विशेषतः या आरम्भ में इसी ओर हुआ करती है और ज्ञान द्वारा ऐसी प्रवृत्ति से ऊँचा उठ निवृत्ति की ओर आना सभ्यता की

कोटि में पहुँचना है। सम्भवतः इसीको लक्ष्य कर प्रवृत्ति-निवृत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥"

तन्त्र का आरम्भ अनुमानतः मनुष्य की इसी प्रवृत्ति-दशा से हुआ और धीरे २ वह अन्य विचारों से मिलता हुआ विकसित होता गया और जिस युग में सामाजिक बल की कमी हुई तंत्र प्रबल हो उठा। भारतवर्ष में ही तांत्रिक उपचारों की विद्यमानता हो यह बात नहीं है। वैसा स्वभाव मानवमात्र का सभ्यता की आदिम दशा में हुआ करता है, और विवेकमय सभ्यता-विहीन पुरुषों में सर्वदा विद्यमान रहता है, इस कारण संसार के सभी देशों में तांत्रिकों का विचार-सादृश्य पाया जाता है। आरम्भिक तांत्रिक प्रतीतियाँ उन लोगों को सम्पत्ति रहीं जो ज्ञानी नहीं थे और जब कभी जहाँ भी वैसे लोग रहे उस सम्पत्ति के साथ रहे, इसीसे संसार के अनेक देशों और समाजों में उसके प्रमाण दृष्टिगत होते हैं। धर्म्मक्षेत्र के भीतर भी उनका समावेश पाया जाता है[4] क्योंकि धर्म्म का विकास शनैः २ उसी दशा से होता

[4] "All the Indo—European races practised magic, and curiously enough the Lithuanian and Old Slavonic preserve words precisely equivalent to the use of Kṛtyā in India for magic the formulae of some of the spells used have been traced in almost identic form in more than one language, but these things are wide spread and close parallels for magic rites can be found in the most distant parts of the earth" A. B. Keith Religion and Philosophy of the Veda, p 40

गया है। संसार का कोई भी धर्म्म ऐसा नहीं है जो जादू-टोटका-चमत्कार-वार्त्ता से एकदम खाली हो, बाइबिल-कुरान-वेद-पुराण सबों में उनके प्रसंग हैं और तंत्र के प्रति भी जन साधारण की स्वाभाविक रुचि के प्रमाण हैं। किन्तु अन्य शास्त्रों की भाँति तंत्रविभाग में भी भारतवर्ष ने निश्चय ही विशेष उन्नति की। क्रमशः तंत्र को धर्म्म का रूप दिया गया और उसके विद्वान् प्रचारकों ने समय २ पर तंत्र को आध्यात्मिक स्वरूप भी देने की चेष्टा की और अन्त में तंत्र अपनी शक्तिमाता ईश्वरी त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में मस्त हो उठा। तंत्र ने शक्तिरूपिणी ईश्वर-शक्ति को प्रचलित कर ईश्वरवाद के इतिहास में भारी विशेषता समुपस्थित की और ऐसा करने में उसे वेद-ब्राह्मण-दर्शन आदि की ही सहायता लेनी पड़ी, यद्यपि अन्तिम दशा में उनके भावों को संयुक्त रहते भी तंत्र अन्तिम समय में अघोर पंथ पर चलकर घृणित समझा गया।

तंत्र मत में शक्ति की विशेषता है, वह शक्ति शिव की संगिनी कही गई है और शक्ति की सिद्धि के लिए साधना की आवश्यकता बताई जाती है। उसी से समन्वित हो भुक्ति-मुक्ति को करगत करने के निमित्त तंत्रमत में 'उन्मना भव' कहा गया, बौद्धकल्पना में भी ऊर्ध्वचैतन्य की ही प्राप्ति की ओर ध्यान था। तांत्रिकों ने अपनी साधना-सिद्धि के निमित्त कृष्ण के 'मन्मना भव' का अनुसरण नहीं किया, न अपने योगसाधन में 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' के कर्मयोग को ग्रहण किया। उनने साधना में मंत्रजाप, मुद्राधारण और पंचमकार-सेवन करना अनिवार्य कहा। इस तरह तंत्र अन्य योग-प्रणालियों का मार्ग

ब्राह्मणग्रन्थों के वर्णित यागों का सादृश्य भी तंत्र से है। आश्वलायन—श्रौतसूत्र में कहा भी है—[10] 'दर्शपूर्णमासौ पूर्वं व्याख्यास्यामस्तन्त्रस्य तत्राम्नातत्वात्।' वैदिक यज्ञों में मंत्रोच्चारण किए जाते थे, हवन होता था और यज्ञफल-स्वरूप स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति की कामना यजमान किया करते थे। धीरे २ यज्ञ द्वारा जरामरण पर विजयी हो अमृतत्व की प्राप्ति का प्रबल भाव भी याज्ञिकों के हृदय में जगता गया। यज्ञावसरों पर सोमपान व पशुहत्या का भी विधान था और वे याज्ञिक कृत्यों के भीतर थे। ऋग्वेद में भैंसे, घोड़े, भेड़, बकरों के वध के उल्लेख हैं[11], वैसे ही वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं[12] और वर्षों बाद रचित महाभारत भी उसकी याद दिलाते हुए कहता है—[13]

"राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा॥
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा।
समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः॥
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम॥"

तंत्र में ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है और ८ वीं शताब्दी में जब बौद्ध-समाज की अवस्था भग्न हो रही थी, हिन्दू-धर्म का अभ्युदय आरम्भ हो गया था और बौद्धमतान्तर्गत तंत्र तथा ब्राह्मणमताश्रित शैवमत में सादृश्य उपस्थित था, भवभूति ने तांत्रिकों की ऐसी ही दशा पर प्रकाश डाला है। उस

[10] आश्वलायन श्रौतसूत्र १-१

[11] ऋग्वेद ५-२९-८; ६-१७-११; १-१६२-१२; १-९१-१४

[12] ऐतरेय ब्राह्मण २-७-१; १-३-४

[13] महाभारत-वनपर्व अ० २०६ श्लोक १०-११

समय तंत्रवादके अनुयायी तांत्रिक शिवोपासना की निराली विधियों द्वारा अहिंसा-भाव को मिटाकर अलौकिक सिद्धियों द्वारा जन साधारण को लुभा रहे थे। अघोरी, चामुण्डापूजक, [14] शाक्त आदि तंत्रसाधना मे लीन थे, वे नरबलि तक करते थे। गुरुचर्या, तपस्या, तंत्र, मत्र, योग, अभियोग द्वारा सिद्धियाँ पाने की शिक्षा की ओर बौद्धसम्प्रदाय के भी लोग झुके हुए थे। 'मालतीमाधव' में कामंदकी ने अपनी शिष्या सोदामिनी द्वारा यही प्रकट कराया है [15]—

> "यथा त्वमेव जगतः स्पृहणीयसिद्धिः
> एवंविधैर्विलसितैरतिबोधिसत्वैः ।
> यस्याः पुरा परिचयप्रतिबद्धबीज—
> मुद्भूतभूरिफलशालि विजृम्भते ते ॥"

अर्थात्—'भद्रे ! तुम्हारी प्राप्त की अलौकिक सिद्धि स्पृहणीय और बोधिसत्वों के लिये भी दुर्लभ है। तुमने बोधिसत्वों से कहीं आगे बढ़कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं; इस कारण तुम विश्व में वंदनीया हो।' पुनः उसी नाटक में चामुण्डादेवी के मंदिर, नाडीचक्र, प्रकाशमार्ग से गमन, नरकपालमाल-धारण प्रभृति अनेक ऐसी बातों के विवरण हैं जो तांत्रिक समाज की अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं और वे प्रमाणित करते हैं कि उस समय तांत्रिक विचारों की ओर अहिंसावादी बुद्ध के अनुयायी भी झुक पड़े थे। कहा जा सकता है कि वेद के मायिक व चामत्कारिक विश्वास तथा यज्ञफल का माहात्म्य

---

[14]. "It is to this goddess that all human sacrifices are made by Hindus". Leaden Asiatic Researches, ix page 203

[15] भवभूति · मालती-माधव १०

शक्तियों पर अधिकार करना चाहते हैं, इस कारण प्रकृति के गुणों का भी कुछ वर्णन उनने किए हैं। उनके अनुसार आकाश-वायु-तेज-अप्-क्षिति ५ भूत हैं और उनके १-२-३-४-५ क्रमशः १५ गुण हैं। इन भूतों व गुणों पर मंत्र-जाप द्वारा प्रावल्य पाना तांत्रिकों की साधना थी और वे मंत्र के शब्दार्थ को चेतन ब्रह्म मानते थे, जैसा शारदा में लिखा है—

> "भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मरवोऽभवत् ।
> शब्दब्रह्मेति तत् प्राहुः सर्व्वागमविशारदाः ॥
> शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः ।
> नहि तेषां तयोः सिद्धिः जडत्वादुभयोरपि ॥
> चैतन्यं सर्व्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।
> तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
> वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यविभेदतः ॥"

तंत्र की साधना का सम्बन्ध योग से रक्खा गया था और योग-साधना द्वारा ही साधक अपने को वर्णरूपों से संयुक्त कर शनैः २ त्रिपुरसुन्दरी परमेश्वरी के पास पहुँचने का विश्वास रखता था। यह भाव जीवात्मा-परमात्मा के एकीकरण के अनुरूप है। शनचक्रभेद का ऐसा ही सिद्धान्त

"But the Mantras are particular forms of Divine Shakti, the realisation of which is efficacious to produce results. As in Kundali yoga, so also here the identification of the Sâdhaka with different Mantras gives rise to various Vibhûtis or powers: for each grouping of the letters represents a new combination of the Mâtrika Shaktis. It is the eternal Shakti which is the life of the Mantra."

पाया जाता है। सारांश कि जीव कुण्डलिनी से ऊपर उठता हुआ वर्णों से एकमेल हो जाता है, चक्रभेद दूर हो जाने से साधक शक्तियों का संग्रह करता हुआ परमात्मा के पास पहुँच जाता है और उसीमें अपनी समानता का परिदर्शन करता है, यही साधक का मोक्ष है। योगमार्ग की ऐसी साधना के अतिरिक्त मोक्ष का साधन लगातार स्थिर अचल ध्यान भी है, जिसके द्वारा अकस्मात् चेतना-प्रकाश का प्रादुर्भाव हो जाता है और आत्मा अपनी ही ज्योति से दमकने लगता है। इसमें गुरु की ज़रूरत नहीं, प्रत्येक को आपही अनुभव करना पड़ता है। इसके द्वारा साधक शक्तिमत्ता के प्रवाह में आप गोते लगा र कर अनुभव प्राप्त करता है।

तंत्र की समुन्नति का इतिहास वेद से ही आरम्भ होता है, क्योंकि तंत्र जिस लक्ष्य की ओर जा रहा था उसका प्राचीनतम सादृश्य वैदिक ऋचाओं में विद्यमान मिलते हैं। तंत्र साधारणतया अप्राप्त वस्तुओं को अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त करना चाहता था; उसी प्रकार अथर्ववेद में चमत्कार-प्राप्ति की प्रार्थनाएँ भी की गई हैं और ऋग्वेद में भी ऐसी स्तुतियाँ मिलती हैं। वे उसकाल के तांत्रिक सिद्धान्त-सदृश विचारों के प्रमाण-स्वरूप यहाँ सुरक्षित जान पड़ते हैं या वे अविद्वानों के विचार होने के कारण संगृहीत किए गए हैं, क्योंकि ऋग्वेद के ७वें मण्डल के सूक्त १०४ में मायिक कृत्यों की निन्दा की गई है और अन्यत्र तंत्र 'न ब्राह्मणास:' 'अविद्वांस:' तथा 'अप्रज्ञय:' द्वारा विस्तारित कहा गया है—[1] 'त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तंत्रं तन्वते अप्रज्ञय:।'

---

१ ऋग्वेद १०-७१-९

शक्तियों पर अधिकार करना चाहते हैं, इस कारण प्रकृति के गुणों का भी कुछ वर्णन इनने किए हैं। इनके अनुसार आकाश-वायु-तेज-अप् क्षिति ५ भूत हैं और इनके १-२-३-४-५ क्रमशः १५ गुण हैं। इन भूतों व गुणों पर मंत्र-जाप द्वारा साफल्य पाना तांत्रिकों की साधना थी और वे मंत्र के शब्दार्थ को चेतन ब्रह्म मानते थे, जैसा शारदा में लिखा है—

> "भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मरवोऽभवत् ।
> शब्दब्रह्मेति तत् प्राहुः सर्व्वागमविशारदाः ॥
> शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः ।
> नहि तेषां तयोः सिद्धिः जडत्वादुभयोरपि ॥
> चैतन्यं सर्व्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।
> तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
> वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यविभेदतः ॥"

तंत्र की साधना का सम्बन्ध योग से रक्खा गया था और योग-साधना द्वारा ही साधक अपने को वर्णरूपों से संयुक्त कर शनैः २ त्रिपुरसुन्दरी परमेश्वरी के पास पहुँचने का विश्वास रखता था। यह भाव जीवात्मा-परमात्मा के एकीकरण के अनुरूप है। शतचक्रभेद का ऐसा ही सिद्धान्त

"But the Mantras are particular forms of Divine Shakti, the realisation of which is efficacious to produce results. As in Kundali-yoga, so also here the identification of the Sadhaka with different Mantras gives rise to various Vibhutis or powers: for each grouping of the letters represents a new combination of the Matrika Shaktis. It is the eternal Shakti which is the life of the Mantra."

पाया जाता है। सारांश कि जीव कुण्डलिनी से ऊपर उठता हुआ चक्रों से एकमेल हो जाता है, चक्रभेद दूर हो जाने से साधक शक्तियों का संग्रह करता हुआ परमात्मा के पास पहुँच जाता है और उसीमें अपनी समानता का परिदर्शन करता है, यही साधक का मोक्ष है। योगमार्ग की ऐसी साधना के अतिरिक्त मोक्ष का साधन लगातार स्थिर अचल ध्यान भी है, जिसके द्वारा अकस्मात् चेतना-प्रकाश का प्रादुर्भाव हो जाता है और आत्मा अपनी ही ज्योति से दमकने लगता है। इसमें गुरु की ज़रूरत नहीं, प्रत्येक को आपही अनुभव करना पड़ता है। इसके द्वारा साधक शक्तिमत्ता के प्रवाह में आप गोते लगा २ कर अनुभव प्राप्त करता है।

तंत्र की समुन्नति का इतिहास वेद से ही आरम्भ होता है, क्योंकि तंत्र जिस लक्ष्य की ओर जा रहा था उसका प्राचीनतम सादृश्य वैदिक ऋचाओं में विद्यमान मिलते हैं। तंत्र साधारणतया अप्राप्त वस्तुओं को अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त करना चाहता था; उसी प्रकार अथर्ववेद में चमत्कार-प्राप्ति की प्रार्थनाएँ भी की गई हैं और ऋग्वेद में भी ऐसी स्तुतियाँ मिलती हैं; ये उसकाल के तांत्रिक सिद्धान्त-सदृश विचारों के प्रमाण-स्वरूप वहाँ सुरक्षित जान पड़ते हैं या वे अविद्वानों के विचार होने के कारण संगृहीत किए गए हैं, क्योंकि ऋग्वेद के ७वें मण्डल के सूक्त १०४ में मायिक कृत्यों की निन्दा की गई है और अन्यत्र तंत्र 'न ब्राह्मणासः' 'अविद्वांसः' तथा 'अप्रजज्ञयः' द्वारा विस्तारित कहा गया है— 'त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तंत्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।'

१ ऋग्वेद १०-७१-६

ही कालान्तर में तंत्र की वैसी महानता को प्राप्त हुए और आध्यात्मिक आवरण को वे सांख्य-न्याय-वेदान्तादि दर्शनों से अपनाते गए।

सांख्य के प्रकृति-पुरुष के अनुकूल तंत्र ने शिव-शक्ति को और २५ तत्वों के समान वर्णों को माना, परन्तु योग के ईश्वरत्व को भी प्रकृति पुरुष से सम्बद्ध किया। तंत्र ने ईश्वरत्व में निष्क्रियता व उदासीनता नहीं रक्खी। वेदान्त की सुषुप्तिदशा और सांख्य के जावाकुसुमन्याय के अनुकूल तंत्र ने भी अपना नूतन प्रमाण रक्खा, पर उनसे भिन्न शब्दोत्पत्ति को सामने रख कर। शब्दोत्पत्ति न्याय का भाव तंत्र ने मीमांसादर्शन से ग्रहण किया। मीमांसक शब्द को नित्य पर अचेतन मानते थे और तंत्र ने शब्दों को नित्य ब्रह्म बतलाया, जीववर्णों के समान कहे गए। इस समन्वय नीति में चलकर तंत्र ने पुराण के देवतावाद को भी मान दिया, कुलार्णव के अनुकूल 'द्वैताद्वैतविवर्जितम्' तंत्र-मत ने 'साधकानां हितार्थाय ब्राह्मणो रूपकल्पना' कहकर देवी-देवताओं के बहुत्व का प्रतिपादन किया—'साधकस्य च विश्वासात् सात्त्विका देवता भवेत्।'

वेदान्तियों की माया को मानकर भी तंत्र में माया का स्वरूप परिवर्तित किया गया और ब्रह्म के समान सत्यता से माया भी विभूषित की गई; वेदान्त के ब्रह्म+शक्ति के साथ तंत्र के शिव+शक्ति की तुलना से यही सिद्ध होता है। उपासना में तंत्र ने कोई अन्तर नहीं लाया, जिस प्रकार वेदान्त की उपासना से विकार दूर होकर ब्रह्म से साक्षात् होने का विधान था उसी प्रकार तंत्र ने भी साधना से ईश्वरी के साक्षात् का विश्वास दिलाया, पर ईश्वरी को तंत्र ने ...ों के अवतारी ईश्वर का समकक्ष बनाया। वेदान्त के

ब्रह्म-स्वरूप को भी तंत्र में सम्मान दिया गया, महानिर्वाणतंत्र में[6] इसका विवरण इस प्रकार मिलता है—

"सत्तामात्रं निर्विशेषमवाङ्मनसगोचरम् ।
असत्त्रिलोकीसद्भानं स्वरूपं ब्रह्मणः स्मृतम् ॥
समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्व्वत्र समदृष्टिभिः ।
द्वन्द्वातीतैर्निर्व्विकल्पैर्देहात्माध्यासवर्जितैः ॥
यतोविश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति ।
यस्मिन् सर्व्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः ॥
स्वरूपबुद्ध्या यद्वेद्यं तदेव लक्षणैः शिवे ।
लक्षणैराप्तुमिच्छूनां विहितं तत्र साधनम् ॥"

तांत्रिकों की शक्ति सांख्य की प्रकृति के अनुरूप होने के अलावे पृथ्वीदेवी के प्राचीन सिद्धान्त से भी भारी सम्बन्ध रखती है और शक्तिपूजन सांसारिक सुखों की प्राप्ति का लक्ष्य भी था। शक्ति-पूजन द्वारा तांत्रिकों ने प्रकृति को इतनी प्रधानता दी कि सोना आदि बनाने, अचूक औषधियों का आविष्कार करने, भोगबलसम्वर्द्धित करने आदि की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। धातुओं के नाम तक की विचित्र व्युत्पत्तियाँ बताई गईं, जैसे 'पिण्डस्थैर्य्योपाय' के अनुकूल पारद शब्द का अर्थ किया गया—"संसारस्य परं पारं दत्तोऽसौ पारदःस्मृतः।" रसेश्वर दर्शन का विकास इसी कारण हुआ और तंत्र-क्षेत्र से ऐसी अचूक औषधियों को मान देने का एक कारण यह भी था कि वैदिक धर्म्म ग्रन्थों में जड़ी-बूटियों के उपयोग के भी विवरण थे और वेदों तक में उन्हें स्थान प्राप्त था। उससे बढ़कर अलौकिकत्व दर्शाने के निमित्त तांत्रिकों ने वानस्पत्य व्यवहार को नितान्त

[6] महानिर्वाणतंत्र ३ य उल्लास श्लोक ७ से १०

साधारण काम समझ पारदादिभस्म के प्रयोग पर ध्यान दिया और उनने रस द्वारा शक्ति-धारण करने की शिक्षा भी आरंभ की। कुछ तांत्रिकों का सम्बन्ध रासायनिक प्रक्रिया से हुआ। अनेक औषधियाँ भी दार्शनिकों ने प्रस्तुत की। रसेश्वर दर्शनानुयायी रासायनिक प्रयोग की प्रधानता यहाँ तक बताने लग गए कि अभ्रक पारद आदि के भस्म-प्रयोग प्रभृति कृत्यों के ज्ञान द्वारा उद्धार की प्रतीति की जाने लगी। रसेश्वरसिद्धान्त में अनेक देव, दैत्य, मुनि, मानवादि के रससामर्थ्य द्वारा देह-साधन कर मुक्ति पाने का वर्णन किया गया और आगे रस ज्ञान ही जानने योग्य ज्ञान कहा गया :—

"रसाङ्कमेवमार्गोक्तो जीवमोक्षोऽस्त्ययधीमनाः ।
प्रमाणान्तरवादेषु युक्तिभेदावलम्बिषु ॥
ज्ञानज्ञेयमिदं विद्धि सर्व्वामन्त्रेषु सम्मतम् ।
नाजीवम् ज्ञास्यति ज्ञेयं यदतोऽस्त्यत्र जीवनम् ॥"

श्वेताश्वतर के 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' व 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' में कथित शक्ति का विकसित रूप तंत्रग्रन्थों में देखा जाता है। वहाँ शक्ति सांख्य की मूलप्रकृति बन जाती है, इसके सादृश्य में मूलप्रकृतिसंज्ञिता सीता को सीतोपनिषद् ने 'उत्पत्तिस्थिति-संहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।' कहा। लक्ष्मीतंत्र में विष्णु की शक्ति का नाम अहन्ता मिलता है—[15] 'अहन्ताब्रह्मणस्तस्य साहमस्मि सनातनी' और उसी में नारायणी नामका वैष्णवी परा सत्ता का भी कथन है–[16]'अहं नारायणी नाम सा सत्ता वैष्णवी

[15] लक्ष्मीतंत्र २–११, १२ [16] लक्ष्मीतं० ३–१

परा।' उसी का समर्थन विष्णुपुराण में भी किया गया—[१९] विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।' उसी शक्ति को लक्ष्मी, पद्मा, पद्ममालिनी, कमला आदि नाम भी दिए गए, जैसा अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय ३ के श्लोक ९-११ में पाया जाता है। भगवद्भक्ति में इन नामों के पाँच कार्य कहे गए हैं—[२०] तिरोभाव सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह। नारायण के सारे कार्य इसी लक्ष्मी शक्ति द्वारा होते हैं और इनके बिना केवल नारायण से जीवों को मोक्षलाभ नहीं हो सकता—

"लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया।
रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेषु च गीयते॥"

स्पष्ट है कि 'देव्या कारुण्यरूपया' के समक्ष 'यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' की शिक्षा हवा हो गई और लक्ष्मी व हृषीकेश के करुणा के सामने मस्तक टेकने का भाव पैदा हुआ, पर वह भी स्थिर नहीं रहने पाया। दुर्गासप्तशती में नारायण हृषीकेश भी नहीं रहे, वहाँ केवल शक्ति ही रह गई और शक्तिरूपिणी दुर्गा के सामने साधकों को मंत्रोच्चारण करना रहा—'स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तुते।'

गौतम द्वारा बौद्धमत का प्रचार किए जानेपर उससे पुरातन तंत्र भी प्रभावित हुआ और तांत्रिक विचारों का भी समावेश बुद्ध की शिक्षाओं में होता गया। हीनयान से वज्रयान में परिवर्तित होते बौद्धमत में सनातन भारतीय धारणाओं को अधिक मान देने की ओर ध्यान होने पर उनकी अनेक बातें बौद्धमत में घुसेड़ी गईं। ऐसे ही समय में वज्रयान का

[१९] विष्णुपुराण ६-७-६१ [२०] लक्ष्मीतंत्र -अ० १२

साधारण काम समझ पारदादिभस्म के प्रयोग पर ध्यान दिया और उनने रस द्वारा शक्ति-धारण करने की शिक्षा भी आरम्भ की। कुछ तांत्रिकों का सम्बन्ध रासायनिक प्रक्रिया से हुआ। अनेक ओषधियाँ भी दार्शनिकों ने प्रस्तुत की। रसेश्वर दर्शनानुयायी रासायनिक प्रयोग की प्रधानता यहां तक बताने लग गए कि अभ्रक पारद आदि के भस्म-प्रयोग प्रभृति कर्मों के ज्ञान द्वारा उद्धार की प्रतीति की जाने लगी। रसेश्वरसिद्धान्त में अनेक देव, दैत्य, मुनि, मानवादि के रससामर्थ्य द्वारा देह-साधन कर मुक्ति पाने का वर्णन किया गया और आगे रस ज्ञान ही जानने योग्य ज्ञान कहा गया :—

> "रसाङ्कमेवमार्गोको जीवमोक्षोऽस्त्यधीमनाः ।
> प्रमाणान्तरवादेषु युक्तिभेदावलम्बिषु ॥
> ज्ञानज्ञेयमिदं विद्धि सर्व्वामन्त्रेषु सम्मतम् ।
> नाजीवम् ज्ञास्यति ज्ञेयं यदतोऽस्त्यत्र जीवनम् ॥"

श्वेताश्वतर के 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' व 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' में कथित शक्ति का विकसित रूप तंत्रग्रन्थों में देखा जाता है। यहां शक्ति सांख्य की मूलप्रकृति बन जाती है, उसके सादृश्य में मूलप्रकृतिसंज्ञिता सीता को सीतोपनिषद् ने 'उत्पत्तिस्थिति-संहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।' कहा। लक्ष्मीतंत्र में विष्णु की शक्ति का नाम अहन्ता मिलता है—[१५] 'अहन्ताब्रह्मणस्तस्य साहमस्मि सनातनी' और उसी में नारायणी नामका वैष्णवी परा सत्ता का भी कथन है-[१६]'अहं नारायणी नाम सा सत्ता वैष्णवी

[१५] लक्ष्मीतंत्र २-११, १२ [१६] लक्ष्मीतंत्र ३-१

परा।' इसी का समर्थन विष्णुपुराण में भी किया गया—[19] विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।' उसी शक्ति को लक्ष्मी, पद्मा, पद्ममालिनी, कमला आदि नाम भी दिए गए, जैसा अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय ३ के श्लोक ६-११ में पाया जाता है। भगवद्भक्ति में इन नामों के पाँच कार्य कहे गए हैं—[20]तिरोभाव, सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह। नारायण के सारे कार्य इसी लक्ष्मी शक्ति द्वारा होते हैं और इनके विना केवल नारायण से जीवों को मोक्षलाभ नहीं हो सकता—

"लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया।
रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेषु च गीयते॥"

स्पष्ट है कि 'देव्या कारुण्यरूपया' के समक्ष 'यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' की शिक्षा हवा हो गई और लक्ष्मी व हृषीकेश के करुणा के सामने मस्तक टेकने का भाव पैदा हुआ, पर वह भी स्थिर नहीं रहने पाया। दुर्गासप्तशती में नारायण हृषीकेश भी नहीं रहे, वहाँ केवल शक्ति ही रह गई और शक्तिरूपिणी दुर्गा के सामने साधकों को मंत्रोच्चारण करना रहा—'स्वर्गापवर्गये देवि नारायणि नमोऽस्तुते।'

गौतम द्वारा बौद्धमत का प्रचार किए जानेपर उससे पुरातन तंत्र भी प्रभावित हुआ और तांत्रिक विचारों का भी समावेश बुद्ध की शिक्षाओं में होता गया। हीनयान से वज्रयान में परिवर्तित होते बौद्धमत में सनातन भारतीय धारणाओं को अधिक मान देने की ओर ध्यान होने पर उनकी अनेक बातें बौद्धमत में घुसेड़ी गईं। ऐसे ही समय में वज्रयान का

---

[19] विष्णुपुराण ६-७-६१ [20] लक्ष्मीतंत्र—अ० १२

जन्म ईसावाद् ३री शताब्दी में मैत्रेयानाथ द्वारा हुआ और महायान सम्प्रदाय का योगाचार-दर्शन वज्रयान के सिद्धान्तों का उद्गम बना। योगाचार-मत था कि सर्वज्ञाता बनजाने के मार्ग में दो विघ्न हैं, १ला क्लेशावरण और २रा ज्ञेयावरण। ये विघ्न विश्व-शून्यता-ज्ञान से ही नष्ट किये जा सकते हैं। नैरात्म्य के निरन्तर चिन्तन से आवरण हट जाते हैं और तब साधक समझने लगता है कि सभी पदार्थ शून्य हैं। महायानियों ने ऐसे चिन्तन को लोकहितेच्छा से अपनाया और वे निष्काम पर-हित में लगे रहे; उनके प्रतिकूल हीनयान वाले जो कुछ करते थे सभी आत्मलाभ की दृष्टि से। किन्तु योगाचार के दार्शनिक सिद्धान्तों से सबों में सहानुभूति की जो प्रबलेच्छा पैदा हुई, उससे प्रेरित हो भिक्षुभिक्षुणी दोनों बहुत मिलने-जुलने लगे और उनके बीच के कड़े नियमों की भी उन्हें उतनी चिन्ता नहीं रही; बल्कि वज्रयान ने और सहायता पहुँचाई। उसने स्त्रीशक्ति-पूजा-भाव को प्रधानता दी और उसके साथ तंत्र को मिलाकर एक पृथक् सम्प्रदाय खड़ा करना आरम्भ किया। अब जिस प्रकार बौद्धमत ने प्रारम्भ में ब्राह्मणधर्म्म का पराभव घटित किया था उसी तरह वज्रयान ने बौद्धमत का ह्रास तेजी से शुरू किया।

तंत्र को प्रधानता दे वज्रयानियों ने गौतम द्वारा विवर्जित मद्य मांस-मैथुनादि पञ्चमकारों को सर्वथा ग्राह्य माना और यहाँ तक माना कि इसके सेवन बिना निर्वाण को भी असंभव कहा। बौद्धमत के सम्मान पर भी उनने आघात किया। ये कहते कि बौद्धधर्म सनातन है, उसके प्रचार में अनेक बुद्ध हो गए हैं और गौतम उन्हीं में एक थे। उनने पाँच ध्यानी बुद्धों का भी सिद्धान्त खड़ा किया—"पञ्चबुद्ध-

स्वभावत्वात् पञ्चस्कन्धा जिनाः स्मृताः'। मनुष्यों के प्रति सहानुभूति के भावों को उनने बड़ी ही प्रधानता दी और दृढ़ता से कहा—'तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगदुद्धरणाशयैः,' क्योंकि प्रतिदिन बोधिसत्व मानव कल्याण के अनेक यत्न कर रहे हैं। वे यह भी प्रचार करने लग गए कि इस त्रिलोक की रचना वज्रनाथ के साधकों के हितार्थ है, निर्वाण के निमित्त प्रज्ञापारमिता का उपभोग करना चाहिए और चूंकि प्रज्ञा पृथ्वी-तल पर प्रत्येक स्त्री में बसती है, स्त्रियों का भोग बिना किसी संकोच और भेद के करना चाहिए तथा ऊँच-नीच का भेद छोड़ कर किसी भी सम्बन्ध की स्त्री के संसर्ग से साधक मुक्ति पा सकता है। आगे उनका सिद्धान्त बना—

"कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥"

वज्रयान-सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन ईसावाद ७ वीं सदी के अभंगवज्र कृत प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि में मिलता है। उसमें भद्र, गुरुमाहात्म्य, प्रज्ञोपायशिष्य-दीक्षा, प्रज्ञोपाय-चिन्तन, संसार और निर्वाण की व्याख्याओं के अतिरिक्त पाँचवें अध्याय में निर्वाण-प्रदायिनी कई तांत्रिक क्रियाओं का वर्णन है। तांत्रिक क्रियाएँ तत्त्वचर्या कही गई हैं। तत्त्व-चर्या की महिमा में यहां तक उल्लेख है कि मुरारि, शिव, इन्द्र और कुबेर ने तत्त्वचर्योपासना की और इन क्रियाओं से तथागतों को महानिर्वाण प्राप्त हुआ। उक्त पुस्तक से यह भी विदित होता है कि स्त्रियों से संसर्ग की प्रधानता साधकों के लिए किस निःसंकोच ढंग से दी गई। तांत्रिकों ने उस प्रधानता का विशेष सम्मान भी किया और तांत्रिक साधना में विचित्र २ घृणित कृतियाँ समाविष्ट की गईं।

जन्म ईसावाद ३री शताब्दी में मैत्रेयानाथ द्वारा हुआ और महायान सम्प्रदाय का योगाचार-दर्शन वज्रयान के सिद्धान्तों का उद्गम बना। योगाचार-मत था कि सर्वज्ञता धनज्ञान के मार्ग में दो विघ्न हैं, १ला क्लेशावरण और २रा ज्ञेयावरण। ये विघ्न विश्व-शून्यता-ज्ञान से ही नष्ट किये जा सकते हैं। नैरात्म्य के निरन्तर चिन्तन से आवरण हट जाते हैं और तब साधक समझने लगता है कि सभी पदार्थ शून्य हैं। महायानियों ने ऐसे चिन्तन को लोकहितेच्छा से अपनाया और वे निष्काम पर-हित में लगे रहे; उनके प्रतिकूल हीनयान वाले जो कुछ करते थे सभी आत्मलाभ की दृष्टि से। किन्तु योगाचार के दार्शनिक सिद्धान्तों से सबों में सहानुभूति की जो प्रबलेच्छा पैदा हुई, उससे प्रेरित हो भिक्षुभिक्षुणी दोनों बहुत मिलने-जुलने लगे और उनके बीच के कड़े नियमों की भी उन्हें उतनी चिन्ता नहीं रही; बल्कि वज्रयान ने और सहायता पहुँचाई। उसने स्त्रीशक्ति-पूजा-भाव को प्रधानता दी और उसके साथ तंत्र को मिलाकर एक पृथक् सम्प्रदाय खड़ा करना आरम्भ किया। अब जिस प्रकार बौद्धमत ने प्रारम्भ में ब्राह्मणधर्म्म का पराभव वदित किया था उसी तरह वज्रयान ने बौद्धमत का ह्रास तेजी से शुरू किया।

तंत्र को प्रधानता दे वज्रयानियों ने गोतम द्वारा विवर्जित मद्य मांस-मैथुनादि पञ्चमकारों को सर्वथा ग्राह्य माना और यहाँ तक माना कि इसके सेवन बिना निर्वाण को भी असंभव कहा। बौद्धमत के सम्मान पर भी उनने आघात किया। ये कहते कि बौद्धधर्म सनातन है, उसके प्रचार में अनेक बुद्ध हो गए हैं और गोतम उन्हीं में एक थे। उनने पाँच-ध्यानी बुद्धों का भी सिद्धान्त खड़ा किया—"पञ्चबुद्ध-

स्वभावत्वात् पञ्चस्कन्धा जिनाः स्मृताः'। मनुष्यों के प्रति सहानुभूति के भावों को उनने बड़ी ही प्रधानता दी और दृढ़ता से कहा—'तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगदुद्धरणार्थिभिः,' क्योंकि प्रतिदिन बोधिसत्त्व मानव कल्याण के अनेक यत्न कर रहे हैं। वे यह भी प्रचार करने लग गए कि इस त्रिलोक की रचना वज्रनाथ के साधकों के हितार्थ है, निर्वाण के निमित्त प्रज्ञापारमिता का उपभोग करना चाहिए और चूंकि प्रज्ञा पृथ्वी-तल पर प्रत्येक स्त्री में बसती है, स्त्रियों का भोग बिना किसी संकोच और भेद के करना चाहिए तथा ऊँच-नीच का भेद छोड़ कर किसी भी सम्बन्ध की स्त्री के संसर्ग से साधक मुक्ति पा सकता है। आगे उनका सिद्धान्त बना—

"कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥"

वज्रयान-सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन ईसाबाद ७ वीं सदी के अभंगवज्र कृत प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि में मिलता है। उसमें भव, गुरुमाहात्म्य, प्रज्ञोपायशिष्य-दीक्षा, प्रज्ञोपाय-चिन्तन, संसार और निर्वाण की व्याख्याओं के अतिरिक्त पाँचवें अध्याय मे निर्वाण-प्रदायिनी कई तांत्रिक क्रियाओं का वर्णन है। तांत्रिक क्रियाएँ तत्त्वचर्या कही गई हैं। तत्त्व-चर्या की महिमा में यहां तक उल्लेख है कि मुरारि, शिव, इन्द्र और कुबेर ने तत्त्वचर्योपासना की और इन क्रियाओं से तथागतों को महानिर्वाण प्राप्त हुआ। उक्त पुस्तक से यह भी विदित होता है कि स्त्रियों से संसर्ग की प्रधानता साधकों के लिए किस निःसंकोच ढंग से दी गई। तांत्रिकों ने उस प्रधानता का विशेष सम्मान भी किया और तांत्रिक साधना में विचित्र २ घृणित कृतियाँ समाविष्ट की गईं।

तंत्र में मंत्र बराबर ही सिद्धि-साधन समझे गए, इसका कारण था वैदिक स्तुतियों में मंत्रोच्चारण की पवित्रता का ध्यान। संहिता व यज्ञ काल में वेद धर्मानुयायी मंत्रों का उच्चारण कर ही मनोरथ की पूर्ति किया करते थे, तांत्रिकों ने उस भाव को शुरू से अपनाया और वे मंत्र चैतन्य की व्याख्या में लगे। वे कहते कि मंत्र अक्षरमय होते हैं और अक्षर सर्वशक्तिमान् होते हैं, अक्षरों में व्यञ्जनवर्ण बीज रूप हैं, स्वरवर्ण शक्ति रूप हैं और विसर्ग कीलक-रूप है; श्रीं ह्रीं से यही विदित होता है, फट्-वषट्-स्वाहा स्वधा अर्थहीन वैदिक शब्द होम की भाषा के हैं, उनका प्रचार अवैदिकों में भी था। वैदिक शब्द ओरेम् ही तांत्रिकों में होम या हुम शब्द बना। तो भी निस्सन्देह ही वैदिक स्तुतियों की ऋचाओं के शब्द अर्थपूर्ण थे, वे तंत्र के मंत्रों की भाँति सांकेतिक शब्दों से नहीं थे। पर पीछे तंत्र के मंत्रों को भी अर्थपूर्ण बतलाने का प्रयत्न धीरे २ ग्रन्थों में किया गया और बौद्धों द्वारा तंत्र को प्रधानता मिलने पर अनेक ग्रन्थ तंत्र की मंत्र-शक्ति पर लिखे गए।

तांत्रिक ग्रन्थों की रचना का आरम्भ सगीतियों से[31] हुआ

[31] "The word Sangiti means chanting together, and s peculiar to Buddhism Buddha preached all his life after obtaining enlightenment, but he never wrote anything. n order that his teachings might be preserved his disciples after his death met together and reproduced his teachings nd chanted them together This is the beginning of the Sangiti......The first Sangitis composed and chanted together related to the teachings of Buddha, but later on

और संगीतियों से गौतम बुद्ध का पूरा सम्बन्ध था। संगीतियों में तंत्र के पहले प्रचार नहीं होने का कारण दिया गया है[२२], उससे तंत्र को गौतम द्वारा विशेषता मिलने की कल्पना की जाती है और तांत्रिक साधनाओं से गौतम का सम्पर्क भी ग्रन्थों में कथित है। जांगुली-साधना गौतम की ही बताई कही जाती है और ईसावाद ८ वीं शताब्दी के शान्त-रक्षित और कर्मशील मुद्रा-मण्डल-मन्त्रादि की शिक्षा बुद्ध द्वारा दी गई मानते हैं। इसके अलावे वज्रयानियों ने मंत्र की महिमा खूब गाई है। जम्मलभावना में कहा गया है—[२३] 'किमस्त्यसाध्यं मन्त्राणां योजितानां यथाविधि।" वज्रसरस्वती-साधन में है—[२४] "विश्वविस्मापने शक्तिरस्मादस्योपजायते।" एक जटा के महाबली मंत्रराज के सम्बन्ध में कथन है—[२]

Whenever new ideas were introduced into Buddhism they too appeared in the form of Sangitis, and the Buddhists would not accept anything new unless it was taught in Sangitis The Tantries when they made an attempt to introduce their own novel doctrines into the old cult were, therefore, compelled to introduce them in the form of Sangitis" Dr. Benoytosh Bhattacharyya Guhyasamaja Tantra, p. viii

[२२] श्रीगुह्यसमाजतंत्र के १७ वें पटल में मिलता है कि पुराकल्प में गुह्यसमाज सिद्धान्तों को समझने के योग्य अनुयायियों के अभाव के कारण भगवान बोधिचित्त वज्र ने पहले गुह्यसमाज को प्रकाशित नहीं किया।

[२३] साधनमाला भाग २, पृ० ५७५ [२४] साधनमाला-भाग १, पृ० ३३४ [२५] साधनमाला-भाग १, पृ० ३३०

अस्य श्रवण-मात्रेण निर्विघ्नोजायते नरः" और मंत्रों में संशय-नाश के सम्बन्ध में कहा है—[२६] "संशयो नेह कर्त्तव्यो विचित्रा भावशक्तयः।" लोक-मंत्रों का उच्चारण अक्षुब्ध [२७] निश्चिन्त मन से यथाविधि होना चाहिए—[२८] "यथाभिलपितं मंत्रं न द्रुतं न विलम्बितं असत्संकल्पवर्जितं मन्त्राक्षरगतचित्तं तावज्जपेत् यावन्नखेदो भवति।"

मंत्रों के प्रबल होने की ऐसी धारणाओं को ग्रन्थों में आदर देकर तांत्रिकों ने एक लम्बे समय तक तांत्रिक विचारों का प्रचार किया, और जैसे २ प्रचार बढ़ता गया रूप में भी परिवर्त्तन जारी रहा जिसके प्रमाण तांत्रिक ग्रन्थों की शैलियाँ व विषय-चर्चाएँ ही हैं। मञ्जुश्रीमूलकल्प की रचना का समय २री शताब्दी मानी गई है, और गुह्यसमाज [२९] का

---

[२६] साधनमाला-भाग 1, पृ० ३३०

[२७] प्रज्ञोपायविनिश्चियसिद्धि पृ० २४, श्लो० ४०

तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्नेतु सिद्धिर्नैव कदाचन॥

[२८] साधनमाला भाग 1 पृ० 1०

[२९] पद्मवज्र : गुह्यसिद्धि—(क) श्रीसमाजा परं नास्ति रत्नभूतं त्रिधातुके, (ख अहो गुह्यातिगुह्यस्य वज्रयानस्य देशना। निःस्वभावस्य बुद्धस्य विद्यते यस्य नोपमा॥ (ग) अतस्तत् कथ्यते गुह्यं प्रज्ञोपायविभावनम्। स्मरणं चित्तवज्रस्य गुह्यात् गुह्यतरं परम्॥ ये न जानन्ति तं बुद्धं स्वदेहेऽपि व्यवस्थितम्। निर्वृत्ति तं पदं दिव्यं तेषां सम्यक् प्रवीम्यहम्॥ (घ) महामुद्रां निषेवेत स्वदेहोपायसंयुताम्। स्वसंवेद्या हि सा विद्या महामुद्रा परात्परा॥गुह्यसमाजतंत्र, पटल १८,पृ० १५३—

"अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्॥"
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्॥"

३री शताब्दी ईसावाद, इसी समय पञ्चध्यानी बुद्धों का उल्लेख भी किया गया।

गुह्यसमाज का लक्ष्य था हीनयान व महायान के दुष्कर नियमों को दूर कर सर्वकामोपभोग द्वारा सिद्धि पाने के मत का प्रचार करना[२०]। पञ्चध्यानी बुद्धों को इसने एक २ शक्ति से युक्त किया और शक्ति की उपासना को उत्तम सिद्धि सम्बोधित किया[२१]। पहले से आते नियमों को तोडकर इस मत ने मांस-भक्षण, सुरा-पान, और सुन्दरी-संग को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, सभी प्रकार के मांस ग्राह्य बतलाए गए और साधक के लिए मनुष्य-पशु आदि के रक्त व सुरा के यथेच्छ दान की स्वतंत्रता दी गई[२२]। चैत्यकर्म, पुस्तकवाचन, मण्डलकरण और त्रिवज्रप्रवन्दन की भी अवहेलना की गई[२३]। प्रत्येक नैतिक व सामाजिक आचार के प्रतिकूल आचरण करना गुह्यसमाज तन्त्र में योग माना गया[२४]। इस समाज का सम्बन्ध हठयोग से भी था और इसमें मारण उच्चाटन-

---

[२०] गुह्यसमाजतंत्र, पटल १८—पृ० २७—"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिध्यति। सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिध्यति॥"

[२१] गुह्यसमाजतंत्र, पटल १८—पृ० १६१

[२२] गुह्यसमाजतंत्र, पटल ६—पृ० २९, पटल १५—पृ० १०२; भूमिका पृ० XII

[२३] गुह्यसमाजतंत्र, पटल १७—पृ० १४२ "चैत्यकर्म न कुर्वीत न च पुस्तकवाचनम्। मण्डलं नैव कुर्वीत न त्रिवज्राभिवन्दनम्॥"

[२४] गुह्यसमाजतंत्र, पटल १६—पृ० १२० "प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः। अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥"

वशीकरण-स्तम्भन-आकर्षण-शान्तिक उपचारों की प्रधानता थी। ऐसे ही आचार गुह्यसमाज-तंत्र में सिद्धि-प्रदायक थे, यह पञ्चम पटल में भगवान् द्वारा स्पष्टतः व्यक्त किया गया है—

> "चण्डालवेणुकाराद्या मारणार्थार्थचिन्तकाः।
> सिध्यन्ति अग्रयानेऽस्मिन् महायानेह्यनुत्तरे॥
> आनन्तर्यप्रभृतयः महापापकृतोऽपि च।
> सिध्यन्ते बुद्धयानेऽस्मिन् महायानमहोदधौ॥
> आचार्यनिन्दनपरा नैव सिध्यन्ति साधने।
> प्राणातिपातिनः सत्त्वा मृषावादरताश्च ये॥
> ये परद्रव्याभिरता नित्यं कामरताश्च ये।
> विण्मूत्राहारकृत्या ये भव्यास्ते खलु साधने॥
> मातृभगिनीपुत्रींश्च कामयेद्यस्तु साधकः।
> स सिद्धिं विपुलां गच्छेत् महायानाग्रधर्मताम्॥
> मातरं बुद्धस्य विभोःकामयन्न च लिप्यते।
> सिध्यते तस्य बुद्धत्वं निर्विकल्पस्य धीमतः॥"

ईसावाद ७वीं सदी के मध्यकाल में महासिद्धों के प्रबल-प्रमाण उनकी रचनाओं में दिखाई देते हैं और तंत्रग्रन्थ-रचना पालवंशी राजा प्रथम महीपाल तक होती रही है, इस दीर्घ-कालीन समय में तंत्र के भीतर अनेक नूतन विचार समाविष्ट हुए। लगभग ७२६ ई० में वज्रयान-सम्प्रदाय में भगवती लक्ष्मीङ्करा ने उपदेश दिए। वह उपदेशिका थी, उसके सिद्धान्त भी बड़े ही विचित्र थे। उसने कष्टकल्पना, उपवास, स्नान, पूजा, कायशुद्धि, भक्ष्याभक्ष्य आदि का खण्डन कर सर्व-वर्णसमुद्भूता स्त्रियों से प्रेम-भाव रखने की शिक्षा दी।

निर्वाण-प्राप्ति के निमित्त गुरु की शिक्षाओं को उसने अनिवार्य कहा। उसके अनेक अनुयायी हुए और वे सहजवादी कहलाए। सहजवादियों से सहजिया सम्प्रदाय, नाथानाथीदल और बाउलमत का प्रादुर्भाव हुआ। लक्ष्मींकरा के शिष्य लीलावज्र (७४२ ई०) एक विख्यात वज्राचार्य हुए और उनने कई पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों से मालूम होता है कि उस काल में वज्रयान व सहजयान दोनों समुन्नत दशा में थे। लीलावज्र के शिष्य थे—दारिकपाद व करुणाचल। करुणाचल एक निपुण कवि थे। दारिकपाद (७५३ ई०) बंगाली थे और और उनने बंगला में अनेक गीत बनाए, उनकी संस्कृत में भी रचनाएँ थीं जो प्राप्य नहीं हैं। दारिकपाद की शिष्या थी—सहजयोगिनी चिन्तो (७५६ ई०), उसने 'व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि' नामक पुस्तिका संस्कृत में लिखी। वह विज्ञानवादिनी थी। उसने विश्व को चित्त की रचना माना और प्रज्ञा तथा उपाय को भी मन से ही सृष्ट कहा, प्रज्ञा व उपाय के सम्मिलन से महासुख की उत्पत्ति मन में होती है और मन तब बाह्य जगत को महासुख-स्वरूप समझने लगता है। चित्त की भिन्न २ अवस्थाएँ हुआ करती हैं, जो योगी उन भिन्न दशाओं से मन को निर्विकार रखता हुआ बाह्य जगत की शून्यता को अनुभव कर लेता है उसे बुद्धत्व सुलभ हो जाता है। वज्रसत्त्व को उसने उपमावर्जित, स्वंग, सर्वव्यापी, कर्ता हर्ता जगतपति कहा, यथा—

अद्वैतसिद्धि—"गम्यागम्य विकल्पन्तु भक्ष्याभक्ष्यन्तथैव च।
पेयापेयं तथा मन्त्री कुर्यान्नैव समाहितः॥
सर्ववर्णासमुद्भूता जुगुप्सा नैव योषितः।
सैव भगवती प्रज्ञा सम्वृत्या रूपमाश्रिताः॥"

"प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः ।
स्वर्गः सर्वव्यापी च कर्ता हर्ता जगत्पतिः ।
श्रीमान् वज्रसत्वोऽसौ व्यक्तभावप्रकाशकः ॥"

सहजयोगिनी के शिष्य डोम्बी हेरुक (७७० ई०) की गणना ८४ सिद्धों में की गई है। मगध का राज्य छोड़ कर उसने संन्यास लिया और सहजयान व वज्रयान पर किताबें लिखीं, उन किताबों में 'डोम्बी गीतिका'[२६] भी स्वीकार की जाती है। उसने महासुख-सिद्धान्त पर प्रकाश डालते लिखा है कि आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द, सहजानन्द सुख के चार सोपान हैं[२७]; महासुख का अनुभव आप ही किया जा सकता है और अनुभव के उपरान्त सिद्धि प्राप्त होती है[२८]। लेखक ने तंत्र में कुल-सेवा को सर्वकामप्रदा कहा है[२९] और पंचध्यानी कुलों से अक्षोभ्य, वैरोचन, अमिताभ, रत्नसम्भव,

---

[२६] डोम्बी-गीतिका की रचना का नमूना—
गङ्गा जमुना माझेंरे वहई नाई ।
तँहि बुडिलि मातङ्गी पोइआ लीले पार करे इ ।
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भइल उछारा ।
सद्गुरु पाअ पए जाइब पुनु जिन उरा ।

साधनामाला-भाग २

[२७] "आनन्देन सुखं किंचित् परमानन्द ततोऽधिकम् ।
विरमानन्द विरामः स्यात् सहजानन्द तु शेषतः ॥"

[२८] ' तेषामेव पारतन्त्र्यात् स्वसंवेद्य महासुखम् ।
स्वसंवेद्य भवेत् सिद्धिः स्वसंवेद्य हि भावना ॥"

"कुलमेवान् भवते सिद्धि सर्वकामप्रदा शुभा ।"

अमोघसिद्धि नामक पाँचकुल गिनाए हैं।[४०] कुल शब्द से कुलाचार, कौल, कौलिक शब्द बने हैं; पर कुल शब्द का निश्चित अर्थ नहीं मिलता, बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके भिन्न २ अर्थ किए गए हैं। पर यह निश्चित है कि तंत्र-सम्प्रदाय में कौलमत भ्रष्ट भोगविलास की प्रवृत्ति का पृष्ठ-पोषक रहा, क्योंकि उसने मद्यमांसादि सेवन के साथ अत्यन्त बीभत्स कृत्यों के द्वारा देवतार्चन, मन्त्रजाप, अनुष्ठान, प्रभृति का प्रचार किया। वाममार्ग के मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन, युक्त पंचमकार-सिद्धान्त कौलमत के ही अन्तर्गत था और उसी सिद्धान्त के अनुकूल पवित्र आचार से साधना के साथ भोगमय घृणित कृत्य द्वारा सिद्धि का विश्वास तंत्र में प्रबल हुआ। अन्त में पवित्र भाव का पूर्णासन दुराचार ने ही ग्रहण किया और साधन-सोपान पंचमकार हो बैठे। साधनमाला भाग १ के पृ० २५१ में मिलता है—"त्रिकालस्नायी मद्यमांसवसापलाण्डुतैललवणविवर्जितस्त्रिकालं जपेत् यावद् दशसहस्राणि। ततः सिद्धो भवति।"; पृ० ३३६ में है—"न्यासमित्थं विधानेन प्रकुर्व्याद् ब्रह्मचर्य्यतः"; पृ० २२१ में कहा है—"विना मण्डलकस्नानोपवासेन केवलं जापमात्रेण सिद्ध्यति।" भाग २ के पृ० ३८८ में लिखा है—"अत्र स्नान-नियमो नास्ति, नापि भोजने नियमः। अत्र मन्त्रजापस्तु क्रियमाणः यथा न कश्चित प्रत्येति तथा कर्त्तव्यः। ॐ कुरु कुल्ले ह्रीः स्वाहा।" और पृ० ५८५ में उल्लेख है—"विषरुधिर

[४०] "अक्षोभ्य वज्रमित्युक्तं अमिताभः पद्ममेव च।
रत्नसम्भवो भावरत्नः वैरोचनस्तथागतः।
अमोघः कर्म्ममित्युक्तं कुलान्येतानि संक्षिपेत्।"

रसेन श्वेतसर्षपैर्महाकालस्य धूपं दत्त्वा बलिं सृजेत् ।
मांसजम्बुडिकामध्यपुष्पधूपविलेपनम् ।
पञ्चमांसामृतैर्नैव महाकालाय सृजेद् बलिम् ॥"

तंत्र की समुन्नति होने पर ब्राह्मण-धर्मानुयायियों में भी बौद्धमत की तांत्रिक रुचि पैदा हुई और उससे ब्राह्मणिक तंत्र का विकास आरम्भ हुआ और पुरातन तांत्रिक सिद्धान्तों की भित्ति पर पौराणिक व बौद्ध तांत्रिक धारणाओं के साथ ब्राह्मणिक तंत्र को पुष्ट किया गया। ब्राह्मण-तंत्र में भयावह तांत्रिकरूत्यों का सम्बन्ध भूतनाथ शिव व उनकी महाप्रलयिनी शक्ति से रक्खा गया; जिस ओर कालिदास ने भी संकेत किया है—"अनिमादि गुणोपेतं स्पृष्टपुरुषान्तरम्।" हिन्दू-पुनरुत्थान काल में ब्राह्मण व बौद्ध के विचारों में जो आदान-प्रदान हुआ इसीके सिलसिले में दोनों की तांत्रिक धारणाओं में भी प्रत्यावर्त्तन घटित हुआ। हिन्दुओं में काली-दुर्गा-भैरवी चण्डी-चामुण्डा- प्रभृति शक्तियों की उपासना इसीसे बलवती हुई और भक्तिवाद की लहर में उसका रूपान्तर राधा तथा सीता में प्रस्तुत किया गया। हिन्दू-धर्मग्रन्थों में इसीसे बौद्ध तंत्र से मिलते जुलते विचार मिलते हैं। पतञ्जलदर्शन में सिद्धि-सम्बन्ध में कथन है—"जन्मौषधि मात्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।" इससे सिद्धियाँ पाँच प्रकार की विदित होती हैं, पर तांत्रिक सिद्धियों की अनुरूपता का निकर्ष इस वचन से नहीं निकाला जा सकता। बुद्ध-तंत्र में बिना पठन शास्त्रज्ञान, बोधिप्राप्ति, सर्वज्ञत्वलाभ विजयार्थ, चमत्कारशक्ति, वादविजय आदि अनेक सिद्धियों का वर्णन है। उसी से मिलता हुआ विवरण साधन-माला

भाग २ के पृ० ५०६ में लभ्य है।[४१] फिर दूसरे स्थल में शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मरण नामक छः कर्मों का उल्लेख है,[४२] जिनसे हिन्दुओं के षट्कर्म-भाव का कुछ मेल है। अनेक सिद्धियों के सदृश ब्रह्मवैवर्त-पुराण में दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, सर्वज्ञत्व, वह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तम्भ, वाक्सिद्धि, कायव्यूहप्रवेश, मृतानयन, प्राणदान आदि ३४ सिद्धियों का वर्णन मिलता है और हिन्दुओं की आठ सिद्धियाँ अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायित्व के सदृश कुरुकुल्लासाधन में खड्ग, अञ्जन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर, पाताल नामकी आठ ही सिद्धियों का कथन है[४३]। आचार तंत्र में जिस भगवती तारा की सिद्धि बुद्धाचार से कथित है वह भगवती तारा हिन्दूशास्त्रों की दश महाविद्याओं मे गिनी गई है[४४] और ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में तारा की तारिणी

---

[४१] किञ्च भगवतो लक्षत्रयजापात् उभयचक्रवर्त्तिराज्यामुखाभवति, अनेकाभिरप्सरोभि परिवृत पुरस्कृतो विद्याधरस्थाने बहुलसुखमनुभवन् एव तिष्ठति, देवेन्द्र छत्रधरो भवति, ब्रह्मा च मन्त्री वेमचित्री सैन्यपति, हरिः प्रतिहार समस्तदेव अवलगन्ति, नग्नाचार्य्यं शकर समस्त-गुणानुपदर्शयति।"

[४२] साधनमाला भाग २ पृ० ३६२ से ३७१ तक देखना चाहिये।

[४३] "खड्गाञ्जनपादलेपान्तर्द्धानरसरसायनखेचरभूचर पाताल सिद्धि प्रमुखा सिद्धी साधयेत्।" साधनमाला भाग २ पृ० ३५०

[४४] कृष्णानन्द आगमवागीश तन्त्रसार, पृ० ३१०—

"काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥

शक्ति[५४] के सम्बन्ध में लिखा है—"ताराम्बा नौकामधिगम्य विराजते।"

जान पड़ता है कि इस प्रकार जब ब्राह्मणधर्म में देवतावाद के अन्तर्गत शक्ति की उपासना व ईश्वर की मातृशक्ति की धारणा का प्रचार किया जा रहा था, बौद्ध तांत्रिकों ने उनसे अपना भेद स्थिर रखने का विचार किया और उनने अपने सिद्धों व इष्टदेवों को ब्राह्मणों के इष्टों से अधिक पराक्रमयुक्त घोषित किया। साधना में ऐसी चेष्टाओं के प्रमाण हैं, उनमें ब्राह्मणों के देव नीचा दिखाए गए हैं। "सिंहगरुडविष्णुस्कन्धसंस्थितमात्मानं ध्यात्वा ॐ ह्रीः हुँ इति मन्त्रं जपेत्" कहकर[५६] गरुड़ारोही विष्णु वाहन बनाए गए हैं और चण्डमहारोषणसाधन में[५७] हरिहर-हिरण्यगर्भ भयभीत व व्याकुल दिखाए गए हैं—"तर्ज्जनीतर्ज्जितव्याकुलानेकहरिहरहिरण्यगर्भादिक्लेशवृन्दारिधन्धनाय ......।" मृत्युवञ्चनसिततारा के साधनलाभवर्णन में साधक के मृत्यु जीतने और ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, चन्द्रमा, शिव, सूर्य व शिव से बालबांका भी नहीं हो सकने का कथन है[५८], मारीची-

बगला सिद्धविद्या च मातंगी कमलात्मिका।
एता दशमहाविद्याः सिद्धिविद्याः प्रकीर्तिताः॥"

[५४] तारा से आठ तारिणी—

"तारा चोग्रा महोग्रा च वज्रा काली सरस्वती।
कामेश्वरी भद्रकाली इत्यष्ट तारिणी स्मृता॥"

[५६] साधनमाला—१ला भाग, पृ० ७७

[५७] साधनमाला—१ ला भाग, पृ० १७४

[५८] साधनमाला—भाग १ पृ० २१४—

वर्णन मे कुछ देवता मारीची की वन्दना करते और कुछ उसके पैरों के नीचे दिखाए गए हैं[४९] और तारोद्भवकुरु कुल्लासाधन में कथन हे—[५०] "तया मुद्रया ब्रह्मेन्द्ररुद्रनारायण प्रभृतय• समाकृष्टा समागम्य किङ्करतामुपगम्य साधका-भिलषित सम्पादयन्ति।" वज्रज्वालानलार्कसाधन में विष्णु लक्ष्मी के साथ पदाक्रान्त किए गए ह—[५१] "सपत्नीक विष्णु मालीढपदेनाक्रम्यावस्थित।" भूतडामर-स्तुति में उक्ति ह—[५२] शक्रब्रह्मकुबेरादिमदविध्वंसकोविदम्।" त्रैलोक्यविजयसाधन में त्रैलोक्यविजय का स्वरूप महेश्वर मस्तक व गौरी-स्तन को पददलित करना लिखा है–[५३] "प्रत्यालीढेन वामपादाक्रान्त महेश्वरमस्तक दक्षिणपादावष्टब्ध गौरीस्तनयुगल।' प्रसन्नतारा द्वारा भी इन्द्र, उपेन्द्र, रुद्र व ब्रह्मा के पददलित होने का वचन हे—"वामपादेनेन्द्र, दक्षिणपादेनोपेन्द्र पादद्वयमध्ये रुद्र ब्रह्माण चाक्रम्य स्थिता सर्व्वावरणविनाशनीं भावयेत्।' अपराजितसाधन में ब्रह्मादि को दुष्ट बतलाते

"ब्रह्मेन्द्रविष्णुचन्द्रार्करुद्रदिक्कालमन्मथै।
अप्यखण्डितरोमाग्रो मृत्युजयति मुक्तवत्॥"

[४९] "सर्व्वत्र त्रिनेत्रा वाम रक्त वाराह वज्रमुद्गरगृहीतनमस्कृत दक्षिणमुख वाराह सैन्धवच्छाय वज्रपाशगृहीतपुरन्दरवन्दित चैत्यगर्भ कृष्णक्रोडालीढन स्थिता हरिहरब्रह्मादया मर्दिन्ता वसुलोकपाला• सर्व्वे भातास्त्रस्ता भट्टारिकावन्द नामाज्ञा च कुर्व्वन्त स्थिता।" साधनमाला भा० १ पृ० ३००

[५०] साधनमाला भा० २, पृ० ३५० [५१] साधनमाला भा० २, पृ० ५१२ [५२] साधनमाला भा० २, पृ० ५१२ [५३] साधनमाला भाग २, पृ० ५११

कहा गया है—[14] "अति-भयंकरकरालरौद्रमुखी अशेषमार-निर्दलनी ब्रह्मादिदुष्ट-रौद्रदेवता परिकरोच्छ्रितच्छत्रा चेति।"

ब्राह्मणमतानुयायियों में तीर्थों के प्रति श्रद्धा पैदा हो गई थी और साधारण विचार के लोग उनसे तरण मानते थे। तंत्र का भी सम्बन्ध वैसे ही लोगों से था, इस कारण उन लोगों का ध्यान तीर्थ से फेरने के विचार से तांत्रिकों ने अवसर पाकर अपने वचनों में ब्राह्मणिक तीर्थों पर भी आक्रमण किया, आर्यदेव के चित्तशोधनप्रकरण में इसी कारण अंकित पाया जाता है—

"प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता।
नक्तन्दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥
पापक्षयोऽपि स्नानेन नैव स्यादिति निश्चयः।
यतो रागादिवृद्धिस्तु दृश्यते तीर्थसेविनाम्॥"

परन्तु विरोधात्मक विचारवाले तांत्रिकों को अपनी स्वतंत्रता ही अन्त में गँवानी पड़ी। धीरे २ मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन के पंचमकार-प्रयोग में[15] तांत्रिक इतना लीन हुए कि वे नैतिक व आचारात्मक पतन के गहरे गर्त में आ गिरे। उस अवस्था में घोर मद्यपान को ही वे पुनर्जन्म का

---

[14] साधनमाला भाग २, पृ० ४०२

[15] श्रीश्रीकुलार्णवतंत्र १०—५

"मद्यं मांसञ्च मत्स्यञ्च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं देवि देवताप्रीतिकारकम्॥"

नाशक वतलाने लगे [५६] और 'रजस्वला पुष्करं तीर्थं चांडाली तु स्वयं काशी' [५७] कहते हुए 'मातृयोनि परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु' [५८] का सिद्धान्त वना वैठे। कुलयोगी का लक्षण वताया गया—"सदा मांसासवोल्लासी सदाचरणचिन्तकः" और कौलिकों के लिए विधि, निषेध, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि के सारे विचार दूर कर दिए गए [५९]। अपने मनमाने कृत्यों में कोई भी प्रतिवन्ध उन आचारभ्रष्ट कौलिकों को प्रिय नहीं हुआ और वे अघोरकृत्य की निन्दा करनेवालों को ही वे बुरा-भला कहने लगे [६१]; उनने पूरी उच्छृंखलता के घोषणा-रूप में व्यक्त किया— [६२]: "पाश-वद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा शिवः" और अपने आचार को नानावेशात्मक वतलाते मानो सिद्धान्त स्थिर किया— [६३] "क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद्भूतपिशाचवत्।" ऐसी भ्रष्ट स्थिति में तंत्र घृणित समझा जाने लगा और तांत्रिक सम्प्रदाय का

---

[५६] श्रीश्रीकुलार्णवतंत्र ७—१००

"पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
उत्थाय च पुनःपीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥"

[५७] रुद्रयामलतंत्र [५८] ज्ञानसंकलनीतंत्र [५९] श्रीश्रीकुलार्णवतंत्र, ९

"सदा संशयहीनो यः कुलयोगी स उच्यते ॥५१॥
न विधिर्न निषेधःस्यान्न पुण्यं न च पातकम्।
न स्वर्गो नैव नरकं कौलिकानां कुलेश्वरि ॥१७॥"

[६०] श्रीश्रीकुलार्णवतंत्र ८—७६

"कौलिकान् भैरवावेशान् यो वा निन्दति मूढधीः।
तं नाशयन्त्य सन्देहं योगिन्यः कुलनायिके॥"

[६१] ज्ञानसंकलनीतंत्र, १-४२ [६२] श्रीश्रीकुलार्णवतंत्र ९-७४

अपना स्वरुप नष्टभ्रष्ट हो गया। भक्तिवाद जिस प्रकार बौद्धमत के अवशेष को अदृश्य कर शान्त हुआ उसी प्रकार तांत्रिकों के गोल को भी निष्केन्द्र कर उसे कुछ तृप्ति मिली। तब तंत्र के भक्त शाक्त-शैव वैष्णवों के आचार की ओर झुके और अपने विचारों को उन्हीं के सिद्धान्तावतरण से आच्छादित कर कालयापन करने लगे। इसी दशा को लक्ष्य कर कहा गया है—

"अन्तः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥"

बारहवाँ अंश

त्रिमूर्त्ति

प्राचीनतम काल में, जब 'अग्निमीळे' कह कर भारतीय आर्यऋषि वरुण, अग्नि, इन्द्र, सोम, मित्र, विष्णु, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषन्, मरुत्, रुद्र, अदिति, दिति, वायु, अश्विन्, उषा, पृथ्वी इत्यादि की स्तुतियाँ किया करते थे, उनकी भावना थी कि ये शक्तियाँ एक सर्वशक्तिमान् पुरुष की उपाधियाँ हैं जिन्हें वे देखते थे, या हृदय में अनुभव करते थे। इसे व्यक्त करते ऋग्वेद ने[1] कहा भी है—

"त्वग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिंद्रो दाशुषे मर्त्याय ॥
त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि।
अंजंति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दंपती समनसा कृणोषि ॥"

इन मंत्रों में ईश्वरीय सत्ता के भिन्न २ रूपों में प्रकट होने का विश्वाससूत्र निहित है। तैंतीश देवताओं पर प्रजापति ईश्वर का आधिपत्य भी यजुर्वेद में[2] स्पष्टतः कथित है—"त्रयस्त्रिं ऽशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्"। अथर्ववेद के "तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः" और ऋग्वेद के "तं एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" कहते रहने पर भी उस परमेष्ठी अधिपति के मूर्त्तिधारण का शेष तैंतीस पर ही नहीं हुआ, तीन ग्यारह व तैंतीस कह

---

[1] ऋग्वेद ५ ३ १,२ [2] यजुर्वेद १४-३१

कर यजुर्वेद ने एक जगह ५८ देवता कहे, अथर्ववेद ने पत्नी के साथ ६६ देवता गिने, पुनः यजुर्वेद ने तीन हजार तीन सौ तीस देवताओं का उल्लेख किया और अथर्ववेद में छः हजार तीन सौ तैंतीस देवता लिखे गए[a]। ईश्वर के एक से अनेक होने की प्रतीति उपनिषद्-काल में दृढ़ हुई और एक ब्रह्म के ज्ञानविस्तार में लगे हुए ब्रह्मवादियों ने विश्वव्यापी ब्रह्म को मूर्त्तमान् कह कर उसके अनन्त रूपों की शिक्षा दी बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य और शाकल्य-विदग्ध का देवताओं पर जो कथोपकथन है उसमें एक के अनन्त रूप होने का स्पष्ट उल्लेख, "त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति··· याज्ञवल्क्येत्येक इत्येवमिति" में विद्यमान है[b]। इस कथन में ब्रह्म के दार्शनिक स्वरूप का संकेत होतेहुए भी यह साधारण विचार के लोगों की सहजग्राह्य सत्ता-नियंता का परिचायक है। वास्तव में दार्शनिक विवेचनों के सत्य व रहस्यमय रहते भी सर्व साधारण के कार्यगत प्रयोजनों की पूर्त्ति वे नहीं करते और इस कारण उनके साथ उपलब्धियोग्य व्यक्तित्व का संयोग करने की ओर सहज रुचि होती पाई जाती है। वैदिक ईश्वरवाद और देवतास्वरूप भी इस सिद्धान्त से ग्रस्त हुए और जो देवता ईश्वर की विभूतियों के स्वरूपमात्र

---

[a] अथर्ववेद १०-७-२७; ऋग्वेद १-१६४-४६; यजुर्वेद २०-११ "त्रया देवा एकादशत्रयस्त्रिं ऽ शाः सुराधसः", १४-२०; अथर्ववेद १-६-९, यजुर्वेद ३३-७ "त्रीणि शतानि त्रीणिसहस्राण्यग्निंत्रिंऽशच्च देवानवचा सपर्यन्"; अथर्ववेद ११-५-२ "गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्स देवांस्तपसा पिपर्ति।"

[b] बृहदारण्यकोप० ३-९-१

थे व जो प्राकृतिक शक्तियों के वर्णन के मुख्य विषय थे[1], वे धीरे २ भक्तों की पूजा के पवित्र पात्र बनते गए और लोगों की रुचि उनकी याज्ञिक व व्यावहारिक उपासना की ओर वृद्धि पाती गई।

संहिता-काल से अनात्मन्-सिद्धान्त के प्रचार तक देवता-पूजक समाज में अनेक परिवर्त्तन हुए, तरह २ की धारणाएँ प्रचलित हुईं और मनुष्य के आचार-विचार में तदनुकूल अन्तर उपस्थित होते रहे। इस दीर्घकालीन क्रम में भीतरी परिवर्त्तन के अलावे बाह्य परिवर्त्तनों से भी भारतीय ईश्वरवाद प्रभावित हुआ। जैन और बौद्ध मतों के प्रचार-काल में भारत का गहरा धार्मिक सम्बन्ध पड़ोसवर्त्ती देशों से हुआ, यहां से जो धर्म्म-प्रचारक बाहर गए उनके साथ बाहरी विचार भी यहां अवश्य आए। ऐसे भी तूरानियन, सीदियन, शक, हुण, यूनानी, पार्सी आदि भारत में आते रहे और उनके मतों का सम्पर्क भारतीय विचारों से हुआ। बौद्धमत के पीछले समय में भारतीय राजाओं मे मतभेद, द्वेष व राजनीतिक अनैक्य होने कारण धर्म्म को राजसाहाय्य भी नहीं रहा, जिससे मतमतान्तरों का जन्म होता गया और देश को एक धार्म्मिक क्रान्ति का सामना करना पड़ा। ऐसे समय में परम्परागत विचारों को धक्का पहुँचते देख समय २ पर ब्राह्मणों ने सनातन सिद्धान्तों की रक्षा की चिन्ता की और एतदर्थ पुराणों की रचना करने लगे, आगे शान्ति के समय में धर्मप्रिय समाज का धार्म्मिक अवलम्ब पुराण ही हुए।

---

[1] निरुक्त ७-१ "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।"

परन्तु पौराणिक विचार क्रान्तिकाल के विस्तृत विचारों के असम्बद्ध संग्रह थे, जिनके कारण पुरातन काल से आती शृंखला का पूर्ण निर्वाह नहीं किया जा सका। ऐसी परिस्थिति में पुराणों ने धर्म को नूतन रूप प्रदान किया और अनेक देवी-देवताओं की उपासना, मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, अवतारी पुरुषों के नाम-जाप, तीर्थाटन से तरण, त्रिमूर्त्ति-मान, भगवद्भजन आदि को ईश्वरवाद के अंग बनाए। न अब स्तुतिवाद रहा न यज्ञ का प्राबल्य, न योग रहा न तप, न सोऽहं रहा न ब्रह्मवाद; सबों का अपना २ युग-प्राबल्य और निर्मल रूप पौराणिक देवतावाद के अतिशयोक्तिमय आख्यान के[६] सामने शिथिल पड़ गया और संहिता-काल के प्रमुख तैंतीस देवताओं के स्थान में लोग तैंतीस करोड़ देवताओं को मान देने लगे।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' के[७] अनुरूप पुराणों ने भी ईश्वर के रूप, मूर्त्त व अमूर्त्त बतलाए[८] और जिस प्रकार पुराकाल में देवता एक ही ईश्वर के भिन्न २ गुण दृष्टि से नाम-भेद कहे गए थे उसी प्रकार तैंतीस कोटि देवता एक ही ईश्वर के क्रीड़ार्थ भिन्न २ रूप पुराणों में यत्रतत्र

---

[६] "पुराणों की प्रधान बातें अतिशयोक्तिमयी हैं। ...जबतक स्वभावोक्तिमय ज्योतिः सिद्धांत आदि से तथा रूपकमय वैदिक साहित्य से पौराणिक कथाएँ न मिलाई जायँ, तबतक इनका यथार्थ अर्थ नहीं लग सकता।" साहित्याचार्य रामावतार शर्मा पुराणतत्त्व, सुधा १-१

[७] बृहदारण्यक २ ३

[८] विष्णुपुराण १-२२-५३ "द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च। क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते॥"

उल्लेख किए गए[9]; किन्तु यह सिद्धान्त-रूप ही रहा, व्यवहार में भिन्न २ रूपों के देवता ईश्वर समकक्ष होकर ही पूजा पाते गए और उनके उपासकों में भारी मतभेद भी रहा। पद्मपुराण में भगवान् ने कहा—"एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवनेऽस्मिले," और विष्णुपुराण ने भी "एकस्वरूपञ्च सदा द्वैताभावाच्च निर्मलम्" कह कर "श्रोतादि बुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमान्" को समझाते हुए "नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्नचान्यत्" के वेद-वचन सादृश्य को प्रस्तुत किया, तोभी ईश्वर के अवतार की ओर प्रवाहित प्रतीति रुकी नहीं, बढ़ती ही गई[10]। नारायणीय में पहले वराह नृसिंह-वामन परशुराम-राम कृष्ण नामक छः अवतार कहे गए, फिर इनमें हंस-कूर्म मत्स्य-कल्कि को जोड़कर दशावतारों की कल्पना की गई। भागवतपुराण में १० के स्थान में कहीं १६, कहीं २२ और कहीं २३ अवतार वर्णित हुए। इसकी आवश्यकता यहां तक समझी गई कि प्रत्येक पुराण का

---

[9] "Moreover some new gods have found a place in the पुराणs who were not at all known to the Rigveda. Thus महादेव and शंकर, लक्ष्मी and पार्वती, कुबेर and दत्तात्रेय, are figures not at all known to the Rigveda. On the other hand, उषस् and पर्जन्य, भग and अर्यमन्, have ceased to exist as deities, not to mention the fact that सवित्, पूषन्, मित्र, सूर्य, who are so many different godheads with distinguishing characteristics, have later on come to be mere synonyms all signifying but one god. Dr V S Sukthankar Lectures on Rigveda, p 132

[10] विष्णुपुराण १-२-१३, १-२-२३

एक अंश देववंश-वर्णन के लिए रक्खा गया। अवतारवाद सर्वमान्य होने के कारण देवताओं में ईश्वरत्व की भावना भी उत्तरोत्तर घनीभूत होती गई और ब्रह्मा, शिव, विष्णु, शक्ति, देवी, गणेश, कार्तिकेय, गरुड़, नाग आदि की पूजा से ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने का विश्वास जमता गया। इससे ईश्वर के अवतार-रूप में वैयक्तिक भक्ति व श्रद्धा का स्वाभाविक भाव प्रत्येक भक्त के हृदय में आरम्भ हुआ और कालक्रम में उसे सामूहिक रूप भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार पौराणिक देवतावाद में त्रिमूर्त्ति की भक्तिमय पूजा की प्रथा ज़ोर पकड़ने लगी। इसमें मतभेद व द्वेष भी कार्यगत हुए और एक का उपासक दूसरे को बुराभला कहने तक उस समय नहीं हिचका, जिसके फल-स्वरूप ब्रह्मपुराण में ब्रह्म ही सर्वस्व कहा गया, लिंगपुराण में लिंग-सत्ता के सामने ब्रह्मा-विष्णु सामर्थ्यहीन दर्शाए गए, शिवपुराण मे शिव-सामर्थ्य की श्लाघा की गई और विष्णुपुराण में विष्णु का गुण गाया गया। "त्रयाणामेकभावानां यो पश्यति वै भिन्नम्" कहकर[१] ज्ञान-मूल ब्रह्म की एकता को समझाने की चेष्टा उस दशा में बिलकुल निष्फल हुई और "बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः" के[२] दार्शनिक सूत्र से भी उपासना-प्रेमी व भक्तिवादी पुरुषों की रुचि बदल नहीं पाई। पुरातन काल से वरुण, इन्द्र, आदित्य, विष्णु, रुद्र आदि की जो स्तुतियाँ होती आ रही थीं, उनका स्वरुप युगानुकूल बदलते रहने पर भी समाज में उपासकों द्वारा उनका पृथक २ मान ज़ारी रहा और धीरे २

---

[१] श्रीमद्भागवतपुराण ४र्थ स्कन्ध

[२] विष्णुपुराण-प्रथम अंश २२ अ० ७४ श्लो०

अनेक देवी-देवताओं की धारणाओं का समन्वय त्रिमूर्ति-भावना में दृढ़ होता गया।

त्रिमूर्त्ति-भावना के अन्तर्गत ब्रह्मा शिव व विष्णु नामक तीन महादेव सम्मानित किए गए और उनकी शक्तियों के सम्बन्ध में तरह २ की कल्पनाएँ की गईं। पर इस में स्वच्छन्दता से काम न लेकर एकसूत्रता का व्यवहार किया गया और त्रिमूर्त्ति के उपासकों ने पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता के कारण इनमें प्रत्येक के स्वरूप को पुरातन सिद्धान्तों से सम्बद्ध रखने की पूरी चेष्टा की। इस कारण प्राचीनतम धारणाओं के द्योतक पद, विशेषण व आख्यान ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु के साथ उनके गुण व महिमा-गान में यथा-प्रसंग प्रयुक्त होते रहे, किन्तु इस यत्न में वैदिक साहित्य के उपमा व रूपक को पुराणों के समय तक स्पष्ट अतिशयोक्ति का लक्षण ग्रहण करना पड़ा।

कई वैदिक देवताओं के होते भी त्रिमूर्त्ति की ही प्रधानता का कारण मानवी इच्छाओं की सानुकूलता ही कही जा सकती है। सृष्टि, पालन और नाश की क्रियाएँ जिस प्रकार विश्व घटनाओं में विद्यमान मिलती हैं उसी प्रकार उनकी सत्ता मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में भी काम करती दिखाई देती है। आर्य इसका अध्ययन करते आये और क्रमशः उसे आदर्श-स्वरूप अपने उच्च एवं साधारण जीवन में भी अपनाते गए। उसी अनुभव पर आधुनिक इष्टदेव, गृहदेव और ग्राम्यदेव की भावनाएँ भी अवलम्बित हुईं और वैदिक स्तुति, याज्ञिक कृत्य तथा तपश्चर्या के सिद्धान्त उसी अनुभव पर विकसित हुए[13]। पुनः उसी के प्रकाश में शुष्क दर्शन के

[13] E B Havell Ancient and Medieval Architecture of India, pp 35-36.

प्रेमी शून्यमय धार्मिक धारणाओं से असंतुष्ट तत्वज्ञान की गंभीर गवेषणा में लीन हुए और विश्वविकासनय के आधार पर परब्रह्म या ईश्वर, पुरुष व प्रकृति के सिद्धान्त व्यवस्थित किए। उनने स्थिर किया कि ईश्वर शक्तिमान् है और पुरुष व प्रकृति को व्यक्त करनेवाला है। पुरुष में एक दैवी शक्ति है, जिसकी प्रेरणा से वह प्रकृति को लीलार्थ रूप धारण करने में रत करता है। पुरुष-स्वभाव 'सत्-चित्-आनन्द' मय है और प्रकृति में सतोगुण, तमोगुण व रजोगुण नामक तीन गुण हैं; इन्हीं के मिश्रण से नाना नाम व रूप के पदार्थों की सृष्टि है [14]। वहाँ तक इस सिद्धान्त पर विचार किए गए और अनेक मत बनते-बिगड़ते रहे। उधर धार्मिक चिन्तन में भी सृष्टि-रचना, संसार-पालन और विश्वनाश के विचार से तरह २ की क्रियाएँ प्रचलित की गईं। फलस्वरूप ये धारणाएँ आर्य-समाज के अन्तस्तल में इतनी दृढ़ हुईं कि तीन की संख्या भी पवित्र मानी जाने लगी और त्रयी विद्या, पद-त्रय, तीन व्याहृतियों एवं त्रिरत्न के अनुरूप पौराणिक विचारों में त्रिमूर्त्ति की ख्याति सर्वप्रधान हुई। त्रिमूर्त्ति में ब्रह्मा विश्वस्रष्टा, विष्णु विश्व-पालक और शिव विश्व-विनाशक समझे गए। जन साधारण तक में यह विश्वास अचल हुआ और धर्मग्रन्थों में मनोरञ्जनार्थ ब्रह्मा, विष्णु व शिव के सम्बन्ध की अनेक धार्मिक आख्यायिकाएँ भी रची गईं, जो पुराणों में विद्यमान हैं।

त्रिमूर्त्ति की धारणाओं का संरक्षण धर्मग्रन्थों में किए

[14] E. B. Havell Ancient and Medieval Architecture of India, p. 162.

जाने पर उनका धार्मिक सम्मान भी ज़ोरों से जारी हुआ। उपासना में ब्रह्मा, विष्णु व शिव को सगुणरूप प्रदान किया गया और उनके शील व गुण के अनुरूप निर्मित उनकी मूर्त्तियाँ मन्दिरों में पूजी जाने लगीं। तरह २ के चित्र, शिलालेख और दानपत्रों के विवरण से भिन्न २ समय एवं स्थान के भेदानुसार भिन्न २ प्रकार के मतों के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। सगुणोपासना द्वारा त्रिमूर्त्तियों में मानवभावों की ही कल्पना की गई और मनुष्यों के स्वभाव-व्यवहार-रूप की भाँति उनके चित्र-चरित्र रचित किए गए। त्रिमूर्त्ति को गुणानुरूप प्रतीक निर्मित कर उनके साथ भिन्न २ कथाओं का भी पूरा संयोग रक्खा गया और वे कथाएँ उपासकों के जानने व मनन करने की चीज़ें बतलाई गईं। उनका माहात्म्य भी देवताओं से कम नहीं रहा, वह त्रिमूर्त्ति का समकक्ष बनकर शान्त हुआ; उनके पठन-पाठन व श्रवण से दुःखनाश का विश्वास धीरे २ यजमानों में पण्डितों द्वारा इस कोटि तक दृढ़ किया गया कि कथा-पोथी को घर में रखने-पूजने से उस घर में नारायण का निवास समझा गया, जैसे—[15]

"यस्येदं तिष्ठते गेहे लिखितं पूज्यते सदा।
तस्य नारायणो देवः स्वयंतिष्ठति धारिणी ॥"

आरंभ में त्रिमूर्त्ति के स्वरूप-संकेत में पुरातन सिद्धान्तों के समावेश करने की चेष्टा अवश्य की गई, परन्तु वे उनके द्वारा सहज ग्राह्य कदापि न थे जिनके बीच उस समय पुराणों का प्रचार किया गया। विष्णु के वैदिक 'त्रिपद' का उल्लेख वलि वामन की कथा में किया गया है, किन्तु उस

[15] वाराहपुराण ११२-७९

कथा का पढ़नेवाला विना वैदिक ऋचा व उसके क्रमिक विकास का जाने कदापि त्रिपदों में त्रिलोक का ज्ञान नहीं पा सकता। इसी प्रकार अन्य वर्णन भी आलंकारिक आवरण और मतभेदाधिक्य से वेतरह आच्छादित हुए। जिससे फलस्वरूप सत्य तमाच्छादित हुआ, निर्मूल व निस्सार बातें फैलने लगीं, सनातन धारणाओं का पवित्र रूप बदल चला, धर्मजिज्ञासुओं में समाज-कल्याण की भावगति अवरुद्ध हो गई, धर्म का स्थान पारस्परिक घृणा व दोष को प्राप्त हुआ, मनमानी बातों का प्रचार होने लगा और "ब्रह्मविष्णुशिवान्देवान्न पृथग्भावयेत्सुधी" की सदुक्ति को बदल कर मदभेद के विषैले वातावरण के भीतर शैव-वैष्णव-ब्राह्मों में विरोध बढ़ानेवाली राय कथित हुई—

"विष्णुब्रह्मादिरूपाणामैक्यं जानन्ति ये द्विजाः।
ते यान्ति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥"

वेदान्तसूत्र मे [16] आया है—"न प्रतीके नहि सः। ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।" जिसके अनुकूल प्रतीकों को देखते-पूजते हुए सर्वथा एक अज अनादि ब्रह्म के निर्गुण रूप की ओर चिन्तन को उत्कर्ष देना चाहिए, क्योंकि ईश्वर की पवित्रता व उच्चता का भाव इसी में है और ईश्वर मे आस्तिक्य बुद्धि द्वारा जो लाभ मनुष्य को हो सकता है वह इसी तरह मूर्तमान पदार्थों के रहस्य को हृदयगम करते हुए उनके उद्गम परमेश्वर के गुण-रूप-कर्म के सत्य शिव-सुन्दर अनुभव को प्राप्त करने से सम्भव है। तोभी पौराणिक शैली के अनुसरण करनेवाले मूर्त्तियों की सगुणोपासना में ही वझते गए और

[16] वेदान्तसूत्र ४-१-४, ५

निर्गुण ब्रह्म की ओर जाने के बदले प्रतिदिन ईश्वर को अधोगत पुरुषों का ही सादृश्य देते हुए ईश्वरत्व को मनुष्यकोटि में गिराने में चेष्टावान् रहे। अन्ततोगत्वा शिव और विष्णु के भक्त अपने इष्टदेवों को अपनी २ इच्छा के अनुकूल भक्तिवाद में चसंकेतों पर नचा कर परम प्रसन्न हुए। भक्तिवाद की अन्तिम दशा की शिवशक्ति और विष्णुशक्ति के साथ वैदिक रुद्र व विष्णु के वर्णन की तुलना करने से भक्तों की स्वेच्छाचारिता पूर्णतः प्रकट हो जाती है। किन्तु ब्रह्मा को भक्तिवाद के भीतर स्थान नहीं मिला, मानो पौराणिक संघर्ष मे ज्ञानी ब्रह्मा ने अपने को बदलते समय की माया से पृथक् ही रक्खा। प्राचीन रूप भी ब्रह्मा का ऐसा था जिसपर कल्पना की दौड़ान इच्छानुकूल पौराणिक काल मे नहीं की जा सकती थी। इस कारण भी ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्मा को पुराणकाल मे या उसके बाद बहुत कम लोगों ने सम्मानित किया। मत-भेद के ही कारण समय २ पर पुराणों में ऐसे श्लोक रचे गए जिनसे ऐक्य का बंधन शिथिल ही होता गया और त्रिमूर्तियों के एक परब्रह्म के तीन सगुण रूप होने का भाव साधारणतः नष्ट सा हो गया। उपासकों द्वारा अपने २ इष्टदेव की श्लाघा के अलावे दूसरों की निन्दा भी पूरी तरह करने का अवसर पुराणों मे समुपस्थित किया गया है। यदि विष्णुपुराण ने[१०] रुद्र की उत्पत्ति विष्णु के क्रोध व दीप्तमान ललाट के भृकुटि-कुटिल से बतलाते हुए कहा—"समुत्पन्नास्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः" तो लिंगपुराण ने विष्णु और ब्रह्मा दोनों को पार्श्ववर्ती बनाते हुए स्थापित किया—

---

[१०] विष्णुपुराण अंश १ अध्याय ७१ श्लो० १०

"अथ मे दक्षिणे पार्श्वे ब्रह्मा लोकपितामहः ।
वामे पार्श्वे च मे विष्णुर्विश्वात्मा हृदयोद्भव ॥"

शिव की निन्दा करनेवालों की भी खबर लेने में शिव-भक्तों ने कोई कमी नहीं की। उनने शिव को परब्रह्म सा चित्रित किया और उनकी उपासना से सम्बन्ध रखते ध्यान-होम तप-यज्ञादिक विधियों के निन्दकों के नाश का शाप[18] लेखबद्ध किया—"तेषां विनश्यति क्षिप्रं ये निन्दन्ति पिनाकिनाम् ।" अवसर पा पद्मपुराण में[19] वैष्णव भक्तों के ईश्वर विष्णु की महिमा का वर्णन किया गया और विष्णु से भिन्न किसी देवता के पूजनेवाले को पाखण्डी बतलाकर शङ्करादि के निर्माल्य भक्षण से चाण्डाल होने तथा सहस्रों कल्प तक नरकाग्नि में तड़पते रहने का विधान रचा गया—

"मोहाद् य पूजयेदन्य स पाषण्डी भविष्यति ।
इतरेषान्तु देवानां निर्माल्य गर्हितं भवेत् ॥
सकृदेव हि योऽश्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बल ।
निर्माल्यं शङ्करादीनां स चाण्डालो भवेत् ध्रुवम् ।
कल्पकोटिसहस्राणि पच्यते नरकाग्निना ॥"

'अस्माभि कृतानि दैवतानि' के समय ब्रह्मा की ख्याति बढ रही थी, उस समय 'यज्ञा वै विष्णु ' की धारणा में विष्णु की प्रियता यज्ञ से अभिन्न हो रही थी और ज्ञानदेव ब्रह्मा यज्ञों के पर्यवेक्षक पद पर विराजमान थे पर वह काम्यकर्म के विधानों में उससे आगे नहीं बढ सके। पुराणों में भी ... यह पद अक्षुण्ण रहा और पौराणिक कर्मकाण्ड में भी ब्रह्मा यज्ञ निरीक्षक के पद पर स्थापित किए गए।

---

[18] कूर्मपुराण अ० २० [19] पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० ७८

ब्रह्मा शब्द 'बृह्' धातु से बना है और बृह् का अर्थ फैलना, विकसित होना है। पुराणानुसार ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं; यह नामानुकूल भाव है; क्योंकि जिस प्रकार किसी भी आविष्कार में बुद्धि के विकास व ज्ञान के प्रयोग की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ब्रह्मा भी बुद्धि विकसित कर सृष्टि-विस्तार करते हैं। इसीसे पृथ्वी के आविष्कारक वराह का अवतार ब्रह्मा से सम्बन्ध रखता है और ब्रह्मा का नाम चतुरानन देकर चार मुखों से चार वेदों के कहे जाने की कथा है[20]। पुराणों में ब्रह्मा की उत्पत्ति भी बताई गई है, कथा है कि नारायण की नाभी से कमल उत्पन्न हुआ और कमल-दल पर चतुरानन ब्रह्मा स्थित थे और उनके द्वारा संसार की सृष्टि हुई[21]। इस कल्पना की व्याख्या कई ढंग से की जाती है। योग और तंत्र के अनुकूल

[20] "It is stated that these four faces represent the four Vedas which humanity has passed through in this day of Brahmā. Of course, the four Vedas stand for the sounds or rhythmic vibrations which have been developed during the four Rounds According to the Herbert Spencer, there are quadruple rhyths in the universe" K. Narayanaswami Aiyar : The Puranas, p 179

[21] महाभा० वनप० अ० १२—

"युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन।
आत्मनैवात्मसात्कृत्वा जगदासीः परंतप ॥ ३८
युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत्।
तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ॥३९॥"

कहा जाता है कि मनुष्य की नाभी में एक अद्भुत शक्ति है, इसका नाम कुण्डलिनी है और आध्यात्मिकशक्ति-सम्पन्न होने पर उस शक्ति द्वारा इच्छानुकूल उत्पादन व विनाश किया जा सकता है। नारायण की उसी अद्भुत शक्ति से विश्वस्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। कमल पर ब्रह्मा के बैठाने का भी अभिप्राय था। फिर संस्कृत में कमल नाम है आकाश का भी और विश्वरचना का आरंभ आकाश से ही वर्णित है, जिसका क्रम है—आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से गात्रादि। ब्रह्मा की कथा में भी आकाश है, जल है, कामाग्नि है, गात्र है; कमल का रंग भी लाल है जो कामेच्छा रूपिणी अग्नि का द्योतक है। कमल-कर्णिका-स्थित ब्रह्मा का संबंध कमलनाल द्वारा नारायण से है, यह उस सनातन संयोग का सूचक है जो संसारमूल ईश्वर और उसके विश्व के साथ है या विश्व-श्रेष्ठ पुरुष का ईश्वर के संग है। यह भावना छान्दोग्य[22] के "स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनँ हि सोम्य मन इति" कथन की याद दिलाते हुए स्रष्टा और सृष्ट के पारस्परिक आकर्षण को प्रदर्शित करती है। पुनः इसका सम्बन्ध सृष्टि-सम्बन्धी उस वैदिक सिद्धान्त से भी है जिसके सम्बन्ध में ऋग्वेद की ऋचाएँ हैं[23]

"परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यंत विश्वे॥

---

[22] छान्दोग्योपनिषद् ६-८-२

[23]. K. Narayanaswami Aiyar : The Purānas, p, 183
ऋग्वेद १०-८२-५, ६

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छंत विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवानानि तस्थुः॥"

ब्रह्मा की स्त्री सरस्वती कही गई हैं और सरस्वती पुराणों में विद्या की देवी हैं। योगवाशिष्ट में सरस्वती की उपाधि लीला है, जो अन्य देवताओं के साथ भी मायारूप में व्यवहृत है। पुराणों में प्रत्येक देवता का कोई न कोई वाहन भी कहा गया है। ब्रह्मा का वाहन हंस है जो "अहम्—सः" या "सोऽहम्" का परिवर्त्तित रूप है, और विद्या से ब्रह्मा के अभिन्न सम्बन्ध को ध्यान में रख कर श्रीशंकर ने जीव के प्रति इसका अर्थ किया है—"हन्ति गच्छति अध्यात्ममिति हंसः। हन्ति अविद्यात्मकं कार्यम्।" वास्तव में हंस का प्रयोग जीव के अर्थ किया गया है और जीव स्रष्टा होने के कारण इस ब्रह्मा का वाहन कहा गया है; इसी से भाषा में इस का प्रयोग जीवार्थ में प्रायः किया गया है। तोभी आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करने के ध्येय से ध्यानबिन्दूपनिषद् ने[४४] हंस का अर्थ किया है—

"हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥६१॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥६२॥
एतत् संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥६३॥"

ऋग्वेद में सृष्टिकर्त्ता के सम्बन्ध[४५] में कथन है—"आनीद्वातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।"

---

[४४] ध्यानबिन्दूपनिषत् १ श्लोक १ से ६३
[४५] ऋग्वेद १०–१२९–२.

यह प्रमाणित करना है कि ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता ही नहीं बुद्ध भी थे और उनके सम्बन्ध में समाज में उनके 'सर्वज्ञाता' होने की भी प्रतीति थी। उस काल से ब्रह्मा के विषय में सर्वदा ऐसी ही धारणा बनी रही। याज्ञिक कृत्यों के प्राबल्य-युग में भी ब्रह्मा यज्ञ-विधान के ज्ञाता व यज्ञों के पर्यवेक्षक ही रहे और बाद भी अपनी शक्ति सरस्वती के साथ वह ज्ञान के देवता बने रहे। रुद्र व विष्णु के नाम पर समाज में मत-निर्माण आरम्भ होने पर ब्रह्मा को वह सम्मान प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि ब्राह्मणमत में ब्रह्मा की शक्ति सृजन व बोध से इतर कार्य के योग्य नहीं थी[२६]। किन्तु ब्रह्मा की ब्रह्मविद्या ऐसी थी जिसकी उपेक्षा शुष्क ज्ञान या पवित्र आचरण कदापि नहीं कर सकता था। यही कारण है कि जब अहिंसात्मक यज्ञों के प्रतिकूल बुद्ध ने अपनी शिक्षा आरम्भ की उनने उनमें ब्रह्मा को निर्दोष पाया, क्योंकि यज्ञों के फलभोक्ता ब्रह्मा नहीं थे। अतः बुद्ध ने अपने धर्मचक्र परिवर्त्तन में ब्रह्मा के ही समान आचरण आरम्भ किया। ब्रह्मा ने वेदों का प्रचार कर आदर्श स्थिर किया था, अब बुद्ध ने सामाजिक अनैक्य को दूर कर निर्वाण के ज्ञान का दान आरम्भ किया; संसारकमल-

---

[२६]. ब्राह्मण त्रिमूर्त्ति में विष्णु और शिव के अनेक पुराने व नए मन्दिर भारत में मिलते हैं, किन्तु केवल ब्रह्मा के निमित्त बने मन्दिर बहुत ही कम हैं। सरस्वती की मूर्त्तियों के मन्दिर यत्रतत्र बने हैं। ब्रह्मा-विष्णु या ब्रह्मा शिव के मन्दिर भी मिलते हैं। कुछ मन्दिर ऐसे भी हैं जो ब्रह्मा के चार मुख के सदृश आकार में चौकोर हैं और उनपर विष्णु शिखर है या शिव-छत्र। L. B Havell's Ancient and Medieval Architecture of India p 105

टलोदुघाटपिता ब्रह्मा ने वेदों द्वारा ज्ञान का प्रचार किया था, बुद्ध ने संघ द्वारा धर्म्म की शिक्षा शुरू की। ब्रह्मा व बुद्ध की ऐसी ही समानता के विचार से बौद्धमत में बुद्ध को ब्रह्मा का स्थान भी दिया गया। ब्राह्मणों के ब्रह्मा, विष्णु और शिव को बोधिसत्वों में स्थान देने के भिन्न २ प्रमाण ग्रन्थों में होने के अलावे ७वीं सदी से १२ वीं सदी तक के स्थापत्य, भास्कर्य व धार्मिक चित्रों में लभ्य हैं। यदि अजन्ता की मूर्त्तियों में एक ओर कुमार सिद्धार्थ के विवाह का दृश्य शिव-पार्वती के विवाह-दृश्यवत् अंकित किया गया है तो दूसरी ओर बुद्ध-जीवन की किसी घटना से सम्बन्ध घटित करने को लक्ष्मी के साथ नीचे उतरते बोधिसत्व विष्णु का शिलाकन है [27], उधर एलिफैन्टा की त्रिमूर्त्ति अवशेष अन्तर को भी दूर कर देती है [28] और इस ऐक्य का समर्थन जावा की वे मूर्त्तियाँ करती हैं, जो बोधिसत्व तथा ब्राह्मण त्रिमूर्त्ति में कोई भेद नहीं रखतीं [29]। बौद्धमत के महायान सम्प्रदाय में तो ब्राह्मण-त्रिमूर्त्ति की स्पष्ट समता बुद्ध, संघ व धर्म्म के साथ पाई जाती है [30] और उसके व्यवहार का स्पष्ट प्रमाण हर्षवर्द्धन के प्रयागोत्सव के प्रथम

---

27. E. B. Havell · Ancient and Medieval Architecture of India, pp 148-149.

28. E. B. Havell Ancient and Medieval Architecture of India, Chapter xii.

29. V. A. Smith . History of Fine Art in India and Ceylon, p. 261 Sec. viii, Java.

30. E. B. Havell Ancient and Medieval Architecture of India, p. 162

तीन दिनों की पूजा में दिखाई देता है। इसे द्वारा प्रथम दिन मानो ब्रह्मा का स्थान बुद्ध को और दूसरे दिन विष्णु का स्थान सूर्य को दिया जाता था, तीसरे दिन शिव की पूजा की जाती थी[31]। इस प्रकार त्रिमूर्त्ति को बौद्धमतानुयायियों द्वारा भी सम्मान मिलता रहा और ४ थी शताब्दी बाद से नवब्राह्मणमत के जिस उत्कर्ष का अभ्युत्थान किया गया उसका लक्ष्य भी त्रिमूर्ति-मान ही रहा, पर १२ वीं सदी में शैव और वैष्णव मत के प्राबल्य ने ब्रह्मा के ज्ञानमार्गानुचर बौद्धमत के पार्थक्य को नष्ट कर दिया[33]।

१३ वीं शताब्दी से हिन्दू-समाज में मतभेद, अनैक्य व धर्म-शैथिल्य के साथ ब्रह्मा के ज्ञानस्वरूप की भी उपेक्षा आरम्भ हुई, क्योंकि अब शिव तथा विष्णु के उपासक अपने अपने इष्टदेवों के सम्प्रदायों का गोल गढ़ने में रत हुए। परन्तु शिवोपासना के अघोरपंथ और तांत्रिक उपचार का रूप इस समय तक इतना भयानक हो गया था कि लोगों की रुचि उस ओर से हट कर भक्तिवाद में शरण ले रही थी। भक्तिवाद सर्वप्रिय हो रहा था और उसका केन्द्र भी वहीं बंगाल बना, जो तांत्रिक क्रियाओं की भयानक लीलाओं को वर्षों से साक्षात् कर रहा था। १६ वीं शताब्दी तक भक्तिवाद का प्रचार घर २ में हो गया। उस समय मुसलमानी

---

[31]. E. B. Havell. Ancient and Medieval Architecture of India, pp. 137-138. प्रयागोत्सव का अवसर कुम्भमेला का समय प्रतीत होता है, जब आज भी प्रयाग में भारी भीड़ होती है।

[32] Dr. R. Mookerji Harsha, p 81.

[33]. V. A Smith: History of Fine Art in India and Ceylon, p. 11.

शासन समाप्त हो चुका था और अँग्रेजी शासन के साथ अँग्रेजी सभ्यता फैल रही थी। अँग्रेजी शिक्षा-समन्वित राजा राममोहनराय[34] ने भक्तिवादियों के कीर्तन, मूर्तिपूजा, नाम, व जाप से उदासीन विद्वान् पुरुषों का ध्यान पुनः उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान की ओर आकर्षित किया और उसीका आधार ले उनने १८२८ ई० के २२ अगस्त को ब्रह्मसमाज की नींव डाली[35]। ब्रह्मसमाज चल पड़ा और उसके सदस्य ब्रह्मसमाजी नाम से विख्यात हुए। आज भी कतिपय शिक्षित सज्जन ब्रह्मसमाजी नामसे ब्रह्मसमाज को क़ायम रक्खे हुए हैं। ब्रह्मसमाजी जातिभेद नहीं मानते और पुरुष स्त्रियों के समानाधिकार को स्वीकार करते हैं[36]। वे ब्रह्मवाद को प्रधानता देते हैं, उपासना व आध्यात्मिक सिद्धान्तों के लिए उपनिषदों

---

34. "Ram Mohan Roy expected to restore Hinduism to its pristine purity and superiority through a resuscitation of Upanishdic philosophy with an impression of certain eclectic elements" Hume The Thirteen Principal Upnishads —introduction, p 3

35. "The Brahmo Samaj, therefore, represents a body of men who are struggling in India, to establish the worship of the supreme Being in spirit as opposed to the prevailing idolatory of the land.' Sivnath Sastri History of the Brahmo Samaj, p 1

36. "To speak truly, most of the present prejudice of the orthodox Hindu community against the Brahmo Samaj is due to two causes-1st, its advocacy of the abolition of caste, second its advocacy of the social emancipation of woman" Sivnath Sastri The Mission of the Samaj, p 65

पर निर्भर करते हैं और वैष्णव-शैवादि मतों को नहीं मानते। जिस समय ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई हिन्दू-समाज में जाति-पाँति का भेद दृढ़ था, तोभी इसे नहीं मानने का कारण उस समय के अँग्रेजी विचार की युग-छाप थी, यह छाप प्रतिदिन ब्रह्मसमाजियों पर प्रबल होती गई जिसके कारण ब्रह्मसमाज में औपनिषदिक विचार प्रधानता नहीं पा सके। इसके अलावे ब्रह्मसमाज ईसा-मुहम्मद आदि के एकेश्वरवाद को भी अपने विचारों में दिखाने की कामना से उनकी ओर झुका रहा और सर्व प्रेम की धारणा को लक्ष्य रक्खा[37]।

ब्रह्मसमाज के बाद 'थियोसॉफिस्टों' की 'थियोसॉफी' विद्या का प्रचार हुआ। उसमें दर्शनशास्त्र के कई ग्रन्थ लिखे गए। उन ग्रन्थों में ईश्वर व जीव का संसार से सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया, पर थियोसॉफी पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिक विचारों का मिश्रित रूप होने के कारण कोई मौलिकता या नवीनता नहीं रखती।

त्रिमूर्ति के शिव और विष्णु ऐसे वैदिक देवता हैं जिनपर संहिताओं में अनेक ऋचाएँ रची जा चुकी थीं और जिनका त्याग कर भारतीय अपने सनातन विचारों की रक्षा कदापि नहीं कर सकते थे। अतः उन पर प्रत्येक युग में चिन्तन होते रहे हैं, यद्यपि चिन्तन-स्वरूप सर्वथा भिन्न २ रहे। बौद्धमत के प्रबल होने पर भी ब्राह्मणमत में उनका सम्मान होता रहा, बल्कि उस युग में ब्राह्मणमत के आचार्यों ने उनकी उपासना

---

37. "In the first place a prominent feature of our faith is its universality. It stands on the common element in all religions and therefore has a work of sympathy for all." The Mission of the Brahmo Samaj, p. 65.

का ऐसा रूप निश्चित किया जिसकी ओर बौद्धमतानुयायी भी आकर्षित होने लगे। ईसावाद दूसरी शताब्दी से ही शैवों के सम्प्रदाय बौद्धमत को प्रभावित करने लगे और बौद्धमत की अन्तिम दशा मे ब्राह्मण तांत्रिकों के उपचार मे बौद्ध भी बेतरह संलग्न हुए। तबतक दक्षिण से वैष्णव मत का स्रोत उत्तर भारत मे प्रवाहित हुआ। अब वैष्णव और शैव दोनों मतों ने बौद्धमत का बल अपहरण करना आरम्भ किया। अन्त में वे पूर्णतः सफल हुए और अनात्मन् तथा त्रिपुरसुन्दरी की धारणाओं को अपने मे मिलाते हुए शिव तथा विष्णु भक्तिवाद के शक्तिशाली भक्तवत्सल भगवान् के रूप मे प्रकट हुए।

तेरहवाँ अंश

शिव-पार्वती

ब्रह्मप्राप्ति के सम्बन्ध में 'तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' कह कर गीता ने प्रचलित भक्तिवाद के तत्कालीन दार्शनिक स्वरूप का संकेत किया था। यह योगमय भक्ति क्रमशः किसी देवविशेष की उपासना से युक्त होती गई और त्रिमूर्त्ति-भावना के दृढ़ होने पर शिव-सेवा भगवद्भक्ति की माता बनी। पुराणों द्वारा शिव व विष्णु के ईश्वरत्व का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया कि श्रद्धाश्रित चित्त भक्ति द्वारा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने की ओर तत्पर हुआ। इससे आधुनिक भक्तिवाद का जन्म हुआ और शैवमत तथा वैष्णवमत की स्थापना हुई।

शैव और वैष्णव मतों पर तुलनात्मक विचार करने से शैवमत बहुत प्राचीन काल से आता हुआ सिद्धान्त जान पड़ता है, यह भी विदित होता है कि शैवमत के बाद वैष्णवमत का प्रचार हुआ और शिव तथा विष्णु दोनों की प्रकृति वैदिक विवरण के अनुकूल गढ़ी जाकर उनका युगानुरूप चित्रण किया गया। लिखित प्रमाणों के अलावे शिलालेख व उत्खनन के प्रमाणों द्वारा भी ऐसे निष्कर्ष की पुष्टि होती है। शैवमत की प्राचीनता का सबसे उत्तम व विश्वासयोग्य प्रमाण हाल में मोहेन्जोदारो व हरप्पा के उत्खनन द्वारा प्राप्त सामग्रियों में मिला है, जिस बल पर अनुमान किया जाता है कि आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व शैवमत का अच्छा प्रचार

था[1] और उस समय शिवोपासना पवित्र भाव से की जाती थी।

शैवमत के बहुत प्राचीन होने का कारण भी स्पष्ट है। इसका आरम्भ वेदों से है और उसी समय से धीरे २ इसका विकास होता आया है, नहीं तो समाज में अनायास शैवोपासना कदापि प्रचलित नहीं हो पाती। निस्सन्देह, 'शिव' शब्द वैदिक देवता रुद्र का पर्याय है। शैवों द्वारा रुद्र के लिए गिरीश, गिरित्र, पशुपति, कपर्दिन, शर्व, शंकर, भूतनाथ, भव, महादेव, अवढरदानी, वम्भोला, भोलानाथ, भवानिपति, पार्वतीश्वर आदि नाम भी व्यवहृत किए जाते हैं। ये नाम वेदों में वर्णित रुद्र-कार्यों के अनुरूप दिए गए और रुद्र से संयुक्त नई २ धारणाओं के अनुसार गढ़े गए जान पड़ते हैं। किसी त्रास या संकट में पड़ने पर उद्धार की कामना करना और उद्धार पाने पर उद्धारकर्त्ता का गुण गाना मनुष्य-स्वभाव है। इसीसे रुद्र की पूजा का आरम्भ हुआ। रुद्र का धात्वर्थ है—'रोदयतीति रुद्रः'—जो रुलाता है वही रुद्र है। इस तरह रुद्र शब्द रुलाने या संकट में डालनेवाले भाव से पैदा हुआ; पर संकटापन्न होने पर लोग रक्षा की भी प्रार्थना करते थे और जब प्राकृतिक प्रकोप, जो अस्थायी होता है,

---

1. "Among the many revelations that Mohenjo-daro and Harppa have had in store for us, none perhaps is more remarkable than this discovery that Saivism has a history going back to the Chalcolithic Age or perhaps been further still, and that it thus takes its place as the most ancient living faith in the world". Sir John Marshall : Mohenjo-Daro and the Indus Civilization—preface, p. vii.

शान्त हो जाता वे रुद्रको 'शिव' या 'शान्त' मानते थे। इस प्रकार रुद्र से कष्टकारी और शिव से शान्तिदायी भाव आरम्भ में उत्पन्न हुए और जैसे २ समय व्यतीत होता गया ये भाव विकासगत होते रहे और इनके साथ रुचिवैचित्र्य के अनुकूल गौण कार्यों की दृष्टि से अन्यान्य भावनाएँ भी सम्मिलित की गईं, तब रुद्र के नाम भी अनेक हुए। अन्त में शिवोपासकों की संख्या अधिक हुई, रुद्र-भावना दब सी गई और शिव के सेवकों द्वारा शिव संसार-रचयिता, विश्व-शासक, ब्रह्माण्डव्यापक और भूतप्रेतादि दुःखदायी जीवों के शक्तिशाली महाप्रभु बने; उनका ज्ञान असीम शान्ति का देनेवाला माना जाने लगा। इस का पर्याप्त प्रमाण संस्कृत साहित्य में आज भी विद्यमान है।

ऋग्वेद में रुद्र पृथ्वी पर विद्युत्शलाका छोड़नेवाले, गो-नर-वधकारी शस्त्र रखनेवाले, पशुओं की रक्षा करनेवाले, औषधियाँ जाननेवाले और वैद्यों के भी वैद्य कहे गए हैं[१]। स्तुतियों में साधारणतः लोग चाहते थे कि रुद्र द्वारा उनके बच्चे, उनके चौपाए, उनके मकान और उनके स्वजन नष्ट न किए जाँय और इसी भय से उनकी पूजा भी की जाती थी[२]। "स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन

[१] ऋग्वेद ७-४६-३, १-११४-१० "आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु", १-११४-१, ७-४६-२, १-४३-४ "रुद्रं जलाषभेषजं", २-३३-४ "उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि।"

[२] ऋग्वेद १-११४-८
"मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मंतः सदमित्त्वा हवामहे॥"

दिव्यस्य चेतति" से[४] उनका बढ़ाचढ़ा माहात्म्य प्रकट होता है।

अथर्ववेद में रुद्र की महिमा पहले से बढ़ी हुई मिलती है। रुद्र में शुभाकांक्षाओं की भी स्थापना जैसे २ होती गई वैसे २ उनके द्योतक नए २ नाम भी रुद्र को दिये गए, उन नए नामों की शक्तियाँ भी कभी २ स्वतन्त्र देवता के समान वन्दित हुईं[१]। भव व शर्व मनुष्य व पशुओं के शासक समझे गए, उनकी प्रार्थना उन्हें सहस्राक्ष, सुदूरव्यापक व यातुधाननाशक कहकर की गई, वे भूतपति और पशुपति भी कहे गए[५]। रुद्र को अग्नि जल व वनस्पतियों में व्यापक तथा उनका स्रष्टा जानकर रुद्र की स्तुति भी की गई[६]। रुद्र महादेव कहे गए, वह पृथिवी अन्तरिक्षादि में व्यापक बतलाए गए, आकाश पृथिवी के ईश समझे गए भव में सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, पथ नाशक की भावना की गई और सवितृ को भी आर्यमान्, वरुण, रुद्र और महादेव नाम देकर उसके गुणों का सम्बन्ध रुद्र से दिखलाया गया[७]।

---

[४] ऋग्वेद ७-४६-२

[१] अवन्नवतीरुप नो दुरश्चरानमीवो रुद्र जासु नो भव ॥

अथर्ववेद ४-२८-१

"भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्त ययार्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते । यावस्येशाथ द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहस ॥"

४-२८-६, ७, ११-२-१

[५] "भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नवो वाम् ।"

[६] अथर्ववेद ७-८७-१

"यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥"

[७] अथर्ववेद ९-७-७, ११-२-१०, १३-४-२०, ११-२-२५

शतपथ और कौषीतकी ब्राह्मणों में वर्णित है कि रुद्र उषा-पुत्र हैं, उनके पैदा होने पर प्रजापति ने उन्हें आठ नाम दिए, जिनमें सात अथर्ववेद के हैं और आठवाँ 'अशनि'—वज्र है। इस तरह उन ब्राह्मणों के समय में रुद्र-सम्बन्धी दो भावों के परिचायक रुद्र के आठ नाम रहे—शर्व, रुद्र, सर्व, उग्र, अशनि नाम रौद्ररूपद्योतक और भव, पशुपति, महादेव, ईशान नाम शिव-स्वरूप परिचायक। उन्हीं ब्राह्मणों से यह भी पता चलता है कि रुद्र के भिन्न २ नामों की पृथक २ उपासना उस समय जारी हो गई थी, और उसके फलस्वरूप रुद्र का भयावह भाव कमता जा रहा था, लोग महादेव, पशुपति, ईशान आदि शान्ति-विधायक शिव आदि नामों को प्रिय मान रहे थे। स्वभावतः रुद्र के परमेश्वर होने का विश्वास भी जमता गया और रुद्र सर्वव्यापक माने जाने लगे। रुद्रभक्तआर्यों की रक्षा सर्वदा रुद्र ईशान द्वारा हुई, जो पीछे पूजकों के लिए रुद्र की भक्ति प्रियता का प्रमाण हुआ। अब रुद्र की भक्ति वृद्धि-सोपान पर अग्रसर हुई।

परन्तु धर्म में उत्पन्न भाव दबा हुआ रहने पर भी सदा के लिए नष्ट नहीं हो जाता। जो भाव आज निर्बल है वही कल प्रबल हो सकता है। तदनुकूल रुद्र के भयानक स्वरूप का जो ध्यान किसी समय रुद्रोपासक-समाज में स्थानापन्न हो आ गया था, वह शिव-कल्याण पर भी एकदम मिट नहीं गया। रुद्र की प्रियता व पूजावृद्धि के साथ ही किसी न किसी ढंग में भयावह विश्वास भी युग-भविष्य की ओर बढ़ता गया, जिसके प्रमाण गृह्यसूत्रों में संचित हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में शूलगव यज्ञ का विवरण है, जिसमें रुद्र की शान्ति

आश्वलायन गृह्यसूत्रम् ४-१० "अथ शूलगवः ॥१॥"; "रुद्राय

के लिए एक बैल की भेंट चढ़ाई गई है और उपर्युक्त नामों में हर-कृप-शिव-शङ्कर नाम भी मिला कर बारह नाम व्यवहृत किए गए हैं। शूलगव यज्ञ गोशाले में पशु-रोग रोकने के निमित्त किया गया जान पड़ता है; सम्भवतः पशुओं को त्रिशूल आदि चिन्हों में दागने की आधुनिक प्रथा उसी का रूपान्तर है। पारस्कर गृह्यसूत्र में[९] इन्द्राणी-रुद्राणी-शर्वाणी-भवानी नाम भी आए हैं। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में[१०] अशनि के स्थान पर भीम शब्द व्यवहृत है और देवियों का पृथक् २ नाम न ले 'भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा' कहने के बाद रुद्र-शर्व-ईशान-पशुपति-उग्र-भीम के साथ 'देवस्य पत्न्यै स्वाहा' के मंत्र से ही सबों को हवि दी गई है। पारस्कर और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रों में टोटके के ऐसा रुद्र-नामोच्चारण की भी आज्ञा है[११]।

श्वेताश्वतरोपनिषद् से ज्ञात होता है कि उसके समय तक लोग रुद्र में पूर्ण ईश्वरत्व की स्थापना कर चुके थे। यद्यपि इस उपनिषद् से रुद्र-शिव को परब्रह्मत्व देने और अन्य देवताओं को रुद्र से पीछे रखने के किसी प्रबल प्रयत्न का प्रमाण नहीं मिलता, तोभी उससे यह स्पष्ट है

महादेवाय जुष्टो वर्धस्वेति ।१।"; "हराय कृपाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवायोग्राय पशुपतये रुद्राय शङ्करायेशानायाशनये स्वाहेति ।।४।"

[९] पारस्कर गृह्यसूत्रम् ३-८-१० "स्थालीपाकान्ते पत्नीः संयाजन्तीन्द्राण्यै रुद्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति ।"

[१०] हिरण्यकेशीगृह्यसूत्रम् २-८ ६, २-८-७

[११] हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रम् १-१६-८, १२ "नमः पथिषदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्राय पथिषदे । इति चतुष्पथमवक्रम्य जपति ।" आदि

कि पहले से आता हुआ रुद्र-शिव-माहात्म्य उस समय पूरा विकास पा चुका था। उपनिषद् के आरम्भ में ही रुद्र-माहात्म्य गाया गया है, अध्याय चार में महेश्वर-शिव-माया का प्रसंग है और शिव की भारी महिमा कही गई है, अध्याय पाँच में भाव से शिव के जानने का वर्णन है। उपनिषद् की समाप्ति आत्म-समर्पण के भाव के साथ होती है, जिससे विदित होता है कि किसी देवता प्रधान की मनोहारिणी धारणा समाज में पल्लवित हो रही थी; परन्तु उस समय रुद्र-शिव ही अकेला महादेव थे और वैष्णवों के वासुदेव कृष्ण की ख्याति भविष्य की राह निहार रही थी।

अथर्वशिरस् भी एक ऐसी उपनिषद् है जिसका सम्बन्ध रुद्र से है। इसमें आख्यान है कि एक बार सभी देवता स्वर्ग को गए और रुद्र से उनके विषय में पूछा। रुद्र ने अपने को परमात्मा परमेश्वर त्रिकालदर्शी सर्वव्यापक कहा, फिर वह अदृश्य हो गए; इसपर देवताओं ने बाहु पसार स्तुति आरम्भ की—[1]"ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः १। ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः २॥" इसी क्रम में विनायक, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, यम, तेज आदि रुद्र के अनेक नाम, ओंकार की महिमा और रुद्रज्ञान के लिए आचार-पालन का वर्णन है। आचार-पालनोपदेश का सारांश है—"यस्मिन्क्रोधं या च तृष्णां क्षमां च तृष्णां हित्वा

---

[1] अथर्वशिरउपनिषत् १। "ॐ देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्को भवानिति सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति……………ततो देवा रुद्रं नापश्यन्ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति ततो देवा ऊर्ध्वबाहवस्तुवन्ति।"

हेतुजालस्य मूलम्। बुद्धया संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे। रुद्रमेकत्वमाहुः। रुद्रो हि शाश्वतेन पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ता।" फिर पशु नामक जीव को बंधन-मुक्त करने के लिए पाशुपतव्रत के पालनार्थ नीचे के मंत्रोच्चारण द्वारा शरीर में भस्म-लेपन का विधान है—"अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्मजलमिति भस्मस्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म ॥५॥"

श्वेताश्वतर और अथर्वशिरस् के तुलनात्मक मनन से मालूम होता है कि रुद्र-शिव की भक्ति कृष्णभक्ति से पहले जारी हुई, उस समय तक वासुदेव-कृष्ण या विष्णु-भक्ति का भाव प्रधान नहीं हो पाया था। पर रुचि शृंगारमय प्रिय पदार्थों की ओर सहज व अधिक होने के कारण लोग रुद्र की भयानकता से क्षुब्ध हो रहे थे और विष्णु की उपासना प्रिय समझते थे। अथर्वशिरस् की रचना के समय विष्णु के उपासक भक्त विष्णु को भागवत् ब्रह्मदेव-महादेव कहने लग गए थे। इस भावना को दबाने के लिए शैवों द्वारा अथर्वशिरसोपनिषद् प्रस्तुत हुई। उसमें रुद्र को घोषित करना पड़ा--"मैं ही गायत्री हूँ, मैं भी सर्वस्व हूँ।" रुद्र-भक्तों ने भी व्यक्त किया--"जो रुद्र है वही भगवत् है, ब्रह्मदेव है, महादेव है।"[13] तो भी समाज में प्राबल्य उसे ही मिला जो अपने को विशेषतः लोक-रुचि के अनुकूल बना सका।

महाभारत में शिव-पूजा के अनेक प्रमाण मिलते हैं और उनसे यह भी सिद्ध होता है कि शिव की पूजा कई तरह से उस समय जारी हो गई थी; शिव के भिन्न २ नाम, जो पहले

[13] अथर्वशिर उपनिषद् १ से ४

से प्रयोग में आ गए थे, पृथक् २ उपासना की दशा को पहुँच रहे थे। वनपर्व में अर्जुन के हिमालय पर तपस्या करने का वर्णन है, वहाँ किरातरूपी शिव से उनकी लड़ाई हुई और अन्त में शिव ने अर्जुन के आत्मसमर्पण व भक्ति से प्रसन्न हो अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान किया। यहाँ शिव का सम्बन्ध दो सर्पों से भी वर्णित है। सौप्तिक पर्व के अध्याय ७ में अश्वत्थामा को शंकर से एक खड्ग मिलने की कथा है। भीष्म पर्व में अर्जुन को कृष्ण ने दुर्गा की स्तुति करने का आदेश किया है और अर्जुन ने उमा-कराली-कात्यायनी आदि नामों से दुर्गा-प्रार्थना भी की। अश्वत्थामा की खड्गप्राप्ति के सिलसिले में महादेव शंकर के अपने लिंगोच्छेद करने और मुञ्जवान् पर्वत पर तपस्या करने जाने का वर्णन है जो वायुपुराण की शिव-कथा से सादृश्य रखता है। अनुशासन पर्व के अध्याय १४ में कृष्ण द्वारा महादेव-माहात्म्य उद्घोषित है, वहां कहा गया है कि महादेव की कृपा से सभी मनोरथों की पूर्ति हो जाती है और उपमन्यु ने कहा है कि महादेव ही एक देवता हैं जिनके लिंग की पूजा की जाती है, उमा व महादेव से ही सृष्टि होती है। जिस समय शिव उमा के साथ उपमन्यु को दृश्य हुए, वह वृषभारूढ़ थे और ब्रह्म-देव तथा नारायण उनके पारिपार्श्विक थे। किन्तु शिवलिंग-पूजा का स्पष्ट व विशद वर्णन पहले के ग्रन्थों में नहीं मिलता। ऋग्वेद में शिश्नोपासकों के उल्लेख हैं, पर उनसे यही ज्ञात होता है कि शिश्नोपासक आर्यों के विरोधी थे और व यज्ञ में विघ्न पहुँचाया करते थे[१४]। यद्द पतञ्जलि ने भी शिश्नो-

[१४] ऋग्वेद ७-२१-५ "स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवाः

पासना का नाम न लें "जीविकार्थे चापण्ये" के भाष्य में शिव की प्रतिकृति की पूजा लिखी है। वहां स्कन्द व विशाख की पूजा का भी कथन है: पर पतञ्जलि ने शिव-भागवत नामक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है, सूत्र "अयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ" पर भाष्य है—"किं योऽयः शूलेनान्विच्छति स आयःशूलिकः। किंचातः। शिवभागवते प्राप्नोति।" इनसे सिद्ध होता है कि याज्ञिक समाज से विलग किसी रूप में शिश्नोपासना जारी थी; पीछे वह उपासना नष्ट न होकर समाज में किसी रूप में जीता रहा[15]। वैदिक रुद्र की उपासना के ज़ोर पकड़ने पर उस उपासना का भी प्रचलन हुआ और उसके वैदिक रूप में परिवर्तन हुआ। रुद्र पूजा के साथ ही लिंग सर्प-भूत आदि के भाव भी मिलते गए और रुद्र-शिव की स्त्री-शक्ति उमा का भी सम्मान बढ़ता गया। केनोपनिषद् की ब्रह्मशक्ति हैमावती उमा शैव-भागवतों के बीच शिव-वल्लभा बनी। महाभारत के समय में लिंगपूजा के प्रति जन-रुचि थी, पर सम्भवतः ज़ोरदार नहीं, क्योंकि महेश्वर-भक्त वेम-कदफाइसेस के समय में (ईसावाद १री शताब्दी का मध्यकाल) भी इसका प्राबल्य नहीं था और उसके सिक्कों पर[16] लिंग की छाप नहीं मिलती, त्रिशूलधारी शिव और और नान्दी के चिन्ह अवश्य हैं। लेकिन

भपि गुरूर्तं नः"; १०-९९-२ "अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो अघ्निच्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्।"

[15] पाणिनि ५-२-९९; ५-१-७६

[16] "कुशान राजा केम कदफाइजेज के सिक्कों पर शिव की मानुषी मूर्त्ति बनी हैं, अथच लिंग नहीं अंकित है।" प० सुखदेव विहारी मिश्र· साहित्य पर प्रभाव, पृ० ७४

पौराणिक युग में लिंगपूजा को यत्रतत्र स्थान अवश्य मिला और उसे प्रधानता देने की चेष्टा लिंगपुराण में की गई। यह भी विदित होता है कि शिवोपासना में भी भक्ति प्रधान थी और भक्ति द्वारा साधक शिव को प्रसन्न किया करते थे, ऐसे भक्त कहलाते थे शिव-भागवत; पर समाज में शिव के साथ विष्णु की भी पूजा प्रचलित थी, जिस कारण सुबन्धु, बाण और महानारायण ने अपने ग्रन्थों में शिव और विष्णु दोनों की स्तुति की है। सम्भव है कि शिव-भागवतों के साथ ही विष्णु-भागवत भी बढ़ रहे हों यद्यपि ये महाभारतकाल तक शिव पूजा को दबा नहीं सके; पर शिव-भागवतों में अनैक्य का आरम्भ हो गया था और शाखाएँ निकलने लगी थीं, इसी कारण कालक्रम में शिव-भागवतों की कई शाखाएँ हुई।

जान पड़ता है कि बौद्धमत की महायान शाखा के समय से शैवमत की वृद्धि आरम्भ हुई और उसके कई सम्प्रदाय कायम हुए। पाशुपत सम्प्रदाय बहुत पुरानी शाखा प्रतीत होती है, वायुपुराण और लिंगपुराण उसका आरम्भ नकुली (नकुलीश) लकुलिन से कहते हैं और लकुलिन के कुशिक-गर्ग मित्र-कौरुष्य नामक चार शिष्यों का होना कहा गया है[१०]। ये पाशुपत शरीर पर भस्मलेपन धारण करने और

---

[१०] वायुपुराण २३-२०९

"दिव्या मेरुगुहा पुण्या त्वया सार्द्धञ्च विष्णुना।
भविष्यामि तदा ब्रह्मन् नकुली नामनामत.॥"

लिंगपुराण २४-१२९ 'दिव्यां मेरुगुहां पुण्यां त्वया सार्धञ्च विष्णुना।
भविष्यामि तदा ब्रह्मन्! लकुली नाम नामतः॥

महेश्वर-योग द्वारा रुद्र-लोक को प्राप्त होने का विश्वास रखते थे। उदयपुर से १४ मीलों की दूरी पर नाथ-मन्दिर में प्राप्त लेख से शिव का लकुल-धारी मानुषी भेष में अवतीर्ण होना प्रकट होता है, वह लेख ६७१ ई० का है। दूसरा लेख १२७४ ई० के पास का है जिसमें थीलकुलीश और उनके चार पूजकों का प्रसंग है। मैसूर के हेमावती नामक स्थान में ९४३ ई० के लेख में लिखा है कि लकुलीश मुनिनाथ चेल्लुक के रूप में प्रादुर्भूत हुए। १०७८ ई०, ११०३ ई०, ११७७ ई०, ११८३ ई०, १२१३ ई० और १२८५ ई० के लेखों में भी लकुलिन (नकुलीश) या लकुकिन सम्प्रदाय-सम्बन्धिनी बातों के उल्लेख हैं। चीनी यात्री ह्यूयन्त्सांग ७वीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत में आया, उसने महेश्वर के मन्दिरों में पाशुपतों द्वारा पूजन का ज़िक्र किया है और यह भी लिखा है कि बनारस में उसने लगभग दश हज़ार महेश्वरोपासक देखे, वे जटाधारी शरीर में भस्म लेपे नंगे चलते थे। बाण ने कादम्बरी में लालवस्त्रधारी पाशुपत और महाकाल-मन्दिर का हवाला दिया है और मालतीमाधव में भवभूति ने कृष्णपक्ष के १४वें दिन को शंकर के मन्दिर में मालती का जाना लिखा है। द्वितीय पुलकेशी का भतीजा नागवर्द्धन ६१० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, उसने नासिक ज़िले में इगतपुरी के पास एक ग्राम कापालेश्वर-पूजा निमित्त दान में दिया। शंकरदिग्विजय में शंकर का कापालिकों से मुकाबला होने का उल्लेख है। ९५८ ई० में राष्ट्रकूट राजा

[1] १३१ तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः।
कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एव च॥"

तृतीय कृष्ण ने ईशानशिव-शिष्य शिव-सिद्धान्त-पारंगत तपस्वी आचार्य गगनशिव को एक गाँव दान में दिया। ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि रुद्रोपासना में लकुलीन ने एक सम्प्रदाय निकाला, जिसका प्रचार उसके चार शिष्यों द्वारा किया गया और वही सम्प्रदाय पीछे पाशुपत सम्प्रदाय कहलाया, इसे ही दृष्टि में रखते हुए माधव ने सर्व्वदर्शनसंग्रह में पाशुपत व लाकुल सम्प्रदायों का पृथक् २ वर्णन नहीं कर 'नकुलीश-पाशुपत' लिखा है। भाण्डारकर महोदय ने इसका प्रादुर्भाव-काल ईसा-पूर्व २री शताब्दी माना है [18]; रुद्रभक्ति में इसकी वैसी ही प्रधानता रही जैसी पान्चरात्र सम्प्रदाय की विष्णुभक्ति में। पीछे यह सम्प्रदाय केवल पाशुपत नाम से विख्यात हुआ, और इसके अलावे शैव, कापालिक (कालमुख, कापालेश्वर) और लिंगायत सम्प्रदाय भी प्रचलित हुए, जिनके उपासक राजपुताना-महाराष्ट्र-मैसूर तक फैलते गये।

पाशुपत सिद्धान्त-विवरण में माधव ने कार्य-कारण-योग-विधि और दुःखान्त की व्याख्या की है। कार्य स्वतंत्र नहीं है, इसके ३ प्रकार हैं—विद्या, काल, पशु। विद्या पशु का पदार्थ है, इससे चित्त-धर्म्म पाप-तत्त्व-इन्द्रियाँ-मन अहंकार के स्वरूप का ज्ञान होता है। विद्या के अनुकूल पशु या तो शरीर से बद्ध रहता है या मुक्त। कारण से सृष्टि

18 "We may, therefore, place the rise of the Pāsupa[illegible] mentioned in the Nārāyaṇīya about a century afte[r] of the Pānchrātra system, i. e. about the second century B. C" Sri R. G. Bhandarkar: Vaisnavism an[d] [Śai]vism, p 117.

का विकास-विनाश घटित होता है। एक होते भी इसे रति, साध्य आदि रूपों में अनेक काम करना पड़ता है। राग चित्त द्वारा पशु को ईश्वर से मिलाता है। विधि का सम्बन्ध चर्या, व्रत व साधन से है और इसके वर्णन में गान, नर्त्तन, हुड्कार, दण्डवत, क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अवितत्करण और अवितद्भाषण की दशाएँ दिखलाई गई हैं। अवितत्करण का अर्थ है—'विवेक का त्याग कर जुगुप्सित कर्मों का सम्पादन' और अवितद्भाषण का—'असम्मत असंगत बातें करना।' दुःखान्त के भीतर दुःखमूलोच्छेद, दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान, सर्वज्ञता, मनोजवित्व, कामरूपित्व और विक्रमणधारित्व के विचार आते हैं। विदित होता है कि उन्नत दशा के लिए जुगुप्सित कृत्यों के करने और असंगत बातों में विश्वास रखने की धारणाएँ पाशुपत सम्प्रदाय में विद्यमान थीं और श्वेताश्वरोपनिषद् में रुद्रशिव के जिस मानुषी रूप की कल्पना की गई थी, उसके साथ प्राचीन रौद्ररूप-भावना भी पाशुपतों के बीच प्रचलित रही।

शैवसम्प्रादय का वर्णन शम्भुदेव, श्रीकण्ठ शिवाचार्य और वायवीय संहिता द्वारा किया गया है। सर्व्वदर्शनसंग्रह में भी शैवसम्प्रदाय-सिद्धान्तों का सार कथित है। इस सम्प्रदाय में तीन पदार्थ प्रधान हैं—पति, पशु, पाश; और इनके सम्बन्धाभास को प्रकट करनेवाले ८ विषय हैं—विद्या क्रिया, योग, दीक्षा, दीक्षाविधि, ध्यान, एकान्तचिन्तन आचार। शिव का दूसरा नाम पति है, वही मनुष्य के कर्मानुकूल आनन्द व शोक का स्रष्टा है। कर्त्ता होने के अलावे वह सर्वद्रष्टा है और उसका शरीर मनुष्य शरीर सा न होकर

शक्ति-समन्वित व मंत्ररूप है। मंत्र, मंत्रेश्वर, महेश्वर और मुक्त शिव के चार रूप हैं। पशु वैयक्तिक आत्मा है और उसका स्वभाव है पाशबद्ध, अर्थात् बन्धन से युक्त, हो जाना। वह अणुस्वरूप है और क्षेत्रशक्ति नाम से जाना जाता है। पाश के ४ प्रकार हैं—मल, कर्म, माया, रोधशक्ति। पाशमुक्त होकर पशु शिव रूप हो जाता है, यद्यपि वह सनातन विश्व का आश्रित ही रहता है। शैवसिद्धान्त में पशु-स्वरूप नीचे के अनुसार कहा गया है—

अनन्त सूक्ष्मरूप शिव एकाक्ष एकरुद्र पद्मागरूप श्रीकण्ठ शिखण्डी

मंत्र, जाप, होम, शक्ति, माया, महामाया, समाधि व मूलाधार से सम्बन्ध रखनेवाले चक्र, शिवलिंग-स्वरूप, गणपति, उमा आदि भी शैवसिद्धान्त के भीतर हैं। शैवसिद्धान्त पाशुपत से उद्धृत है। इस सम्प्रदाय में वर्जित कर्म हैं—शिवेतर देवता का उच्छिष्ट, शिवनिन्दा, शैवापकीर्ति, शैवमतनिन्दा, देवपदार्थोपभोग, पशुहिंसा।

कापालिक मत में छः मुद्रिकाओं को विशेषता प्राप्त है धारण करनेवाला आवागमन से रहित होता है

जो उनका व्यवहार जानता हुआ स्त्रीविशेषांग पर आसीन जीवात्मा का चिन्तन करता है वही परमपद को प्राप्त होता है[१९]। कालमुख ऐहिक सुखों की प्राप्ति के लिए खोपड़ी में खाना, शव-भस्म से शरीर को लेपना, भस्म भक्षण करना, लकुल धारण करना, सुरापात्र रखना और सुरापात्रस्थ से ईश्वर का ध्यान करना समुचित साधन मानते थे। शंकर-दिग्विजय में कर्णाटक के कापालिकों के साथ शंकराचार्य्य के साक्षात् होने का वर्णन है। कापालिकों का आचार्य क्रकच शरीर को श्मसान-भस्म से रँगे, हाथ में खोपड़ी व लौहदण्ड लिए शंकर के पास आया और बोला—"तुम भस्मधारी हो परन्तु नर-खोपड़ी धारण नहीं करते। तुम्हें कपाली (भैरव) की पूजा करनी चाहिए, भैरव नररक्त और सुरा से भरी लाल खोपड़ी को देख कर ही प्रसन्न होते हैं।" इस पर शंकर के साथ रहने वाले राजा सुधन्वन् और कापालिकों में लड़ाई होने लगी और राजा के भृत्यों ने कुछ कापालिकों का वध कर डाला और कुछ ने संस्कार कराकर अद्वैतमत का उपदेश लिया[२०]। इससे कापालिकों का भ्रष्टाचार विदित होता है। कापालिकों के मतानुसार भैरव की स्त्री चण्डिका नरमुण्डमाल धारण करनेवाली थी और उसकी प्रसन्नता

---

[१९] "कापालिक मतानुकूल छः मुद्रिकाओं का सार व व्यवहार जाननेवाला पुरुष जीवात्मा को स्त्री के विशेषांग पर बैठा हुआ मानकर मुक्ति पाता है।" पं० सुखदेव बिहारी मिश्र: हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० ७५

[२०] शंकरदिग्विजय-१५; स्वामी परमानन्द: शंकराचार्यजीवन-चरित्र, पृ० ६२

के लिए नरमेध किया जाता और सुरा की आहुति दी जाती। अस्तु, कापालिक और कालमुख एकही श्रेणी के रुद्रोपासक थे यद्यपि कालमुख अघोरपने में कापालिकों से बढ़े-चढ़े थे। शिवपुराण में कालमुख महाव्रतधारी कहे गए हैं और मालती-माधव-टीकाकार जगद्धर ने कापालिक व्रत का अर्थ महाव्रत किया है[1]। नासिक ज़िले के कापालेश्वर-मन्दिर में रहनेवाले योगी भी महाव्रती कहे गए हैं। विचारने योग्य है कि वैदिक रुद्र का रूप कालक्रम में भैरव व चण्डिका के नाम से भक्तों द्वारा कैसा चित्रित किया गया और कैसी २ भयानक घृणित बातें रुद्रोपासना-पद्धति में समाविष्ट की गईं।

ईसाबाद ६वीं शताब्दी के आरम्भ में काश्मीर में शैवमत के विकास के प्रमाण मिलते हैं। शिवसूत्र, स्पन्दकारिका, शिवदृष्टि और उदयाकर-सूत्रों द्वारा ज्ञात होता है कि काश्मीर में शैवोपासना की दो शाखाएँ प्रचलित थीं, यद्यपि दोनों के ही भाव उन्नत, पवित्र और मदिरा-सेवन आदि घृणित व्यवहारों से रहित थे। एक शाखा का प्रचार वसुगुप्त और कल्लट द्वारा हुआ और दूसरे का सोमानन्द, उदयाकर व अभिनवगुप्त द्वारा। वसुगुप्त ईसाबाद ६वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए और कल्लट अवन्तिवर्मन् के समय में लगभग ८५४ई०के। उदयाकर सोमानन्द के शिष्य थे, सोमानन्द १०वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए और अभिनवगुप्त ९९३-१०१५ ई० के बीच में। वसुगुप्त की शाखा में ईश्वर स्वतंत्रतः सृष्टि करनेवाला माना गया, जिस प्रकार दर्पण मकान वृक्षादि को अपने में छायारूप में रखते हुए भी उनसे पृथक् रहता है उसी प्रकार

---

[1] मालतीमाधव प्र० अंक "अ०-भअवदी मा सोदामिणी" "सिरीपव्वदे कावालिअव्वदं धारेदि।" जगद्धर—"अत्र कपालवतं महाव्रतम्।"

ईश्वर अपनी इच्छा से सृष्टि को अपने में प्रतिबिम्बित करते भी उससे पृथक् रहता है। ईश्वर अपनी अद्भुतशक्ति से जीवात्माओं को रचा करता है, जीवात्मा परमात्मा-स्वरूप ही है किन्तु मल के कारण उसे अपना स्वरूप समझ में नहीं आता। सांसारिक जीवन भावमय है, भावशब्दमय है और शब्दों से मलोद्भव होता है, इस हेतु मल का कारण नाद है। आणव, कार्मीय और कर्म मल के रूप हैं। सोमानन्द की शाखा का भी ऐसा ही सिद्धान्त है, पर अन्तर है स्वरूप पहचानने की दशा में। इस शाखा की धारणा है कि सारे सांसारिक पदार्थ ईश्वर के प्रकाश से ही ज्ञेय हैं क्योंकि ईश्वर के प्रकाश से प्रत्येक पदार्थ प्रकाशमान् होता है। जीवात्मा ज्ञान-कर्म की दृष्टि से परमात्मा का ही स्वरूप है, किन्तु उस स्वरूप की कोई सीमा नहीं कही जा सकती। गुरु-ज्ञान से ईश्वर स्वरूप में अपना सादृश्य समझने से ही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। जैसे कोई युवती है जिसका हृदय किसी युवक के सद्गुणों के श्रवण से उसपर मुग्ध है. उस युवती को उसी युवक से मुलाकात भी हुई पर उसे यह पता नहीं कि उसके सामने का युवक वही है जिसके सद्गुणों की प्रशंसा वह सुन चुकी है तब निश्चय ही वह युवती उस युवक को अन्य युवकों के समान एक साधारण पुरुष समझेगी; लेकिन युवक का पूरा परिचय मिलते ही उसके आनन्द की सीमा नहीं रहेगी. वह पुलकायमान हो उठेगी। उसी तरह जीवात्मा ईश्वर के परमानन्द को तब तक नहीं पाता जब तक वह यह नहीं जानता कि जिस ईश्वर के परमानन्द-स्वरूप को उसे पाना है वही उसके समस्त, नहीं उस में ही विद्यमान है। ये सिद्धान्त-सार प्रकट करते हैं कि योग-चिन्तन

आदि पर उनके आचार्यों का जोर नहीं था, न काश्मीरी शैव सम्प्रदाय पाशुपत-कापालिक आदि सम्प्रदायों से सरोकार रखते थे। कथन है कि स्पन्दशास्त्र का ज्ञान वसुगुप्त को स्वयं शिव से हुआ। यह इतना अवश्य प्रमाणित करता है कि वसुगुप्त ने शिवोपासना को नए ढंग से पवित्र विचारों के साथ काश्मीर में फैलाया।

लिंगायत सम्प्रदाय का दूसरा नाम वीरशैव सम्प्रदाय है, कुछलोग उसेही आराध्य सम्प्रदाय भी कहते हैं, क्योंकि आराध्यों का कोई विशेष सम्प्रदाय था या शाखा थी इसका लेखबद्ध प्रमाण नहीं मिलता। बासवपुराण से बासव के पूर्व विश्वेशाराध्य, पण्डिताराध्य, प्रभृति के होने का संकेत मिलता है। इन नामों से यह भी प्रकट होता है कि "आराध्य" शब्द पूज्य आचार्य या सुधारक के लिए व्यवहृत किया जाता था। ऐसी दशा में 'आराध्य' शब्द को लिंगायत सम्प्रदाय के कतिपय आचार्य व सुधारकों के लिए व्यवहृत उपाधि समझना ठीक है। फिर इन नामों से यह भी सिद्ध होता है कि बासव वीरशैव-सम्प्रदाय का चलानेवाला नहीं था, उसके पहले से यह सम्प्रदाय चला आ रहा था। बासव ईसाबाद १२वीं शताब्दी के मध्यकाल में हुआ उस समय कल्याण में विज्जल (विज्जन) शासन करता था। बासव पहले उसका मंत्री हुआ, बाद मे उसकी हत्या कर आप राजा बन बैठा। 'विज्जलाय चरित' से भी यही प्रकट होता है। डाक्टर फ्लीट ने एकान्त - रामय्य को वीरशैव २१५ का प्रवर्तक होना सिद्ध करना चाहा है, पर बासवपुराण उसका खण्डन करता है। बासवपुराण में भी रामय्य का प्रसंग है। दीक्षासंस्कारविधि से भी बासव के

पहले से लिंगायत सम्प्रदाय के चले आने की सिद्धि होती है, यद्यपि कोई निश्चित समय नहीं बताया जा सकता। वीरशैवों का दीक्षा-संस्कार ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार के के समान है, किन्तु गायत्री के स्थान में वीरशैव-मंत्र में 'ओऽम् नमः शिवाय' का प्रयोग किया जाता है और वीरशैव जनेव का धारण न कर शिवचिन्ह लिंग का धारण करते हैं। लिंग-धारण पुरुष-स्त्रियाँ दोनों करते हैं, लिंग चाँदी के डिब्बे में रखा रहता है और उसे कपड़े में लपेट गले में लटका लेते हैं। शिव-गायत्री भी है, जिसकी पहली दो पंक्तियाँ वेदगायत्री के ही समान हैं और अन्तिम पंक्ति है—"तन्नः शिवः प्रचोदयात्।"

- लिंगायतों का परब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, जो शिवतत्त्व हैं और 'स्थल' नाम से माने जाते हैं। स्थल में 'स्थ' का अर्थ है 'स्थान'। और 'ल' का लय—अर्थात् 'स्थल' है 'लय का स्थान' तदनुकूल स्थल चराचरों के आधार, सभी जीवों के जीव और प्रकाशकों के प्रकाश हैं; वही सच्चा आनन्द चाहनेवाले का परमपद है। शक्ति-स्पन्दन द्वारा स्थल के दो रूप हैं—लिंगस्थल, अंगस्थल। लिंगस्थल है शिव या रुद्र और अंगस्थल जीव; लिंग को शिवचिन्ह न समझ शिव ही जानना चाहिये। शक्ति-स्पन्दन के भी दो भेद हैं— कला, भक्ति; कला का सम्बन्ध लिंगस्थल से है और भक्ति का अंगस्थल से। शक्ति और भक्ति के दो भिन्न २ कार्य हैं, शक्ति जीव को कार्य व संसार की ओर ले जाती और पूज्य बनाती है तथा भक्ति कर्म व संसार से विरक्त करती और उपासक बनाती है। इस तरह शक्ति का सीधा सम्बन्ध शिव-लिंग से है और भक्ति का जीवों से, यही भक्ति जीव को शिव से मिलानेवाली

है। लिंगस्थल और अंगस्थल के भेदोपभेद नीचे के अनुसार माने जाते हैं—

लिंगस्थल

भावलिंग	प्राणलिंग	इष्टलिंग
कलारहित,	कलासहित-रहित	कलासहित,
भक्तिद्वारा ज्ञेय	मनद्वारा ज्ञेय	चक्षुद्वारा ज्ञेय
सत	चित्	आनन्द
प्रधान-कला	मंद-नाद	क्रिया-बिन्दु

महालिंग	प्रसादलिंग	चरलिंग	शिवलिंग	गुरुलिंग	आचारलिंग,
ज्ञान	पराशक्ति	आदिशक्ति	इच्छाशक्ति	ज्ञानशक्ति	क्रियाशक्ति
चैतन्यरूप	सादाख्य	चिन्मय	कलाज्ञानपूर्ण	मानव ज्ञानपूर्ण	पोषण-अनुभव-त्याग.
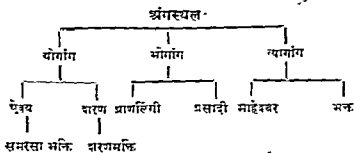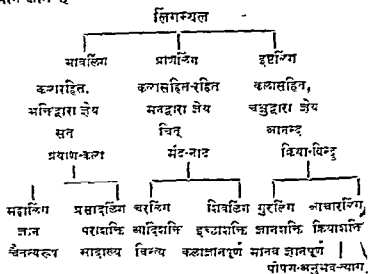
शैवमत का प्रचार तामिल देश में भी पुराने समय में ही हुआ। कान्चीपुर-मन्दिरों के लेखों में ईसावाद ६ ठी शताब्दी में शैवमत की समुन्नत दशा की कल्पना की जाती है। पल्लव-राजा राजसिंह के एक मन्दिर निर्माण कराने का

प्रमाण मिलता है, कुछ लेखों से [22] राजसिंह का चलुक्य राजा प्रथम पुलकेशी का समकालीन होना विदित होता है। पुलकेशी का पुत्र १म कीर्तिवर्म्मन् लगभग ५६७ ई० में सिंहासनासीन हुआ, अतः इस समय के पूर्व ही राजसिंह का समय हो सकता है। लेखों के अलावे तामिलभाषा में शैवमत पर प्राप्त पुस्तकों से भी बहुत पुराने समय से द्रविड़ों के बीच शैवोपासना का प्रचलन विदित होता है। शैवमत के तामिल आचार्यों ने ब्राह्मणों के ही धर्म्मग्रन्थों के समान शैवमत के ग्रन्थ बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया और उसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए। वेदों के स्थान में 'देव रम्', उपनिषदों के लिए 'तिरुवाशगम्' और पुराण के स्वरूप 'पेरियपुराणम्' की रचना तामिलभाषा में की गई है [23]। इनके अलावे तिरुमूलर योगी ने रहस्यवादी संगीत और सन्तान-आचार्यों ने सिद्धान्तशास्त्रों की रचना की। शैवमत-सम्बन्धी रचनाओं में कुछ लेख कन्दरादित्य नामक एक चोल राजा के भी है, कन्दरादित्य की ५वीं पीढ़ी में राजराज-चोल राजा हुआ और वह ६८४ या ६८५ ई० के पास में सिंहासनपर बैठा [24]। तब कन्दरादित्य का समय ६८४ ई० के बहुत पहले होगा और उस समय के भी बहुत पहले से शैवमत पर ग्रन्थ लिखाते आ रहे थे। तामिलशैव में तिरुज्ञान-संबन्ध बहुत पुराने लेखक जान पड़ते हैं और उनका भारी मान भी है,

---

22. South—Indian Ins riptions, Vol I, p 11.

23. P Sundaram Pillai The Indian Antiquary, Vol 25 1896,-pp 113 114.

24. Dr E. Hultzsch The Indian Antiquary Vol 23-1894 pp 297

प्रत्येक शैवमन्दिर में उनकी मूर्ति की पूजा की जाती है। उनका जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था और उनकी काव्यप्रतिभा स्वाभाविक थी, बौद्धों और जैनों से उनका भारी विरोध था। भण्डारकर महोदय का[25] निष्कर्ष है कि ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान काल में ईसा बाद ४थी-५वीं शताब्दी के लगभग शैव और वैष्णव मत सुदूर दक्षिण तक बढ़ते चले गए और उन्हें अपने आधिपत्य के लिए बौद्ध और जैन मतों का विरोध करना पड़ा। सम्भव है, किन्तु तामिल के शैवमत का प्रचार धीरे २ अपनी स्वाभाविक गति में होना प्रकट होता है, क्योंकि उत्तर से दक्षिण में शैवमतस्रोत के प्रवाहित होने की दशा में जुगुप्सित भावों की लहरें भी तामिली शैवों में जरूर पहुँच जातीं; इसके अतिरिक्त वैष्णवमत में गोपालकृष्ण भावना का स्रोत दक्षिण से ही उत्तर में आया प्रमाणित होता है और दक्षिण का वैष्णवमत शैवमत की तरह अश्लीलता से भी बचा रहा। इस कारण प्राचीनतम शैवमत तन्त्र पर तामिली शैवमत की स्वाभाविक समुन्नति की अधिक सम्भावना है, इसी क्रम में उत्तर से भी कुछ प्रभाव पड़ सकता है। इसका कोई

---

[25] "It appears to me that both Saivism and Vaisnavism penetrated to the extreme south of India after the revival of Brahmanism in the north during the fourth and fifth centuries Buddhism and Jainism had been introduced earlier and were in possession of the field when the two later ystems of theistic belief were introduced into the Southern ountry whether Saivism extended itself to the Tamil ...ntry before the revival, we have not the means of ...ing" Sir R G Bhandarkar Saivism and Vaisnavism, p 142

निश्चित निर्णय उत्तर व दक्षिण के शैवग्रन्थों के गम्भीर तुलनात्मक मनन से ही किया जा सकता है।

रुद्रशिव की उपासनोन्नति के साथ रुद्रशिव से सम्बन्ध रखनेवाले उमा-गणपति-कार्त्तिकेय की भी पृथक् २ उपासना प्रणालियाँ समाज में समादृत हुईं। उनमें उमा की पूजा शक्तिरूप में कई नामों से की गई और बहुत ही व्यापक हुई। शक्ति की उपासना करनेवालों का दल शाक्त-सम्प्रदाय कहलाया और शाक्तों ने ईश्वर में मातृभाव का अध्यारोपण कर शक्तिपूजा आरम्भ की। विचार उस समय उन्नत था, पवित्र था--यद्यपि कालान्तर में वह वैसा नहीं रह सका।

ईश्वर में मातृभाव की विद्यमानता पुरानी है। हिन्दुओं में ईश्वर की साधारण स्तुति है-'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'माता धाता पितामहः।' श्रीमद्भागवत में स्त्री-पुरुष की अभिन्नता दिखलाते कहा गया है-'कस्य रूपमभूद् द्वेधा।' फिर स्त्रीशक्ति को उच्चता देनेवाले कथन हैं--'गृहिणी गृहमुच्यते', 'सर्वस्त्रीनिलया', 'जगदस्यामयं पश्य स्त्रीमात्रम-विशेषतः।' बाइबिल में आदम ने स्त्री-शक्ति का आदिशक्ति-रूप दर्शाया है[26]। कुरआन में खुदा के प्यारे आदम और हव्वे साथ साथ थे और पारसियों के अहुर्मज्दाह ने 'मश्य' और 'मश्याण' को पीठ की ओर से जुड़ा हुआ पैदा किया। ऋग्वेद में दुर्गा की कल्पना वेदीरूप में की गई है और खिलसूक्त में दुर्गासूक्त भी है; खिलसूक्त पश्चिमी विद्वानों

---

26. "23. And Adam said, This is now bone of my bones, and flesh of my flesh : She shall be called woman, because she was taken out of man." Holy Bible—Genesis II.

द्वारा क्षेपक माना जाता है, परन्तु अन्तिम मंत्र ज्यों का त्यों तैत्तिरीय आरण्यक और महानारायणोपनिषद् में भी मिलता है [11]। वाजसनेयी संहिता में दुर्गा रुद्र की भगिनी कही गई हैं, लेकिन तैत्तिरीय आरण्यक दुर्गा को रुद्र की पत्नी कहता है। रुद्र के महादेव और शिव-रूप होने के समय दुर्गा भी उमा-अम्बिका-रूपिणी हो जाती हैं और तब रुद्र उमापति व अम्बिकापति कहलाने लगते हैं, दुर्गा के भाई होने की धारणा भी मिट जाती है। एवं प्रकार वैयक्तिक देवता की उपासना के साथ-साथ मातृ-भावना की भी वृद्धि होती गई और अन्त में भक्ति-काल में लोग समझने लगे कि भगवान् के साथ उनकी स्त्रीशक्ति-रूपिणी भगवती की भी पूजा जरूरी है। इस धारणा के प्रबल होने पर एक निष्क्रिय निरंजन निराकार निर्गुण परमात्मा के त्रिगुणात्मक रूप ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र की तीन शक्तियाँ महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली स्वीकृत की गईं। सरस्वती, लक्ष्मी और काली तीनों की पूजा आज भी समाज में होती है, लेकिन विष्णु के स्थान में राम-कृष्ण की भक्ति जारी होजाने से लक्ष्मी का प्रधान स्थान सीता व राधा को प्राप्त हो गया है और ब्रह्मा की पूजा प्रचलित नहीं रहने के कारण सरस्वती की पूजा ख्याति नहीं पा सकी; काली की पूजा प्रबल है। शिव की समानता में शान्तिमय शक्तिरूप का वर्णन किए जाने पर भी रुद्र के भयानक वर्णन के सादृश्य में काली-स्वरूप विकराल माना जाता है

---

[11] तैत्तिरीय आरण्यक १०-२; महानारायणोप० ६-२--

"तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसितरसे नमः॥"

और उसी विकराल स्वरूप का ध्यान शाक्तप्रमोद के कालीतंत्र के आरम्भ में किया गया है [७८]—

"शवारूढाम्महाभीमाङ्घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजाङ्खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्॥
मुण्डमालाधरान्देवीं ललज्जिह्वान्दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत्कालीं श्मशानालयवासिनीम्॥"

दुर्गा का सीधा सम्बन्ध रुद्र के साथ होने के कारण रुद्र-सम्बन्धी भावों की भिन्नता के अनुरूप दुर्गा के भाव भी भिन्न २ हुए, यथा—त्र्यम्बक शिव की महाशक्ति भुवनेश्वरी, कबन्ध शिव की छिन्न-मस्ता [७९], दक्षिण-मूर्त्ति कालभैरव की भैरवी, दारिद्र्यरुद्र की धूमावती, एक-वस्त्रमहारुद्र की [८०] बगलामुखी, मतङ्ग शिव की मातङ्गी, रुद्र-शिव की कमला। काली के कृत्यों की दृष्टि से भी उसके नाम प्रचलित हुए, जैसे—चंडमुंड को मारने के कारण चामुंडा, [८१] नरमुण्डमाल-धारण करने के कारण कापाली, वन में निवास करने के कारण कान्तारवासिनी, विजयिनी होने के कारण विजया, पर्वत-पुत्री होने के कारण पार्वती, पार्वतीकोश से निकल शरीरी होने के कारण कौशिकी, महिषासुर का वध करने के कारण महिषासुरनाशिनी और शील स्वभाव व रूप के विचार से काली, कुमारी, कराला, चण्डी, भीमा, भ्रामरी,

---

[७८] शाक्तप्रमोद : कालीतंत्र, श्रीकालीध्यानम् श्लो० १-२

[७९] शतपथ ब्रा० १-१-२ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः', 'छिन्नशीर्षो वै यज्ञ'

[८०] शतपथ ब्रा० ३-५-४-२

[८१] मार्कण्डेयपुराण ८७-२५

"यस्माच्चण्डञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यति॥"

भवानी आदि नाम भी दिए गए। कुल-देवी की दृष्टि से भी कुछ नाम काली के धरे गए, जैसे-कात्यायन-कुल की देवी कात्यायनी। काली की सात शक्ति-विभूतियों के नाम हैं—ब्राह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री; ये नाम प्रकट करते हैं कि जिस प्रकार शिव शैवोंद्वारा ब्रह्मा-विष्णु आदि से बड़े बनाए गए उसी प्रकार काली भी अ॰ देवों की देवियों से बड़ी मानी गई और उस महत्ता के द्योत भिन्न २ नाम दिए गए।

शक्ति-पूजा के विकास में अवश्य ही एक लम्बा सम लगा होगा, लेकिन महाभारत से प्राचीनतर ग्रन्थों में इसक विशद वर्णन नहीं मिलता। दुर्गा, रुद्राणी, भवानी औ उमा शब्द यत्र तत्र प्रयोग में आए हैं पर वे शक्तिपूजा व प्रमाणित नहीं करते, इनसे इतना जरूर स्पष्ट है कि देव ' साथ देवियों की स्तुति की प्रवृत्ति समाज में बहुत पुरानी है महाभारत में सर्वप्रथम पूजा का उल्लेख मिलता है। भीष्म पर्व के अध्याय २३ में कृष्ण ने अर्जुन को दुर्गापूजा की सम्मति दी है [८] और अर्जुन की स्तुति में काली, कुमारी, कात्यायनि कराला, कौशिकी कान्तारवासिनी, महाकाली, चण्डी, उमा जया, विजया, गोपेन्द्रानुजा, नन्दगोपकुलोद्भवा, आदि नाम आए हैं। हरिवंश में विंध्यवासिनी कौशिकी देवी के उत्पत्ति का आख्यान है। मार्कण्डेयपुराण के अध्याय ८२ में महिषासुरनाशिनी देवी की कथा है, उसमें कराला-काली चण्डी-चामुण्डा-आदि डरावनी देवियों के पुलिन्द-शबर-बर्बर

---

[८] महाभारत भीष्मपर्व २३-२ "अवतीर्य रथात्पार्थ स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः"; अर्जुन की स्तुति—श्लोक ४-१६

प्रभृति जंगली जातियों द्वारा मद्य-मांस-नरबलि से पूजित किए जाने का उल्लेख है[२०]।

बाद शक्तिपूजा का विशद वर्णन तंत्रग्रन्थों में ही किया गया है, क्योंकि तंत्र ने स्त्री-पूजा को बड़ा भारी महत्त्व दिया। उस महत्त्व का प्रभाव तत्कालीन भारतीय समाज पर इतना पड़ा कि जितने सम्प्रदाय उत्तर भारत में चल रहे थे सभी स्त्री-सम्मान की ओर झुक पड़े और सबों के धार्मिक ग्रन्थों ने स्त्रियों को विशेष मान दिया, धीरे २ शक्ति-भक्त ईश्वर का भी स्त्री ही समझने लगे और भक्ति-प्रेरित हो पुरुष भी इष्टदेवों के सदृश स्त्रीवत् इच्छा रखने लगे[२४]। ऐसी दशा में काली-सरस्वती आदि की तरह २ की मूर्त्तियों की पूजा भी आरम्भ हुई। तत्कालीन गुफा-चित्रों में और आज की दुर्गा-सरस्वती की मूर्त्तिस्थापना-प्रथा में उसी काल की छाप विद्यमान है। उस समय देवीभक्तों के लिए स्त्री-निन्दा-ताड़नादि दुर्व्यवहार एकदम त्याज्य कहा गया—

"स्त्रीणां निन्दां प्रहारं च कौटिल्यं चाप्रियंवचः।
आत्मनो हितमन्विच्छन्देविभक्तो विवर्जयेत्॥"

तंत्र-काल के बाद के ग्रन्थों में शक्तिपूजा के प्रमाण

---

[२३] "दुर्गा की एक स्तुति में यह भी कहा गया है कि वह शबर, पुलिंद, बर्बर आदि जंगली जातियों की देवी हैं। वह मद्य तथा मांस से प्रसन्न होती हैं।" पं० सुखदेव तिवारी मिश्र: हिन्दी साहित्य का प्रभाव, पृ० ७७

[२४] "शक्तिपूजकों का धर्म है कि पुरुष होकर भी अपने को स्त्री समझने के विचार की आदत डालें, क्योंकि ईश्वर स्त्री है। सबों को स्त्री होने की इच्छा रखनी चाहिए।"

बहुतायत में पाए जाते हैं। १२ वीं शताब्दी के भवदेव ने पार्थिव मूर्त्ति की पूजा का हवाला दिया है, जिमुतवाहन के दुर्गोत्सव-निर्णय में भी ऐसा उल्लेख है, दुर्गोत्सवविवेक में इस पर ज़ोर दिया गया है। श्रीनाथ आचार्य ने अपने दुर्गोत्सवविवेक में पार्थिवमूर्त्तिपूजन का विवरण दिया है और रघुनन्दन ने दुर्गोत्सव-तत्त्व और दुर्गापूजातत्त्व में विशद वर्णन किया है। किन्तु मूर्त्तियों के भिन्न २ कालीन स्वरूप में अन्तर पाया जाता है। आरम्भिक गुप्तकाल की दुर्गा-मूर्त्ति के दो ही हाथ हैं, और अन्तिमकाल की मूर्त्ति को चार हाथ। पुराण व तंत्र ग्रन्थों के प्रसंगों में चार, आठ और सोलह हाथों के वर्णन हैं। बंगाल में दश हाथों वाली मूर्त्ति का पूजन होता है; उस मूर्त्ति में दुर्गा के साथ लक्ष्मी, सरस्वती, कार्त्तिकेय, गणेश और सिंह की मूर्त्तियां भी रहती हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में भी दुर्गा के साथ महादेव कार्त्तिकेय और नान्दी का वर्णन है। सर्वत्र देवी की विकराल मूर्त्ति का ही वर्णन है और आजकल की मूर्त्ति भी प्राचीनता के अनुकूल डरावनी हो बनाई जाती है।

शक्ति के उपासक शाक्तों की तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं—साधारण, तांत्रिक, शौर्यात्मिक। साधारण श्रेणी में वे शक्ति-उपासक आते हैं जो दुर्गा-सरस्वती-काली-आदि की पूजा पवित्र भाव से किया करते हैं और बलि आदि साधारणतः करते भी घृणित भावों को नहीं अपनाते। तांत्रिक श्रेणी में वे तत्रोपासक व निम्न श्रेणियों के लोग रक्खे जा सकते हैं जिनका विश्वास है कि देवी मद्य-मांस से ही प्रसन्न होती हैं। शौर्यात्मिक श्रेणी में वीरता के वे नेमी आते हैं जो विजयोल्लास को ईश्वर और रणक्षेत्र में विजयश्री को मुक्ति

स्वीकार करते हे। ऐसी शक्ति के उपासक वीर अनेक हुए हे। यदि एक ओर तन्त्र साधना में भोग ने शक्ति का रूप धारण किया तो दूसरी ओर ऐसे वीरों ने अपनी अपूर्व वीरता से उस कलक को प्रच्छालित करने का उत्कर्ष दिखलाया। इसके अनेकों प्रमाण क्षत्रिय व महाराष्ट्रवीरों की जीवनियों में विद्यमान हे। वे शक्तिभक्त अपनी २ तलवारों को दुर्गा कहते थे और आज भी कहीं २ क्षत्रिय दुर्गापूजा के दिन खड्ग को दुर्गा का रूप मान कर उसकी पूजा करते हैं। खड्ग-दुर्गा के भक्त अपनी दुर्गा से शत्रुओं पर विजय देनेवाली शक्ति की कामना करते थे, उनकी शक्ति काम्या थी, पर वह कामुकता से अति दूर वीरता द्वारा सांसारिक विभूतियों को हस्तामलक करने वाली थी। खड्ग-दुर्गा के भक्त मोक्ष या स्वर्ग के भी जिज्ञासु नहीं थे, वे सर्वदा लोकोपकार करते वीरभोग्या वसुन्धरा पर सुशासन रखना चाहते थे।

गणपति का भी सम्बन्ध रुद्र से ही हे और बहुत सम्भव है कि रुद्रोपासना के पश्चात् ही उसके शाखा स्वरूप गाणपत्य सम्प्रदाय भी निकला। ऋग्वेद के[४५] ब्रह्मणस्पति को गणपति की उपाधि दी गई हे जिससे ज्ञानदेवता बृहस्पति का समकक्ष बनने में गणपति को वाद की धारणाओं में सहायता मिली। रुद्र-वर्णन में रुद्र के अनेक गण कहे गए हैं, उन गणों के पति का नाम गणपति है और गणपति ही का दूसरा नाम विनायक हे।

---

[४५] ऋग्वेद २-२३-१ "गणाना त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीना-मुपमश्रवस्तम। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनं।

मानवगृह्यसूत्र (२-१४) में शालकटंकट, कूष्माण्डराजपुत्र, उस्मित, देवयजन नामक चार विनायकों का वर्णन है, वे तरह तरह के विघ्न करनेवाले कहे गए हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में[२६] लिखा है कि रुद्र और ब्रह्मदेव ने विनायक को गणों का नायक बना कर मध्य यज्ञों में विघ्न करने को नियत किया। वहाँ एक ही विनायक का उल्लेख है पर उनके छः नाम कहे गए हैं—मित, सम्मित, शाल, कटंकट, कूष्माण्ड, राजपुत्र। विनायक की माता का नाम वहाँ अम्बिका है, और विनायक स्वभावतः हानिकारक होने पर भी उपासना से हितकर माने गए हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति का रचनाकाल छठी शताब्दी ईसावाद स्वीकार किया गया है। कुछ शिलाचित्रों में विनायक का मस्तक हाथी के शिर के समान मिलता है और मालती-माधव की आरम्भिक वन्दना में भवभूति ने विनायक के ऐसे ही शिर का वर्णन किया है। गुप्तकालीन लेखों में गणपति का उल्लेख नहीं मिलता, पर एलोरा के चित्रों में काल-काली के संग गणपति का चित्र मिलता है जो ईसावाद ८वीं शताब्दी का माना जाता है। जोधपुर से २२ मील उत्तर-पश्चिम घटियाला नामक स्थान के एक शिलालेख से गणपति-पूजा-प्रचार का प्रमाण मिलता है, यह लेख ८६२ ई० का

---

[२६] याज्ञवल्क्यस्मृति-प्रक० १

"विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः ।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा ॥२७१॥
मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ ।
कूष्माण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितैः ॥२८५॥
विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्ततोऽम्बिकाम् । २९०"

माना गया है। इस तरह ईसाके बाद छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक गणपति-पूजा-प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। आनन्दगिरी ने गाणपत्यों के छः सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उच्छिष्ट-गणपति की उपासना वाममार्गियों की प्रथा की भाँति है। उच्छिष्ट-गाणपत्य न जाति-भेद मानते हैं न विवाह-बंधन, न भोज-प्रतिबन्ध न सुरापान-दोष, ललाट पर वे लाल टीका करते हैं। साधारणतः हिन्दुओं की सभी पूजाओं में पहले गणपति की पूजा होती है और महाराष्ट्र में भाद्रपद की चतुर्थी शुक्ला को गणपति की पार्थिव मूर्त्ति की पूजा बहुत तैयारी से की जाती है और पूने के पास चिञ्चवाड़ में गणपति-पूजन की विशेष व्यवस्था है। गणपति को ऐसा सम्मान उनके रुद्रगणों के स्वामी होने के कारण विघ्ननाश-हितार्थ ही दिया जाता है।

शिव-पार्वती के पुत्र का नाम स्कन्द या कार्त्तिकेय कहा जाता है, यद्यपि ऐसे उल्लेख भी हैं जिनसे कार्त्तिकेय का शिव-पार्वती-पुत्र नहीं होने की शंका पैदा हो जाती है। वाल्मीकि रामायण में [७३] अग्नि व आकाशगंगा के पुत्र का नाम कार्त्तिकेय

[७३] वाल्मीकिरामायण-बा० स० ३७

"इयमाकाशगा गङ्गा यस्यां पुत्रं हुताशनः।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम् ॥७॥
इह हैमवते पादे गर्भोऽयं सन्निवेश्यताम्।
श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥१७॥
उत्ससर्ज...... ....||१८॥
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ॥२१॥
क्षीरसंभावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन्।
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा स्वमयमुत्तमम् ॥२४॥

कहा गया है; कार्तिकेय नाम पड़ने के सम्बन्ध में वर्णन है कि गंगा ने गर्भ को हिमवत् पर्वत पर फेंक दिया था और कृत्तिका नक्षत्र ने उठाकर उसका पालन-पोषण किया, कृत्तिका पर ही कार्तिकेय नाम पड़ा। महाभारत के वनपर्व-अध्याय २२६ में भी कार्तिकेय के अग्नि व स्वाहा के पुत्र होने का वर्णन है, परन्तु वहाँ अग्नि नाम शिव का ही कथित है। रामायण की कथा में भी हिमवत् पर्वत आया है और हिमवत् से शिव का सम्बन्ध है। किसी तरह भी कार्तिकेय का सम्बन्ध रुद्र शिव से निस्सन्देह था। कार्तिकेय पहले रुद्र के गणों के नायक थे, पीछे वह देव-सेना के नायक बनाए गये। उनकी सवारी मयूर है। पुराने समय में कार्तिकेय-पूजा प्रचलित थी, पर आजकल वह प्रचलित नहीं; तोभी हिन्दू-घरों में कार्तिकेय की भी कुछ पूजा की जाती है। कार्तिकेय लिंगायतों के एक गोत्र के प्रवर्तक भी माने गये हैं और पतञ्जलि ने "जीविकार्थे चापण्ये ५-३-९९" के भाष्य में "शिवः स्कन्दः विशाख इति" कहकर शिव-स्कन्द-विशाख के पूजन की चर्चा की है। कुशन सम्राट् कनिष्क के सिक्कों पर स्कन्द-महासेन-कुमार-विशाख के नाम व चिह्न भी दिये गये हैं। इनमें महासेन व कुमार के अतिरिक्त विशाख नाम भी कार्तिकेय का ही कहा जा सकता है, क्योंकि महाभारत में वर्णित है कि इन्द्रवज्राघात पर स्कन्द की दाहिनी ओर से विशाख पैदा हुए। लेकिन पतञ्जलि ने शिव के अलावे स्कन्द व विशाख दोनों के नाम अलग २ दिए हैं। जान पड़ता है कि स्कन्द

ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ।
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन् ॥२५॥"

चौदहवाँ अंश

राधा-कृष्ण

निद्देश के एक संदर्भ से मालूम होता है कि ईसापूर्व ४ थी सदी में आजीवक, निगन्थ, जटिल, परिव्याजक, अवरुद्धक, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द; मणिभद्द, अग्नि, नाग, सुपण्ण, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महाराज, चन्द, सुरिय, इन्द, ब्रह्मा और देव के अनुयायी फैले हुए थे। इनके अलावे शैवर्थ, जो प्राचीनतम रुद्रोपासना को भिन्न भिन्न उपायों से विकसित करते आ रहे थे। तांत्रिकों के हाथ में शिव व शक्ति की भक्ति इतनी समुन्नत हुई कि सद्गुण और दुर्गुण का विचार भी उससे नष्ट सा हो गया, पर ऐसा विशेषतः बौद्धमतानुयायियों द्वारा ही घटित हुआ; इस कारण बौद्धों के प्रतिकूल ब्राह्मणधर्म का ध्यान शैवमत से भिन्न वैष्णवमत की ओर हुआ और उनने विकृत शक्ति-भक्ति के प्रत्युत्तर में कृष्णोपासना को समुपस्थित करना आरम्भ किया। कृष्ण की भक्ति शिव-भक्ति की समानता में पहले से आ रही थी, पर बौद्ध व जैन मतों के आगे वह निष्प्रभ थी और शैवमत पर भी प्रबल नहीं हो सकी थी। बौद्धमत के बल का कमना और शक्ति की उपासना में घृणित उपचारों का सम्मिलित होना कृष्णोपासना के लिए हितकर हुआ। अवसर पा कृष्णभक्ति, जिसका सम्बन्ध प्रेम अहिंसा और भक्ति से था, प्रचारकों द्वारा इतनी लुभावनी बनायी जाने लगी कि भिन्न २ मतों के लोग उसे ग्रहण कर वैष्णव बनने लगे। शनैः २ वासुदेव-भक्ति अधिकांशों का

धर्म्म बना और कृष्णभक्त राधा-कृष्ण-कीर्त्तन से मोक्ष-प्राप्ति का प्रबल विश्वास रखने लगे। कृष्णोपासकों का मत भागवद्धर्म या वैष्णवधर्म्म के नाम से विख्यात हुआ और वैष्णव अपने को शैव से भिन्न समझने लगे। पीछे कतिपय कारणों से वैष्णवों का दूसरा दल भी पैदा हुआ जो कृष्ण के बदले राम और राधा के बदले सीता को पूज्य मानकर सीताराम की भक्ति में लीन हुआ; किन्तु यह सहज ही घटित नहीं हुआ। कृष्ण व राम को ईश्वरत्व प्रदान कर उनकी भक्ति-स्थापना में संलग्न होने में पर्य्याप्त समय लगा और अनेक आचार्यों की बुद्धि कार्य्यगत हुई, जिसका ईश्वरवाद के इतिहास में जानने योग्य अपना पृथक् व स्वतंत्र विस्तृत विवरण है।

कृष्ण के पिता वसुदेव थे, माता थीं देवकी। वह वृष्णवंशी थे, और वसुदेव-पुत्र होने के कारण वासुदेव कहे गए। कृष्णभक्ति का आरम्भ वासुदेव-पूजा से ही हुई और आरम्भ में कृष्ण नाम विख्यात नहीं था। बौद्धधर्म्म-ग्रन्थ निद्देश में वासुदेव और बलदेव नाम मिलते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४-३-९८' सूत्र-भाष्य में लिखा है-'अथवा नैषा क्षत्रियाख्या, संज्ञैषा, तत्रभवतः[1]।' इससे वासुदेव की पूजा पाणिनि से पहले या उनके समय की मानी जा सकती है। राजपुताने के घोसुण्डी-शिलालेख में[2] सकर्षण

[1] R G Bhandarkar J R. A. S. 1910 pp 168 170 'Patanjali for these reasons, and his evidence Panini also, may be safely taken to speak of Vasudeva as a divine being."

[2] Luders · List of Brahmi Inscription, No 6

और वासुदेवश के पूगृह के चतुर्दिक दीवाल निर्माण का उल्लेख है, यह शिलालेख कमसे कम दो सौ वर्ष ई० पू० का है। बेसनगर-शिलालेख में[3] देवाधिदेव वासुदेव के मानार्थ गरुडध्वजा की स्थापना की बात है। यह ईसापूर्व २री शताब्दी के आरम्भिक कालका माना जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय यूनानियों के बीच भारत के पश्चिमोत्तर भाग में भागवद्धर्म प्रचलित था, उसमें वासुदेव की पूजा होती थी और वासुदेव भक्त भागवत कहलाते थे। नानाघाट-गुफा के लेख में[4] संकर्षण व वासुदेव शब्द द्वन्द्व समास में आए हैं, यह लेख ईसापूर्व १ ली शताब्दी से पहले का है।

महाभारत के शान्तिपर्व से ज्ञात होता है कि वसु उपरिचर के यज्ञ में कोई पशु नहीं मारा गया, आरण्यकों के शिक्षानुकूल हवि प्रदान हुआ, प्रधान पूज्य देवता महादेव हरि थे, वह हरि बृहस्पति की भी यागिक क्रिया व सहस्रों वर्ष की तपस्या से भी दृश्य नहीं हुए क्योंकि वह भक्ति द्वारा ही देखे जा सकते थे।[5] नारद ने श्वेतद्वीप में जाकर भक्ति से पूजा की, उससे नारायण प्रकट हुए और उनने नारद को वासुदेव धर्म तथा अपने तीन अन्य व्यूहों की शिक्षा दी, उनने कंस के वध निमित्त वासुदेवावतार को भी समझाया[6]। इस तरह नारायण ने अपने को वासुदेव और उनके चार व्यूहों के साथ दर्शाया। यहाँ यह भी उल्लेख है कि वासुदेव धर्म के उपासक सात्वत थे।

महर्षिपतञ्जलि ने 'अृष्ण्यन्धकवृष्णि कुरुभ्यश्च ४-१-११४'

---

[3] Ibid No 669
[4] Ibid No 1112
[5] महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३४ [6] महाभारत शान्तिपर्व, अ० ३३६

सूत्र पर लिखा है कि वासुदेव और बालदेव शब्द वसुदेव व बलदेव के पुत्रार्थ में वृष्णि नामों से निकले हैं। महाभारत के उद्योग पर्व में संजय ने वासुदेव के केशव, मधुसूदन, विष्णु, सात्वत, पुण्डरीक, जनार्दन, नारायण आदि नाम बताए हैं। भीष्म पर्व के ६६ वें अध्याय के अन्त में भीष्म ने कहा है—"स एव शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः।" और इस वासुदेव की पूजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भक्तिभाव से करते हैं। द्वापर के अन्त और कलि के आदि में संकर्षण ने सात्वत पद्धति के अनुकूल उनका प्रचार किया[७]। विष्णुपुराण में यादवों व वृष्णियों की वंशावली अन्तर्गत आया है कि अंश के पुत्र का नाम सात्वत था, और उसी नाम पर सभी वंशज सात्वत कहलाए। भागवत में वासुदेव सात्वतर्षभ कहे गए हैं, सात्वतों का उल्लेख यदुकुल के अंधकों व वृष्णियों के बीच किया गया है और सात्वत परब्रह्म को भगवत और वासुदेव कहते मिलते हैं[८]। इनसे विदित होता है कि वृष्णिकुल का दूसरा नाम सात्वत था, वासुदेव और संकर्षण उसी कुल के थे और वासुदेव-पूजन उनका धर्म्म था। इस धर्म्म का उत्तरोत्तर विकास होता गया, वासुदेव परमेश्वर माने जाने लगे और उनकी भक्ति मुक्तिदायिनी समझी गई। मेगस्थनिज़ ने भी सात्वतों और वासुदेव कृष्ण

---

[७] महाभारत, भीष्मपर्व अ० ६६, श्लोक ३८ से ४१

[८] श्रीमद्भागवतपुराण १०-५८-४२ 'किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ"; १-१४-२५ "मधुभोजदशार्हार्हाः सात्वतान्धकवृष्णयः", ३-१-२९ "कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोजदाशार्हकानामधिपः स आस्ते"; ९-९-४९ "भगवान्वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः।"

की पूजा का उल्लेख किया है[९], वह चन्द्रगुप्त मौर्य के राजकाल में, यानि ईसा पूर्व ४ थी शताब्दी के अन्त में, यहाँ आया था। ऐसी दशा में वासुदेव-कृष्ण की प्रथा उस काल से भी पहले अवश्य ही शुरू हुई होगी।

यद्यपि वासुदेव व कृष्ण नाम अभिन्न ज्ञात पड़ते हैं और दोनों एक ही अर्थ के द्योतक समझे जाते हैं, तथापि इन दोनों की ख्याति के समय भिन्न २ हैं। आरम्भ में वासुदेव की ही पूजा थी, उसकी पूरी वृद्धि हो जाने पर भक्तों ने वासुदेव को कृष्ण नाम से भी स्मरण करना शुरू किया और आगे चल कर दोनों नाम एक हो गए। कृष्ण नामक एक वैदिक ऋषि भी थे जिनकी रचना ऋग्वेद में मिलती है। अनुक्रमणी में वह अंगिरस-वंशज आंगिरस कहे गए हैं और पाणिनि के सूत्र 'बाह्वादिभ्यश्च' और 'नडादिभ्यः फक्' से कृष्ण व राम गोत्र के नाम ज्ञात होते हैं, वे कृष्णायन और रामायण गोत्र ब्राह्मण गोत्र थे, किन्तु आश्वलायन श्रौत-सूत्र के अनुसार ब्राह्मण पुरोहितों के साथ क्षत्रिय-गोत्र भी होते थे[१०]। गाथा

---

[९] " the race of Satvatas developed a system of religion which took up the ideas of a supreme God and devotion to to Him as the mode of salvation These Satvatas and the worship of Vāsudeva Krsna seem clearly to be alluded to by Megasthenes, who was the Macedonian ambassador at the court of Chandragupta, the Maurya. Chandragupta reigned in the last quarter of the fourth century B. C" Sir R. G Bhandarkar Saivism and Vaisnavism. p 9

[१०] पाणिनी अष्टाध्यायीसूत्र ४-१-९६, ४-१-९९; आश्वलायन श्रौतसूत्र १२-१५

भाष्य के अनुसार भी कण्ह-कण्हायण गोत्र के नाम हैं। कृष्ण नाम छान्दोग्योपनिषद् में देवकी-पुत्र कहकर व्यवहृत है,वह घोर-आंगिरस के शिष्य थे[11]। इनसे प्रकट होता है कि कृष्ण वैदिक नाम था, जो पीछे परम्परागत वेदज्ञ नीतिमान् पुरुषों के लिये प्रयोग में लाया गया। सम्भवतः वासुदेव कृष्णायन गोत्र के के थे और उनकी पूजा परम भक्ति के साथ जारी हो जाने पर उपासकों ने कृष्ण की ख्याति व विद्वत्ता भी वासुदेव से सम्बद्ध की, तदुपरान्त वासुदेव कृष्ण नाम से ख्यातिमान् हुए और कृष्ण-सम्बन्ध की ख्यातियाँ वासुदेव नाम के साथ चलीं। महाभारत के सभापर्व में[12] कृष्ण के समादार का कारण बताते हुए भीष्म ने कृष्ण को वेद-वेदाङ्गों का ज्ञाता, ऋत्विज 'परश्च सर्वभूतेभ्य" आदि कहा है, यथा—

> "वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
> नृणां लोके हि कोऽन्योस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
> ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः।
> सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः॥
> कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
> कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
> एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैवं सनातनः।
> परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः॥"

---

[11] छान्दोग्योप० ३-१७-६ "तद्धै तद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापि पास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।"

[12] महाभारत-सभापर्व, अध्याय ३१, श्लोक १९, २२, २३, २४

वासुदेव-कृष्ण की उपासना वृद्धि करती गई और समय २ पर उसमें सुधार भी होते रहे। नारायणीय अध्याय में चार व्यूहों का उल्लेख है। ये उन चार धाराओं के संकेत हो सकते हैं जिनमें वासुदेव-धर्म्म का विकास होता रहा। चित्र-शिखण्डियों द्वारा प्रचार किए जाने का प्रसंग उसी अध्याय में है। ईसापूर्व पहली शताब्दी तक वासुदेव और संकर्षण के नाम मिलते हैं, किन्तु भागवद्धर्म के प्रसिद्ध शास्त्र भगवद्गीता में संकर्षण का नाम नहीं मिलता यद्यपि उस काल तक के धार्म्मिक सिद्धान्तों का उसमें सुन्दर समावेश है; गीता में वासुदेव की प्रशंसा अवश्य है, कृष्ण ने (७–१९) यहाँ तक कहा है--"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ।" नारायण और विष्णु की भी विशेषता के सूचक कथन गीता में नहीं मिलते, यद्यपि नारायण द्वारा शिक्षित एकान्त भाव या ऐकान्तिक धर्म्म पर प्रकाश डाला गया है। सम्भव है कि गीता-रचना के समय वासुदेव नाम कृष्ण नाम में मिल गया हो और सुधार तथा व्यूह सम्बन्धी भाव उस समय उल्लेख योग्य नहीं रहे हों।

वासुदेव के सम्मान से पहले नारायण की प्रधानता थी। धीरे २ वासुदेव और नारायण मिलते गए और काव्यकाल में वे एक हो गये। नारायण या विष्णु की नाभी पर स्थित कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति का आख्यान और वायुपुराण में अव्यक्त से पहले नारायण के होने का कथन है, इनका मूल ऋग्वेद की ऋचाओं में विद्यमान मिलता है[13]। शतपथ ब्राह्मण के एक

[13] महाभारत-शान्तिपर्व ३४७-७५ "अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः"; अ० ३५१-४ से ८; वनपर्व १२–३९

स्थल में नारायण को प्रजापति द्वारा यज्ञ करने के कथन के बाद नारायण के सर्वव्यापकत्व का उल्लेख किया गया है, दूसरी जगह लिखा है कि पुरुष नारायण ने पञ्चरात्र की कल्पना की और उसी यज्ञ से सबों पर आधिपत्य प्राप्त किया[१४]। तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण का वर्णन परमात्मा के विशेषणों के साथ है[१५]। पाणिनि के 'नडादिभ्य फक्' सूत्रानुसार नारायण शब्द 'नाडायन' के सदृश है और इसका अर्थ होता है—"नारों का आश्रयस्थान[१६]।" जनमेजय से भगवान कृष्ण ने कहा है—'नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातन—मैं ही एक सनातन नरों का अयन हूँ।" आगे 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वैनर-सनव." कहकर 'नर' का अर्थ 'विष्णु' किया है और 'जल' का विष्णु के साथ अपत्य सम्बन्ध दर्शाया है[१७]। वेदों में नृ या नर का अर्थ मानवरूप देवता का है, इसके अनुसार 'नारायण' का अर्थ होता है—'देवताओं का आश्रयस्थान मनु के अनुसार नारायण का सम्बन्ध नारा (नाला) या जलस्रोत से है,

---

[१४] शतपथ ब्रा० १२-३-४ "पुरुष ह नारायण प्रजापतिरुवाच। यजस्व यजस्वेति।", १३-६-१ "पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेय ह सर्वाणि भूतान्यहमेवेद ह सर्वं ह स्यामिति स एत पुरुष-मेधं पचरात्र यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत ••"

[१५] तैत्तिरीय आरण्यक १०-११

[१६] पाणिनि : अष्टाध्यायीसूत्र ४-१-९९, मनुस्मृति १-१० पर मेधा तिथि—भाष्य

मनुस्मृति १-१० 'अपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव.।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण स्मृत.॥"

[१७] महाभारत शान्तिपर्व, अ० ३५०-श्लो० ३९, ४०

अतः पानी में रहने के कारण ब्रह्मा और हरि का नाम नारायण है। पुरुषसूक्त के कर्ता ऋषि का नाम नारायण ही है।

नारायण का निवास-स्थान श्वेतद्वीप कहा गया है, वहीं पर नारद को वासुदेव-धर्म की शिक्षा मिली थी। कथासरित्सागर में मिलता है कि नरवाहनदत्त को देवसिद्धि श्वेतद्वीप में ले गया, वहाँ नारदादि भक्तों से परिवेष्टित हरि शेषनाग के ऊपर शयन कर रहे थे[१८]। इसी में यह भी लिखा है कि कुछ देवता श्वेतद्वीप को गए और हरि को रत्ननिर्मित भव्य भवन पर शयन करते देखा, लक्ष्मी पैर दबा रही थीं[१९]।

---

[१८] कथासरित्सागर : आदितस्तरङ्ग : ५४—"देवं पूजयितुं यामः श्वेतद्वीपे श्रियः पतिम्। १९", तदेह दर्शयामस्ते श्वेतद्वीपे हरिं प्रभुम्। २१", "गोमुखादीनवस्थाप्य श्वेतदीपं विहायसा। २३

तत्रावतीर्य गगनाद्दूरादेवोपसृत्य च।
पार्श्वस्थिताब्धितनयं पादान्तस्थवसुंधरम् ॥२४॥
शङ्खचक्रगदापद्मैः सेव्यमानं सविग्रहैः।
भक्त्योपगीयमानं च गन्धर्वनारदादिभिः ॥२५॥
प्रणम्यमानं देवैश्च सिद्धैर्विद्याधरैस्तथा।
अग्रोपविष्ट गरुडं शेषशय्यागतं हरिम् ॥२६॥"

[१९] कथासरित्सागर-आदितस्तरंगः ११५

"इति संमन्त्र्य स ब्रह्मा शक्रः सुरगुरुश्च सः।
हंसयानमुपारुह्य श्वेतद्वीपमुपागमन् ॥१०१
यत्र सर्वोजनः शंखचक्रपद्मगदाधरः।
चतुर्भुजश्च मूर्तौ च चित्ते च भगवन्मयः ॥१०२
तत्र ते ददृशुर्देवं महारत्न गृहान्तरे।
सेविताङ्घ्रि कमलया शेषशय्यागतंहरिम् ॥१०३"

हरिवंश (१४) में वर्णन है कि बलि-रचित स्तुति गान कर मोक्षार्थी योगी और कापिल-सांख्य श्वेतद्वीप को जाते हैं। वनपर्व में न्यग्रोध की शाखा पर विश्राम करता एक अद्भुत बालक ने अपना नाम नारायण इस कारण बतलाया है कि उसने पानी को पहले नारा कहा और वही उसका अयन हुआ; वहीं उसकी महिमा का भी वर्णन है[40]। नारायण धर्मपुत्र भी कहे गए हैं। वामनपुराण के छठे अध्याय में ऐसी कथा है, उसमें नारायण के पिता का नाम धर्म्म और माता का अहिंसा कहा गया है[41]। नर और नारायण के साथ २ रहने के भी उल्लेख हैं। वनपर्व में नारायण ने अर्जुन से कहा है—"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्"—तुम नर हो और मैं हरिनारायण हूँ, मैं तुमसे भिन्न नहीं

---

[40] महाभारत—वनपर्व, अ० १९२

"आपो नारा इति प्रोक्तास्तासां नाम कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत्त्वयनं सदा ॥३॥
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥४॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाह सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥५॥
अह शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥६"

[41] वामनपुराण ६-१, २

"बहुस्रुयो ब्राह्मणो योऽसौ धर्मो दिव्यवपु- सदा।
तस्य भार्यास्त्वहिंसा च तस्यामजनयत्सुतान् ॥
हरिं कृष्णं च देवर्षे नरनारायणौ तथा।"

हूँ [४२]। इसी पर्व के अध्याय ४० में शिव ने अर्जुन से कहा है—'पूर्व शरीर में तुम नर थे, अपने साथी नारायण के साथ बद्री में सहस्रों वर्ष तक तपस्या की [४३]।' उद्योगपर्व में कहा गया है—'वीर वासुदेव और अर्जुन प्राचीन देवता नर-नारायण हैं।' स्पष्ट है कि एवं प्रकार भिन्न २ आख्यानों द्वारा नारायण का स्वरूप वासुदेव को दिया गया [४४]।

नारायण का स्थान ग्रहण करने के अलावे धीरे २ वासुदेव ने वैदिक देवता विष्णु का भी स्थान ग्रहण किया। इस प्रवृत्ति का कारण था नारायण में ही विष्णु-स्वरूप का कुछ आभास विद्यमान रहना। संहिता-मंत्रों में विष्णु का प्रभुत्व इन्द्र और अग्नि के बाद होते भी सर्वव्यापक उरुगाय, विष्णु के त्रिपद का महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है, वहाँ

---

[४२] महाभारत—वनपर्व, अ० १२

"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥४७॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥४८॥"

[४३] महाभारत—वनपर्व, अ० ४०

"नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान्।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून् ॥१
त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ॥२॥"

[४४] महाभारत—उद्योगपर्व अ० ४९-१९

"वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥"

विष्णु इन्द्र के सहयोगी और परम पद के निवासी माने गए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु सर्वोच्च और अग्नि सर्व-निम्न देवता कथित हैं और शतपथ के भी एक आख्यान में विष्णु सर्वोच्च देवता कहे गए हैं, और इस कथन के पहले ही से विष्णु के वामन-रूप द्वारा उनको सर्वव्यापकता, शक्ति और देव-प्रियता का उल्लेख होता आ रहा था[२५]। मैत्री उपनिषद् में भोजन संसारपालक विष्णु का रूप कहा गया है और कठोपनिषद् ने जीवात्मा की यात्रा के अन्त को विष्णु का परम पद कहा है[२६]। गृह्यसूत्रों में विष्णु गृहकार्य्य के देवता माने गए हैं। भीष्मपर्व के अध्याय ६५ और ६६ में परमात्मा नारायण और विष्णु के नाम से पुकारे गए हैं और वासुदेव को उन्हीं का सादृश्य दिया गया है। आश्वमेधिक पर्व के अनुगीता भाग में जब उतंग ने कृष्ण से साधारण मनुष्यवत् व्यवहार किए और शाप देने लगा, कृष्ण ने उस ऋषि को अध्यात्मविद्या बतलाई और अपना विराट् वैष्णव रूप दर्शाया[२७]। इससे

---

[२५] ऐतरेय ब्राह्मण—"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदंतरेण सर्वा अन्या देवता ।"; शतपथ ब्रा० १४-१-१-१ "तद्विष्णुः प्रथमः प्राप। स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति ।"; १-२-५ "देवाश्च वाऽअसुराश्च ।··· तद्वै देवाः शुश्रुवु । विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ।......वामनो ह विष्णुरास ।"

[२६] कठोप० ३–९ "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।"

[२७] - - - - ५०

मालूम होता है कि अनुगीता-काल तक गीता के वासुदेव-कृष्ण को विष्णु का सादृश्य प्रदान किया जा चुका था। इन उल्लेखों से विदित होता है कि भागवद्धर्म्म वासुदेव-कृष्ण, नारायण और विष्णु की पूजाओं की तीन धारणाओं में विकसित हुआ, पर धीरे २ तीनों धाराएँ एक होती गईं और अन्त में पौराणिक वैष्णव धर्म्म के भीतर उन्हें एकरूप कर देने की चेष्टाएँ की गईं। वैष्णव धर्म्म समुन्नत होता गया, शनैः २ कृष्णोपासना प्रबल होने लगी; अन्त में विष्णु, नारायण व वासुदेव की विभूतियाँ केवल गोपाल कृष्ण में ही निहित करने के यत्न वैष्णवों ने किए।

इन चेष्टाओं से ईश्वरत्व की स्थापना जिस कृष्ण में की गई वह आरम्भ में एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिनकी वीरता का वर्णन महाभारत में मिलता है और जिनके ज्ञान का श्रीमद्भागवद्गीता में। उस यश से आकर्षित हो नारायण व हरि के भक्तों ने कृष्ण की भक्ति का आरम्भ किया। कृष्ण का जन्म वृष्णिकुल में हुआ था। वृष्णिकुल का निश्चयात्मक शृंखलाबद्ध इतिहास दुर्लभ होते भी पुराणों से उस कुल की कतिपय बातें मालूम होती हैं, उन्हीं के आश्रय पर पार्जिटर महोदय ने निम्नांकित कृष्णकुल-सारिणी भी तैयार की है:—

"स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम्।
सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत्पावकोपमम्॥
सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम्॥५
तद्दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम्।
विस्मयं च ययौ विप्रस्तं दृष्ट्वा परमेश्वरम्॥६"

सात्वत
भजिन्
भजमान
देवावृद्ध
अंधक
महाभोज
वृष्णि
गांधारी × माद्री
कुकुर
भजमान
वृष्णि(धृष्णु)
सुमित्र वा अनमित्र
युधाजित
देवमीढुष्
अनमित्र
शिनि ?
कपोतरोमन
निघ्न
पृश्णि
सूर
शिनि
विलोमन
प्रसेन
सत्राजित
श्वफल्क
चित्रक
वसुदेव
अन्यपुत्र
सत्यक
नल
भंगकार
अक्रूर
पृथु आदि
युयुधान
अभिजित
असग
सभाक्ष
देववन्त
व
उपदेव
बलराम
कृष्ण
युगन्धर
पुनर्वसु
आहुक
देवक
उग्रसेन
कंस आदि
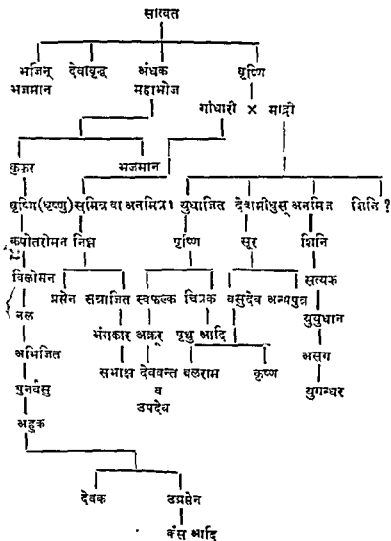
कृष्ण में विष्णु गुणों की स्थापना करते हुए विष्णु की उरुक्रमता का कृष्ण-चरित्र में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। महाभारत, श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता में कृष्ण द्वारा विश्व स्वरूप परिदर्शन का यही लक्ष्य प्रतीत होता है, इसी हेतु कृष्ण से ऐसा एक बार नहीं चार चार बार कराया गया। महाभारत के समय तक कृष्ण को विष्णु का महत्व पूर्णत प्रदान किया जा चुका था, क्योंकि अर्जुन ने कृष्ण की महिमा मे इस स्पष्टत व्यक्त किया है—"त्व विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभु।" आगे उनने कृष्ण को वैदिक उरुगाय त्रिपदस्थ विष्णु का रूप भी प्रदान किया है[८८] —

"शिशुर्भूत्वा दिव ख च पृथिवीं च परतप।
त्रिभिर्विक्रमणै कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा॥"

कालक्रम में नारायण, हरि, वासुदेव जनार्दन आदि नाम की पूजा जाती रही, विशेषता रही कृष्ण नाम की, वह भी गोपाल-गोविन्द गिरिधारी-नटवर आदि नामों से विख्यात गोपाल कृष्ण की। आज भी कृष्ण भक्त गोपाल कृष्ण की ही लीला गाते, गोपाल कृष्ण के नाम का कीर्तन करते और गोपाल कृष्ण की भक्ति करते हैं। गोपाल कृष्ण की आधुनिक भावनाओं के विवरण हरिवंश, भागवतपुराण विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और वायुपुराण में मिलते हैं। इनमें पापात्मा कंस के संहार, असुरों के नाश और गोवंश की रक्षा के निमित्त कृष्णावतार की आवश्यकता और कृष्ण की बाल लीलाओं के वर्णन हैं। पर ऐसा उल्लेख किसी प्राचीन शिलालेख, नारायणीय भाग या अन्य किसी पुराने ग्रन्थ में नहीं मिलता। महाभारत के सभापर्व में शिशुपाल ने कृष्ण के

[८८] महाभारत वनपर्व अ० १२, श्लो० २६, २७

शौर्य आदि का हवाला दिया है, किन्तु भीष्म ने जहाँ कृष्ण-
गुण-गान किया है वहां पुतना आदि के हनन का उल्लेख नहीं
। इस कारण विद्वान् शिशुपाल-कथनवाले भाग को प्रक्षिप्त
नते हैं, और वास्तव में महाभारत के उत्तरी और दक्षिणी
स्करणों में अनेक ऐसे अन्तर हैं जो महाभारत में क्षेपक का
ना प्रमाणित करते हैं, तो भी हरिवंश व भागवतपुराण के
मय तक गोपाल कृष्ण की उपासना का प्रचार हो जाना
न लेने में कोई शंका नहीं की जा सकती। तब देखना होगा
: गोपाल और गोविन्द नाम कृष्ण के लिए कैसे आए।
ता और महाभारत मे गोविन्द नाम आया है। पाणिनि
"अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द-धारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहि-
श्च ३-१-१३८" सूत्र के वार्तिक में भी गोविन्द शब्द की
युत्पत्ति है, पर उससे गोरक्षा-भार का कोई सम्बन्ध
हीं। पुनः महाभारत के आदिपर्व मे गोविन्द की व्यु-
त्ति जल के भीतर से गो नामक पृथ्वी को वराह रूप धर
हर लाने के भाव से बताई गई है, शांतिपर्व में भग-
ान कृष्ण ने स्वयं कहा है—"मैंने पूर्व में खोई हुई पृथ्वी
ो पाताल से बाहर लाया इस कारण देवता मुझे गोविन्द
हते हैं [१]।" इनके अलावे गोविन्द शब्द का कोई सम्बन्ध
ोरक्षा से कहीं नहीं दर्शाया गया है, न गोपाल शब्द की
युत्पत्ति या व्याख्या उस ढंग की मिलती है जिस ढंग का
ोपाल-चरित्र हरिवंश में पाया जाता है।

[१] महाभा०—आदि प०, अ० २१

"गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥१२"

शान्ति प०—अ० ३५२ "नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुत ॥५"

ने यथार्थतः कहा है कि भक्ति भरी स्तुतियों पर ईसाई मत की कोई छाप नहीं और भारतीय एकेश्वरवाद भी पुराना है[32]। भक्ति-भावना की प्राचीनतम मूलकता को डाक्टर सील ने भी स्वीकार किया है और भक्तिमार्ग का जन्म वैदिक ऋचाओं और आरण्यक व उपनिषदों के उपासनाकाण्ड से बतलाया है; और प्रत्येक धर्म्म में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम व भय का होना मानवस्वभावानुकूल होने के कारण भारतीय धार्मिक विचारों में भी इनकी विद्यमानता सर्वथा स्वाभाविक ही है[33]।

वास्तव में बाल कृष्ण की लीलाओं में विष्णु के गुण निहित हैं और इस कारण उनके पूर्वतनु वैदिक ऋचाओं से उत्पन्न है। शृंगार व केलि के वैसे विवरण वैदिक साहित्य में कहीं नहीं हैं और यह अवश्य ही बाद की उपज है जिसका तत्कालीन बौद्ध-समाज में भिक्षुणियों के जीवन से गहरा सम्बन्ध है। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए 'गोविंद' और 'केशिनिसूदन' शब्द प्रयुक्त हैं, ये शब्द कृष्ण के लिए भी व्यवहृत हुए जब वह विष्णु के अवतार माने गए। इसका कारण था विष्णु का इन्द्र का साथी व सहकारी होना[34]। कृष्ण केलि-वर्णन में कृष्ण के कौमार्य का चित्रण है, ऋग्वेद

---

[32] Hopkins The Religions of India, p 432

[33] F R Flint Theism, p 2 "There can be no religion where feeling and affection are not added to knowledge There can be no religion in any mind devoid of reverence or love, hope or fear, gratitude or desire in any mind whose thinking is untouched, uncoloured, uninspired by some pious emotion"

[34] ऋग्वेद ६-६९-५, ८ "उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।"

में भी विष्णु को 'युवाकुमारः' नाम दिया गया है[२५]। कृष्ण का अभिन्न सम्बन्ध गौ व ग्वालवालों से वर्णित है, ऐसा ही स्वभाव विष्णु का भी वैदिक साहित्य में मिलता है, ऋग्वेद में विष्णु के लिए 'गोप' व 'गोपा' के अलावे 'गोपति' शब्द का व्यवहार अनेक बार किया गया है और विष्णु के परम पद में अनेक गौवों के भी रहने का वर्णन है, संहिता मन्त्रों में व्रज शब्द भी आया है और तैत्तीरिय आरण्यक के एक स्थल में गोप विष्णु का कृष्ण सा वर्णन भी है[२६]। सात्वतों व वृष्णियों के देवता होने के कारण भी तैत्तीरिय संहिता में 'गोवाल कार्ष्ण' का उल्लेख है, और 'वृष्ण' शब्द संहिता में भी विष्णु की स्तुति में आया है[२७]। कृष्ण के गोर्द्धनगिरि-धारण और व्रज-सम्बन्ध के सदृश वर्णन विष्णु के भी संहिता ऋचाओं में पाए जाते हैं, एक ऋचा इस सम्बन्ध में विष्णु के लिए 'कुचरो गिरिष्ठा' का प्रयोग करती है और दूसरी

---

[२५] ऋग्वेद १-१५५-६ 'बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमार प्रत्येत्याहव।'

[२६] ऋग्वेद १० ६१-१०, १-१०१-४ "यो अश्वानां यो गवां गोपति", ४-२४ १ "स गोपतिर्निष्पिधा नो जनास", अथर्ववेद ३-१४-६ "मया गावो गोपतिना सचध्वम्", ऋग्वेद ३-१०-२ 'गोपा ऋतस्य" १-१६४-२१ "इना विश्वस्य भुवनस्य गोपा"

तैत्तीरिय आरण्यक १०-१-६ ऋग्वेद १-१५४-६ "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।" ऋग्वेद १०-९७-१० "अति स्तेन इव व्रजमक्रमु", ८-६-२५ "अभिव्रज नतनिषे

१०-१०१-८ "व्रज कृणुध्व स हि वो नृपाण", वाजसनेयी सं० १२-२५ "व्रज गच्छ गोष्ठानम्', शतपथ ब्राह्म० १४-९-१-२२

[२७] तैत्तीरिय संहिता २-११-८-३, ऋग्वेद १-१५४-६ "अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण"

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों की राय है कि गोपाल कृष्ण की भावना ईसाई मत से ली गई है और उनने इसे सिद्ध करने की कड़ी चेष्टा की है, इस ओर उनके यत्न वर्षों तक जारी रहे हैं। किन्तु यह मानते हुए भी कि कृष्ण के बाल-काल की कई घटनाएँ ईसा की जीवन-घटनाओं से सादृश्य रखती हैं, यह नहीं माना जा सकता कि कृष्ण-भक्ति का भाव ईसाई मत से ग्रहण किया गया है और गोपाल-कृष्ण की बाल लीला क्राइस्ट की जीवनी से परिचित चतुर ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत की गई है, क्योंकि इस निष्कर्ष का कोई भी मान्य प्रमाण नहीं। कृष्णोपासना पर क्रिस्तानी प्रभाव के समर्थक विद्वानों की दलीलें हैं कि पहले के ग्रन्थों में गोपाल कृष्ण का वर्णन नहीं है, महाभारत में श्वेतद्वीप का प्रसंग आया है, कृष्ण-बचपन की कहानियाँ क्राइस्ट की जीवन-गाथाओं से मिलती हैं, श्रद्धा-भक्ति द्वारा भक्ति भरी उपासना की प्रणाली भारत में पहले नहीं थी, और उत्तर भारत में स्थित क्रिस्तानों तथा भारतागत नेस्टोरियन पादरियों द्वारा क्राइस्ट के बचपन की कथा भारतीयों को मालूम होने पर गोपाल कृष्ण की कहानी गढ़ी गई। परन्तु ये दलीलें जाँच में सर्वथा लचर ठहरती हैं। गोविंद और गोपाल शब्द वैदिक शब्द हैं. उनसे ही गोविन्द-गोपाल के भाव विकसित हुए। श्वेत शब्द का प्रयोग श्वेतद्वीप के ही साथ न होकर श्वेतकेतु तथा श्वेतकी शब्दों में भी है और श्वेतद्वीप का वर्णन इँगलैण्ड के भौगोलिक विवरण से भी मेल नहीं खाता। श्वेतद्वीप क्षीरसागर के उत्तर और मेरु पर्वत के उत्तर-पश्चिम कहा गया है, उसके निवासियों का भी वर्णन विद्यमान है; उन पर विचारने से पश्चिमी लेखकों की रायें भ्रान्तिमूलक सिद्ध होती हैं।

कृष्ण व क्राइस्ट के बचपन की बातों में सादृश्य होने के कारण दोनों का चरित्र एक दूसरे पर अवलम्बित माना जा सकता है, यदि समानता के आकस्मिक होने के प्रतिकूल ही प्रमाण हों। फिर कृष्ण की बाललीला का वर्णन सर्वथा भारतीय है, इसमें संदेह को कोई जगह नहीं। रामायण में मातुरंकगतः' राम का वर्णन है और रामनवमी की छाया कृष्णजन्माष्टमी पर पड़ी प्रतीत होती है जिसे वेबर ने भी स्वीकार किया है। कृष्णचरित में देवकीका स्थान प्रधान है, यह नाम कृष्णलीला के वर्णन के अलावे छांदोग्य में भी आया है और बौद्धग्रन्थ घटजातक में देवकी का रूप देवगभ्भा मिलता है, लिखा है कि वह देवगभ्भा कंस की बहन थी और उससे वासुदेव व उनके भाई पैदा हुए। उसमें ऐसा भी उल्लेख है कि वासुदेव व उनके भाई देवगभ्भा दास अन्धकवेण्हु को दे दिएगए थे, अन्धकवेण्हु की स्त्री का नाम था नन्दगोपा [30]। अन्धकवेण्हु शब्द में 'अन्धक' व 'वृष्णि' तथा नन्दगोपा में 'नन्द' व 'गोपा' (यशोदा) पद समासित ज्ञात पड़ते हैं। यह निस्सन्देह प्रसिद्ध कृष्ण की ही कथा है और यह ईसापूर्व की रचना है। नेस्टोरियन पादरियों द्वारा लगभग ६३६ ई० में क्राइस्ट को बाल-कथा का भारत में आने और उसके अनुकरण पर कृष्णलीला के रचे जाने का सिद्धान्त नितान्त लचर है, इसका खण्डन डाक्टर कीथ ने भी किया है [31]। इसी प्रकार श्रद्धाभक्ति के भाव के भारत में किस्तानों की भावना से प्रवाहित होने की धारणा भी कोरी कल्पना है, श्रद्धाभक्ति भारत का सनातन भाव है जिस पर दृष्टि रखते हापकिन्स महोदय

30. Sir R. G Bhandarkar, Vaisnavism and Saivism, P 38
31. Dr Keith J. R A S 1915 ...

ने यथार्थतः कहा है कि भक्ति-भरी स्तुतियों पर ईसाई मत की कोई छाप नहीं और भारतीय एकेश्वरवाद भी पुराना है[३२]। भक्ति-भावना की प्राचीनतम मूलकता को डाक्टर सील ने भी स्वीकार किया है और भक्तिमार्ग का जन्म वैदिक ऋचाओं और आरण्यक व उपनिषदों के उपासनाकाण्ड से बतलाया है; और प्रत्येक धर्म में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम व भय का होना मानवस्वभावानुकूल होने के कारण भारतीय धार्मिक विचारों में भी इनकी विद्यमानता सर्वथा स्वाभाविक ही है[३३]।

वास्तव मे बाल कृष्ण की लीलाओं में विष्णु के गुण निहित हैं और इस कारण उनके पूर्वतन वैदिक ऋचाओं से उत्पन्न है। शृंगार व केलि के वैसे विवरण वैदिक साहित्य में कहीं नहीं हैं और यह अवश्य ही बाद की उपज है जिसका तत्कालीन बौद्ध-समाज में भिक्षुणियों के जीवन से गहरा सम्बन्ध है। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए 'गोविंद' और 'केशिनिसूदन' शब्द प्रयुक्त हैं, ये शब्द कृष्ण के लिए भी व्यवहृत हुए जब वह विष्णु के अवतार माने गए। इसका कारण था विष्णु का इन्द्र का साथी व सहकारी होना[३४]। कृष्ण-केलि-वर्णन में कृष्ण के कौमार्य का चित्रण है, ऋग्वेद

---

३२. Hopkins The Religions of India, p 432

३३. F R Flint Theism, p 2 "There can be no religion where feeling and affection are not added to knowledge There can be no religion in any mind devoid of reverence or love, hope or fear, gratitude or desire in any mind whose thinking is untouched, uncoloured, uninspired by some pious emotion."

३४. ऋग्वेद ६-६९-५, ८ "उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।"

में भी विष्णु को युवाकुमारः' नाम दिया गया है[२५]। कृष्ण का अभिन्न सम्बन्ध गौ व ग्वालबालों से वर्णित है, ऐसा ही स्वभाव विष्णु का भी वैदिक साहित्य में मिलता है, ऋग्वेद में विष्णु के लिए 'गोप' व 'गोपा' के अलावे 'गोपति' शब्द का व्यवहार अनेक बार किया गया है और विष्णु के परम पद में अनेक गौओं के भी रहने का वर्णन है, संहिता मन्त्रों में व्रज शब्द भी आया है और तैत्तीरिय आरण्यक के एक स्थल में गोप विष्णु का कृष्ण सा वर्णन भी है[२७]। सात्वतों व वृष्णियों के देवता होने के कारण भी तैत्तीरिय संहिता में 'गोबाल कार्ष्ण' का उल्लेख है, और 'वृष्ण' शब्द संहिता में भी विष्णु की स्तुति में आया है[२८]। कृष्ण के गोवर्द्धनगिरि-धारण और व्रज-सम्बन्ध के सदृश वर्णन विष्णु के भी संहिता ऋचाओं में पाए जाते हैं, एक ऋचा इस सम्बन्ध में विष्णु के लिए 'कुचरो गिरिष्ठा' का प्रयोग करती है और दूसरी

---

[२५] ऋग्वेद १-१५५-६ 'बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमार प्रत्येत्याहव ।'

[२६] ऋग्वेद १० ६१-१०, १-१०१-४ "यो अश्वानां यो गवां गोपति", ४-२४ १ "स गोपतिर्नि ष्षिधां नो जनास", अथर्ववेद ३-१४-६ "मया गावो गोपतिना सचध्वम्", ऋग्वेद ३-१०-२ 'गोपा ऋतस्य" १ १६४-२१ "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा"

तैत्तीरिय आरण्यक १०-१-६ ऋग्वेद १-१५४-६ "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।' ऋग्वेद १०-९७-१० "अति स्तेन इव व्रजमक्रमु", ८-६-२५ "अभिव्रज नततिषे

१०-१०१-८ "व्रज कृणुध्व स हि वो नृपाण", वाजसनेयी स० १२-२५ "व्रज गच्छ गोष्ठानम्", शतपथ ब्राह्म० १४-९-१-२२

[२७] तैत्तीरिय संहिता २-११-८-३, ऋग्वेद १-१५४-६ "अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण"

ऋचा है—"दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते।"[२८] कृष्ण का विष्णु के सौर चिह्न चक्र गरुड़ मणि-मालासे समन्वित होना सर्वविदित है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि कृष्ण का सम्बन्ध सूर्य से भी रक्खा गया, क्योंकि पुरातन काल से विष्णु का सम्बन्ध अदिति, मार्त्तण्ड, भग, व सूर्य से चला आ रहा था, मार्त्तण्ड के प्रति यह भी उपाख्यान है कि वह अदिति के आठवें पुत्र थे और पैदा होने पर अपनी माता द्वारा त्याग दिए गए थे, यह कथा देवकी द्वारा कृष्ण के त्यागे जाने की कथा से पूरा सादृश्य रखती है[२९]। बौद्धायन धर्म्मसूत्र में 'दामोदर' और 'गोविन्द' शब्द व्यवहृत हैं और ईसापूर्व २री शताब्दी के पातञ्जल महाभाष्य में कंस-कृष्ण की शत्रुता का हवाला है[४०]। बचपन में कृष्ण

[२८] ऋग्वेद १-१५४-२; १-१५६-४

[२९] ऋग्वेद ९-५५-४, ५, अथर्ववेद ५-२१-७, शतपथ ब्राह्मण १-२-४-1, १०, पञ्चविंश ब्राह्मण ७-५-६, ऋग्वेद 1-२1-१५४ अथर्ववेद ११-६-२ ऋग्वेद १०-७२-८ "अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये-जातास्तन्व १ स्परि देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥"

[40] Indian Antiquary 1918, p 84 K P. Jayaswal—"I take this opportunity of pointing out that the identification of the Trivikrama—Vamana Vishnu with Vāsudeva was complete before the *Baudhāyana dharma Sūtras* (see II 5 9 10) Also before the *Baudhāyana-dharma Sūtras* child Krishna(Dāmodara)and the Cowherd Krishn (Gvinda) were known deities (ibid) This disposes off the view held by Indian and European scholars that the Krishna worship-

द्वारा अघासुर-वकासुर आदि अनेक आततायी असुरों के हनन किए जाने की कथाएँ मिलती हैं, इनसे विष्णु-कृष्ण के सादृश्य की धारणा और भी दृढ़ होती है क्योंकि देवासुर-संग्राम के अनेक विवरण वैदिक साहित्य में हैं और ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र के साथ विष्णु द्वारा असुर-हनन का भी कथन है[११]। बौद्धग्रन्थ विनयपिटक में बुद्ध के भी नदी पार करने की कथा है और 'ललितविस्तर' के ११वें अध्याय की श्लोक-पंक्ति "कामोऽङ्काधिपतिश्च वा प्रतिक्नी रुद्रस्य कृष्णस्य वा" में कृष्ण नाम का कथन है। ये सिद्ध करते हैं कि गोपाल का बालचरित इन्हीं सारी बातों पर स्वतत्ररूप में उपन्यस्त हुआ और कालक्रम के अनुकूल उनकी भक्ति धीरे २ प्राचीन भारतीय धारणाओं के मूल पर पल्लवित होती गई।

पातञ्जल योगसूत्रों में मोक्षार्थ योगप्राप्ति के लिये प्रभु की दृढ भक्ति का संकेत है। डाक्टर कीथ का कहना है कि भक्ति-भावना भारत में वैदिक वरुणदेव की प्रार्थनाओं से विकसित हुई और डाक्टर मैक्निम कोल ने भी ऐसी ही राय प्रकट की है। अतः निर्विवाद है कि श्रद्धा व भक्ति द्वारा पूजा की धारणा भी भारतीय है और बहुत प्राचीन है, क्योंकि छांदोग्योपनिषद् में मिलता है—[१२]"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा .."

---

in the child-form is post-Christ The accepted date of the *Baudhāyana*-dharma-Sūtras is 'before 400 B C'

[११] ऋग्वेद, ७–९९–५ "इन्द्राविष्णू दृंहिता· शंबरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टं। शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥"

[१२] छान्दोग्योप० १–१–१०, ७–१९–१

और "यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति"; महाभाष्य में भी 'श्रद्धामेधे' व 'श्रद्धातपसो' शब्द आए हैं। निष्कर्ष कि आरम्भ में विष्णु व वरुण की वैदिक स्तुतियों से कृष्ण में ईश्वरत्व स्थापित किया गया और भक्तों ने उनके चरित्र को शृंगारपूर्ण काव्य में मनोरञ्जक रच वैष्णव धर्म को जनप्रिय बनाने का यत्न किया, इसी चेष्टा में नारायण और वासुदेव का एकीकरण भी कृष्ण में किया गया। इस विकास में ईसाई मत ने कोई सहायता नहीं पहुँचाई, गोपाल कृष्ण की कथा भारतीय ईश्वरवाद - स्रोत में स्वतः तरंगित हुई, जिसका समर्थन वर्द्धमान महावीर की जन्म कथा में विद्यमान कृष्णोपासना-प्रभाव से भी होता है[43]। भंडारकर महोदय ने आभीरों द्वारा क्राइस्ट-कथा के प्रचार की जो कल्पना की है वह भी इस तरह निर्मूल सिद्ध होती है[44]। वस्तुतः इसमें कोई विशेषता भी नहीं, क्योंकि आभीर या

---

43. Dr. Keith J. R A S. 1915, pp 842-43 'But beyond this, officially disapproved, tendency to Hinduism, the faith itself deeply permeated with Hindu influences, and especially with influences of Krsna worship"

44. Dr. Keith J R. A S 1915 p 840 "Nor is there any more satisfactory proof for sir R Bhandarkar's theory of the wandering Ābhiras, who brought the legend of the Christ-child to India in the early period after the Christian era, than for Mr. Kennedy's theory of Gujars who introduced the same legend about 500 A D from Central Asia, which Garbe has disproved"

अहीर पहाड़ी प्रदेशों में आज भी गाय-भैंसों के साथ अपने घरों से दूर दूसरी जगहों में बथानों पर जाया करते हैं, तोभी उनके निश्चित घर होते हैं। आभीरों का बाहर से आकर बसने और क्राइस्ट के बालचरित को फैलाने की बात तब सम्भव होती जब उसका कोई यथेष्ट प्रमाण होता; पर है नहीं। अहीर गोपाल और ग्वाल भी कहलाते हैं, गोचारण व गोसेवा उनका प्रिय व्यवसाय है। २री शताब्दी के लगभग मथुरा के पास उनकी जमायत थी, बहुत सम्भव है कि गौ को अपनी प्रधान सम्पत्ति समझने के कारण उनमें बालकृष्ण के गोपाल-रूप को विशेष मान दिया गया हो। छोटा नागपुर के अहीर-ग्वालों में आज तक 'वीर कुँवर' की पूजा होती है और उस समय गाय-भैंस सभी एकत्रित-कर सम्मानित की जाती हैं, इसी तरह गोधन-व्रत भी गोमहत्व से ही सम्बन्ध रखता है। वीर कुँवर वस्तुतः 'वीर कुमार' का ठेठ रूप है।

गोपाल कृष्ण के बाल कृत्यों में कालिय नाग के नाथने की एक प्रसिद्ध कथा है। उससे कृष्ण का सम्बन्ध नाग से स्थापित करने की चेष्टा के अलावे यह भी प्रकट होता है कि नाग पर कृष्ण का प्राबल्य प्रचलित किया गया। इसमें कोई विशेष उद्देश्य जान पड़ता है। भारत में नाग-पूजा की भी प्राचीनता है। नाग जल के देवता माने गए हैं, जिसका कारण रुद्र के साथ सर्पों के संयोग का विचार-प्राधान्य सम्भव है। वर्षाकाल में भारत में सर्प निकला करते हैं, और पितृपक्ष का भी ऐसा समय है जब कई तरह के विषैले सर्प दिखाई पड़ने लगते हैं, इसीसे पितृसे भी नागों का सम्बन्ध है। विष्णु भगवान के सम्बन्ध में उनके नाग कुण्डल पर फन-छत्र के नीचे शयन करने की कल्पना है और नाग-मदन भी जल में ही किया गया

है, यह नाग व नारा के सम्बन्धानुकूल विदित होता है और नाग-मर्दन का भाव सम्भवतः शैवमत पर कृष्णभक्ति की उन्नता प्रदर्शित करना है, क्योंकि सर्पधारी भूतनाथ की पूजा से दीर्घकाल तक विष्णु-भक्ति को प्रतियोगिता करनी पड़ी थी। इसी प्रकार सर्प का सम्बन्ध महावीर तथा बुद्ध की जीवन-घटनाओं से भी है। अतः नाग का उपाख्यान कुछ विशेष विचारों के साथ कृष्ण-चरित्र में रक्खा गया विदित होता है।

पञ्चरात्र-पद्धति के अनुकूल उपासना पाँच प्रकार की है— (१) अभिगमन, देवतास्थान का लेपन बुहारनादि; (२) उपादान, गन्धपुष्पादि पूजासाधनका सम्पादन; (३) इज्या, देवतापूजन; (४) स्वाध्याय, अर्थानुसन्धान-पूर्वक मन्त्रजाप स्तोत्रपाठ नाम संकीर्तनादि के लिए शास्त्राभ्यास; और (५) योग, देवतानुसंधान। इनके साथ समुचित उपासना से दृश्यमान जगत का दर्शन नष्ट हो जाता है और परम कारुणिक भक्तवत्सल अपने भक्त को स्वयथात्म्यगुण का प्रदान कर पुनरावृत्ति-रहित स्वपद को ले जाते हैं, यथा—

"स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम्।
पुरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छन्ति ॥

ऐसी भक्ति के लिए विवेक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष की जरूरत भक्ति गुरुओं ने बतलाई है। वस्तुतः ये विस्तार-रूप से विवेक, ज्ञान, कर्म और उपासना के ही भिन्न नाम हैं तथा वेद-ब्राह्मण-वेदान्त के सिद्धान्तों से समानता रखते हैं। विचार संकीर्णता यह अनुभव नहीं होने देती कि सच्ची भक्ति भी आत्मा के प्रति प्राचीन आर्य-सिद्धान्त-सूत्र में ही गुम्फित है।

भागवतपुराण में[४५] कथन है कि कलिकाल में नारायण के भक्त देश में फैल मिलेंगे और अधिकांश में वे द्रविड़ देश में ताम्रपर्णी कावेरी आदि पुण्यतोया नदियों का जल पी पवित्र हृदय से वासुदेव-भक्ति में लीन होंगे। इससे यह अवश्य बोध होता है कि उस समय वैष्णवधर्म दक्षिण में फैल गया था और वह भविष्य-कथनरूप में भागवतपुराण में में लेखबद्ध किया गया। तामिल में कुछ ऐसे वैष्णवभक्तों की कृतियाँ मिलती हैं, जिनने तामिल भाषा में विष्णु व नारायण का गुणगान कर भक्तिसुधा का स्रोत प्रवाहित किया। उनके ग्रन्थ तामिलवेद कहे जाते हैं और उनके रचयिता आल्वार; आल्वारों ने लगभग ५वीं-६ठी शताब्दी ईसाब्द में वैष्णव-धर्म्म का प्रचार किया[४६]। ये विष्णु या नारायण के भक्त थे और प्रेम व भक्ति के उद्रेक में प्राचीन स्तुतियों के सदृश मधुर संगीत द्वारा अपने इष्टदेव का यशोगान किया करते थे। तामिल भक्तों का दूसरा दल

---

[४५] स्कं० ११-अ० ५—"क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥ ३९
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४०"

[४६] "The earliest Ālvars may be placed before, al the fifth or sixth centur[illegible]
Vaisnavism had not [illegible]
earlier, i. e. about the [illegible]
Vaisnavism and Saivism, p. 50.

आचार्यों का था, वे आचार्य्य भ्रमण कर शास्त्रार्थ व वाद-विवाद द्वारा अपने मतों की स्थापना किया करते थे। उनमें रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क और विष्णुस्वामी विशेष ख्यातिवाले हुए। नाथमुनि प्रथम आचार्य्य थे, बाद यामुन मुनि हुए, फिर रामानुजजी। रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म-प्रचार में भारी सहायता पहुँचाई।

श्रीरामानुजाचार्य (१०१६-११३६ ई०) शुरू में यादव-प्रकाश नामक एक अद्वैतवादी दार्शनिक के शिष्य थे, पर अद्वैत-वाद प्रिय नहीं होने के कारण वह आलवारों के प्रबन्ध-पाठ की ओर दत्तचित्त हुए और बाद में यामुनमुनि का उत्तरा-धिकारी होकर उनने आजीवन वैष्णवमत का पालन किया। अधिकांश लोगों का मायावाद में अविश्वास और शंकराचार्य के अद्वैतवाद में अरुचि रखते देख उनने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के आधार पर वेदान्त में ईश्वर-प्रेम व भक्ति का समावेश करना जरूरी समझा। पुराण और सांख्य के मतों की भी सहायता ले वह मायावाद को दूर करने में यत्नवान् हुए। उनने श्वेताश्वतर के अनुकूल चित्, अचित् और ईश्वर नामक तीन पदार्थों को चुना और ईश्वर के अन्तर्यामित्व को प्रधान रक्खा, चित् अचित् उसी अन्तर्यामी ईश्वर की विभू-तियाँ मानी गई[५३]। बतलाया गया कि ईश्वर ब्रह्म रूप में रह चित् और अचित् द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है, तोभी वह सर्वदा निरंजन और निर्दोष है। वह सर्वव्यापक है, सर्वानन्द है, पूर्ण ज्ञानी है, सर्वशक्तिमान् है, विश्वपालक है, संसार-

[५३] श्वेताश्वतरोप० १-१२

"एतज्ज्ञेयं नित्यमेवाऽऽत्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥"

संहारक है और जिज्ञासुओं के लिए वही शेष है, क्योंकि अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति उसी से होती है। वह अपने को व्युह, विभव, अंतर्यामित्व और मूर्त्तियों के रूप में अवतीर्ण करता है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, चेतन, अदृश्य, निरन्तर, और ईश्वरांश, पर ईश्वराश्रित है। वैसा आत्मा भक्ति द्वारा परमात्मा ईश्वर को पाकर ही सच्चा सुख अनुभव करता है।

भगवद्भक्ति को बहुत ऊँचे दर्जे की बनाने के हेतु रामानुज ने ज्ञान और कर्म दोनों के सिद्धान्तों का सहारा लिया और पुरानी पञ्चरात्र-पद्धति की वासुदेव-पूजा से नारायण तथा विष्णु सम्बन्धी धारणाओं का संयोग किया। अपनी शिक्षाओं में उनने न राधा के नाम-जाप का उल्लेख किया न ग्वालबाल-संगी गोपाल-कृष्ण की लीलाओं का। रामावतार की आदर्श समाज-सेवा का भी उपदेश उनने नहीं दिया। नारायण के साथ उनने लक्ष्मी की स्त्री-शक्ति के पूजन की भी शिक्षा नहीं दी, किंतु नारायण की प्रियाओं का उल्लेख किया जो सम्भवतः रूपक-रूप में था। रामानुज के अनुयायियों के दल का नाम श्री-सम्प्रदाय पड़ा। इस सम्प्रदाय की भक्ति उपासना व ध्यान पर अवलम्बित थी, शृंगारपूर्ण भजनादिक पर नहीं; लेकिन शंखध्वनि, चरणामृत, एकादशीव्रत तुलसी-पत्र-ग्रहण, ईश्वर-भक्त-सेवा और मंत्रोच्चारण पूजा-विधियों में सम्मिलित थे। पुनः, इस सम्प्रदाय की भक्ति का अधिकार शूद्रों को नहीं था, वेदवेदान्त-कर्मयोग का अध्ययन कर भक्ति की ओर झुकनेवाले ही उसके अधिकारी थे; शूद्र प्रपत्ति कर सकते थे और ईश्वर तथा गुरुदेव पर अपने को छोड़ देना ही उनका मोक्ष था।

रामानुज के भक्तिवाद का लगभग १२०० ई० में मध्व-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक श्रीमध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ, मध्वमंदार, पूर्णप्रज्ञ) ने पूरा बल दिया; मध्वाचार्य का निधनकाल लगभग १२७६ ई० के माना जाता है। उनने वैशेषिक दर्शन का विशेष आश्रय लिया और भागवद्धर्म में विष्णु-पूजा को प्रधानता दी। उनने स्वतंत्र और अस्वतंत्र दो तत्व माने [*] और हरिज्ञान को मोक्ष का मार्ग कहा। वह हरिज्ञान वैराग्य, समता, आत्मसंयम, शरणागति, गुरुसेवा, गुरुज्ञान, स्वाध्याय, परमात्मा-भक्ति, निष्काम कर्म, विष्णुमहिमाबोध, असत्याग और उपासना द्वारा प्राप्य कहा गया। उनने कृष्ण और राम दोनों को विष्णु का अवतार माना, जिस कारण मध्व-सम्प्रदाय में पीछे राम और कृष्ण के पूजन की दो पृथक शाखाएँ निकलीं। आनन्दतीर्थ द्वारा व्युह और वासुदेवनारायण को विशेषता नहीं दी गई, विष्णु उपास्यदेव कहे गए और विष्णु-प्रिया लक्ष्मी का स्वरूप वर्णन भी किया गया। लक्ष्मी मुक्त और परमात्मा के समान सम्मानित की गईं। उनने गोपालकृष्ण, राधा और ग्वालबालों की कथाओं का वर्णन नहीं किया।

रामानुज के भक्तिवाद की लहर जिस समय दक्षिण भारत में उमड़ रही थी, उसका एक स्रोत रामानुज के बाद उत्तर भारत में निम्बार्क स्वामी के साथ प्रवाहित हुआ। निम्बार्क स्वामी का निधन-काल लगभग ११६२ ई० के माना जाता है। वह एक तैलंग ब्राह्मण, बेलारी जिले के निम्ब, आधु-

[*] जैसा तत्वविवेक में है—

"स्वतंत्रमस्वतंत्रञ्च द्विविधं तत्वमिष्यते ।
स्वतंत्रो भगवान् विष्णु निर्दोषोऽशेष सद्गुण ॥"

निक निम्बापुर, ग्राम के रहनेवाले थे। उनके पिता जगन्नाथजी भागवत थे, इस कारण तथा वैष्णवमत-क्रोड़ में स्वयं भी लालितपालित होने के कारण निम्बार्क पर वैष्णव-विचारों की गहरी छाप थी। परन्तु नारायण या विष्णु के चरित्र का प्रभाव उनके जीवन पर नहीं पड़ा, वह कृष्ण-भक्ति की ओर अधाकर्षित हुए और कृष्णलीला की पवित्र भूमि वृन्दावन में जा बसे। साथ में दक्षिणावर्त्त की भगवद्भक्ति मथुरा प्रान्त को पहुँची। निम्बार्क स्वामी ने वहां अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिकूल कृष्णोपासना का उपदेश करना आरम्भ किया। उस चेष्टा में कृष्ण के साथ राधा भी उपास्य देवी बनाई गई। निम्बार्क स्वामी ने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक एक छोटा भाष्य और दश श्लोकों में 'सिद्धान्तरत्न' नामक एक स्वतंत्र पुस्तिका लिखी, इन दोनों से उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है।

दशश्लोकी में निम्बार्क स्वामी ने जीव को हरि का आश्रित कहा है, जीव भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ हैं और ज्ञानी तथा असंख्य हैं। माया-बन्धन में वह अपना स्वरूप खो बैठता है, तब उसे ईश्वर-दया से ही अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। अचेतन पदार्थ तीन प्रकार के हैं—"अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।"[१६] परब्रह्म कृष्ण वामभागासीन राधा के साथ उपास्य देव हैं, उन्हीं की पूजा से अज्ञानांधकार में पड़े जीवात्मा का त्राण है। उस ब्रह्म का ज्ञान श्रुतिस्मृति-सम्मत है। ब्रह्मदेव-शिवादि कृष्ण के जिन पदाम्बुजों की आराधना किया करते हैं उन्होंने मुक्ति

[१६] दशश्लोकी : निम्बार्क-श्लोक ३, इसकी दूसरी पंक्ति है—"मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥"

सम्भव है; भक्तों के कल्याणार्थ वह कृष्ण ध्यानयोग्य शरीर धारण किया करते हैं। जो उनका शरणापन्न होता है, उनके हृदय में उनकी भक्ति उनकी कृपा-स्वरूप में जागरित होती है। इस कारण सच्चिदानन्द कृष्ण के निवास, स्वरूप, कृपा और प्रमोद को जानते हुए भक्ति करनी श्रेयकर है।

निम्बार्क स्वामी के सिद्धान्तों का सारांश रामानुज की शिक्षाओं से मेल रखता है, लेकिन कुछ अन्तर के साथ। रामानुज ने भक्ति में उपनिषदों की ज्ञानात्मिका उपासना का सादृश्य रक्खा था, किन्तु निम्बार्क ने साधनाशक्ति को विश्वास, तल्लीनता और प्रेम पर आश्रित किया। रामानुज के अनुयायियों में भी दक्षिण में कुछ ऐसे विचार के लोग थे। रामानुज ने नारायण की प्रेयसी लक्ष्मी, भू और लीला का उल्लेख किया था, जिनसे कहीं आगे बढ़ निम्बार्क ने कृष्ण को राधा के साथ वैष्णवों के समक्ष समुपस्थित किया, एवं प्रकार निम्बार्क स्वामी ने पुरुष ब्रह्म की उपासना के साथ प्रकृति-शक्ति-रूप में स्त्री-शक्ति-उपासना को सन्नद्ध किया, और यहाँ से वैष्णवों में स्त्रीसत्ता की भी उपासना प्रचलित हुई। पीछे यह अन्य प्रभावों के साथ राधा को कृष्ण से भी पहले जपने का कारण बना, लोग कृष्ण-कृष्ण के बदले 'राधा-कृष्ण' जपकर मुक्ति-विश्वास रखने लगे। निम्बार्क स्वामी द्वारा ऐसा किए जाने का प्रधान कारण तत्कालीन लोकमत कहा जा सकता है, क्योंकि उस समय बंगाल-विहार में स्त्री-सत्ता की पूजा लोकरुचि को प्रभावित कर रही थी। राधा कृष्ण की उपासना का श्रीगणेश वृन्दावन में होने के कारण उनके अनुयायी आरम्भ में मथुरा और बंगाल में ही हुए, पश्चात् अन्यत्र फैले। राधाकृष्ण-भक्त ललाट पर गोपीचन्दन की दो खड़ी

रेखाओं के बीच एक कृष्ण-बिंदी रूप का तिलक लगाते और तुलसी की माला धारण करते थे। उनमें गृहस्थ और वैरागी दोनों ही थे।

१३वीं शताब्दी में वैष्णव मत के प्रचार को विष्णुस्वामी नामक वैष्णव-आचार्य द्वारा बल प्रदान किया गया। नाभाजी के भक्तमाल से मालूम होता है कि विष्णुस्वामी के चार उत्तराधिकारी हुए—ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभजी। उनने विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का विस्तार किया। उनका सारांश है कि परमात्मा (प्रजापति) ने आनन्दार्थ अपने को अनेक रूपों में आविर्भूत करने की इच्छा की और उसने अचेतन जगत्, जीवात्मा और उनके भीतर अन्तर्यामी को उत्पन्न किया; ये अग्नि की चिनगारियों की भाँति उसके अंश से निकले[५०]। वल्लभ के समय तक विष्णु-स्वामी-सम्प्रदाय के अनुयायी अल्पसंख्यक थे, मत का विस्तार भी बहुत कम था। इस अभाव को दूर करने पर वल्लभ ने ध्यान दिया और विष्णुस्वामी-मत के पूर्ण विकास में वह सफल भी हुए।

वल्लभस्वामी का जन्म-काल १४७६ ई० माना जाता है। वह तेलुगु प्रान्त के निवासी शुक्लयजुर्वेदी तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मणभट्ट के पुत्र थे। कहा जाता है कि जिस समय वह वृन्दावन और मथुरा में रहते थे उन्हें गोपाल-कृष्ण ने श्रीनाथ-रूप में गोवर्द्धन पर्वत पर दर्शन दिया और पूजामार्ग के प्रचार

[५०] मिलते विचार हैं—"स वै नेव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छन्। बृहदा० १-४-३" मुण्डकोप० २-१-१ "तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।"

की आज्ञा दी। उसके पालनार्थ वल्लभ ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की और उसका आधार भागवतपुराण और विष्णु स्वामी की शिक्षाओं को बनाया। पुष्टिमार्ग के मत में ईश्वर के अनुग्रह का नाम है पुष्टि, इससे चतुर्वर्ग फल प्राप्ति होती है और वह ईश्वर की प्राप्ति कराती है महापुष्टि या विशेषानुग्रह से पुष्टिभक्ति पैदा होती है और वह ईश्वर की प्राप्ति कराती है। पुष्टिभक्ति चार प्रकार की कही गई है—प्रवाहपुष्टिभक्ति मर्यादापुष्टिभक्ति पुष्टिपुष्टिभक्ति और सुधापुष्टिभक्ति। इनमें सुधापुष्टिभक्ति मानवेच्छा का विषय नहीं है, ईश्वर की ओर से प्राप्त होती है। इसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्रेम भक्ति समन्वित ईश्वरीय ज्ञान की खोज में लगता है। प्रेमभक्ति-व्यसन की अवस्था में भक्त हरि को ही सर्वत्र देखता है, सभी वस्तुओं को प्यार करने लगता है, सबको स्व रूप समझता है और उसे संसार के बाहर तथा भीतर पुरुषोत्तम ही दृष्टिगत होता रहता है। वह दशा और भी उन्नत हो जाने पर भक्त कृष्ण की सनातन लीलाओं में शामिल हो जाते हैं। कृष्ण ही विश्व के स्वामी हैं वही उसका सृजन, पालन व नाश करते हैं। विश्व रचना की सामग्रियाँ कृष्ण से भिन्न नहीं होने के कारण संसार और उसका ईश्वर दोनों ही सत्य हैं और जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब न होकर उसका अंश है। ईश्वर और जीव में यही अन्तर है कि ईश्वर पूर्ण श्री ज्ञान वीर्य-यश ऐश्वर्य वैराग्य वाला है और जीव में सर्वदुःखसहनभाव, सर्वहीनत्व, दीनत्व, जन्मादिसर्वापद्विषयत्व, देहादिस्वबुद्धि और विषयासक्ति पाई जाती है। ऐसे संसारी जीव भक्ति द्वारा ही कृष्ण से मिल सकते हैं। आत्मसमर्पण द्वारा ही उस पुष्टि की प्राप्ति होती है जिससे मुक्त होकर जीव गोलोक की कृष्ण लीला में

की आज्ञा दी। उसके पालनार्थ वल्लभ ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की और उसका आधार भागवतपुराण और विष्णु स्वामी की शिक्षाओं को बनाया। पुष्टिमार्ग के मत में ईश्वर के अनुग्रह का नाम है पुष्टि, इससे चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति होती है और वह ईश्वर की प्राप्ति कराती है: महापुष्टि या विशेषानुग्रह से पुष्टिभक्ति पैदा होती है और वह ईश्वर की प्राप्ति कराती है। पुष्टिभक्ति चार प्रकार की कही गई है—प्रवाहपुष्टिभक्ति, मर्यादापुष्टिभक्ति, पुष्टिपुष्टिभक्ति और सुधापुष्टिभक्ति। इनमें सुधापुष्टिभक्ति मानवेच्छा का विषय नहीं है, ईश्वर की ओर से प्राप्त होती है। इसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्रेम-भक्ति समन्वित ईश्वरीय ज्ञान की खोज में लगता है। प्रेमभक्ति व्यसन की अवस्था में भक्त हरि को ही सर्वत्र देखता है, सभी वस्तुओं को प्यार करने लगता है: सबको स्व रूप समझता है और उसे संसार के बाहर तथा भीतर पुरुषोत्तम ही दृष्टिगत होता रहता है। वह दशा और भी सघन हो जाने पर भक्त कृष्ण की सनातन लीलाओं में शामिल हो जाते हैं। कृष्ण ही विश्व के स्वामी हैं: वही इसका सृजन, पालन व नाश करते हैं। विश्व-रचना की सामग्रियाँ कृष्ण से भिन्न नहीं होने के कारण संसार और उसका ईश्वर दोनों ही सत्य हैं, और जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब न होकर उसका अंश है। ईश्वर और जीव में यही अन्तर है कि ईश्वर पूर्ण श्री ज्ञान वीर्य-यश ऐश्वर्य-वैराग्य वाला है और जीव में सर्वदुःखसहनभाव, सर्वहीनत्व, दीनत्व, जन्मादिसर्वापद्विषयत्व, देहादिस्वहंबुद्धि और विषयासक्ति पाई जाती है। ऐसे संसारी जीव भक्ति द्वारा ही कृष्ण से मिल सकते हैं। आत्मसमर्पण द्वारा ही उस पुष्टि की प्राप्ति होती है जिससे मुक्त होकर जीव गोलोक की कृष्ण-लीला में

सम्मिलित हो सकते हैं[51]। इसी प्रकार ब्रज की कृष्ण-लीलाओं में कुछ भक्त गोप-गोपियों स्वरूप शामिल हो सकें। मर्य्यादाभक्त सायुज्य नामक भक्ति प्राप्त कर हरि में लीन हो जाते हैं, परन्तु पुष्टिभक्त उसे पसन्द नहीं करते और उनका लक्ष्य होता है हरि की लीलाओं में ही सम्मिलित होकर कृतार्थ होना।

व्यवहारिक रूप में वल्लभ ने कृष्ण को परब्रह्म मान उनके पूजन की मानव दिनचर्या निश्चित की और जिस प्रकार साधारणतः मनुष्य खाते-पीते सोते बैठते है उसी तरह कृष्णोपासना की दिनचर्या शयन स्नान-भोग-राग में विभक्त की गई और उनका विस्तृत क्रम भक्तों के लिए निश्चित किया गया। गोपाल कृष्ण की लीलाओं को प्रधानता देने पर गोपियों की पूजा का भी विधान स्थिर हुआ जिसका अनुसरण करते पीछे राधा को भी कृष्णवत् मान देने की प्रथा चली यद्यपि श्रीवल्लभ ने अपने दार्शनिक विचारों[52] मे राधा को कोई स्थान नहीं दिया था। कृष्ण स्थान गोलोक नारायण या विष्णु के वैकुण्ठ से ऊँचा बढाया गया और वृन्दावन को भी वही महत्व प्रदान किया गया। कृष्ण व गोपियों की साधारण दैनिक पूजा के अलावे उनका व्रत-त्योहार भी पवित्र माना गया। वल्लभ ने अपनी शिक्षाओं में सांसारिकता की अवहेलना नहीं की, उनके अनुयायी गृहस्थ और वैरागी दोनों हो सकते थे स्वय वल्लभ विवाहित थे, उन्हें पुत्र-पौत्र थे। उनके उत्तराधिकारी भी वैसे ही जीवन में रहे। इससे यह फल हुआ कि गुरुपद को अधिक महत्व दिया गया। लोगों को समझाया गया कि ईश्वर की पूजा स्वतंत्र रूप से नहीं की जा सकती,

---

[51]. Dr Janardan Misra Surdas, pp 51 54

[52] Dr Janardan Misra Surdas, p 56

गुरुद्वार पर या गुरुमन्दिर में यह पूजा नियमित रूप से सम्पन्न हुई। गुरु गोसाईं या महाराज कहलाते थे। प्रत्येक गुरु को अपना २ मन्दिर था, वहां नियत समय पर शिष्य भोग-प्रसाद की सामग्रियों के साथ जाया करते थे[५३]। एवं प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय ने पुराने वैष्णव मार्ग को तीन स्पष्ट विशेषताओं से युक्त किया।

निम्बार्क और वल्लभ द्वारा स्त्री-शक्ति के समादर और राधा की उपासना के प्रचार का महान् कारण उस समय के बौद्धानुयायियों की सामाजिक दशा थी। जिस समय महात्मा बुद्ध की मौसी महाप्रजापति गौतमी ने कपिलवस्तु के न्यग्रो आराम में भगवान् से घर से बेघर हो प्रव्रज्या पाने की आज्ञा के निमित्त निवेदन किया, भगवान् बुद्ध को उसका बहुत बुरा फल दृष्टिगत हुआ उनने अस्वीकार किया। दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ और तीसरी बार भी। किन्तु वैशाली के कूटागारशाला में विहार के समय आनन्द के आग्रह पर गौतमी देवी की जीवन-पवित्रता व साधना पर विचार कर उन्हें विहार-प्रवेश की आज्ञा दी गई। तोभी दूरदर्शी बुद्ध ने आनन्द से कहा[५४]—"आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ

---

[५३] "Each guru has a temple of his own, and there are no public places of worship The devotee should visit the temple of his guru at stated intervals, which are in number during the day" Sir R G. Bhandarkar, Vaisnavism and Saivism, p 80

[५४] विनय-पिटक : चुल्लवग्ग-१०, भिक्षुणी-स्कन्धक ६ १-२, पृ० ५११ अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन

प्रव्रज्या न पातीं, तो (यह) ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहर्ष वर्ष तक ठहरता। लेकिन चूँकि आनन्द ! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं ; अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच ही सौ वर्ष ठहरेगा। आनन्द ! जैसे बहुत स्त्रीवाले और थोड़े पुरुषों वाले कुल, चोरों द्वारा, कुम्भचोरों द्वारा आसानी से ध्वंसनीय होते हैं, इसी प्रकार आनन्द ! जिस धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता। जैसे आनन्द ! सम्पन्न, लहलहाते धान के खेत में सफेदा नामक रोग-जाति पड़ती है, जिससे वह शालि-क्षेत्र चिर-स्थायी नहीं होता; ऐसे ही आनन्द ! जिस धर्म-विनय में०।" कहने के अलावे उनने कड़े नियमों पर विशेष ध्यान दिया जिनसे भिक्षुओं का सन्यास-जीवन निर्विघ्न रह सके और भिक्षु-भिक्षुणी को किसी कुवृत्ति की ओर झुकने का कोई अनुचित अवसर नहीं मिले*। इसके बाद भी कुछ वर्षों तक भिक्षु-भिक्षुणी का जीवन पृथ्वी के उच्चतम आदर्श के अनुकूल रहा; किन्तु ज्यों २ स्त्री पुरुषों का सम्मिलन बौद्ध-विहारों में बढ़ता गया विपत्ति-काल के लक्षण विकराल होते गये। मानव प्रकृति सुलभ-दुर्बलता की ओर अधिक चाव से झुकती है और दुर्लभ पदार्थ के पाने की कड़ी चेष्टाओं में कम लोग लगाना चाहते हैं। जब महायान-सम्प्रदाय के भीतर वज्राचार्यगण नर-नारी-मिलन को धर्म्म का साधन कहने लगे, पारस्परिक संघर्ष को अधिक स्वतंत्रता मिली। अब आदर्श ने व्यभिचार का रूप धारण किया और नर-नारी के अबाध मिलन-जनित अवश्यम्भावी पतन बौद्धभिक्षु भिक्षुणी में

---

*विनय-पिटक' चुल्लवग्ग, भिक्षुणी-स्कन्धक; पातिमोक्ख, पाचित्तिय

देखा जाने लगा। बौद्धेतर जन यह देख घृणा से उन्हें 'नेड़ानेड़ी' नाम से पुकारते थे। समय व्यतीत होने पर भ्रष्ट भिक्षु न अपने सवयोग्य रहते न समाज में उनको मान मिलता। तथापि उनका उद्धार भी होना ही चाहिये था, 'सम्भवामि युगे युगे' के अनुकूल वैष्णव धर्म्म ने उनकी रक्षा की। बौद्धों ने स्त्रियों को जो प्रधानता दी थी, उसका अनुकरण बंगाल में वैष्णवदल भी कर रहा था; इस कारण बौद्ध नेड़ा नेड़ियों को वैष्णवों में मिल जाने में कठिनाई नहीं हुई। यदि नेड़ानेड़ियों का प्राची आदर्श प्रकृत प्रेम था तो वैष्णवमत में भी प्रेम की पूरी मात्र थी। १६ वीं शताब्दी में महाप्रभु चैतन्य ने अपने प्रकृत प्रेम से उनका उद्धार किया और नेड़ा-नेड़ी को वैष्णवदल में सम्मि लित किया। हिन्दू-समाज-तिरस्कृत और स्वधर्म्माश्रम-विच्यु निराश्रय १२ सौ नेड़ा और १३ सौ नेड़ियों ने भागीरथ-तटस्थ खड़दल-ग्राम में नित्यानन्द प्रभु और उनके पुत्र वीरभद्र प्रभु के पास वैष्णवधर्म की दीक्षा के लिये आत्म-समर्पण किय और इन्हें आश्रय दे नित्यानन्द प्रभु पतितपावन नाम से प्रसिद्ध हुए। इस घटना के स्मारक-स्वरूप खड़दल ग्राम में एक मेला का अनुष्ठान प्रतिवर्ष किया जाने लगा था, जो लगभग २५ वर्ष पूर्व बन्द हो गया है[४६]।

जिस समय बौद्धमतानुयायी प्रेमतत्त्व लेकर वैष्णवमत में दीक्षित हो रहे थे, उसी समय बंगाल में दूसरी ओर बौद्ध-तंत्र रूप-योवन-शील-सौभाग्य-शालिनी कुलांगना के सदल पूजा द्वारा साधक को सिद्धिलाभ का उपदेश दे रहा था[४७]। कृष्णो

[४६] श्री दिनेश चन्द्र सेन : साहित्य वर्ष २१ सं० २

[४७] गुप्तसाधन तंत्र—"नटी कपालिकी वेश्या रजकी नापिताङ्गना ब्राह्मणी शूद्रकन्या च तथा गोपालकन्यका ॥

पासना में राधा के आ जाने से कृष्णभक्त कृष्ण व राधा की भक्ति में अपने समकालीन प्रेममार्गियों का अनुसरण करने लगे थे। समय पर संस्कृत के महाकवि जयदेव ने गीतगोविन्द की मनोहारिणी कविता प्रस्तुत कर हिन्दुओं को प्रेमरसास्वादन की ठोस सामग्री भेंट की, जिससे प्रोत्साहित भाषा-कवि भी प्रेम-स्रोत प्रवाहित करने की ओर आकर्षित हुए। प्रेम में भी परकीया रस प्रधान था,[५८] उस समय सर्वत्र प्रेम की चर्चा थी और उस प्रेम-रस-साधना-द्वारा प्रेमी प्रेमपुञ्ज भगवान के प्रेमलाभ के अधिकारी समझे जाते थे और स्वर्गलोक का सिंहासन मनुष्य प्यार को पार कर जाने पर ही दृष्टिगोचर हो सकता था। यह दुर्लभ प्रेम-गौरव पाप-पुण्य और धर्माधर्म संस्कार को अतिक्रमण कर सतीत्व व असतीत्व में कोई अन्तर नहीं मानता था। इसी भावना को चण्डीदास ने व्यक्त किया-"

माला करस्य कन्या च नव कन्याः प्रकीर्त्तिताः।
विशेषवैदग्ध्ययूताः सर्व्वा एव कुलाङ्गनाः॥
रूपयौवनसम्पन्नाः शीलसौभाग्यशालिन्याः।
पूजनीयाः प्रयत्नेन ततः सिद्धः भवेन्नरः॥"

D C. Sen · History of Bengali Language and Literature, p. 42

58. D C. Sen History of Bengali Language and Literature, p 116—Parakiya Rasa which is sometimes identified with Madhura Rasa, forms the essence of the Vaisnava theology. It is akin to the Sahajia cult, which, as explained in a previous chapter, means the romantic worship of a woman other than one's own wife."

सति व असति तुमि मोर आमार गति।" उस प्रेम-साधना-प्रचारक कविराज के सामने प्रेम महा प्रबल था और केवल-प्रेम वार्ता का जाननेवाला भवसागर-पार जाने का साहस रख सकता था, जिसे कहा है—

"ब्रह्माएड व्यापिया, आछ्ये ये जन
केह ना देखये तारे।
प्रेमेर पीरिति, ये जन जानये,
सेइ से पाइते पारे।"

ऐसे ही प्रेमयुग में महाप्रभु चैतन्य का प्रादुर्भाव वैष्णव जगत में हुआ। वह कृष्ण-चैतन्य और गौरांग महाप्रभु के नाम से भी विख्यात हुए। उनका जन्म १४८५ ई० में नवद्वीप (नदिया) में हुआ, उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का शची देवी था। महाप्रभु के गुरु का नाम था विश्वम्भर मिश्र, उनके बड़े भाई थे नित्यानन्द, उनकी स्त्री का नाम लक्ष्मी देवी था जिनके साथ वह घर में रहते और वहीं शिष्यों को पढाया करते थे। पीछे वह पर्यटन को निकले और गया से श्राद्धकर लौटने पर उनने भक्तिमार्ग का अवलम्बन किया। वह भ्रमण कर लोगों में भक्ति का उपदेश करते थे। उपदेशों में हरि-भक्ति को ही मुक्तिमार्ग बतलाते, सन्तों को भ्रातृभाव की जरूरत समझाते और जातिभेद को त्याज्य कहते। माना जाता है कि उनके पहले एक अद्वैताचार्य प्रेम व भक्ति की शिक्षा दिया करते थे और उन्हीं की शिक्षा पा चैतन्य भी उसी ओर लगे, किन्तु बाद में चैतन्य की अद्भुत शक्ति देख अद्वैताचार्य ने भी उन्हींको अपना गुरु माना। चैतन्य का प्रेमोपदेश इतना प्रिय और प्रभावशाली हुआ कि लोग उन्हें कृष्ण का अवतार मानने लगे और उनके बड़े भाई

नित्यानन्द को बलराम का। नित्यानन्द बराबर चैतन्य के सहयोग में रहे। चैतन्य महाप्रभु लगभग १५३३ ई० में गोलोकवासी हुए।

चैतन्य गोपाल-कृष्ण को परब्रह्म मानते और उनकी परब्रह्मशक्ति को विश्वव्यास पाते थे। उनका सिद्धान्त था कि कृष्ण की परब्रह्मसत्ता अपने माया-बल से शरीर धारण करती है; कृष्ण अपनी विलासशक्ति में अनेक शरीर धारण करते हैं, विलास शक्ति दो प्रकार की है—प्रभावविलास और वैभवविलास। प्रभावविलास द्वारा कृष्ण एक ही समय अनेक कृष्ण बन गोपियों से रासलीला करते थे और वैभवविलास द्वारा वह चार व्यूह-रूपों में प्रकट हुए। कृष्ण का स्थान विष्णु ब्रह्मा-शिव से ऊँचा है। उनकी लीला बराबर हुआ करती है, गोलोक उनकी सनातन लीला का पवित्र स्थान है। कृष्ण-प्रेम-पराकाष्ठा को पहुँचनेपर भक्त राधा-स्वरूप हो जाता है और प्रेमपूर्ण भक्ति से प्रसन्न हो कृष्ण भक्त-हृदय में महाभाव प्रेरित करते हैं, तभी भक्त भगवान् को प्राप्त होता है। सारे संसारी जीव आश्रित हैं और कृष्ण ही उनका आश्रय। जीव ईश्वर से पृथक् होते ही परमभक्ति द्वारा ईश्वर-लीन हो जाता है। यह सिद्धान्त निम्बार्क स्वामी के सिद्धान्त का पोषक और शंकराचार्य के विवर्तवाद का विरोधक था।

चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णभक्ति का मार्ग न उपासना को माना न पूजाविधि को, उनने नामोच्चारण को अत्यन्त प्रधानता प्रदान की। वह स्वयं कृष्णभक्तों के साथ कृष्ण नाम-कीर्त्तन किया करते और उनके भक्त भी उनके साथ कृष्ण लीला को संगीत में गाया करते थे। आरम्भ में उनके संकीर्त्तन घरों में,

विशेषतः शिष्य श्रीवास के यहां, हुआ करते थे[१]। लेकिन धीरे २ ये बाहर होने लगे और संगीत-स्वर-लहरी खुले मैदानों में गुंजरित हो वृक्ष-लताओं को भी धन्य बनाने लगी। संकीर्त्तन की तल्लीनता में में कृष्ण-चैतन्य कभी २ आत्मसुधि भी खो बैठते और पृथ्वी पर गिर जाते। इससे अनुयायियों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता। तो भी तत्कालीन शाक्त और काली-पूजक चैतन्य देव की निन्दा किया करते, किन्तु उनकी कीर्त्ति अक्षुण्ण बढ़ती ही गई और उनके अनुयायी सभी जातियों के लोग होने लगे। एक सम्प्रदाय ही चल पड़ा। चैतन्य देव ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा, परन्तु उनके शिष्य रूप और सनातन ने महाप्रभु के सिद्धान्तों की रक्षा के निमित्त ग्रन्थ रचे। रूपस्वामी ने मुर्शिदाबाद के रामकेलि ग्राम में नेड़ा-नेड़ी के एक दल को अपने सम्प्रदाय में आश्रय भी दिया जिसके स्मारक-स्वरूप वहां अबतक एक मेला प्रचलित है।

चैतन्य महाप्रभु के बाद अन्य कोई किसी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नहीं हुआ। पूर्व मार्गों पर ही कृष्णभक्ति जारी रही, पर उसका मुख्य अंग संकीर्त्तन रहा। संकीर्त्तन प्रेमियों में प्राधान्य रहा गोपियों की तरह कृष्ण से प्यार करनेवालों का, वे बाद में राधा की सहेलियों के रूप में सखीभाव से कृष्ण

---

[१] प्रभुदत्त ब्रह्मचारी: श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली २, "भक्ताग्रगण्य श्रीवास के घर संकीर्तन का सभी आयोजन होने लगा। रात्रि के समय छोटे-छोटे भगवत्-भक्त वहाँ आकर एकत्रित होने लगे। पृ० ३२। रात्रि में जब मुख्य-मुख्य भक्त एकत्रित हो जाते, तब घर के किवाड़ भीतर से बन्द कर दिये जाते और फिर कीर्तन आरम्भ होता। पृ० ३५॥"

के भक्त हुए [६९]। आज भी सखी-सम्प्रदाय के लोग हैं और वे अपने को स्त्री रूप मान कर कृष्ण से प्रेम रखते हैं। ऐसी मनोवृत्ति से ही राधा के नाम का भी मोक्षदायी होना प्रचलित हुआ, बल्कि राधा का नाम कृष्ण से पहले लिया जाने लगा। इस भाव में श्रृंगार को विशेषता मिली और मानव दौर्बल्य इस विशेषता को अश्लीलता से रंजित किए बिना भी शान्ति नहीं पा सका। कृष्णकेलि, गोपियों के साथ रासलीला और राधा-प्रेम के वर्णन में जो जो विचार व्यक्त किए गए वे बहुतों की दृष्टि में नैतिक हीनता सने जँचते हैं और वास्तव में समाज उनकी गूढ़ से गूढ़ व्याख्या करके भी उन्हें खुलकर व्यवहार में नहीं ला सकता।

राधाकृष्ण के प्रेम-वर्णन का वैचित्र्य कुछ पुराणों में देखने में आता है। उनके बाद उनपर अवलम्बित रचनाओं

---

६९. "The worship of Rādhā, more prominently even than that of Kṛsna, has given rise to a sect, the members, of which assume the garb of women with all their ordinary manners and affect to be subject even to their monthly sickness. Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public, and their number is small. Their goal is the realisation of the position of female companions and attendants of Rādhā; and hence probably they assume the name of Sakhibhavas (literally, the condition of companions) Sir R.G. Bhandarkar. Vaisnavism and Saivism, p. 86.

में भी प्रेम-विषयक लौकिक शृङ्गार के अश्लील वर्णन को स्थान दिया गया। हिन्दी की कविताओं में वैसे वर्णनों का प्राचुर्य है, पर कवि तथा लेखकों को वैसी रचना में कोई संकोच नहीं होने का कारण भी था, शृङ्गारीय वर्णन कृष्ण-गुणगान होने के कारण पवित्र थे, सर्वथा निर्दोष माने जा चुके थे। तोभी उन असंयत शृंगारभरे रचनाओं का साहित्य पर काल पाकर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। कृष्ण-गुणगान करने के बहाने उच्छृंखलताओं और अयथा वर्णनों ने स्थान ग्रहण किया, इससे शृङ्गार-विषयक ग्रन्थ अनेक अंशों में कलुषित होते गए; तब उन त्यागशील महात्माओं के उत्तम आदर्शों का भी बहुत बड़ा दुरुपयोग हुआ और उस समय अनेक लांछनों के कारण पैदा हुए[६१]। इसी ओर संकेत करते भिखारी दास ने कहा है—"आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई, नातौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहाने हैं।" वस्तुतः कृष्ण के प्रेम व भक्ति का जो आदर्श था उसे उन व्यक्तियों ने नहीं समझा जो विवेक का अपमान कर जगत के कारण हरि-कृष्ण को मनोरञ्जन का मसाला बनाने में यत्नवान् हुए। यह कपट-कार्य्य हरि-प्राप्ति का सोपान नहीं था, न वैसा लौकिक भाव कृष्ण-प्रेम-प्रचारकों को अभिप्रेत था; उनका ध्येय वस्तुतः कृष्ण में निरहंकार निष्कपट निष्काम तल्लीनता की ओर था जिसके अभाव में हरि-प्राप्ति असम्भव है, जैसा कवि ने कहा है—

"तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं केहि बाट।
विकट जटे जौं लौं निपट, खुलैं न कपट कवाट॥"

---

[६१] श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध': हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, पृ० ३१३

पुराणों के अध्ययन से प्रमाणित होता है कि कृष्ण, राधा और गोपियों को युग की अनुरूपता में दर्शाने की चेष्टाएँ एक निश्चित काल में नहीं की गईं, कार्य धीरे २ सम्पादित हुआ। विष्णुपुराण भागवतपुराण और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में उन चेष्टाओं को जो अश्लील आवरण दिया जा चुका है अब वह कदापि हटाया नहीं जा सकता, न उनको देखते हुए मनुष्य की विकसित बुद्धि उसे कोरा अध्यात्म या विशुद्ध ईश्वरीय लीला स्वीकार कर तद्वत् आचरण की ही सम्मति दे सकती है, मन्दिरों पर स्त्री-पुरुष-बच्चे मिलकर नाचनेवाली जंगली जातियाँ भलेही रासलीला को अपनी अनुरूपता की पाकर गद्गद् हो उठें। जिस राधा के साथ कृष्ण का चरित्र रचित है वह राधा पहले कृष्ण के मामा रायाण के साथ व्याही गई थी, यद्यपि राधा श्रीकृष्ण का ही अंश कही गई है। पर वह विवाह रद्द किया गया और पुनः राधा कृष्ण के साथ व्याही गई। इस व्याह को पवित्रता देने के लिए कल्पना है कि श्रीराधा छायामात्र रायाण के घर में रहती थी, रायाण श्रीकृष्ण के अंश थे और श्रीराधा-कृष्ण का विवाह ब्रह्मा ने वैदिक रीति से जंगल में, जहां कोई नहीं था, कराया। कथन है कि विवाह के समय कृष्ण और दैवी रूपों में थे, राधा पूर्णावस्था की थी श्रीकृष्ण बच्चा थे, इसके पहले राधा व कृष्ण पतिपत्नीरूप में गो-लोक में रह चुके थे और कृष्ण आदि पुरुष व राधा आदि शक्ति थी। किन्तु बुद्धि-वैलक्षण्य ने यह विचारने का कष्ट नहीं उठाया कि ब्रह्मा इन बातों से अवगत थे या नहीं, उन्हें 'हरेः क्रोडे' राधा के बसने की खबर थी या नहीं। उन कथा-रचयिताओं को ब्रह्मा की दिव्यदृष्टि का ज्ञान तो अवश्य था और उनको भागवत का यह संकेत भी ज्ञात

[६१]था--"कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।" पर युग-धर्म के मनोरञ्जन को निबाहना भी उनके लिए आवश्यक था, अतः लीलाओं के वर्णन में विवेक व विचार से काम लेना उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ।

विष्णुपुराण, भागवतपुराण, हरिवंश और श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराण की रचनाएँ एक समय में नहीं होने के प्रमाण वे अपने में ही रखते हैं, जो राधाकृष्ण-कथा के विकास-क्रम पर भी पर्य्याप्त प्रकाश डालते हैं। विष्णुपुराण ने कृष्ण को 'ईश्वराणां परमेश' विष्णु का अंश कहा, भागवतपुराण ने कहा-'अवतीर्णोहि भगवानंशेन जगदीश्वरः' और ब्रह्मवैवर्त्त ने श्रीकृष्ण को साक्षात् पूर्णकलायुक्त भूभारनाशक परमेश्वर बतलाया[६०]। राधा की कल्पना विष्णुपुराण व भागवतपुराण में नहीं है तथा हरिवंश के एक स्थान में इंगिताभास है, पर देवीभागवत और श्रीब्रह्मवैवर्त्त राधा का माहात्म्य-वर्णन दिल खोल कर करते हैं[६४]। पहले जो राधा मर्त्यलोक की एक गोपबाला थीं,

---

[६२] भागवतपुराण १०-२९-१२-परीक्षिदुवाच, दूसरी पंक्ति है-"गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणाधियां कथम्"

[६३] विष्णुपुराण ५-६१

भागवतपुराण १० ३३-२७, राजोवाच—"संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।"

[६४] द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ६१-श्री नलिनीमोहन सान्याल एम० ए० भाषातत्त्वरत्न—"विष्णु पुराण वा श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम नहीं पाया जाता। केवल हरिवंश के एक स्थान में इंगित मात्र है। इससे अनुमान होता है कि 'हरिवंश' भागवत का परवर्ती है। जयदेव द्वादश शतक के अंत में विद्यमान थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की लीला गाई

ह धीरे २ आद्याशक्ति बनाई गई और गोलोक में पहुंचा कर रासेश्वर श्रीकृष्ण की प्राणवल्लभा रासेश्वरी राधा कही गई। रासलीला का प्रथम उल्लेख विष्णुपुराण के अंश ५ अध्याय १३ में बहुत सूक्ष्म रूप में मिलता है, श्रीमद्भागवत में उसका विस्तृत रूप है और ब्रह्मवैवर्त्त में सर्वत्र इस प्रकार विस्तृत है कि मृत्युभुवन का गोकुल परम वैकुण्ठ गोलोक का समकक्ष बन जाता है। गोकुल के कृष्ण भी वैदिक उरुक्रम विष्णु नहीं रहे, न वह पञ्चरात्र के नारायण और आचार्यों के हरि ही रहे; वह अपने पौराणिक भक्तों के लिये भक्तवत्सल नरतनधारी एक वैसा पुरुष बने, जिसपर प्रलोभन रागद्वेष आदि का प्रभाव था, जिसके प्रति गोपियों ने "योषा जारमिव प्रियम्" के प्रमाण-स्वरूप तीव्र परकीया प्रेम दिखलाया इस दशा में भक्तों ने कृष्ण को ईश्वर नहीं एक परम प्रेमी पुरुष माना, जिसे संकेततः भागवतपुराण भी [८५] स्वीकार करता है– "तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि संगताः।"

कृष्ण-भक्तों में भी जितने ऐसी लीलाओं को हानिकारिणी समझा उनने उनका समावेश अपने दलों में नहीं होने दिया। मराठी आचार्य नामदेव और तुकाराम की शिक्षाएं इसके सजीव उदाहरण हैं। उनके यहां कृष्ण की ख्याति विट्ठल या विठोबा नाम से है और उनके साथ उनकी धर्मपत्नी

है।......ब्रह्मवैवर्त्त पुराण बहुत आधुनिक है। इसमें 'राधा' का वर्णन मिलता है। सूरदास के समय 'राधा' का नाम और राधा कृष्ण की लीलाएँ अपरिचित न थीं। उन को अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्य से इस विषय का उपदेश भी मिला होगा।"

[८५] भागवतपुराण १०-२९-११

रुक्मिणी देवी का समादर 'रुक्जमाई' या 'रुक्समाव नाम से है। भक्ति-साहित्य में विट्ठलजी रुक्मिणीपति रुक्मिणीवर कहे गए हैं; राधा-वल्लभ की उपाधि का प्रयोग ह नहीं मिलता। राही' से 'राधिका' या 'राधा' के नाम उल्लेख हैं, पर राधा की पूजा की विशेषता नहीं, न गोकुल लीलाओं को विशेष मान प्राप्त है। इधर लोकमत भी गोपि के साथ कृष्णकेलि को भला नहीं मानता। गोपांगनाएँ अ माता-पिता-भ्राता के कहने पर भी मोहन के साथ रात्रि विहार को चली जाती थीं, कृष्ण उनके साथ रमण करते ऐसा विवरण है। इसके भीतर कैसा भी अध्यात्मवाद कि विद्वान् दार्शनिक के लिए हो यह साधारण लोकमत को ि नहीं हो सकता। इसे पुराणकर्त्ताओं ने भी [११] समझा थ तभी लोकलज्जानिवारणार्थं विष्णुपुराण में लिखा "सोऽपि कैशोरकवयो मानयन्मधुसूदनः।" पर आगे द कौतूहल-वर्द्धक चरित्र इतना अधिक मनोरंजक हुआ ि उसके प्रतिकूल लोकमत का प्रकाशन करते महार परीक्षित ने कहा—"परदाराभिमर्शनम् ।" भागवतकार समाधान चेष्टा में कहा कि सामर्थ्यवान् को दोष नहीं लगत बुद्धिमानों को आचरणानुसार न चल वचनानुसार चल चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण से कृष्ण का चरित्र कदापि चिि नहीं किया जा सकता क्योंकि इस संकीर्ण मत के प्रतिक् गीता का निम्न उपदेश [१२] कृष्ण के जीवन का भिन्न प्रमा पेश करता है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"

---

[११] विष्णुपुराण ५-१३-६० [१२] गीता ३-२१

पन्द्रहवाँ अंश

सीता-राम

रामानुज और निम्बार्क की भक्ति-शिक्षाओं से उत्तर-भारत में भक्तिवाद की लहरें तरंगित हो उठीं। धीरे २ कृष्ण की भक्ति का पूरा प्रचार बंगाल, बिहार और मथुरा में हुआ, लेकिन उससे उच्च कुल के लोगों की ही तृप्ति हो पाती थी। हिन्दू-समाज के दलित, अछूत व शूद्र मनुष्य का हृदय रखते भी भक्ति सरिता में स्वच्छन्दता से डुबकियाँ लगाने के योग्य नहीं समझे जाते थे। वे ईश्वरभक्ति को लालायित हो रहे थे, पर कौन सुनता? समाज के कर्णधार अपने में ही मस्त थे। १३०० ई० का आरम्भ हुआ ही चाहता था कि 'दीनबन्धु बिन दीन की; कौन सुने भगवान्' का सत्य करने की ओर युगधर्म्मपालक ईश्वर का ध्यान हुआ। उनने अपनी करुणा के अवतीर्ण करने का संकल्प किया और प्रयाग में पुण्यसदन नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में सुशीला देवी के गर्भ से दलितोद्धारक रामानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ। बालक रामानन्द की शिक्षा प्रयाग और बनारस में हुई और बनारस में ही वह रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के शिक्षक श्रीराघवानन्द के शिष्य हुए। परन्तु शरीर-शोषिका क्रियाओं को व्यर्थ समझ वह स्वयं एक शिक्षक के रूप में भ्रमणार्थ काशी से रवाना हुए और जगह २ पर्यटन कर अपना पृथक् सम्प्रदाय स्थिर करने लगे। ऐसा करने में उनने

बाइबिल-वचन "A prudent man foreseeth the evil, and hideth himself"[1] के समान प्रचलित कृष्णभक्ति के स्वरूप पर ध्यान दिया। उनने कृष्ण के शृङ्गारीय वर्णनों के भीतर पनपती बुराइयों पर विचार किया और समाज-कल्याण की दृष्टि से निर्णय किया कि कृष्णभक्ति के प्रचार से पृथक् चलना ही ठीक है। उनने समाज में नव जीवन डालने के उद्देश्य से, धर्म-प्रियों के समक्ष सुन्दर आदर्श रखने के ध्येय से कृष्णभक्ति के बदले रामभक्ति का उपदेश भाषा में उनके बीच देना आरम्भ किया जो कृष्णभक्ति के योग्य नहीं समझे जाते थे। थोड़े समय में ही उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ चली और उनके अनेक शिष्य भी हुए। शिष्यों में अनन्तानन्द, सुखानन्द, योगानन्द, पीपा, कबीर, भवानन्द, धन्ना, गालवानन्द और पद्मावती प्रसिद्ध हैं[2]। ये शिष्य राजपूत, जुलाहा, हजाम, चमार आदि जातियों के थे। रामानन्द इनके साथ भ्रमण कर मायावादियों, जैनों और बौद्धों से शास्त्रार्थ करते और उन्हें परास्त कर अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करते थे। लगभग १४११ ई० में रामानन्द परलोकवासी हुए, तब तक रामभक्ति का प्रकाश भारत के अनेक हिस्सों में पहुँच गया था और कृष्णभक्ति के साथ रामभक्ति भी हिन्दू-समाज में जारी हो गई थी।

रामानन्द ने राम को ईश्वर का अवतार माना और उनके साथ सीता को जगज्जननी। यह राधा कृष्ण की समानता में ही किया गया था और उससे महान् अन्तर यह था कि रामभक्ति में नैतिक कमजोरियों को जगह नहीं थी, न वह

---

[1]. Holy Bible Proverbs 27—12

[2]. Sir R G Bhandarkar Vaisnavism and Saivism, p 67

अध्यात्म की ओट में लोकाचार-भ्रष्ट हो थी। रामभक्ति को पवित्रता लोकादर्श के अनुकूल रही और उसमें विशेष प्रपञ्चों को जगह नहीं दी गई। रामानन्द ने सोच-विचार कर ही भक्तिक्षेत्र में राम के ईश्वरत्व का प्रचार आरम्भ किया था, क्योंकि उनके पहले उत्तर भारत में राम में ईश्वरत्व की भावना प्रचारित नहीं हुई थी न दक्षिण भारत में रामभक्ति सबल थी। मार्जारन्याय व मर्कटन्याय से रामभक्ति करनेवाले राम को सगुण ब्रह्म मानते थे और उन्हें विष्णु का अवतार जान उनकी उपासना लक्ष्मी के साथ किया करते थे; परन्तु कृष्णभक्ति ने रामभक्ति को ज़ोर पकड़ने नहीं दिया। रामानन्द ही रामभक्ति के प्रचार में सर्वप्रथम तत्परता से यत्नवान् हुए।

राम में ईश्वरत्व की धारणा अपनी अधिक प्राचीनता नहीं रखती, न सम्प्रदाय रूप में राम-भक्ति का विस्तार रामानन्द के पूर्व किसी आचार्य द्वारा किए जाने का प्रमाण मिलता है। राम की वीरता और आदर्श महत्ता की कथाएँ समाज में अवश्य ही प्रचलित थीं, किन्तु उनमें राम को ईश्वर-पूजन का सम्मान प्राप्त न था[3]। ऋग्वेद में[*] 'सीता' शब्द मिलता है, परन्तु उससे सीता और राम के अवतार की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती। वाल्मीकि-रामायण में

---

[3] Pargiter: A. I. Historical Tradition P. 72

[*] ऋग्वेद ४-५७ "अर्वाची सुभगे भव सीते ! वंदामहे त्वा।
यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलाससि ॥६॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥७॥"

सीता भूमि से निकली, स्त्रियों में सर्वोत्तम व सर्वगुणसम्पन्ना कही गई हैं और राम परंतप आदर्श पुरुष व राजा कहे गये हैं; इनकी उपमा विष्णु और लक्ष्मी से देते हुये कथन है— "विभुः श्रिया विष्णुरिवामहेश्वरः"। सम्मान-प्रदर्शन करते हुए सीता के लिए 'जननीमात्मनः पराम्' और राम के लिए 'श्रीरामं पितरं विद्धि' कथन भी हैं; किन्तु राम को विष्णु का और सीता को लक्ष्मी का अवतार वाल्मीकि-रामायण में स्पष्टतः वर्णित नहीं मिलता*, "न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः। १-७६-८" और "त्वया त्रैलोक्यनाथेन" में राम-विष्णु-सम्बन्ध का संकेत प्रतीत होता है। सदाशिव-संहिता के साकेतधाम-वर्णन में कथन है—'तन्मध्ये जानकी देवी सर्वशक्तिनमस्कृता।" लेकिन इनसे राम व सीता की साम्प्रदायिक भक्ति का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। राम-भक्ति का भाव कृष्ण-भक्ति-प्रचलन के उपरान्त पैदा हुआ, इसको अग्रसर करनेवालों की कमी थी। इसकी

---

* वाल्मीकि : रामायण १-१

"जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ॥२७॥"

१-६६ "क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥१४॥"

१-७७ "तया स राजर्षिसुतोऽभिरामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया।
अतीव रामः शुशुभेऽतिकामया
विभुः श्रिया विष्णुरिवामहेश्वरः ॥१८॥"

पूर्ति करने का भार अपने ऊपर लेकर रामानन्द ने घोषित किया—

"ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जग-
च्चित्रंचाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या।
विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिरमित क्षान्तिः सुपद्मेक्षणा
दत्तां नोऽखिल सम्पदो जनकजा रामप्रिया सानिशम्॥"

वैदिक काल से आजतक के संस्कृत-ग्रन्थों में छः राम के विवरण मिलते हैं। इनमें वृष्णी-वंशी कृष्ण के बड़े भाई बलराम और दशरथपुत्र राम-दाशरथि क्षत्रिय थे और भृगुवंशी जमदग्निपुत्र परशुराम,[६] उपतस्विन-वंशज राम-औपतस्विनि,[७] क्रतुजात-वंशज राम-क्रातुजातेय[८] वैयाघ्रपद्य तथा राम मार्गवेय[९] ये चार ब्राह्मणवंशी राम थे। इनमें अंतिम तीन ब्राह्मणवंशी राम वैदिक ऋषि थे जिनने कभी क्षत्रियत्व-प्रदर्शन नहीं किया, पर राम-जामदग्न्य ब्राह्मण होते भी क्षत्रियत्व समर्थ थे और उनने कईबार क्षत्रियों से भयानक संग्राम कर उन्हें परास्त किया; कहीं २ ईश्वरावतारों में भी उनकी

---

[६] महाभारत : द्रोण पर्व—अ० ७०; कर्णपर्व—अ० २, श्लोक १३; शान्तिपर्व अ० ४६, वनपर्व २७५ अ०—६ से८;

वाल्मीक : रामायण १—७६ श्रुत्वा तज्जामदग्न्यस्य वाक्यं दाश-रथिस्तदा।।" [७] शतपथ ब्रा० ४–६–१–७

[८] जैमिनीय उ० ब्रा० ३–४०–१ "रामाय क्रातुजातेयाय वैयाघ्र-पद्याय......", ४–१६–१ "शाट्यायनो रामाय क्रातुजातेयाय वैयाघ्रपद्याय...।"

[९] ऐतरेय ब्राह्मण ७–४–२७ "इति होवाच रामो मार्गवेयो रामो हास मार्गवे योऽनूचानः श्यापर्णीयस्तेषां होत्तिष्टतामुवाचापि नु

गणना की गई है यद्यपि उसकी पूजा आरम्भ नहीं हुई[10]। महाभारत में रामजामदग्न्य के शौर्यवीर्य और पाण्डित्य दोनों के उल्लेख हैं। वर्णन है कि भीष्म ने रामजामदग्न्य से धर्म सीखा, गुरु द्रोण व कर्ण ने रामजामदग्न्य से मुलाकात की, और रामदाशरथि का रामजामदग्न्य से अभिभाषण हुआ[11]। महाभारत में रामदाशरथि का वर्णन षोडशराजिक महापुरुष कह कर किया गया है; वह विष्णु के अवतार तथा २४ कलायुक्त भी कहे गए हैं और कई पुराणों में उनकी गणना चक्रवर्त्तियों में है[12]। रामपूजक-सम्प्रदाय का उल्लेख किसी शिलालेख या ताम्रपत्र में नहीं मिलता, इससे मालूम होता है

रामन्निरयं विद् वेदेहत्यायर्यतानि यस्व कथं वेथ प्रतत्यंधविनि।२७।"

[10] वाल्मीकि : रामायण १–७५

"क्षत्ररोपारप्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महायशाः।६।
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्।
साऽहमाश्रे प्रतिज्ञाय शस्त्रं विक्षिप्तवानसि ॥७॥"

[11] महाभारत : शान्ति० अ० ३७; ६–११९–५५३४, १-१३०–५१११८, ३२; ८–३४–१६१३

महाभारत : वनपर्व अ० ९८ "अथाब्रवीत्तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ।८॥" वाल्मीकि-रामायण १–७४–२५ "रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत् ॥"

[12] महाभारत ३-१४९-३१ "अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः। विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥" वायुपुराण—५७ ७२ [illegible] पृथिव्याश्चक्रवर्त्तिनः"; उत्तरका० ३१–९१ चतुर्विंशे युगे रामो वसिष्ठेन पुरोधसा"; ब्रह्माण्डपुराण ३-१५०-१९

कि रामोपासना समाज में पुराकाल में प्रचलित नहीं था, न राम ईश्वर-रूप में स्वीकृत थे।

रामानन्द के बाद रामभक्ति तत्काल बहुत ज़ोर नहीं पकड़ सकी। इसके तीन कारण थे—एक कि रामभक्ति का आदर्श बहुत ऊँचा था, उसमें कृष्णभक्ति की वैसी मनोहारिणी बातें नहीं थीं जिनपर जनसाधारण कुतूहलतावश टूट पड़े; दूसरा कि समाज के बड़े लोग या तो किसी विशेष मत से उदासीन थे या कृष्णभक्ति स्वीकार किए हुए थे; कृष्णभक्ति के अयोग्य व्यक्ति ही आरम्भ में रामभक्ति की ओर झुके, वे अपने को उतना सबल नहीं बना सकते थे जितना सबल कृष्णोपासक थे; तीसरा कि रामानन्द के बाद तुरत उनके शिष्यों में कोई भी ऐसा योग्य नहीं हुआ कि रामभक्ति को अग्रसर कर सके और शिष्यों में जो मुख्य हुए भी वे नये २ पंथों की ही स्थापना में लगे। उधर कृष्णभक्ति को अनेक तल्लीन भक्त मिलते गए। रामानन्द के शिष्यों में कबीर ने खण्डनात्मक प्रवृत्ति धारण कर कबीरपंथ नामक अपना नया सम्प्रदाय निकाला; मलूकदास ने भी मूर्त्तिपूजा का विरोध करते हुए वैसा ही किया; दादू ने तरैना में निश्चिन्त हो एक दल बनाया जिसके अनुयायी विरक्त, नागा व विस्तरधर्मी कहलाए; रैदास का भी एक सम्प्रदाय मराठा-प्रान्त में स्थापित हुआ और उसी ओर सेना के भी शिष्य पृथक् गोल में संगठित हुए। पर इन सभी गुरुओं ने नामोच्चारण-माहात्म्य की शिक्षा एक स्वर से दी, इससे नाम-माहात्म्य-प्रभाव समाज के साधारण लोगों पर जम गया। अन्त में १६ वें खिस्ताब्द के आरम्भ में उत्तरीय भारत की परम प्रसिद्ध पुरी काशी में एक परम रामभक्त का प्रादुर्भाव हुआ, जो गोस्वामी तुलसी-

दास के नाम से विख्यात हुए। तुलसीदास आचार्य वैष्णव दास के सदृश रामचरित्र को काव्यबद्ध करने में यत्नवान् हुए और उनने हिंदी में रामचरितमानस नामक मंजुल महाकाव्य की रचना की, उसमें राम के परब्रह्मत्व का प्रतिपादन बड़े सरस ढंग से किया गया। कृष्णचरित को भी हिन्दी में सूरदास नामक महाकवि ने उनसे पहले ही वर्णित किया था, किन्तु तुलसीदास कृत रामायण अपने सद्गुणों में सूरदास-कृत सूर-सागर से कहीं बढ़ाचढ़ा सिद्ध हुआ। उस रामायण से राम के पवित्र चरित्र का प्रभाव जनता पर पड़ना आरम्भ हुआ और रामभक्तों की संख्या बरबस बढ़ने लगी। आज राम-भक्त अत्यधिक संख्या में विद्यमान हैं और रामोपासक-समुदाय में रामायण पाठ का ग्रन्थ हैं। रामभक्ति कृष्णभक्ति से किसी बात में कम नहीं रहने पावे इस विचार से प्रेरित रामभक्तों ने कृष्णभक्ति के सभी उपचारों को अपने सम्प्रदाय में समा-विष्ट करने का जो प्रयत्न किया है उसका एक प्रबल प्रमाण रामभक्ति में भी प्रचलित सखीभाव है जिसके अनुकूल राम-सम्प्रदाय के अनेक भक्त राम को मित्र, पुत्र, दामाद, सखा, आदि भाव से मानते हैं और राधा-कृष्ण के समान सीता व राम का भी कीर्त्तन करते हैं।

रामभक्तों में जो राम की भक्ति दासभाव से करते हैं वे हनुमान को अपना आदर्श रखते और मानते हैं कि हनुमान के सम्मान से राम की कृपा उनपर होगी और रामप्रसन्नता प्राप्त करने में राम के अनन्य भक्त हनुमान उनको सहायता करेंगे। आन्तरिक स्वरूप रामभक्ति का वैसा ही है जैसा कृष्णभक्ति का; रामसम्प्रदाय में भी शालिग्राम की पूजा की जाती है, तिल व दूब को रामभक्त पवित्र मानते हैं, और वे १०८ दानों की

तुलसीमाला धारण करते हैं। यह शैवों से मेल व भिन्नता दोनों रखता है, क्योंकि शैव भी इन तीन विधियों को मान देते हैं पर वे शालिग्राम के स्थान में शिवलिंग रखते यद्यपि दोनों प्रायः एक ही प्रकार के पत्थर हैं, दूर्वादल और बेलपत्र को पवित्र मानते और ३२ या ६४ रुद्राक्ष की माला पहनते हैं।

रामचरितमानस में रामकीर्ति का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने राम को 'रवि-कुल-कमल-दिनेश', 'भानुकुल-भानु', 'भानु-कुल-नाथा'[13] आदि उपाधियाँ देकर ईश्वरावतार राम का सम्बन्ध सूर्य-कुल से स्वीकार किया है और सूर्य वंश की श्लाघा के द्योतक वचन भी व्यवहृत किए हैं। इससे वैष्णव मत में सूर्य-सम्मान का भाव प्रकट होता है। यह बहुत प्राचीन काल से आता हुआ भाव था जिसका सम्मान गोस्वामी ने रामचरित्र-वर्णन में किया। जिस प्रकार उनने शिव-सम्मान को राम से अभिन्न रक्खा उसी प्रकार सूर्योपासक सौरों के लिए भी राम को सूर्यकुल में परम पूज्यदेव कहकर उनका वर्णन किया। राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार कहे गए हैं और वेदों में विष्णु सूर्यकुलज वर्णित हैं[14]। बारह-आदित्यों में विष्णु की भी गणना है और 'भग' शब्द सूर्य का बहुत पुराना नाम है, 'विष्णु-भगवान्' भी जिससे

---

[13] रामचरितमानस : अयोध्या० "सहित सभा संभ्रम उठे, रवि-कुल-कमल-दिनेश ; धर्म-धुरीण भानु कुल-भानु, राजा राम स्ववश भगवान् ; कहेउ कृपालु भानु-कुल-नाथा।"

[14] यजुर्वेद १२-५; अथर्ववेद ११-२-२१

समन्वित कहे गए हैं[१५]। अथर्ववेद में विष्णु के शिर से सूर्य का प्रादुर्भाव होना लिखा है[१६]। विष्णु का चक्र सूर्यबिम्ब की अनुरूपता रखता है और विष्णु-वाहन गरुड़ या सुपर्ण को महाभारत ने पूर्ण नाम दिया है, विष्णु के त्रिपदास्थान में सूर्य की व्यापिनी गति का भी अभिप्राय निहित प्रतीत होता है। कहीं २ आदित्यों की माता अदिति विष्णु की स्त्री कही गई है[१७]। ये उल्लेख विष्णु और सूर्य की भावनाओं में अभिन्नता प्रगट करते हैं और प्रमाणित करते हैं कि संहिता-काल से विष्णु का सम्बन्ध सूर्य से रहा, बल्कि विष्णु की स्तुतियों में सूर्य का गौरव स्पष्टतः गाया गया[१८]। उस सनातन विचार के अनुकूल ही गीताकार ने व्यक्त किया—"आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्" और विष्णु-सूर्य सम्बन्धी पुरातन विवरणों में उनकी घनिष्ठता पर विचार करते हुए ग्रियर्सन महोदय ने स्थापना की कि भागवद्धर्म प्राचीनतम सूर्योपासना का विकसित स्वरूप है और एक समय 'भग' नामक सूर्य्य की उपासना पश्चिमी एशिया

---

[१५] अथर्ववेद ११-६-२ "ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्। अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ Hopkins Religions of India, pp. 57-55

[१६] अथर्ववेद ५-२६-७ "विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा"; शतपथ ब्रा० १-४-१-१, १०

[१७] यजुर्वेद २९ ६०, तैत्तिरीय संहिता ३-५-४

[१८]. Hopkins : Religions of India. p, 56 "In the person of Vishnu the Sun is extolled under another name, which in the period of the Ṛgveda was still in the dawn of glory'

तथा भारत के आर्य्यों में बिना किसी भेद के प्रचलित था[19]। शाश्वतधर्म के सम्बन्ध में महाभारत में भी कथन है—"शाश्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखात् निःसृतम्", और गीता में भी मिलता है-"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।"[20]

सूर्योपासना का आज कोई विशेष सम्प्रदाय नहीं है तो भी सूर्य की पूजा में लोगों का भारी विश्वास पाया जाता है। रोगदुःख-नाश के लिए भाषा के 'सूर्यपुराण' के पाठ करनेवाले अनेक दृष्टिगत होते हैं और कुछ ब्राह्मण पण्डित दोपहर में गायत्रीपाठ के साथ सूर्य को जलांजलि दे वंदना करते मिलते हैं। सूर्य का व्रत भी रक्खा जाता है और छठ-व्रत भी सूर्य की ही एक पूजा है, क्योंकि सूर्योदय और सूर्यास्त के विम्बों को अर्घ्य प्रदान करना उस व्रत की विशेषता है। आनन्दगिरि ने दिवाकर नामक एक सूर्योपासक के साथ दक्षिण में सुब्रह्मण्य स्थान पर शंकर के शास्त्रार्थ का वर्णन किया है। इससे शंकर के समय में सूर्योपासना का प्रचलन सिद्ध होता है। वैदिक ग्रंथों में भी सूर्यपूजा के आधुनिक रूप

[19] गीता १०-२१; George A Grierson Indian Antiquary 53 "We have no literary evidence as to the train of reasoning by which this doctrine was reached, but to me it appears more than probable that it was a development of the Sun-worship that was the comman heritage of both branches of the Aryan people,—the Eranian and the Indian. All the legends dealing with the origins of the Bhagavata Religion are connected in some way or other with the Sun"

[20] महाभारत : शान्तिपर्व १२-३३५-१९; गीता ४-१

से मिलते जुलते वर्णन मिलते हैं । कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् में आदित्यब्रह्म की उपासना के अलावे दीर्घायुसम्पादक सूर्य की पूजा का वर्णन है[८१]। तैत्तिरीय आरण्यक में[८२] मंत्र के साथ सूर्य को जल देने और "असौ आदित्यो ब्रह्म" कहते उपासक के शिर के चतुर्दिक जल फेंकने का विधान है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में[८३] भोर में चक्का निकल आने तक और साँझ का चक्का डूब कर तारे चमक उठने तक गायत्री-मन्त्रोच्चारण करना लिखा है और उपनयनसंस्कार के समय ब्रह्मधर्मलक्षणसयुक्त होने पर बालक को सूर्य की ओर देखने का विधान है। खादिर गृह्यसूत्र में[८४] लिखा है कि धन और कीर्त्ति के लिए सूर्य की पूजा की जाय । फिर ईसाबाद ७ वीं शताब्दी तक प्रयाग से सिलोन तक के भिन्न २ स्थानों में सूर्योपासना के प्रचार के प्रबल प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर १३ वीं शताब्दी तक सूर्यपूजा का प्रसार स्वीकार करना पड़ता है।

---

[८१] कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४-२ सहोवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । "

[८२] तैत्तिरीय आरण्यक १०-२५-१

[८३] आश्वलायन गृह्यसूत्र ३-६ 'यज्ञोपवीती नित्योदक सन्ध्यामासीत वाग्यत सायमुत्तरापरमभिमुखोऽन्वष्टमदेशमर्धास्तमिते मण्डले आनक्षत्रदर्शनात् । ३॥ एवमात प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नामण्डलदर्शनात् ।४॥",
३-१०-१० "आदित्यमीक्षयेद् देव सवितरेष त ब्रह्मचारी ते ब्रह्मचारी त गोपाय स मामृत याचार्य ।"

[८४] खादिरगृह्यसूत्र पटल ४

ईसाबाद ७ वीं शताब्दी में सूर्योपासना को राजधर्म-सम्मान प्राप्त होने के कई प्रमाण मिलते हैं और इस कारण उसके विशेष प्रचार की भी सम्भावना प्रतीत होती है। इसके तीन मुख्य प्रमाण हैं। पहला प्रमाण है हर्षवर्द्धन के पिता प्रभाकरवर्द्धन व पूर्वजों का परमादित्यभक्त होना, जो सोनपाट की कुछ ताम्रमुद्रा, वशपेरा और मधुवन के लेख से सिद्ध है[25]। दूसरा प्रमाण है स्वय हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयागोत्सव के अवसर पर दूसरे ही दिन अपने कुलदेव सूर्य की मूर्ति का पूजा सम्पादन, जो ऐतिहासिकों द्वारा स्वीकृत है[26]। तीसरा प्रमाण है प्रसिद्ध संस्कृत-कवि मयूर द्वारा सूर्यशतक की रचना, जिसमें सूर्य की महती महिमा का वर्णन है[27] और जिसकी रचना का मुख्य प्रयोजन तत्कालीन

[25]. Dr Radhakumud Mokerji Harsha, p 142, G P Quackenbos The Sanskrit Poems of Mayūra, p 38, Cowell and Thomas Harsa carita (English Translation), p 104, Ettinghausen Harsa Vardhana, p 87, 143-151.

[26]. E B Havell Ancient and Medieval Architecture of India, p 137, Samuel Beal Buddhist Records of the Western World, Vol I p 233

[27]. G P. Quackenbos The Sanskrit Poems of Mayura, p 3 "It may be regarded as fairly certain that Mayūra flourished in the first half of the seventh century" p 37 "The real reason for the composition of the Suryasataka is probably to be connected with the preserved fact that the cult of the Sun was popular or fashionable in the days of Harsa"

सूर्योपासना की विशेषता को सुरक्षित करना प्रतीत होता है। सूर्योपासना में महान् विश्वास का प्रमाण इस किम्वदन्ती में मिलता है कि सूर्यशतक के छठे श्लोक 'शीर्णघ्राङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्...' के समाप्त करते ही सूर्य ने साक्षात् होकर श्वेतचर्मरोग-ग्रस्त मयूर को वर माँगने को कहा, सूर्य-माहात्म्य की धारणा का भी परिचय सूर्यशतक में की गई सूर्यप्रशंसा से प्राप्त होता है। मयूर ने अपनी स्तुतियों में सूर्य की तुलना शिव, विष्णु और ब्रह्मा से की है और दिखलाया है कि संसार-कल्याण में जितना स्वकार्य में कृतपरिकर भगवान् भास्कर हैं उतना शिव, विष्णु, ब्रह्मादि में कोई भी नहीं[28]। आगे सूर्य का वेदत्रितयमयत्व, सर्वव्यापकत्व, ब्रह्मा-शंकर-विष्णु-कुबेर-अग्नि से समत्व और सर्वाकारोपरत्व का वर्णन किया गया है[29]। सूर्यशतक के ऐसे प्रभावात्मक वर्णन का स्वाध्याय १६ वीं शताब्दी तक सूर्य-पूजकों द्वारा किया जाता रहा और प्रमाण मिलता है कि मयूर के सूर्यशतक के ही नाम पर चार और सूर्यशतक पीछे के कवियों द्वारा लिखे गए। उनमें राघवेन्द्र सरस्वती, गोपाल शर्म्मा और श्रीश्वर विद्यालंकार ने संस्कृत में रचना की, पर दक्षिणनिवासी के. आर. लक्ष्मण ने तेलुगु में सूर्यस्तुति की। निश्चय ही यह ७वीं सदी की सूर्य-पूजा-प्रेम का प्रभाव था जो वर्षों बाद तक बना रहा, जिसके प्रमाण ग्रन्थ, शिलालेख व मूर्त्तियों में संरक्षित हैं।

८वीं शताब्दी में भी सूर्योपासना का पर्याप्त प्रभाव था,

---

[28] सूर्यशतक, श्लोक-संख्या ८८, ९१, ९२, ९३.

[29] सूर्यशतक, श्लोक-संख्या ८९, ९४, ९९, १००

क्योंकि वैदिक मर्यादा की रक्षा की रक्षा को प्रस्तुत भवभूति को भी अपने 'मालतीमाधव नाटक' में सूत्रधार से 'उदित भूयिष्ठ एव भगवानशेषभुवनद्वीपदीपः तदुपतिष्ठते' कहलाते विघ्नशान्त्यर्थ उदित सूर्य की स्तुति कराने की अभिरुचि हुई[२०]। पश्चात् १०२७ ई० तक के भिन्न २ स्थानों में प्राप्त शिलालेख तथा ताम्रपत्र भी उन २ स्थानों में सूर्योपासना का प्रचार प्रमाणित करते हैं। १२ वीं और १३ वीं शताब्दी की सूर्य-मूर्त्तियों से भी तत्कालीन प्रचार का प्रमाण मिलता है और ऐसी मूर्त्तियों में राजमहल, संताल-परगना व बंगाल की सूर्य प्रतिमाएँ, कोनारक के सूर्यमन्दिर का सूर्यरथ और सिलोन के पोलोन्नारुवा की सूर्यमूर्त्तियाँ अपना विशेष महत्व रखती हैं[३१]। इन बिखरी सामग्रियों से भारत भर में तथा सिलोन में भी सूर्योपासना के प्रचलन का पक्का प्रमाण मिलता है और बोध होता है कि पुरातन काल

[२०] मालतीमाधव १–५

"कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन्भूयसे मङ्गलाय ॥"

[३१]. V. A Smith: History of Fine art in India and Ceylon, pp. 186-9 The Rājmahāl Sun-god. p. 192—"The unfinished temple at Konārak, dedicated to the Sun, and erected between A. D 1240 and 1280, was designed to stimute a gigantic solar car drawn by horses. Eight great wheels, each 9 feet 8 inches in diameter, accordingly are carved above the plinth, and remarkable statues of seven horses stand outside." p. 254—Surya, the Sun-god.

से १३ वीं शताब्दी तक सूर्य की पूजा भारत में जारी रही और इसका भी आधार वैदिक विचार ही रहे। १३ वीं शताब्दी से भक्तिवाद का प्रवाह प्रबल वेग से भारत के प्रत्येक भाग की ओर प्रधावित हुआ और उसके प्रभाव से कालान्तर में शैवमत व तांत्रिक कृत्यों की भाँति सूर्योपासना की ज्योति भी मन्दप्रभ हो गई।

भण्डारकर महोदय ने वराहमिहिर, भविष्यपुराण और गयाजिलान्तर्गत गोविन्दपुर के ११३७-३८ ई० के एक शिला लेख के आधार पर भारतीय सूर्योपासना को बाह्य प्रभाव से ग्रस्त होने की धारणा प्रतिपादित की है लेकिन शाकद्विपी मगी, पार्सियों के मिहिर और मूर्त्तियों के घुटने तक की पोशाक द्वारा बाह्य प्रभाव का समर्थन नहीं किया सकता, क्योंकि मगियों का इतिहास निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, पार्सियों का मिहिर वैदिक मित्र का ही रूपान्तर है और मूर्त्तियों के घुटने तक पोशाक से ढके रहने का चित्रण उत्तर भारत की स्वतन्त्र कल्पना भी हो सकती है। पुनः संहिता-काल में ही सूर्य स्तुति का जैसा प्रबल भाव आर्यों में विद्यमान था वह कदापि सहज में विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में सूर्य की अनेक स्तुतियाँ मिलती हैं, 'आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' द्वारा सूर्य चराचर की आत्मा भी समझा गया है[54] और सूर्य के उदय व अस्तकाल की लुभावनी छटाओं तक की पृथक् २ स्तुतियाँ ऋग्वेद में मौजूद हैं। यथा, सविता, आदित्य, मित्र, वरुण, मार्त्तण्ड [illegible] का सम्बन्ध सूर्य से कुछ कम नहीं रहा और न [illegible] द्वारा पापमोचन के भाव का ही अभाव संहिता-काल

---

[54] ऋग्वेद 1-115-1

में था; कुछ मंत्रों में उपासकों की स्पष्ट स्तुति है कि नवोदित सूर्य उन्हें मित्र-वरुणादि पर निष्पाप प्रकट करें[23]। ऋग्वेद में ऐसी भी अनेक ऋचाएँ मिलती हैं जिनसे सूर्य के जगतात्मा,[24] सर्वद्रष्टा,[25] निष्पक्ष द्रष्टा[26] व विश्वरूप[27] होने के दृढ़ भावों के समाज में विद्यमान होने का बोध होता है। वैसी धारणाएँ उपनिषद् काल तक प्रचलित रहीं, क्योंकि छान्दोग्य ने सूर्य को लोकद्वार[28] माना है और कठ ने[29] उसके सम्बन्ध में कहा है—"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य

---

[23] ऋग्वेद ७–६०–१

'यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन्मित्राय वरुणाय सत्यं।
वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन्गृणंतः॥"

७–६२–२ "स सूर्य प्रति पुरो न उद्गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च॥"

[24] ऋग्वेद १–११५–१ "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

[25] ऋग्वेद ७–६१–१; ७–४९–४ "विश्वे देवा यासूर्य मदंति"

[26] ऋग्वेद ७–६०–२ "एष स्य मित्रावरुणा नृचक्षा उभे उदेति सूर्यो अभि ज्मन्। विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्॥"

[27] ऋग्वेद ५–८१–२ "विश्वा रूपाणि प्रति मुंचते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥"

[28] ऐसा ही उल्लेख बाइबिल में भी है—"John x —9. I am the door by me if any man enter in, he shall be saved, and shall go in and out, and find pasture"

[29] कठोप० ५ म व०—११

चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।" जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद[40] का कथन है कि सूर्य्य द्वारा ही कोई भवपाश-रहित होता है, जिसके बाद पंचविंश ब्राह्मण[41] के अनुकूल सुदूरस्थ स्थान को देवयान पथ द्वारा प्राप्त होना है और तब छान्दोग्यानुकूल[42] वह अमानव पुरुष रूप मुण्डक[43] के 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' के लोक को प्राप्त होता है। गौतम बुद्ध के समय में भी सूर्य्य की ऐसी ही प्रधानता बनी रही, जिसका सादृश्य गौतम के व्यक्तित्व तथा उपदेश में भी घटित करने का प्रयास उनके अनुयायियों द्वारा किया गया। गौतम ने लोकदुःख से रहित होने का यत्न किया और वह निष्पक्ष भाव से लोकोपकार को प्रस्तुत हुए। उनने निर्वाण-प्राप्ति की शिक्षा देकर अपने को लोकोद्धार सिद्ध किया और बोधिसत्वों के रूप में अपना विश्वरूप प्रदर्शित किया। इसी कारण, उस आदित्य-बंधु बुद्ध को 'दीघ निकाय[44]' ने 'लोकचक्खु' कहा और लंकावतार सूत्र[45] ने उपमा रची—"उदेति भास्करो यद्वत्समहीनोत्तमे जिने।" इस सिद्धान्त का समर्थन बुद्धानुचर विपुलश्रीमित्र के १२ वीं शताब्दी के शिलालेख द्वारा भी होता है।[46]

---

[40] जै० ब्राह्मणोपनि० १–३

[41] पंचविंश ब्राह्मण २–१६८

[42] छान्दोग्योप० ५–१०–२ "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति"।

[43] मुण्डकोप० १–१–२.

[44] दीघ निकाय २—१५८

[45] लंकावतारसूत्र २–११२

[46]. Epigraphica Indica Vol XXI, pp. 97—101

अतः सूर्य के विश्वचक्षुसमर्थ लाभ का बोध भारतीय आर्य्यों को अति प्राचीन काल में हृदयगत हुआ और कालान्तर में भी आर्य्यवंशज इसे भूले रहे। जो सूर्य-सम्मान संहिताकाल में आरम्भ हुआ वह आर्य्य-वंशजों के समाज में बराबर बना रहा और सूर्योपासकों का बाहुल्य ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र तथा बौद्धमत कालों तक बना रहा। पर्सिया, एशिया-माइनर और रोम में भी सूर्योपासना के प्रचार के प्रमाण मिलने के ही कारण उन देशों से भारतीयों में आदित्य-पूजा-भाव के प्रवेश करने का निष्कर्ष उपर्युक्त प्रमाणों के रहते कदापि मान्य नहीं हो सकता। सूर्यद्वारा विश्वलाभ की इस सनातन प्रतीति का भक्तिवाद से कुछ ह्रास होते देख कर ही १७ वीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने इसकी रक्षा की ओर कुछ ध्यान दिया और अपने इष्टदेव राम को पद पद पर भानुकुल-भूषण कह कर भानु-कुल और विष्णु के ऐक्य की रक्षा की।

सोलहवाँ अंश

समन्वय

महावीर बुद्ध की शिक्षाओं ने जितना बड़ा परिवर्त धार्मिक जगत में घटित किया उतना ही प्रभावशाली अन्त भारत के भाषा-संसार में भी समुपस्थित कर बोलचाल क भाषा प्राकृत को पवित्र देववाणी संस्कृत का समकक्ष बनाया। तब से प्राकृत-भाषाएँ धर्मग्रन्थों के लिए भी उप युक्त समझी जाने लगीं और उन्हें भारतीय समाज में साहि त्यिक समादार प्राप्त होता गया। इस विकास क्रम में अपभ्रंश भाषाओं का प्रादुर्भाव और शृंगार हुआ और आगे उनसे कई प्रान्तीय भाषाएँ चल निकलीं। उन्हीं भाषाओं में एक हिन्दी भी थी जो पंजाब, मथुरा, दिल्ली, मध्यभारत और विहारमें उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त होती सारे भारतमें फैलती गई और आज वह भारत की राष्ट्रभाषा-पद पर सम्मानित दिखाई देती है। इस उन्नत दशा को पहुँचने में हिंदी की विशेष सहायता धार्मिक भावनाओं से प्रेरित उन कवियों या महाकवियों द्वारा हुई जो समाज में पुरातन ईश्वरवाद-संबंधिनी धारणाओं के प्रचार में चेष्टावान् हुए और जिनके ऐसा करने में अब कोई विघ्न नहीं रह गया था। इन कवियों का प्रादुर्भाव उस युग में हुआ जब समाज में त्रिमूर्त्ति का मान ज़ोर पकड़ रहा था और भक्तिवाद अनात्मन्वादी, तांत्रिक तथा तीर्थङ्कर-भक्तों पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न कर रहा था। हिन्दुओं की सामाजिक दशा भी विपत्तिमय थी। समयानुकूल

हिंदी को भी उसी ओर झुकना पड़ा और तत्कालीन भक्तिवाद को प्रोत्साहन देना भक्त कवियों का ध्येय हुआ और उन महात्माओं ने लोकमर्य्यादा-संस्थापक दुष्ट-घालक सुजन-रक्षक भक्तवत्सल ईश्वर का उपदेश कर हिन्दूसमाज में एकता व आशा का संचार किया। उनने अपने भक्तिमार्ग से हिन्दुओं को सहारा ही नहीं दिया, वरन् उत्तर भारत के साधारण जीवन के प्रतिबिंब स्वरूप उसके साहित्य का अभ्युदय भी किया[1]।

भक्तकवियों की ऐसी महानता व प्रधानता की दृष्टि से ही भाषा-विद्वानों द्वारा हिन्दी-साहित्य-विकास-क्रम में भक्त-कवियों को एक विशेष स्थान प्राप्त है और उनका यत्न-युग भक्ति-काल के नाम से विख्यात है। गद्य का निश्चित आरम्भ लल्लू लाल के समय से हुआ और वह समय कम्पनी के शासन का था। तब से गद्यसाहित्य को समुन्नत करने की विशेष चेष्टा की गई, परन्तु उसके पहले तक हिन्दी में भक्ति-सम्बन्धी काव्य ही सर्वस्व था। हिन्दी-काव्य का जन्म भारत की अनिश्चित राजनीतिक दशा के युग में चारण व भाटों द्वारा हुआ अवश्य, पर प्रगति प्रभावशालिनी नहीं हुई। गाथा-काल के चारणकवियों का अत्यधिक सम्बन्ध अपने आश्रयदाता सर्दारों व राजाओं से था और उन्हीं के उत्साह व आनन्द के लिये रचनाएँ की जाती थीं[2]। ऐसी रचनाओं में केवल चन्द बरदाई की रचना (पृथ्वीराज रासो) उल्लेखयोग्य हुई। चन्द का समय लगभग ११९१ ई० है, उसके बाद गाथा-काल का अन्तिम कवि जोधराज १३६३ ई० में हुआ। जोधराज के

[1] श्री श्यामसुन्दर दास : हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १२

[2] *Lala Sita Rama: Hindi Selections Book I, pp. 19.*

बाद चारण काव्य का कोई भी कवि नहीं हुआ क्योंकि तब तक समाज की अवस्था और रुचि दूसरी ही ओर प्रधावित होने लग गई थी।

चारणकाव्य की गति का अवरुद्ध होना स्वाभाविक भी था, कारण कि वीरकीर्ति गान की यह लिप्सा उस समय भारतीय समाज में तत्कालीन राजनीतिक अवस्था की आकस्मिक प्रेरणा से उत्पन्न हुई थी और शृंगारीय कवि-रुचि के लिए एक अपवाद रूप थी। इसीसे उसकी ख्याति भी सीमित रही, उसका स्थान राजपुताना ही रहा क्योंकि भारत के उस भाग ने हिन्दू राजसत्ता की रक्षा में थोड़े समय के लिए अस्ताचलगत भास्कर की भाँति अपूर्व शौर्य व त्याग परिदर्शित किया। ईसावाद ५ वीं सदी से हर व विष्णु की भक्ति की कल्पनाओं में शृंगाररस को जो प्रधानता दी जा रही थी, उसकी मस्ती उत्तरी भारत के अनेक हिस्सों को मत्त बना रहा था। कवि भी उस प्रेममय शृंगार की उन्मत्तता में विभोर थे, समाज उसी दशा को सम्मान दे रहा था। तो भी राजपूत वीरों ने राष्ट्रीय उत्कर्ष का आलिंगन कर वीरकाव्य का सोमरस पान करना श्रेयस्कर समझा और समराग्नि में उनकी पूर्णाहुति हो जाने पर उनकी अमरकीर्ति शस्त्रधार से शास्त्रवार्त्ता में जा बसी। हिन्दू राजसत्ता का निपात हुआ, हिन्दी साहित्य के उस आरम्भिक शौर्य का भी अन्त हुआ। अब काश्मीर, ब्रज और बंगाल की भक्तिलहरें लोगों के मनोरंजन की अग्रगामिनी बनीं। वर्षों से शिव पार्वती की भक्ति होती आ रही थी, विष्णु की उपासना भी उनके अवतार की धारणा के साथ जारी थी और कृष्णभक्ति की लहर दक्षिण से उत्तर को उमड़ रही थी और

इन सबों के साथ तांत्रिकों के साधारण जनप्रिय उपचार मिश्रित होते जा रहे थे। प्राकृत और अपभ्रंश में ४री शताब्दी से ही लोकरंजन के उपयुक्त प्रेममय कविताएँ रची जा रही थीं, और उनकी समानता में तत्पर संस्कृत के भी कवि अध्यात्मवाद के साथ शृंगाररस की समुन्नति को कटिबद्ध थे। निम्बार्क स्वामी ने कृष्णभक्ति का प्रचार उत्तर भारत में किया और उनने संस्कृत में कृष्णोपासना पर रचनाएँ भी कीं। उनसे प्रभावित लोगों में कृष्ण की भक्ति का प्रबल भाव उत्पन्न हुआ, पर वह भाव शृंगारीय उद्गारों से वर्जित नहीं रह सका। संस्कृत के काव्याचार्य और महाकवियों ने शिव-पार्वती के प्रेमस्वरूप-वर्णन का प्रतिरूप राधाकृष्ण के शृंगारीय वर्णन में प्रस्तुत करना आरम्भ किया। सहजिया सम्प्रदाय और विकृत तंत्र ने उसमें सहयोग दिया। फल हुआ कि समाज की तत्कालीन विगड़ी दशा को राधाकृष्ण का प्रेममय वर्णन बड़ा ही प्रिय लगा। उस क्रम का अनुसरण भाषाकवियों ने भी खूल कर किया और तत्परता-पूर्वक शिव की समानता नन्दनन्दन कृष्ण को दी, मानो इसी को प्रकट करते सूरदास ने आगे कहा भी—"सखी री नन्द-नन्दन देखु, धूरि धूसरि जटा जुटलि हरि किये हर भेखु[१]।" इस चेष्टा के फल-स्वरूप ५ वीं सदी से लीलाओं को इसप्रकार विशेषता दी जाने लगी कि शिव-पार्वती का आरम्भिक पवित्र स्वरूप-प्रकाश शृंगार-तम से आच्छादित सा होने लगा। पर संयोगवश शीघ्र ही प्रेमवर्णन की एक बाढ़ सी उमड़ी और धर्मिक वर्णनों को भी उसने शृंगार

---

[१] सूरदास : सूरसागर—पद ४९

से ही आभूषित किया। बदली रुचि में इस समय शील, मर्यादा और आदर्श का स्थान नितान्त गौण रहा। संयोगवश ऐसी ही सामाजिक दशा में ईसावाद १४ वीं शताब्दी के अन्त में, रामानन्द ने कृष्णभक्ति के स्वरूप पर विचार किया, उन्हें उसका आदर्श श्रेष्ठ व समाज के लिये आदरणीय प्रतीत नहीं हुआ। इनने कृष्ण के स्थान में राम को खड़ा कर रामादर्श से समाज को लाभान्वित करने का संकल्प किया। वहीं भक्तिकाल का आरम्भ और हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता का बीजवपन भी हुआ।

रामानन्द की शिक्षाओं का माध्यम हिंदी थी और उनके शिष्य भी हिंदी ही में धर्म्म-ग्रहण व धर्म्म-प्रचार करते थे। भारतीय धर्म्म का प्राण ईश्वरवाद होने के कारण रामानन्द और उनके बाद के भक्त कवियों ने हिंदी-काव्य में जो धार्मिक विवरण किये उनमें ईश्वर-विचार का ही प्राचुर्य व प्राधान्य रहा, क्योंकि पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा काव्य में त्रिमूर्ति के किसी न किसी देवता की विशेषता दिखलाने की प्रथा पूर्णतः स्थापित की जा चुकी थी। हिंदी के विद्वान् कवियों ने संस्कृत-कवियों का ही अनुकरण किया, अतः उस समय हिंदी में कोई रचना संस्कृत-ग्रन्थों के भावों से नितान्त स्वतन्त्र नहीं की गयी। फिर धार्मिक विवरण के आधार भी संस्कृत के ही ग्रन्थ थे और संस्कृत-ग्रन्थों की धारणाएँ भारतीयों की जीवन मीमांसा में अभिन्न थीं। अतः संहिता-काल से तांत्रिक पूजा काल तक के सारे सिद्धान्तों का व्यक्तीकरण तत्सम या तद्भव रूप में भक्तिकाल के हिंदी कवियों द्वारा हिंदी में आरम्भ हुआ। इसी कारण वेद, वेदान्त, गीता, योग आदि के विचारों की छाप हिंदी के

भक्त कवियों की रचनाओं में विद्यमान मिलती है और उनका तुलनात्मक ज्ञान नहीं होने के कारण कभी २ पाठकों को तरह २ की भ्रान्तिमूलक कल्पनाएँ भी करनी पड़ती हैं।

रामानन्द से पहले के या समकालीन कृष्णोपासना-प्रचारकों में दो भारी कमी थी—एक कि उनके कृष्ण-वर्णन संस्कृत में थे, दूसरा कि कृष्णोपासना में सभी जाति के लोगों को समानाधिकार प्राप्त नहीं थे। रामानन्द ने लोकरुचि के निमित्त इन कमियों को दूर करते हुए रामोपासना की शिक्षा में हिंदी को स्थान दिया और मनुष्यमात्र का एक सा धार्मिक अधिकार कहा; राम-जीवन की सर्वजन-प्रियता के आख्यान इसमें सहायक भी हुए। रामानन्द ने अपने शिष्यों में जातिभेद नहीं माना और नीच कुल के लोगों को भी अपना शिष्य बना रामभक्ति का प्रचार चाहा। किन्तु रामानन्द को कोई वैसा सुयोग्य शिष्य नहीं मिला, जो कृष्ण-भक्ति की आचार्य-परम्परा की भाँति राम-भक्ति में तत्पर हो रामानन्द के उद्देश्यों की पूर्त्ति करता। रामानन्द के सभी शिष्य गुरु बनने की तत्कालीन प्रथा के अनुयायी हुए और वे अपनी पृथक २ पंथ बना आप पंथ-प्रवर्त्तक-पद पर पूज्य बने। हिंदी में पुरातन विचारों का समावेश करने का प्रमाण रामानन्द के शिष्य भवानन्द के प्रयत्न से भी प्रकट होता है। भवानन्द ने वेदान्तदर्शन की व्याख्या हिन्दी में की और उसका नाम 'अमृतधार' रक्खा। रामानन्द के शिष्यों में कबीर की भारी प्रसिद्धि हुई और कबीर ने अपना एक सम्प्रदाय चलाया, जो 'कबीर-पंथ' के नाम से प्रचलित हुआ[४]।

---

४. Lala Sita Rama: Hindi SelectionsP. 1-13 "His famous disciple Kabir succeeded in founding a still existing

कबीर शिक्षा-समन्वित नहीं थे, उनने स्वयं माना है—"मसि कागद तो छुयो नहिं कलम गहो नहिं हाथ।" किन्तु समय-गति के अनुकूल वह सत्संगी थे, साधु-संत व भक्तों के संग से ही उन्हें धर्म्म की बातें विदित हुईं। उन्हें संस्कृत-प्राकृत या अरबी-फारसी के किसी ग्रन्थ का आप अध्ययन कर मनन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। सुनी बातों के सहारे ही वह पंथ-निर्म्माण को तत्पर हुए। काव्य की प्रतिभा, सूक्ष्म, तल्लीनता और बारिकियों के होते भी कबीर का ध्यान सर्वदा पंथनिर्माण की ही ओर रहा, अतः जो कुछ कबीर ने लोगों के मनोरंजन व आकर्षण के लिए शिक्षा देते समय गाया वह काव्यरचना के विचार से नहीं, लोगों पर प्रभाव डालने के विचार से और उस समय सुनी बातों को उल्टी-सीधी कर वह कहते चले गए। यही कारण है कि कबीर के उपदेशों में विरोधात्मक और निरर्थक विचार मौजूद मिलते हैं और वेदान्त-उपनिषद्-पुराणादि की बातें सुनी हुई ही साखियों व पदों में समाविष्ट हैं।

गुरु बनने में कबीर ने स्वगुरु रामानन्द का अनुसरण किया और जातिभेद को नहीं माना, परन्तु स्वयं रामानन्द सा विद्याविशिष्ट नहीं होने के कारण उनने खण्डन-प्रवृत्ति ग्रहण की और अपने ही मुख से जनता में गुरु-महिमा की व्याख्या अनेक ढंग से की। कबीर की जन्म-कथा रहस्यमय होने के कारण उनका सम्मान न हिन्दुओं में पूरा था न मुसलमानों में, न कबीर गुरु बनने के लोभ का संवरण कर अपने को एक ही दल में रखना चाहते थे। इसमें कुछ द्वेषवश उनने

---

sect which has united the salient points of Muhammadanism and Hinduism."

'हिन्दू मुसलमान दो दीन सरहद बने वेद कत्तेब परपंच साजी' कहकर पंडित और मुल्लाओं पर कटूक्तियों की वर्षा की; ब्राह्मणों के प्रति कहा—'जजमान कहै मैं पुन किया, वह मिहनत का खाय' और मुल्लाओं को सुनाया-'ता (मसजिद) चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय'। लोगों में अपने 'हंस उबारन आए' का संदेशा सुनाते हुए उनने 'हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई' का अनुभव 'अरे इन दुहुन राह न पाई' के निष्कर्ष में जन-साधारण के समत्त रक्खा। फिर 'सम्भवामि युगे युगे' की याद दिलाते हुए अपने सम्बन्ध में कहा-'समरथ का परवाना लाए हंस उबारन आए।' शंकर के समान कबीर ने पदों में आत्मबोध को भी मान दिया-'जागु पियारी अब का सोवै, रैन गई दिन काहे को खोवै।'; 'सब्द ज्ञान उर अंतर लागै' कहकर उनने औपनिषद् शब्द व ज्ञान की शैली का अनुसरण किया। 'कहा हमर मानै नहीं किमि छूटै भ्रम जाल' के उपदेश से सफलता मिलने पर उनने अपने में लोगों का विश्वास प्राप्त करने का भी यत्न किया; समाज के साधुओं के जीवन की आलोचना की, उनमें बिरले को ही सच्चा माना—'जो मन पर असवार है, सो साधू कोई एक।' अपने को वह पूरा संयमी कहते थे, मानों 'रमैया की दुलहिन' से बचनेवालों में एक वह भी थे, तभी सुनाया भी—'हमतो बचिगे साहब दया से, सब्द डोर गहि उतरे पार।' अपने अनुयायियों में गुरु महिमा का वर्णन करते हुए उनने गुरु को गोविन्द से ऊंचा पद दिया-'गुरु हैं बड़े गोविंद ते'। उनने अपने पदों में आशावाद का आकर्षण भी पूरा रक्खा—

"सो दिन कैसा होयगा, गुरु गहैंगे बाँह।
अपना कर बैठावहीं, चरणकमल की छाँह॥"

कबीर ने 'साहेब सा समरथ नहीं' कहकर एकेश्वरवाद का परिचय दिया है और 'पावक रूपी साँइयाँ, सब घट रहा समाय' द्वारा उसकी सर्वव्यापकता भी मानी है, परन्तु इसी कारण कबीर को मुसलमानों के समान कोरा एकेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता, न यही कहना ठीक होगा कि मुसलमानों के एकेश्वरवाद से प्रभावान्वित हो वह एकेश्वरवाद की शिक्षा में रत रहे। कबीर साहब के पदों में एकेश्वरवाद के साथ जन्मान्तरवाद- अहिंसावाद- मायावाद-अवतारवाद- मूर्त्तिपूजा- वर्णाश्रमधर्म-तीर्थमत-आदि सम्बन्धी वचन भी अपनी प्रधानता रखते हैं, बल्कि इनके आगे एकेश्वरवाद के पद गौण हैं। पंथ-प्रवर्त्तक बनने की इच्छा के कारण कबीर अवतारवाद, गुरुसेवा और भक्तिवाद को छोड़ नहीं सकते थे। हमेशा उनने अपने समय के भक्तिवाद को स्वीकार किया और वैष्णवमत के अनुकूल विचार व्यक्त करते रहे। वेदान्तमत का प्रभाव उन पर था और सूफीमत का भी ज्ञान वह रखते थे, पर भक्तों का सखीभाव उन्हें इतना प्रिय था कि एकेश्वर के प्रति जीवात्मा के प्रेम का वर्णन उनने सर्वदा उसी भाव से किया। अपने इष्टदेव के स्मरण और नामजाप को वह ब्रह्ममिलन का साधन मानते थे, पर उसमें भी उनकी अपनी विरोधात्मक विशेषता बनी रही। उनकी शिक्षा थी कि बिना ज्ञान कोरे भजन या भक्तिस्वाँग से भव पार कर जाना कदापि सम्भव नहीं। जबतक ऐसी दशा है कि 'ब्रह्म चीन्है नहीं सब्द बूझै नहीं' 'मुक्ति की आसा' निराशा मात्र है। आडम्बरपूर्ण भक्ति में लगे भक्तों को वह अपने अनुकूल भक्ति करने को कहते और 'हिये को नैन क्यों फोरि डारो' का उपालम्भ दे समझाते—

"ना कछु न्हाये ना कछु धोये, ना कछु घंट बजाये हो।
ना कछु नेती ना कछु धोती, ना कछु नाचे गाये हो॥
सिंगी सेल्ही भभूत और बटुआ, साँई स्वाँग से न्यारा हो।
कहैं कबीर मुक्ति जो चाहो, मानौ सब्द हमारा हो॥"

वैष्णवों के साकेत के समान कबीर ने 'सत्यलोक' व 'चैतन्य देश' का निर्देश किया और ईश्वर की भक्ति को ज़रूरी बतलाया, किन्तु भक्ति-स्वरूप-सम्बन्ध में उनका 'सब्द' था—"भक्ति का मारग झीना रे, नहि अचाह नहि चाहना चरनन लौलीना रे"—अभिप्राय कि भक्ति भक्त होने के नाते करनी चाहिए चाहना से प्रेरित हो कदापि नहीं[5]। भक्ति का यह आदर्श सम्भवतः कबीर ने अपने गुरु रामानन्द की रामभक्ति के अनुकूल स्थापित किया; क्योंकि व्यवहारगत कृष्ण-भक्ति में जो कामना थी, जो शृँगार था, जो प्रेमभाव था, उनको वैसा मान कबीर ने अपने उपदेश में नहीं दिया। उनने शृंगार को समय का सम्मान देकर भी उसके कृत्रिम रूप का खण्डन किया और शिक्षा दी कि भक्त में क्षमा, संतोष, दया, समता, ज्ञान, विराग चाहिए, भक्त के सामने—'भौसागर औगाध भँवर है सूझै वार न पार' और उसी अगाध भवसागर को पार उतर अपने इष्टदेव से मिलना है, न खेवट है न नाव;

---

5. Lala Sita Rama : Hindi Selections B. IV. P, 1-M " I have only to add that there in much is Kabir's teachings to show that in spite of all that has been said the *Satyaloka* and *Chaitanyadesh* of Kabir Panthis is identical with "Saket" of Vaishnavas, Saket being particularly mentioned in one of the stanzas quoted and Kabir's conception of God and *bhakti* is only a variant of the Vaishnava doctrines".

इस कारण भक्त का श्रृंगार बनावटी न होकर होना चाहिए—
"सील सुमति की चुनरी पहिरो, सत मति रंग रँगाय।
ज्ञान तेल सों माँग सँवारो, निर्भय सेंदुर लाय॥
कपट पट खोल धरो री॥"

कबीर के बाद उनका कोई शिष्य वैसी योग्यता का नहीं हुआ। कबीर-पंथियों में मत को ऊँचा उठाने का भाव रहा और वे औरों के विचारों के अनुरूप वर्णन कबीर के नाम पर पद व साखियाँ रचकर करते गए, किन्तु जिस विचार और चातुर्य से कबीर ने अशिक्षित होते भी काम लिया था वह पुनः किसी के यत्न में नहीं पाया गया। तथापि कबीर के कुछ ही समय बाद नानक नामक सिक्ख-सम्प्रदाय-संस्थापक गुरु ने कबीर के मार्ग का अनुसरण किया। नानक का समय है १४६६ ई० से १५२८ ई० तक। गुरु नानक के आदिग्रन्थ में कबीर के बहुत से शब्द और साखियाँ संगृहीत होने के कारण स्वीकार करना पड़ता है कि नानक की चित्तवृत्ति आरम्भ में कबीर की ओर थी और उनने कबीर के ढंग व विचार का पूरा अध्ययन किया[६], पश्चात् उन्हें स्वतंत्र सम्प्रदाय स्थिर करने की इच्छा हुई। गुरु नानक ने अपने सम्प्रदाय में एकेश्वरवाद को स्थान दिया और इसके समर्थन में ज्ञान, योग, निराकारोपासना, मूर्तिपूजानिषेध और जाँतिपाँति-विरोध पर उनके उपदेश हुए। नानक ने उस समय अपने

---

[६]. J. N. Furquuar, Modern Re. Movements in India, p. 336 "Nanak (1469-1538), the founder of the Sikh sect, was a disciple of the famous teacher Kabir. Except in two matters, his system is practically identical with that of many other Vaishnava sects."

मत को मुसलमानों की धारणाओं के प्रत्युत्तर में रखना उचित समझा और उसी ढंग से शिक्षाएँ दीं, तोभी गुरुमान के निमित्त भक्ति के युग में उनने ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति को भी अपने सिद्धान्तों में स्थान दिया। कबीर की भाँति उनने नाम-माहात्म्य पर बहुत ज़ोर दिया, वह पुकार कर कहते थे—'सिमरत नहिँ क्यों मुरार, माया जा की चेरी' और नाम-सुमरन के समर्थन में वेद की भी दुहाई दिया करते थे—"नाम की महिमा सुनहु जन भाई, नाम की शोभा वेद सुनाई।'° नानक ने भी पुराने धर्मशास्त्रों के अध्ययन व मनन का कष्ट नहीं उठाया न उनके आधार पर सम्प्रदाय गढ़े। उनकी धारणाओं में स्वमत प्रधान थे और उनका शृंगार समाज के साधारण लोगों की रुचि के अनुकूल किया गया था।

जिस समय रामानन्द कृष्णभक्ति के बदले रामभक्ति की पताका ऊँची करने में लगे थे और जिस समय रामानन्द के शिष्य कबीर 'भक्ति का मारग झीना रे' गाते हुए भक्ति में आदर्शवाद का चित्र खींच रहे थे, उधर मथुरा और बंगाल के कृष्णभक्त अपने अवतारी पुरुष कृष्ण के शृँगार तथा प्रेम के चिन्तन मे लगे थे और शक्ति के पूजक देवी तथा शिव की भक्ति में लीन थे। इन भावों से बंगाल के आसपास के प्रांत भी प्रभावित हो रहे थे, पर विशेष प्रभाव उस समय बंग-द्वार दरभंगा के उस भाग पर पड़ा जो बंगाल से सटा हुआ आचार-विचार में बंगवत् था। १५ वीं शताब्दी के आरम्भ में मैथिल-कोकिल विद्यापति ने उस प्रभाव को अपनी कोमल

° प्रभुदत्त ब्रह्मचारी : भक्त-चरितावली, पृ० २०५

पदावली में सरहित करना आरम्भ किया। उनने कभी 'नन्दन वन मे भेटल महेस' कहकर शैवों के महादेव को कभी 'पुन विसरु जनि माता' द्वारा शक्ति पूजकों की देवी को और कभी २ 'भनई विद्यापति सुन वरजौवति वन्दह नन्द किसोरा' गाकर राधावल्लभ कृष्ण को अपने पदों में स्मरण किया। राधा-कृष्ण, शिव और देवी में किसी एक को मान औरों के त्यागने में वह असमर्थ थे, या वह किसी एक दल की प्रियता प्राप्त करना अनुचित समझते थे। कवि को लोकप्रिय होना पड़ता है, इसी से सिद्धान्त सा है कि कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। तदनुकूल अपनी पदावली को विद्यापति युग विचारों से इस प्रकार भरने के पक्षपाती जान पड़ते हैं कि तत्कालीन उनके पार्श्ववर्ती सभी मतवादी उनका समादार करें। वास्तव में कवि की दृष्टि से न वह शैव थे, न शाक्त और न वैष्णव वह धर्म्मप्रचारक या मतपुष्टिकर्त्ता न होकर एक युगधर्मानुसारी कवि थे, लोकरञ्जन उनका लक्ष्य था। उनकी काव्य प्रतिभा स्वाभाविक थी, कविता में लगन थी और काव्य-कलेवर की कमनियता के लिए उनके पास पाण्डित्य रूपी बहुमूल्य भूषण का भण्डार भी था। तभी उस कवि कोकिल की काकली सरस हो मिथिला के घर वन को प्लावित कर बंगाल के राधाकृष्ण-भक्तों के हृदय लोक को तारने में समर्थ हुआ। तब राधाकृष्ण प्रेम के प्रचार युग में चैतन्यदेव विद्यापति के पदों को गाते २ प्रेमावश में मुर्च्छित हो जाया करते थे, आज मिथिला की झुण्ड के झुण्ड कोकिलकण्ठी महिलाएँ व तीर्थयात्री पुरुष प्रेम में विद्यापति के पद व नचारियाँ गा २ कर अलौकिक आनन्द उठाया करते हैं। इस कोटि का कोई भी दूसरा कवि बंगला

और हिन्दी का नहीं हुआ जिसे बंगप्रानियों में बंगाली का और हिंदी-प्रेमियों में हिंदी-भाषी का समादर प्रदान किया गया हो। यह भी निर्विवाद है कि धर्म्म और साहित्य दोनों विद्यापति को अमर ही नहीं ऐसा सर्वप्रिय भी बनाने में समर्थ हुआ कि उनके पद अट्टालिका से कुटिया तक में आदृत किए गए।

शिव भक्त हाथ में डमरू लिए भस्म-छाप लगाए जिस समय "कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ" गाने लगता है वह तन्मयता में अपने को भूल जाता और उस दशा में विद्यापति को शिव का वरप्राप्त सिद्ध समझने लगता है, उसके कानों में प्रतिध्वनित होने लगता है—"उगना रे मोर कतए गेला" और उसके रोमरध्रों मे गुँजने लगता है—"आन चान गन हरि कमलासन सब परिहरि हम देवा, भक्त-वछल प्रभु बान महेसर जानि कयलि तुअ सेवा।" किन्तु इससे कम तनिक भी तल्लीनता उस देवी भक्त को विद्यापति की देवी—वन्दना में नहीं दिखाई देती जो प्राकृत प्रतीति से प्रेरित महिषासुरमर्दिनी दैत्यविनाशिनी कराली काली महादेवी देवी की प्रसन्नता के लिए स्तुति करना आरम्भ करता है[६]—

"जय जय भैरवि असुर-भयाउनी
पसुपति भामिनि माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि
अनुगति गति तुअ पाया॥
बासर रैनि सबासन सोभित
चरन, चन्द्रमनि चूड़ा।

[६] विद्यापति की पदावली, पृ० ३

कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल,
कतओ बगिल कैल कूड़ा ॥
सामर वरन, नयन अनुरञ्जित,
जलद-जोग फुल कोका ।
कट कट विकट ओठ-पुट पाँड़रि,
लिधुर फेन उठ फोका ॥
घन घन घनए घुघुर कत बाजए,
हन हन कर तुअ काता ।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरु जनि माता ॥"

ऐसी ही मस्ती में कृष्णभक्त भी आत्मसुधि खो बैठते हैं जब वे विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेमवर्णन की मादक सौंदर्योल्लेखसनी अछूती उपमाओं को उद्गीत करने लगते हैं। विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण के नखशिख वयः संधि, प्रेम-प्रसंग, विरह-व्याकुलता, संदेश-संवाद, मिलन अभिसार, राग आदि के सूक्ष्म विश्लेषण हैं, अनुपम चित्रण हैं और जगह २ पर प्रेमिका का हृदय पदों में निकाल रक्खा गया है। राधा ने कृष्ण-प्रेम को व्यक्त करने में कुछ भी संकोच नहीं किया है, उसे कृष्ण से मिलने के अलौकिक साधन प्राप्त करके ही शान्ति होती है—'सुरपति-पाए लोचन मागओं गरुड़ मागओं पाँखि।' कारण कि इनके बिना कृष्ण मिलन में अनेक विघ्न थे और कृष्ण-मिलन बिना जीवन व्यर्थ था, क्योंकि उस दशा में यौवन व्यर्थ था; राधा को कहना भी पड़ा—"कि मोरा जीवन कि मोरा जौवन कि मोरा चतुरपने।" राधा की व्याकुलता असीम थी, विरह-व्यथा को [illegible] वह असमर्थ थी और प्रेमराग को छिपा

रखना भी उसके लिए असम्भव था; उसने व्यक्त कर दिया—
"चरन जावक हृदय पावक दहई सब अँग मोर।" लोकापवाद से बचने की चेष्टा करने पर भी राधा ने कृष्ण को देख लिया था और तभी से उसकी दशा पगली सी थी, तब वह छिपाती किस तरह; वह कहती रहती—"आध नयन कोने जब हरि पेखल तैं भेल अत परमाद।" पगली राधा को कोई भय भी नहीं रहा, उसने कृष्ण के भय-रहित निर्लज्ज परिहासादि में ही गौरव समझा और लोकलज्जा को ठुकरा कर नागर-सम्राट् कृष्ण के साथ रस में बेसुध बनी रही, सुधि आने पर भी इन्हीं को याद कर गाया करती—[1]

"एक दिन हेरि हेरि हँसि हँसि जाय।
अरु दिन नाम धए मुरलि बजाय॥
आजु अति नियरे करल परिहास।
न जानिए गोकुल ककर बिलास॥
साजनि ओ नागर - सामराज।
मूल बिनु परधन माँग बेआज॥
परिचय नहिं देखि आनक काज।
न करए संभ्रम न करए लाज॥
अपन निहारि निहारि तनु मोर।
देइ आलिंगन भए बिभोर॥
खन खन बैदगधि कला, अनुपाम।
अधिक उदार देखिअ परिनाम॥
विद्यापति कह आरति ओर।
बुझिओ न बूझए इए रस-भोर॥"

[1] विद्यापति की पदावली, पृ० ६२

विरह में अथाह दुःख उठाने पर राधा ने मिलन का अपूर्व सुख भी पाया—'दुख सहि नहि सुख पाओल ना'। परम प्रीति हो जाने पर राधा ने 'लाजे न मरए नारि कठजीव' कहती 'तिरि-वध-पातक लागए तोय' समझाती और 'न जानिअ सुरत करए कौन काज' की सफाई देती भी कृष्ण की हरकतों को मान्य बनाया। अपनी और कृष्ण की करनी का स्पष्ट वर्णन भी राधा ने बड़े प्रेम से किया—[10]

"निवि-बंधन हरि किए कर दूर।
एहो पए तोहर मनोरथ पूर॥
हेरने कओन सुख न बुझ विचारि।
बड़ तुहु ढीठ बुझल बनमारि।
हमर सपथ जों हेरह मुरारि।
लहु लहु तब हम पारब गारि॥
विहर से रहसि हेरने कौन काम।
से नहि सहबहि हमर परान॥
कहाँ नहि सुनिए एहन परकार।
करए विलास दीप लए जार॥
परिजन सुनि सुनि तेजब निसास।
लहु लहु रमह सखी जन पास॥"

अनेक ऐसे पद हैं और इनसे भी नग्न शब्दों में कृष्ण-केलि वर्णित है। तोभी सम्मति है कि विद्यापति ने ऐसा वर्णन जीव और ईश्वर के मिलन लक्ष्य से ही किया है[11]।

---

[10] विद्यापति की पदावली, पृ० ११३

[11]. G A, Grierson . The Modern Varnacular Literature of Hindustan, p 10 ' .his chief glory consists in his matchless

ग्रियर्सन महोदय का कहना है कि विद्यापति का वर्णन आध्यात्मिक था, पर उनके बाद के शृंगारी कवियों ने उनकी शैली का अनुकरण कर प्रेम चित्रण को भ्रष्ट शृंगार का रूप प्रदान किया[12]। परन्तु विद्यापति के पदों से साफ झलकता है कि राधाकृष्ण के प्रेमवर्णन ओट में मनोरञ्जनार्थ भ्रष्ट शृंगार को विद्यापति ने भी अपनाया और उनके बाद वह स्वरूप क्रमशः विकास पाता गया।

विद्यापति का लक्ष्य आध्यात्मिक स्वीकार करने पर भी राधा व कृष्ण के शृंगार मान अनुराग केलि का जैसा नग्न वर्णन उनने अपनी पदावली में किया है वह आदर्श प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कृष्ण का अवतारी पुरुष सर्वमान्य होने पर भी उनके ईश्वरत्व शील का पालन करना कवि को प्रिय नहीं हुआ और शृंगाररस की तीव्र मादकता में बेसुध कवि को अध्यात्म या धर्म या ईश्वर पर कुछ कहना भी नहीं था।

---

sonnets (पद) in the Maithili dilect dealing allegorically with the relations of the soul to God under the form of the love which Radha bore to Krishna These were adopted and recited enthusiastically by that celebrated Hindu reformer *Chaitanya* who flourished at the beginning of the Sixteenth century

[12] Geroge A Grierson The Modern Vernacular Literature of Hindustan, p 11 —"Subsequent authors have never done anything *longo inter vallo* imitate him But while the founder of the School never dealt with any subject without adoring it with some truly poetical conceit, his imitators have too often turned his quaintness into obscurity, and this passionate love songs into the literature of the brothel."

एवं प्रकार सूफीमत के किसी प्रभाव का भी प्रमाण संरक्षित करना विद्यापति का ध्येय नहीं था। उनके संस्कृत-ज्ञान पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि उनने संस्कृत काव्य और काव्य-शास्त्र के अनुकूल राधा-कृष्ण को भाषाकाव्य-कल्पना का पात्र बनाया और फिर संस्कृत के शृंगारीय वर्णनों की छटा सरसाई। संस्कृत-कवियों के आश्रयदाता के सदृश विद्यापति के भी प्रोत्साहक थे श्रीशिवसिंघ और सम्भवतः उनके आनन्द के लिए मैथिलकवि ने रस-राज शृङ्गार से राधा-कृष्ण का साथ कराया। विद्यापति की वर्णनशैली भी संस्कृत-कवियों की परिपाटी से सादृश्य रखती है और संस्कृत के काव्याचार्य-निश्चित नियमों का भी वैसाही पालन यहाँ भी किया गया है। इस साम्य के बोधार्थ संस्कृतसाहित्य का अनुशीलन करना चाहिए।

ईसाबाद २ री सदी से ७ वीं सदी तक का समय संस्कृतसाहित्य के शृंगारी महाकवियों का समय है और उनमें सातवाहन, कालिदास, घटखर्पर, मयूर, चोर, भर्तृहरि व अमरुक नामक छः कवि शृंगारविषय को चरम सीमा पर पहुँचानेवाले हुए। उनके काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने से विदित होता है कि सभी शृंगार तथा नायक-नायिका के विरह-मिलन के कल्पना चित्रों में मानो होड़ लगाए एक ही मार्ग पर एक लक्ष्य से सरपट दौड़ रहे थे।

सातवाहन की 'गाथासप्तशती' का समय द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया जाता है। वह समय प्राकृत की प्रधानता का था और 'गाथासप्तशती' की रचना भी उसी में की गई। इस ग्रन्थ से उस पुरातन काल में भी महे शृंगाररस की जनप्रियता का प्रमाण मिलता है और 'अमिअं पाउअकव्वं' के

[13]शृंगाररस से घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। कवि ने मंगलाचरण से ही शृंगारीय वर्णन को ध्यान में रक्खा है और 'रोसारुणपडिमा'[1] में 'अनभिज्ञोऽसि प्रेमव्यवहाराणां यस्त्वं प्रियाप्रणयरोपलक्षणे हर्षस्थाने कुप्यसि'[1] का भाव व्यक्त किया है। पश्चात् काव्य का कलेवर नायक-नायिका और दूती के मुख से कथित दीर्घरमणार्थ सकेत, विपरीतरंग, क्रीडोपवन, तिलवाटिका, शालिक्षेत्र, संकेतस्थान आदि वर्णनों से सजाया गया है। आगे इस मार्ग का अनुसरण कहांतक और किन २ द्वारा किया गया यह ३ री व ४ थी सदियों के सम्बन्ध में कहना कठिन है क्योंकि उस काल के किसी प्रमुख कवि का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। फिर ५ वीं शताब्दी में कालि-दास का होना माना जाता है। कालिदास ने प्राकृत के ऐसे लोकप्रिय मार्ग का अनुसरण किया, यह उनके ही काव्य से प्रमाणित है।

कालिदास ने महाकाव्यों में शील का पालन किया है, किन्तु 'काव्यस्य एकदेशानुसारी' लक्षणवाले खण्डकाव्य भी उनने लिखे और उनमें प्रकृति व प्रेम के उद्रेक में कामोद्दीपन की सामग्रियाँ भी पूरी मात्रा में सञ्चित कीं। उनका 'ऋतु-संहारम्' इसका प्रमाण है। ऋतुसंहार का आरम्भ तापकाल से करके महाकवि कालिदास को प्रचण्ड सूर्य से ' ५-

---

[13] गाथासप्तशती—२

"अमिअं पाउअकव्वं पडिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥"

[14] गाथासप्तशती—१

गाथासप्तशती—१ की टीका में श्रीगङ्गाधरभट्ट

मन्मथः' का कुप सा हुआ, यद्यपि 'मदनस्य दीपनं शुची निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः', 'स्त्रियो निशार्धं शमयन्ति कामिनाम्' का ध्यान कर वह पुलकायमान हो उठे हैं[१६]। वह आनन्द वर्षाकाल में 'घनागमः कामिजनप्रियः' कहते स्पष्ट हो पड़ा है और तृतीय सर्ग में 'नववधूरिव रूपरम्या शरत्' से कवि तन गोमाश्रित् हो जाता है; सुरतोत्सव-लीन महाकवि को 'रतिश्रमक्षाममुखमण्डल' व 'दन्तच्छदं' से ज्ञान मिलता है—"संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्', तब वह स्वेदागम, लोलनेत्र, कठिन स्तन, सशोक हृदय, मञ्जुलमञ्जरी, कान्तावियोगपरिस्वेदितचित्तवृत्ति आदि के विश्लेषण में संलग्न होते हैं[१७]। 'मेघदूत' में भी प्रवासी-प्रमदाओं की निराशा, कामियों में विलासोत्पादन, नारियों का शय्यागृह में उत्सुकतापूर्वक प्रवेश, पथिक-वधुओं की व्याकुलता, उद्गता रोमराजी, वरकुचाग्रोन्नतहार, नितम्ब देश आदि के सादृश्य का अभाव नहीं है[१८]। पूर्वमेघ का समारम्भ देख कान्ताविरहतप्त कामी यक्ष ने जो संदेश भेजे हैं वे वस्तुतः ललित वनिता, कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्य ताप, उत्तमस्त्री-संग, कन्या-संक्रीड़ा, नीविबन्धशैथिल्य, कामिनी-स्तनपरिच्छिन्न पुष्प, मन्मथ-भय आदि के ही वर्णन हैं[१९] और महाकवि ने बड़े ही चातुर्य से इन्हें उपमाबद्ध किया है। आगे के संस्कृत और भाषा के कवियों ने इन उपमाओं को समझा ही नहीं पूर्णतः अपनाने का भी यत्न किया।

---

१६ ऋतुसंहारम् १–३, ४

१७ ऋतुसंहारम् २–१; ३–१; ४–५, ६, ११, १२

१८ ऋतुसंहारम् २–१२, १८, १९, २५

१९ मेघदूतम्—उत्तरमेघ १, ३, ५, ६, ११, १२

पर कालिदास ने किसी विरहवती वनिता से आत्मकथा नहीं कहलाई, यह इस विभाग की एक कमी थी जिस पर ६ ठी शताब्दी के घटखर्पर ने ध्यान दिया, और 'घटखर्पर' काव्य में इस कमी की पूर्त्ति की। उनकी विरहवती नायिका ने आकाशमण्डल में उमड़ते नीरददलों को देखकर अपनी सखी से प्रियहीना-हृदय की दुःखकथा आरम्भ की और उस क्रम में उसने कुन्दसमान दाँत, नवाम्बुमत्त मयूर, रतिविग्रह कोप, मन्मथ-पीड़ा, हंसपंक्ति, चातक, शिखिगण, विरह के कारण पीले कपोल, घुँघराले बाल, कुटज, तथा प्रियवियोग-दाह के वर्णन में अपनी वार्त्ता व्यक्त की। मेघदूत के विरही नायक ने शापोपशमन पर आने की आशा की है, पर घटखर्पर की नायिका अपनी आह की सत्यता को सिद्ध करने में सचमुच सफल होती है, क्योंकि मेघ से संदेश सुनते ही उसका पति अभिलाषा के साथ थोड़े ही दिनों में अपने गृह को आ जाता है, जिसे प्रकट करते कवि ने गर्व से कहा है[२०]—

"एतन्निशम्य विरहानलपीडितायाः—
स्तस्या वचः खलु दयालुरपीडितायाः।
सोत्कण्ठमेवमुदितो जलदैरमोघैः
प्रत्याययौ स गृहमूनदिनैरमोघैः॥"

मयूर, चौर, भर्तृहरि और अमरुक चारों ही समकालीन कवि ७वीं शताब्दी में हुए और उनने शृंगार-वर्णन में एकसा कालिदास का अनुसरण किया। कालिदास ने अनुपम सौंदर्य पर कल्पना की थी-'सृष्टिराद्येव धातुः', सुरतोत्सव में निर्दय

---

[२०] घटखर्परकाव्यम्—२१

व्यवहार के सम्बन्ध में कहा था–'संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्' और रात्रि-जागरण का निरूपण करते कहा था—'रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्र'[२१]। इस पर मयूर ने अपने अष्टक में व्यक्त किया[२२]—'किं चैषा गगनाङ्गना भुवितले सम्पादिता ब्रह्मणा', 'केनेयं रतिराक्षसेन रमिता शार्दूलविक्रीडिता' और 'निद्राव्याकुलिता विघूर्णनयना सम्पक्वबिम्बाधरा 'नखैः विदलिता दन्तैश्च खण्डीकृता'। उधर चौर ने कहा[२३]-'सर्वाङ्गसुन्दरनया प्रथमैकरेखां', 'रतिखेदविलोलनेत्रं' और 'दन्तोष्ठपीडननखक्षतरक्तसिक्तं रतिबन्धुरतिनिष्ठुरत्वं'। मयूर और चौर के सम्बन्ध में किम्वदन्तियाँ भी वैसी ही हैं और ये दोनों के शृंगारी व विषयी होने की घोषणा करती हैं, यद्यपि उनसे एक के परम सूर्योपासक और दूसरे के कवितादेवी का प्रमुख भक्त होना भी सिद्ध होता है। पृथक २ भी दोनों के वर्णन कामचेष्टापूर्ण ही हैं। यद्यपि मयूर के ऐसे आठ ही श्लोक मिलते हैं तोभी वे अपने विषय में एकदम पुष्ट विचारवाले हैं और उनमें लिखित 'भुक्तमुक्ता प्रचलितनयना स्वेदलग्नाङ्गवस्त्रा मृग इव चकिता', 'स्तनपीनभारकठिना,' 'विकसितवदना मुक्तकेशा नरागा', 'गात्रं चम्पकदामगौरसदृशम्' आदि वचन कालिदास की दौड़ान से कम शक्तिवाले नहीं हैं[२४]। वही योग्यता चौर की 'चौरपञ्चाशिका' के 'कनकचम्पकदामगौरीं

---

[२१] कालिदास : मेघदूतम्—उत्तरमेघ २१; ऋतुसंहारम् ४-१२, १४

[२२] मयूर : मयूराष्टक ८, ५

[२३] चौर : चौरपञ्चाशिका २०, ४८, १०

[२४] मयूराष्टक २, ३, ४, ८

फुल्लारविन्दवदनां', 'मन्मथशरानलपीडिताङ्गी', 'पीवर पयोधरभारखिन्नां', 'श्रवणायताक्षीं', 'दन्तच्छदं', 'भीरुहरिणीमिव चञ्चलाक्षीम्', 'स्तनमण्डले नखपदं', 'वक्त्रं सुधारसमयं', 'अङ्गासङ्गपरिचुम्बनजातमोहां', 'गलितबन्धनकेशपाशां स्रस्तस्रजं', 'विहसितां कुचभारनम्रां'[२५] आदि उद्गारों में भी विद्यमान है और उसका सादृश्य भर्तृहरि व अमरुक के भावों में भी दृष्टिगत होता है।

नीति-वैराग्य-कुशल कवि भर्तृहरि ने 'शृंगारशतकम्' के मंगलाचरण में स्तुति भी कामदेव की ही की—'तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय।' फिर 'वरं वह्नौ पादस्तदपि न वृतः शीलविलयः' की शिक्षा देनेवाला होते भी युवती-कटाक्ष से विद्रमन उस कवि ने प्रस्ताव रक्खा—'कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः' और मृगनयनी के अभाव में उसने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि की विद्यमानता की दशा में भी संसार को अंधकारमय माना—'विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतं इदं जगत्।'[२६] आगे 'स्त्रियाँ संसार की बन्धन हैं—'खलु बन्धनं स्त्रियः' ऐसा जानकर भी उसने शृंगारशतक में चन्द्रमा के समान मुख, सुवर्ण-चमक को कम करनेवाली कान्ति, कमल को हँसानेवाली आँखें, विशाल नितम्ब, भौंरों के समूह के जीतनेवाले केश, गजमस्तक की शोभा हरनेवाले कुच, मनोहारिणी कोमल वाणी, मंद मुस्कान, युवावस्था का अधरपान, यौवनभोग प्रभृति की प्रशंसा को विषैली मादकता से भरे श्लोकों की रचना की।

[२५] चौरपञ्चाशिका १, २, ३, ६, १३, २८, ३५, ४१, ४७, १०, २३
[२६] भर्तृहरि : नीतिशतकम् ८९; शृंगारशतकम् ८, १४

उद्दीपनभाव, यौवन परिपूर्णता, पयोधर-पटुत्व, घने स्तन, मनहरण जघन, यौवन-श्री व रति-प्रौढ़ता की कल्पना करते समय भर्तृहरि की लोकत्रय-विजय-नीति "कान्तकटाक्ष-विशिखा न लुनन्ति यस्य" एकदम विस्मृत हो गई, वह आयतनयनी के आलिङ्गन में विभोर गर्म साँसे ले कहने लगे—'आशास्महे विग्रहयोरभेदम्', 'अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति', 'न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम्।'[४४]

अमरुक का काव्य-कौशल भी ऐसे ही भावों के स्पष्टीकरण में समाप्त हुआ। इनने अपने 'अमरुशतकम्' में 'किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः' कहकर 'शिवेतरक्षतये' मंगलवाचन में इच्छा की —'रतिव्यतये तन्व्यायत्सुरतान्ततान्तनयनं वक्त्रं तन्त्वां पातु।' तदनन्तर परपुरुषप्रथमानुरागिनी नायिका से एकान्त में सहचरी का प्रश्न, मानत्यागार्थ नायिका को भय, प्रणयकलहान्तरिता का सहचरी से संभाषण, प्रगल्भा नायिका के भाव, मुग्धा नायिका की चेष्टा, अन्यनायिकानुरक्त नायक से अनुनय, स्वैरिणी का उपदेश, प्रोषितभर्तृका का विरहार्तिमोह, वर्षारम्भ में बलाहक द्वारा संदेश, आत्मोपलम्भ, नववधू-व्रीड़ा वियोगी वृत्तान्त, परपुरुषानुरागिणी का कुलटा से प्रतिकार के लिए स्वदुःख-निवेदन, दूती का प्रणयापमानित नायक को संबोधन आदि को अपने शतक का विषय बनाया। यह यत्न इस काल के ऐसे विषय-वर्णन का अन्त था। रस और नायक-नायिका-भेद के अन्तर्गत इस समय तक इतने भाव समाविष्ट हो चुके थे कि आगे उनके विश्लेषण पर ध्यान देना साहित्यिकों का

[४४] भर्तृहरि : नीतिशतकम् ८१; शृंगारशतकम् २२, २५, २६,

कर्त्तव्य हुआ। सातवीं सदी के अन्त में भामह ने काव्यानुशीलन के लिए काव्यशास्त्र का निर्माण अत्यावश्यक समझा और वह उसी ओर दत्तचित्त हुए। तब से संस्कृत साहित्य के दूसरे काल का आरम्भ हुआ। इस काल में अलंकार-रस तक काव्य-तत्व का चिन्तन काव्याचार्यों का मुख्य विषय रहा और १२ वीं शताब्दी के आरम्भिक युग तक शृङ्गारी कवियों के भावों पर काव्य की मीमांसा की जाती रही।

आठवीं शताब्दी के वाक्पतिराव के बाद कुछ वर्षों तक काव्यशास्त्र को कोई विशेष रूप नहीं दिया जा सका, पर नवीं शताब्दी का आरम्भ होते ही उसका उत्कर्ष उद्भट और वामन के हाथों आरम्भ हुआ। औद्भट और वामनीय दलों ने दृढ़तापूर्वक काव्यशास्त्र का विकास किया और रुद्रट के प्रादुर्भाव तक वे उसे ऐसा निश्चित रूप देने में समर्थ हुए कि रुद्रट को 'काव्यालंकार' की रचना को पूरी सामग्रियाँ प्राप्त हो सकीं। शैव रुद्रट ने अपने अलंकार-ग्रन्थ में रस और नायक-नायिका-वर्णन पर विशेष ध्यान दिया, और अभिसारिका-खंडिता-स्वाधीनपतिका-प्रोषितपतिका' नामकी चार नायिका-प्रकारों का वर्णन किया। दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' प्रस्तुत की और वल्लभदेव ने रुद्रट के काव्यालंकार पर भाष्य लिखा। उस शताब्दी के अन्त में तीन और प्रसिद्ध काव्याचार्य हुए—अभिनवगुप्त, धनञ्जय और रुद्र। अभिनवगुप्त ने काश्मीरी शैवमत पर ग्रन्थ लिखने के अलावे 'काव्यालोकलोचन' की रचना की, धनञ्जय ने 'दशरूपक' लिखा और रुद्र ने 'शृङ्गारतिलक' से लोकप्रियता प्राप्त की। शृङ्गार-

तिलक में शृङ्गाररस और नायकनायिका—भेद मुख्य रहे, उस में नायिकाएँ भी आठ प्रकार की मानी गई और नायिकाओं की पंक्ति में वेश्या को भी स्थान दिया गया। १०१० ई० से १०५५ ई० के बीच भोज की रचनाएँ जन समक्ष आई और उनके 'शृङ्गार-प्रकाश' में शृंगार ही प्रधान रस माना गया, जिस मत को उद्धत करते विद्याधर और कुमारस्वामी ने प्रतिपादित किया—'राजा तु शृङ्गारम् एकम् इव शृङ्गारप्रकाशे रसम् उररी चकार', 'शृङ्गार एक इव रस इति शृङ्गारप्रकाशकारः।' भोज के बाद क्षेमेन्द्र, भानुदत्त, विद्याधर और मम्मट ने भी शृंगाररस की प्रधानता स्वीकार की और इन सारी धारणाओं का समाज पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। शृङ्गार सबल हो उठा और उसने धार्मिक धारणाओं पर भी अपना गाढ़ा रंग चढ़ाना प्रारम्भ किया, और ऐसी चेष्टा का जो पतला सूत्र पहले से चला आ रहा था उसने जयदेव के 'गीतगोविन्द' में अत्यन्त स्थूल रूप धारण किया।

जयदेव के समय तक कवियों व काव्याचार्यों द्वारा शृङ्गार रस को जो प्रधानता दी गई थी उसका प्रभाव साहित्य-क्षेत्र के बाहर धार्मिक जगत पर भी विशेषरूप में पड़ता रहा और इस प्रभाव के कारण ५ वीं से १२ वीं शताब्दी के बीच रुद्र-भवानी की उपासना में शृंगारपूर्ण नरलीलाओं की विशेषता रही। उस अवस्था के पहले शिव-पार्वती की भक्ति की अन्य दो अवस्थाओं के प्रमाण मिलते हैं और विदित होता है कि वे दो अवस्थाएँ तीसरी अवस्था से नितान्त भिन्न थीं। पहली अवस्था पवित्र भक्तिमय भावनाओं की थी, जब शिव पार्वती की वन्दना में किसी प्रकार के कलुषित विचार को कोई स्थान नहीं था। शिवोपासक महादेव को संसारपिता और उनकी

शक्ति पार्वती को जगन्माता मान कर उनकी भक्ति करते थे। महेंजोदारो के उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों में ऐसी भक्ति के परिचायक पदार्थ प्राप्त हुए हैं और उसके बाद लगभग १ ली शताब्दी के अश्वघोष तक वैसी भक्ति क्रमगत रही। पश्चात् २ री शताब्दी से दूसरी अवस्था का प्रारम्भ हुआ और वह ५ वीं शताब्दी तक बनी रही। इस काल में शिव-पार्वती-सम्बन्धिनी पवित्र धारणाओं का तांत्रिक कृत्यों से सम्बन्ध हुआ। तांत्रिक कृत्यों को कामयज्ञों का रूप प्राप्त होने के कारण उनके प्रमुख देवता रुद्र व भवानी में मानवी इच्छाओं का प्रतिरूप समाविष्ट करने की ओर उपासकों का ध्यान हुआ। पूर्वकाल की पवित्रता तो दूसरी अवस्था में भी बनी रही, पर उससे भक्तेच्छाओं का भी अभिन्न साथ किया गया। तदनन्तर ५ वीं शताब्दी से कवियों द्वारा शृंगाररस को समुन्नति की जाने लगी, उधर तंत्र का स्वरूप भी कलुषित होना आरम्भ हुआ और पुरुष-स्त्री-मिलन के भाव का शृंगारीय वर्णन जनप्रिय होता गया। अब उपासना भी अपनी पवित्रता की रक्षा नहीं कर सकी, उपासकों ने युगेच्छानुकूल पवित्रता को लीलाओं का आवरण देना आरम्भ किया। देहातों के पिण्डी-स्थान, मन्दिरों के अर्घे सहित शिवलिंग, यत्रतत्र पूजित योनि-पीठ-स्तनपीठ-आदि और ७ वीं एवं ८ वीं शताब्दियों की काली-तथा पार्वती की मूर्त्तियाँ[२८] इसी अवस्था के प्रमाण हैं और उनके अलावे ५ वीं शताब्दी व उसके बाद के संस्कृत-ग्रन्थों के मंगलाचरण भी इसी अवस्था के सूचक हैं। कालिदास से शृङ्गाररस के पुष्ट वर्णन का आरम्भ होता है और प्रतीत

[२८] A. Coomaraswamy. The Arts and Crafts of India and Ceylon, P. 11.

ता है कि उनने 'सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं... ' की[१९] चर्चा कर उनने अपने उसी श्रृंगारी अभ्यास का निस्संकोच परिचय दिया। ७ वीं सदी में मानो इस कलंक के प्रक्षालन-निमित्त मयूरकीर्तिद्वेषदग्ध बाण ने 'चण्डीशतक' में चण्डी की शक्ति का स्तवन किया और चण्डी को पार्वती, हैमवती, ...लवती, उमा, शिवा, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, काली, भद्रकाली, कालरात्री, दुर्गा, चण्डिका, लोहिता, कात्यायनी, ...वी, अम्बिका, सप्तलोकी जननी, आर्या, क्षमा, गौरी, आदि नामों से प्रशंसित किया। इस यत्न में पार्वती की मर्यादा की रक्षा तो की गई, किन्तु देवतापमान की रुचि परम्परा और शिव के श्रृंगारमय चित्रण की बलवती युग-लालसा चण्डी के परम भक्त बाण द्वारा भी नहीं रोकी जा सकी, क्योंकि एक ओर तो बाण ने काम के भस्म कर देने के अपराध के लिए घुटने टेका कर शिव स चण्डी की प्रार्थना कराई और सरी ओर रणक्षेत्र से भाग जाने के कारण देवताओं पर व्यंग-वर्षा की, महिष द्वारा देवताओं तथा त्रिमूर्त्ति का अपमान कराया और चण्डी की दासियाँ जया एवं विजया द्वारा देवताओं की अपकीर्त्ति की गई।[२०] 'उरोनिपीडनं' को स्मरण रखते हुए 'संपीड्य बाहुयुगलेन पिबामि वक्त्र'' व 'नोन्मीलयामि-

---

[१९] कालिदास : कुमारसम्भवम् ८-१४, ८२; एक मत है कि कुमारसम्भव के प्रथम सात सर्ग ही कालिदास के रचे हैं, उसके शेष सर्ग उनने नहीं रचे। तो भी कालिदास की श्रृंगारप्रियता निर्विवाद है।

[२०] बाण : चण्डीशतकम् ४९, २४, २९, ५९, ६०, ६१; २१, ३४, ३५, ५७, १८, ६५, ८०, ८२, ८५, ९१, ९२, ९९, १००; १५, ६९, ८६, २१.

नयनं न च तां त्यजामि' के प्रेमी भर्तृहरि ने शिवके साथ ब्रह्मा-विष्णु की भी चिन्ता नहीं की[81]। 'किं ब्रह्मकेशवहरैर्युवतीं स्मरामि' कहते हुए उनने अपनी स्त्री-श्रेष्ठ युवती को पार्वती तथा लक्ष्मी से भी श्रेष्ठ पाया और ऐसी कल्पना सर्वथा स्वाभाविक थी जब कवि विश्वस्त था कि कामदेव की प्रबल प्रेरणा से शम्भु, स्वयम्भु और हरि भी मृगनयनियों के गृह सदा पानी भरने का काम किया करते हैं[82]। अमरुक ने भी ऐसी ही चित्तवृत्ति दिखलाई। अम्बिका और शंभु की वंदना करते हुए भी उनने 'किं हरिहरस्कन्दादिदैवतैः' कहा और शम्भु की शराग्नि की समानता रक्त कामुक की चेष्टाओं के साथ प्रतिपादित की[83]। आगे ८ वीं शताब्दी से काव्याचार्यों ने भी इसी प्रथा का अनुसरण किया। ११ वीं शताब्दी तक के अलंकारविदों में अनेक शैव ही हुए और उनने रस व नायिका का वर्णन अपना ध्येय बनाया। प्रकट है कि रुद्रट ने भवानी की वन्दना की, आनन्दवर्द्धन ने 'देवीशतकम्' लिखा, रत्नाकर ने 'हरविजयम्' की रचना की, रुद्रनेशिवोपासना अपनाई, कय्यट ने 'देवीशतकम्' पर भाष्य लिखा, अभिनवगुप्त ने शैवमत की पुष्टि की और क्षेमराज ने 'शिवसूत्र' व 'परमार्थसार' के भाष्य तैयार किए। एवं प्रकार शिवपार्वती के शृंगारमय लीलापूर्ण वर्णन का क्रम ५ वीं शताब्दी से आरम्भ होकर

---

[81] भर्तृहरि : शृंगारशतकम् ३, ४

[82] शृंगारशतकम्—"शम्भुस्वयम्भुहरयो····· येन क्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः"।

[83] अमरुक : अमरुशतकम् १, २, ३

१२ वीं शताब्दी तक विकसित होता रहा और उसमें कवियों के साथ भक्तों का भी निश्चय ही हाथ रहा[८४]।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि शिवपार्वती की पवित्र उपासना को शृङ्गार-समन्वित लीलापूर्ण स्वरूप प्रदान किए जाने के तीन मुख्य कारण कार्यगत रहे। १ला कारण था कलुषित तंत्र को प्रोत्साहन व उसके सहायक ग्रन्थ, जिनमें रुद्र व भवानी को श्रेष्ठ स्थान दिया गया था; २ रा कारण था संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में शृंगाररस की विशेषता और काव्याचार्यों द्वारा उस रसके सुन्दर स्वरूप का प्रतिपादन; और ३ रा कारण था स्त्री-पुरुषों के विरह व मिलन का शृंगारीय काव्यचित्रण और उसके अनुकूल आध्यात्मिक व धार्मिक जगत में विष्णु के अवतार कृष्ण के साथ राधा की कल्पना।

---

[८४] किन्तु शिवपार्वती के वर्णन के उस क्रम में विष्णु या हरि का वैसा शृंगारीय वर्णन कवियों द्वारा स्पष्टतः कहीं नहीं किया गया, न किसी कवि ने शिवादास के 'भिक्षाटनकाव्यम्' और लक्ष्मण आचार्य के 'चण्डीकुचपञ्चाशिका' के सदृश विष्णु सम्बन्धी किसी काव्य की कल्पना का दुस्साहस किया। घटकर्पर की विरहवती वनिता ने विष्णु पर इतना ही अपवाद रक्खा कि वह क्षीरसागर में लक्ष्मी के साथ इस प्रकार सुखपूर्वक सो रहे हैं कि प्रार्थना भी नहीं सुन सकते—"निद्रमुपैसी च हरिं सुखमेविताम्।" मयूर ने अपने अष्टक में हर से पहले हरि को स्थान देते हुए 'ओं नमः श्री हरिहराभ्याम्' लिखकर ही शृंगार-वर्णन पर दृष्टि दौड़ाई और बाण ने विष्णु को बुरा-भला कहलाया, पर इस ओर कोई विशेष उत्कण्ठा नहीं दिखाई गई। भर्तृहरि ने 'तरुणेन्दुशेखर' को प्रधानता देते भी महेश्वर व जनार्दन को एक ही माना और अमरुक ने भी हरि की स्पष्ट अपकीर्ति की कोई कल्पना नहीं की।

इन कारणों से प्रभावित शिवोपासना का स्वरूप इतना शृंगार-पूर्ण बनाया गया कि आदर्शप्रिय उसे कलुषित समझने लगे, पर संयोगवश १२ वीं शताब्दी के बाद उसका स्थान राधाकृष्ण-भक्ति ने ग्रहण किया। थोड़े समय तक शिव और कृष्ण दोनों समान रूप में शृंगाररस के इष्टदेव बने रहे, पर शीघ्र ही शिव अपने पुरातन रुद्र-रूप में अन्तर्ध्यान हुए और उनके स्थान में कृष्ण अपनी शक्ति राधा के साथ भक्त-मण्डली में रासलीला को अवतीर्ण हुए।

१२ वीं शताब्दी में राधाकृष्ण को जो सम्मान दिया गया, वह संस्कृत-काव्य का, शृंगाररस की दृष्टि से, तीसरा स्वरूप है और हिंदी-साहित्य के भक्तिकाव्य का आरम्भिक, जिसके ज्ञान-निमित्त गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' और जयदेव का 'गीतगोविन्दम्' देखना चाहिये। गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी आर्य्या में शृंगारवर्णन के पुरातन व नूतन दोनों इष्टदेवों के तत्कालीन स्वरूप का संरक्षण बड़े ही चातुर्य से किया है। मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में महादेव द्वारा पार्वती-पाणिग्रहण के अवसर का ध्यान करते हुए आचार्य ने कल्पना की—'अङ्कुरित इन मनोभूर्यस्मिन्भस्मावशेषोऽपि', फिर महादेव के होंठ में पार्वती के काजल की रेखा देखी[३४]। दूषित शृंगार की चरम सीमा है स्त्री के पैरों पर गिरकर गिड़गिड़ाना, जिस सम्बन्ध में चौर कवि ने अपनी प्रियतमा से निवेदन किया था—'चुम्बामि रोदिति भृशं पतितोऽस्मि पादे'; आचार्य ने 'स्मरारातिः' महेश को उसी दशा में 'प्रियापादान्ते' भी दर्शन कराया और उसके समर्थन में उनका सकण्टक केतकेषु

[३४] आर्यासप्तशती—१, २

से 'स्मरेण निहितः' होना कहा तथा संध्या करने के समय भी गौरिमुखार्पितमन शिव का विजया द्वारा उपहास कराया [८६]। इतने पर भी मानो दशावर्णन की अपर्याप्तता के विचार से कवि ने शम्भु के सात्विकोत्पन्न स्वेद से संध्यावन्दन को अंजलिपूर्ति और मानिनी गौरी के चरणों पर महेश के मस्तक स्थापन को भी प्रगट करना आवश्यक समझा [८७]। पश्चात् महेश की ही दशा को प्राप्त विष्णु की भी सुधि लेते हुए पुण्डरीकनयन और श्री में होती आँखमिचौली, गाढ़ालिङ्गन के कारण श्याम के वक्षस्थल में श्री-कुच-कुंकुम की छाप और मधुभिद् के कौस्तुभमाल में लक्ष्मी-प्रतिबिम्ब से लक्ष्मी के पुरुषवत् आचरणाभ्यास पर प्रकाश डाला [८८]। इस यत्न से मानो आर्याकार ने शिव व कृष्ण के एक समान शृङ्गारी स्वरूप का प्रमाण दिया और उनके समकालीन शृंगारी कवि जयदेव ने 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः' की प्रस्तावना के साथ राधाकृष्ण के शृंगार-वर्णन में पूरा यत्न किया; जयदेव ने कृष्ण को विष्णु का अवतार सिद्ध कर उनसे [८९] 'मुग्धवधूनिकरे' उतना रास रचवाकर ही शान्ति पाई जितना नृत्य महादेव से उनके पूर्ववर्ती कवियों । कराने का श्रम उठाया था [९०]। तदनन्तर शृंगारी कवियों

---

[८६] आर्यासप्तशती–२, ४ ५; चौरपञ्चाशिका–२६

[८७] आर्यासप्तशती–७, ९ । [८८] आर्यासप्तशती—१०, ११, १२

[८९] जयदेव : गीतगोविन्दम् १–१; १–४–"शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः"

[९०]. A. Coomaraswamy: The Arts and Crafts of India and Ceylon, p. 10—"He is conceived best as the Dancer, whose-

ने राधाकृष्ण को शृङ्गार-रस का अक्षय भण्डार ही समझा और वे उन पर तरह २ की रचनाएँ करते रहे। होड़ में कुछ काल तक शिवोपासकों ने भी काफी मिहनत की और १५ वीं सदी तक महेश व गौरी के माहात्म्य पर रचनाएँ होती रहीं, पर 'पार्वती-परिणय' में पार्वती-पिता हिमवान् के ही मुख से[३१]—'आभोगशालि कुचकुड्मलमायताक्ष्या वक्षोऽवकाशमभिवाञ्छति संनिरोद्धम,' व 'कुचयुगलं परिणद्धं यथा यथा वृद्धमेति तन्वङ्ग्याः' द्वारा पुरातन शृंगार-वर्णन की इति हुई और उसका स्थान भाषा-कवियों ने ग्रहण कर राधा-कृष्ण व गोपियों को रास-रंग-रत दिखाना आरम्भ किया।

विद्यापति का जन्म वैसे ही काल में उस समाज के नितांत निकट में हुआ जिस समाज में राधा-कृष्ण-केलि को पवित्र प्रधानता प्राप्त हो रही थी। बंगाल की रासक्रीड़ा की लहरें बंग-द्वार दरभंगे तक पहुँच रही थीं और मैथिलकवि विद्यापति ने उसकी बढ़ती गति की परख की। एक ओर उनने संस्कृत-साहित्य में शृङ्गाररस का आस्वादन किया, दूसरी ओर उसे व्यवहार में साक्षात् पाया। अब वह युगेच्छा की उपेक्षा नहीं कर सके और लोकप्रियता के लिये सरस पदों

---

dance is Evolution, Continuation, and Involution :"

शिव का नाम भी 'नटराज' है और इस रूप में ताण्डवनृत्य की दशा की अनेक पुरानी मूर्त्तियाँ पाई गई हैं। पालोन्नारुवा (सिलोन) की नटराजमूर्त्ति और तंजोर की ताण्डवावस्था की तंजोरमूर्त्ति इसी कोटि की मूर्त्तियाँ है। ७वीं व ८ वीं शताब्दियों की भी ताण्डवनृत्यवाली मूर्त्तियाँ मिली हैं।

[३१] पार्वतीपरिणयम् १–१४

की रचना में तल्लीन हुए। यही अवस्था उनके समकालीन बंगाल-कवि चण्डीदास की भी थी। युगेच्छा के सामने असमर्थ चण्डीदास के भी पद मैथिलकोकिल के पदों के ही समान हुए, क्योंकि दोनों ने ही तत्कालीन मनोवृत्तियों के अनुसार आचरण किया।

चण्डीदास ने जीव और ब्रह्म के प्रेम व मिलन को अपने पदों में यत्रतत्र स्पष्टतः व्यक्त किया है और उनके अनुसार राधा-कृष्ण का प्रेम जीव-ब्रह्म-मिलन का रूपक अवश्य प्रतीत होता है। राधा के निवेदन 'परेर लाजिया कि आपना पर हय' और 'मरिब तामार आगे दाँडाइया हउ' जीव के ब्रह्म-प्रेम के ही परिचायक हैं, परन्तु ये उच्च भाव जिस समय व्यक्त किए गए समाज उनसे उतनी आध्यात्मिक शिक्षा के लिये तत्पर नहीं था क्योंकि काणुभट्ट की प्रेम-चर्चाओं की प्रभाव मादकता अभी उससे दूर नहीं हो पाई थी[42], वह उसी दशा में शृङ्गार-तरंग से प्लावित राधा कृष्ण की मानुषी लीला का अनुरागी हो रहा था, और इसी कारण कृष्ण का तत्कालीन ईश्वरत्व भी मनुष्यत्व की आनन्द कोटि में आ विराजा था। "हइवि सती, ना हवि असती" की शिक्षा देने के समय भी चण्डीदास की दृष्टि से यह प्रगति ओझल न थी, उधर प्रेम को गहरा आध्यात्मिक रूप देनेवाले कवि के उद्गार भी सहजमार्गी प्रेमियों की मधुर रागिनी से पूरी

---

[42] D C Sen History of Bengali Language and Literature, p 38—"Kanu Bhatta—a Buddhist scholar, who lived in the latter part of the 10th. century, was the first apostle of love songs of the Sahajia-cult in Bengali "

सहानुभूति रखनेवाले थे[43]। वह प्रेमप्राबल्य की अवहेलना नहीं कर सके। श्लीलता-निर्वाह और अपवाद-दूरीकरण के विचार से "ना हवि काहार वस" के उद्घोष के साथ "तिमिर अन्धकार ये हैयाछे पार सहज जेनेछे से" कहते वह सहजिया के प्रेम में गूढ़तत्त्व-परिदर्शन को तत्पर हुए अवश्य ही, परसहज-प्रेम का भूखा हृदय उससे तृप्त नहीं हुआ। तब उसे बनने "गोपनपीरिते गोपने राखिवि साधिवि मनेर काज" की युक्ति बतलाई, तोभी संतोष नहीं हुआ अन्त में प्रीति-प्राबल्य की महिमा उन्हें खुले शब्दों में गानी ही पड़ी[44] :—

"पीरित-नगरे वसति करिव,
पीरिते बाँधिव घर।
पीरिति देखिया पड़सी करिव,
ता विनु सकल पर॥
पीरित द्वारेर कपाट करिव,
पीरिते बाँधिव चाल।
पीरिति आसके सदाइ थाकिव,
पीरिते गोँयाव काल।
पीरिति-पलङ्के शयन करिव
पीरिति-सिथान माथे।

[43] D C Sen History of Bengali Language and Literature, pp 38 39 "In the Sahajia creed of the Vaisnavas, the old doctrines re appeared amongst the masses, and its great exponent Chandidas echoed the sentiments of Kanu Bhatta in his love songs, giving it a far higher spiritual tone than they had ever received from the Buddhists"

[44] विद्यापति चण्डीदास, पृ० २४१

पीरिति वालिसे श्रालिस त्यजिव,
थाकिव पीरिते लाये॥
पीरिति-सरसे सिनान करिव,
पीरिति-श्रञ्जन लव।
पीरित धरम, पीरिति करम,
पीरिते पराण दिव॥"

समाज की ऐसी प्रीति-प्रतिज्ञा के वशीभूत राधा व कृष्ण भी चण्डीदास के पदों में प्रेममत्त मिलते हैं। राधा के सौन्दर्य पर चकित कृष्ण सोचा करते हैं—"काहार नन्दिनी, काहार रमणी, गोकुल पमन के। कोन् पुराय-फले, वल वल सखा, से रमा पाइल से।" इसमें कौतुक के साथ उत्सुकता है, उत्सुकता में भरपूर द्वेष है और उधर राधा भी कृष्ण का श्याम नाम सुनकर ही वेसुध है, उसका प्राण व्याकुल है और वह 'आपन शिर हाम आपन हाते काटिनु काहे करिनु हेन मान' सोचती हुई भी अपनी बेवशता रोक नहीं सकती। लोक और गुरुजन के भय के कारण वह अपनी आन्तरिक अवस्था छिपा कर भी नहीं रखना चाहती, -साफ-साफ कहती है[1]—

"सइ, केवा शुनाइले श्याम-नाम।
— कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्राण,
न जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो,
केमने पाइव सइ तारे॥

[1] विद्यापति—चण्डीदास, पृ० ५८

नाम-परतापे याr पहुन करिल गो,
अंगेर परशे किवा हय !
ये खाने वसति तार नयाने देखिया गो
युवती-धरम कैछे रय ॥
पासरिते करि मने, पासरा ना जाय गो,
कि करिव कि हवे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदास कुलवती कुल नाशे
आपनार यौवन याचाय ॥"

यह तो चण्डीदास की कल्पना थी, कृष्ण और राधा के प्रेम की कोरी भावना थी। किन्तु जयदेव, विद्यापति जैदेव आदि कवियों ने इस कल्पना को धर्म्म का पवित्र रूप प्रदान करने में पूरा यत्न किया। अतः राधा का आदर्श अपवाद रहित रहा, कृष्ण के प्रति वैसा प्रेम धर्म्म माना गया और भक्त राधा-कृष्ण की प्रेमकेलि का कीर्त्तन कर उस पद को पाने के विश्वासी बने जिस पद के लिए वेद-उपनिषद्-सांख्य-वेदान्त आदि ध्यान-योग-तत्वज्ञानादि की आवश्यकता बता गये थे। धार्मिक दृष्टि से समाज ने कीर्त्तन को सहज पाया और उसमें मनोरञ्जन की भी पूरी मात्रा देखी, अतः शतशः स्त्रीपुरुष राधाकृष्ण के भक्त हुए और प्रेमवार्त्ता से मोक्ष की अभिलाषा रखने लगे। "पीरिति-साधन बड़ई कठिन" कहने का प्रभाव प्रीति के उपासकों पर दूसरे ही रूप में पड़ा, वे प्रीति को तत्व बना प्रेमशास्त्र की गम्भीरता के अध्ययन में दत्तचित्त हुए।

ऐसी धार्मिक भावना से प्रेरित ईसावाद १५ वीं शताब्दी के आरम्भ में राधा के परकीया आदर्श के अनुसरण में कृष्ण-भक्तिनों की एक मुखिया राधा-कृष्ण के भक्ति-प्रचार में

सर्व-समक्ष प्रकट हुई। वह क्षत्रिय जाति की एक कुलांगना थी, मीराबाई उसका नाम था। उसने कृष्ण को अपना इष्टदेव बनाया और उनकी भक्ति में लीन हो कट्टर समाज के सारे अपवाद और प्रतिवाद से अपने को पृथक कर लिया। चण्डीदास की राधा ने कहा था-'शुनं सखीगण, करिया यतन लये चल निकेतने।' पर मीराबाई को किसी यतन की भी ज़रूरत नहीं हुई, उसने अपनी भक्ति से कृष्ण के पास पहुँचने का साहस और संकल्प किया। मीरा के पतिकुल वाले त्रास देते ही रहे और सम्बन्धियों द्वारा रुकावटें होती ही रहीं, मीरा ने अपने को कृष्णार्पण कर वैष्णवों की सेवा व तीर्थाटन शुरू कर दिया[46]। मीरा के नारी-हृदय पर अंकित था—'सर्वत्रे राधिका, सर्वाङ्गे राधिका, सदाई देखते ताय' और 'श्याम से तोमार प्राण' के शिक्षोपरान्त मीरा ने कृष्ण से प्रतिज्ञा की थी—'हियार माझारे राखिव तोमारे सदाई देखिते पावा।' कृष्ण-प्रेम में राधा से पीछे रहना मीरा को कभी पसन्द नहीं था, वह श्याम को सर्वस्व अर्पण कर चुकी थी और उसे चण्डीदास की राधा का यह मत भी ज्ञात था—

"जाति कुल दिया, आपना निछिया
शरण लइया आछि
लोकहासि होक्, जाति याय याक
तबु, न छाड़िया दिव।"

---

46. Wilson: Religious Sects of the Hindus, p. 15: "she was much persecuted by her husband's family on account of her religious principles. She became the patroness of Vagrant Vaishnavas, and visited in pilgrimage Brindaban and Dwarika."

मीरा ने कृष्ण के प्रियतम-रूप की तल्लीनता में अपूर्व आनन्द पाया और श्रीकृष्ण को उपास्यदेव बना उनके भजन से भवपार उतरने की आशा की—'मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार।' मीरा ने प्रभु के कीर्तिगान की लगन में कुलमान और कुटुम्बियों की सम्मति की कोई चिन्ता न कर अपने जीवन-कर्म को प्रभु के हवाले किया और अपने गुरु रैदास के उपदेशानुकूल 'नामरत्न अनमोलक धन' के संरक्षण में आजीवन सतर्क रही। वह समाज में उदयपुर के महाराणा-कुमार भोज की पत्नी थी, पर धर्मतः वह अपने को 'प्रभु गिरधर नागर' की प्राणवल्लभा मानती थी; उल्लेख है कि बचपन से ही वह श्रीकृष्ण को स्वपति चुन चुकी थी, ऐसी दशा में वह क्यों नहीं कहती—'गिरधर के अङ्ग-अङ्ग मीरा बलि जाई।' इस प्रकार कवियों द्वारा परकीया नायिका के कल्पित आदर्श को ग्रहण कर वह राधा की भाँति विरह-व्यथा में तड़पती रही—

> "मैं विरहिन बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली ॥टेक॥
> विरहिन बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै।
> इक विरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन माला पोवै ॥
> तारा गिण-गिण रैण विहानी, सुख की घड़ी कब आवै।
> मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै ॥"

कृष्ण-दर्शन को मतवाली मीरा विरह-यातना से बेचैन गाती चलती थी—'घायल-सी घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाने कोय।' इस दर्द का कारण उसकी कृष्णप्रीति थी, जिसे स्वीकार कर वह 'प्रेम-दिवाणी' हुई और घायल बनी डगर बुहारती फिरी। उसकी दशा पर उपहास और सहानुभूति रखनेवालों

को उनका एक ही उत्तर था—उपहास करनेवालों को कहती कि जिस प्रकार जौहरी की गति जौहरी ही जानता है उसी प्रकार घायल की गति घायल ही जान सकता है तुम क्या जानोगे; सहानुभूति दिखलानेवालों से अर्ज़ करती कि वह जिस दर्द की मारी बन २ डोलती थी उसका हरनेवाला कोई वैद्य ही उसे नहीं मिलता, जबतक उसे वह वंशीवाले साँवलिया गिरिधर कृष्ण नहीं मिलते तब तक उनका दर्द दूर नहीं होने का—

"घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ वैद मिल्या नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद सँवलिया होय॥"

चण्डीदास की राधा ने कहा ही था—'बाहार लागिया, सब तेयागिनु लोक अपयश कय', मीरा ने वैसा ही किया। उसने 'ना हइचि सती ना हचि असती' की भाँति कृष्ण प्रेम को सर्वस्व अर्पण कर समाज में घोषणा कर दी—'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।' पर इस प्रेमदेव-चुनाव में उसे त्याग भी कम नहीं करना पड़ा—उसने स्वजनों का त्याग किया, लोक का अपवाद उठाया, घर छोड़ा, यातनाएँ भोगीं और कुलमान पर पानी फेरा, पर जिस प्रेम-मार्ग पर एक बार पैर रख दिए थे उससे वह मुड़ी नहीं, ससाहस बढ़ती ही गई। इसे अपने गान में वह आप स्वीकार करती है—

"माई छोड़या बंधु छोड़या छोड़या सगा सोई।
साधु संग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई॥

भगत देख राजी भई जगत देख रोई।
अँसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई॥
दधि मथि घृत काढ़ि लियो डारि दई छोई।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगण होई॥
अब तो बात फैलि गई जाने सब कोई।
मीराँ राम लगण लागी होणी होय सो होई॥"

मीरा-गुरु रैदास पर रामानन्द की राम-शिक्षा का प्रभाव होते भी मीरा को कृष्ण-प्रेम ही सुन्दर जँचा। मीरा के पदों में कहीं २ 'राम' पद भी आया है, पर उसका प्रयोग राम की भक्ति के कारण नहीं किया गया। 'प्रभु' के पर्याय-स्वरूप 'राम' का व्यवहार मीरा द्वारा हुआ है और यह भी सम्भव है कि राम के भी भक्तों से मीरा का सम्बन्ध रहा हो। कबीर की भाँति खण्डनात्मक पद भी मीरा ने रचे और आध्यात्मिक वर्णन के अनुरूप अविनाशी, देह, संसार आदि पर कुछ उद्गार प्रकट किए; पर तत्कालीन परकीयादर्श ही मीरा में प्रधान रहा। कारण कि राजपुताने के आसपास में नाथ-सम्प्रदाय के आदर्शवत् प्रभाव के अतिरिक्त वृन्दावन व मथुरा की कृष्ण-भक्ति का भी गहरा रंग मीरा के विचारों पर आ गया था और उस ओर झुकने पर जैसे २ उसे रोकने के यत्न किए गए वैसे२ मीरा साधुओं और मठवासियों के जीवन तथा भजन की ओर आकर्षित होती गई। गृह-जीवन के बंधनों के साथ मीरा का नारी-हृदय समझौता नहीं कर सका, उसने राधा और कृष्ण के आदर्श से नाता जोड़ा और हरि-भजन में मस्त कृष्ण-पति-सेवा द्वारा ईश्वर की आराधना में तत्पर हुआ। कृष्ण-भक्ति-प्राबल्य-युग ने उसकी सहायता की, संत-मण्डली में वह

निर्भय विचरती रही और मरण-पर्यन्त कृष्ण-मिलन की आशा में मगन रही—

"नैण दुखी दरसण को तरसे, नाभ न बैठे साँसड़ियाँ।
रात दिवस यह आरत मेरे, कब हरि राखे पासड़ियाँ॥
लगी लगण छूटण की नाहीं, अब क्यों कीजै आटड़ियाँ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, पूरै मन की आसड़ियाँ॥"

मीरा के बाद ब्रज-नागर कृष्ण की भक्ति वृद्धि ही पाती गई। ईसाबाद पन्द्रहवीं सदी के अन्त में वल्लभाचार्य ने राधा वल्लभी सम्प्रदाय की नींव दे उसे और सबल बनाया। उनके शिष्य कृष्णदास पयअहारी, सूरदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास प्रसिद्ध राधा-कृष्ण-भक्त हुए और उनने अपनी कविताओं में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया। इसी प्रकार वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ गोसाईं के शिष्य चतुर्भुजदास छीतस्वामी, नन्ददास और गोविन्ददास के द्वारा भी राधा और कृष्ण की उपासना का प्रचार किया गया[47]। इन आठ शिष्यों के भी कई शिष्य हुए और सभी राधाकृष्ण-सम्प्रदाय को समुन्नत करने में सर्वदा तत्पर रहे। किन्तु काव्यदृष्टि से उनमें सूरदास सर्वश्रेष्ठ रहे और उनने कृष्णचरित्र पर

---

[47] Lala Sita Rama. Selections from Hindi Literature Book II, p 1. "During the 16th century, this Braja was the home of a school of poets devoted to the worship of that God, founded by the great apostle Ballabha-chary and his son Bitthal Nath. Both father and son had four disciples each, grouped under the name Ashtachhap" पृ० ४ में नाम दिये गए हैं।

अनेक कविताएँ रचकर कृष्ण-लीलाओं को जनप्रिय बनाने का यत्न किया। सूरदास के कृष्णचरित सम्बन्धी जो पद हिंदी मे संकलित मिलते है उनका मान भी हिंदी-भाषियों मे पूरा है।

सूरदास ने निस्सन्देह अपने पदों मे कृष्णभक्ति मे तल्लीनता प्रदर्शित की है और कृष्णभक्तों द्वारा उनका एकान्त कृष्ण सेवक माना जाना भी यथोचित है किन्तु इसी कारण भ्रष्ट शृंगार को जो उनके द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती[48]। सूरदास का जन्म मुग़ल-सम्राट् शासन-काल में हुआ और वह स्वयं मुग़ल दरबार में थे, वहाँ उन्हें विलासमय जीवन का भरपूर दृश्य देखने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। पुनः सूरदास के पिता रामदास सम्राट् अकबर के दरबार में गायक थे, गान द्वारा आश्रय-दाता का मनोरंजन उनका पेशा था। सूरदास का लालन-पालन भी वैसी ही परिस्थिति में हुआ। इसका प्रभाव सूरदास के जीवन पर अवश्य ही पडा और सूरदास के

---

48 "I may be excused for mentioning that Sūra Dāsa has, for instance, gone to the length of describing the 'rati' of Radha and Krishna, but even then the whole tone and spirit of his descriptions are so thoroughly untainted with sensuality, so free from any tinge of worldly pleasure, so stoically austere in nature, indeed so refreshingly divine, that it is impossible for any *sympathetic* and discriminating reader to suspect any thing improper in them" 2nd Triennial Report on the search for Hindi Manuscripts Pt Shyambehari Misra & Pt Shukdeva B [illegible]

विचार भी उससे अछूते नहीं रह सके। कृष्ण-चरित आप ही शृंगार-पूर्ण था और उसके वर्णन में शृंगार को पूरा स्थान भी मिलता आ रहा था, उस पर सूरदास के विलास-युग-प्रभाव-ग्रस्त विचारों का पानी चढ़ाया गया। फलस्वरूप कृष्ण-चरित-पदों में अनेक ऐसे उद्गार व्यक्त किए गए जिनसे भ्रष्ट शृंगार स्फुटित होकर कृष्ण को ईश्वरत्व की कोटि से नीचे लाने में दृढ़ सहायक बना[1]। ईश्वरत्व और आदर्श पर ध्यान करने से भ्रष्ट शृंगार से बचना सर्वथा सम्भव भी था, पर ऐसा करना नायक-नायिका-संभोग-विवरण-रुचि को प्रिय नहीं लगा, पुनः सूरदास को भक्तिभावों की मर्यादा से अति दूर राधा-कृष्ण की ओट में पूर्व काल के शृंगारी कवियों की परम्परा का भी पालन करना था[2]।

---

[1] द्विवेदी-अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ६० का १—

"आजु नँदनंदन रंग भरे।
विविलोचन सुविसाल दोउन के, चितवत चित्त हरे।
भामिनि मिले परम सुख पायो, मंगल प्रथम करे।
कर सों करज धरयो कंचन ज्यों, अंकुश उरज धरे।
आलिंगन दै अधर पान कर, खंजन खंज हरे।
हठ करि मान किया नव भामिनि, तब गहि पाइँ परे।
ले गए पुलिन-मध्य-कालिंदी, रस-बस अनँग भरे।
पुहुप मंजरी सुमनि माला, अँग अनुराग भरे।
मुरलि नाद सुन वेनु सुधा सुनि, ताप मनमथ को टरे।"

[2] कालिदास ने शिवपार्वती का संभोग वर्णन खुले शब्दों में किया था, जयदेव ने इसी ढंग के गीतों द्वारा अपूर्व आनन्द उठाया और विद्यापति ने अश्लीलता की सीमा का अतिक्रमण कर अनेक पद कृष्ण, राधा व गोपियों पर रचे। यथा :—

सूरदास ने अपने काव्य का चमत्कार व्रज को स्वर्ग बनाने, गोपिकाओं का स्नेह दिखलाने और कृष्ण से रासलीला कराने में ही खर्च किया। उनने बालकृष्ण द्वारा पूतना, केशी, बकासुर आदि के वध और कालीय-दमन के प्रसंग छेड़कर कृष्ण में वीरता भी समाविष्ट की तथा कृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप की व्यंजना का अवसर उपस्थित किया, परन्तु उनने 'गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम्' की [51] धारणा से

कालिदास : कुमारसं० ८—

"सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत् ।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥१४॥
क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य नच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥८३॥"

जयदेव : गीतगो० १२—

"दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै-
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः ।
हस्तेनानमितः कचे ऽधरसुधापानेन सम्मोहितः
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामागतिः ॥११

विद्यापति-पदावली—

"सुरतक नामे सुदह दुहु आँखी । पाओल मदन महोदधि र
चुंबन वेरि करइ मुख बंका । मिलइ चाँद सरोरुह ।
नीविबंध परस चमकि उठ गोरी । जानल मदन भंडारक चोरी ॥
कुयल बसन हियभुज बाहु साँठि । बाहिर रतन आँचर देइ गाँठि ॥"

[51] श्रीमद्भागवत १०—२९—२९

"यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र—
लीलाऽवलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ·

प्रेरित 'तुव बिनु कुअँर कोटि वनिता तजि, सहत मदन की पीर' सदृश [५३] प्रेम व विरह के ही वर्णनों की ओर पूरा ध्यान दिया। यही कारण है कि 'सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता रही, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्श की ओर ध्यान नहीं दिया गया।' [५४]

सूरदास ने 'चरन कमल बन्दौं हरिराई' कहकर हरि की वन्दना की, कृष्ण को इष्टदेव मान गोविन्द नाम में अपनी भक्ति-दृढ़ता जताई—'गोविन्द सो पति पाय कहा मन अनत लगायें', वामन-अवतार के भेद को याद करते हुए 'अब सत क्यों हारौं जगत्स्वामी नापौ देह हमारी' द्वारा कृष्ण महिमा का वर्णन किया और 'चारी भुज जाके चारि आयुध निरखि हैं कर ताउ' कहकर कृष्ण के विष्णु का अवतार होने का विश्वास दर्शाया। पर शृंगार-स्रोत में मज्जन करते ही उनका सारा ज्ञान काफ़ूर हो गया। अब वह मान मनौती की आँख-मिचौली में मोद करने लगे। एक गोपी कृष्ण को ख़बर देती है—'ललन तुम्हारी प्यारी आजु मनायो न मानति।' सुनते ही विरह-व्याकुल श्याम सुधिविहीन हो गए, गोपी ने चेष्टा कर होश में लाया और धैर्य दे राधा के पास आई, बोली—"चलो किनि भामिनि कुंज कुटीर"; पर मानवती राधा टस से मस नहीं हुई, तब झखमार कृष्ण को स्वयं आना पड़ा। मिलन,

---

नीता स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्य' कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥"

[५३] श्री नलिनीमोहन सान्याल : सूर-साहित्य के कुछ अंग, वीणा—१९२४ मई, पृ० ५७२

[५४] श्रीश्यामसुन्दर दास—'सूरदास'

रास, वसन्तोत्सव, आदि वर्णन में सूरदास को यह भी स्मरण नहीं रहा कि कृष्ण कोई अवतारी पुरुष थे या कोई आदर्श व्यक्ति, या साधारण पुरुष या कोई विषयी स्त्रैण। उनने स्वविचार से काम न ले जयदेव विद्यापति आदि के वसन्तोत्सव, विरह, मिलन आदि के वर्णन के सादृश्य में कृष्ण को व्रजवनिताओं के बीच मनमाना नाच व केलि कराकर आनन्द उठाया। 'देत परस्पर गारी मुदित है, तरुणी बाल सयानी' कह कर एक ओर उनने युवतियों की खबर ली तो दूसरी ओर 'करत केलि कौतूहल माधव, मधुरी बानी गावैं हो' से मोहन मुरारी की मरम्मत की और ऐसा करने में उनने लोक व शास्त्र के मर्य्यादातिक्रमण को आपही स्वीकार भी किया—

"सकल सृँगार कियो व्रजवनिता, नखसिख लोभ लुटानी हो।
लोक वेद कुल धर्म केत की, नेकु न मानत कानी हो॥
माधव नारि, नारि माधव पै, छिरकत चोआ चन्दन हो।
ऐसो खेल मचौ बरार्बार, नँदनँदन जगवन्दन हो॥"

सूरदास की पद-रचना के मुख्य विषय हैं—बालकृष्ण, लीला, माया, राधा, गोप-गोपिका—रास, वंसी। इन पर रचित पदों से स्पष्ट है कि सूरदास श्रीमद्भागवत, वामनपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, गीता, महाभारत और गीतगोविन्द के वर्णनों से प्रभावित हुए। किन्तु ऐसा प्रभाव उन पर किस ढंग में पड़ा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कृष्णशाखा के प्रमुख आचार्यों से भी सीधा प्रभाव का पड़ना सम्भव है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे, जिनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते उनने स्वयं कहा है— 'भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो, श्रीवल्लभ-नखचन्द्र-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।' वल्लभाचार्यजी भागवतपुराण-

मतानुयायी थे और उनने भागवत—मत के साथ विष्णु-स्वामी के सिद्धान्तों का मिश्रण कर अपनी धारणाओं को पुष्ट किया था। सूरदास ने भी अपने गुरु के पुष्टिमार्ग का अनुसरण किया, पर उसीसे संतुष्ट न हो उनने शृंगार-चित्रण में राधा को भी स्थान दिया, यद्यपि राधा को अपने मत में वल्लभाचार्य ने स्थान नहीं दिया था। राधा को पूरा सम्मान ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में प्राप्त हुआ और वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा वह कृष्णभक्ति के भीतर प्रमुख रूप में समादृत की गई[५४]। गीतगोविन्द में भी जयदेव-कृत राधा-मान का सुन्दर वर्णन विद्यमान था। शृंगारप्रिय सूरदास उससे विलग नहीं रह सके, उनने भी अपने कल्पना-मन्दिर में राधा की मनमोहनी मूर्त्ति की प्राणप्रतिष्ठा की और तब गुण-रस की सीमा राधा-कृष्ण के स्तवन में दत्तचित्त हुए—'सुन्दर श्याम गुण रस की ,सीवाँ सूर राधिका स्याम[५५]।'

सूरदास ने कृष्ण-स्वरूप का वर्णन ब्रह्म, शिव और राम के सदृश करते हुए कृष्ण में ब्रह्म-निरूपण और शिव तथा राम से इनका अनैक्य-सिद्ध करने का यत्न किया है। राधा के साथ शृंगारी कृष्ण के अलावे विष्णु-रूपी कृष्ण, दार्शनिक कृष्ण और वीर कृष्ण के वर्णन संस्कृत

---

[५४] ईसाबाद २री शताब्दी के सातवाहन की 'गाथासप्तशती' के एक श्लोक (१-८९) में राधा को वर्णन मिलता है, पर वह क्षेपक कहा जाता है क्योंकि उस काल के अन्य ग्रन्थ में राधा का उल्लेख नहीं मिलता। पहाड़पुर के उत्खनन से पहले का राधाकृष्ण-सम्बन्धी कोई प्रमाण नहीं मिलता।

[५५] सूरसागर—स्कं १०, पद २१

ग्रन्थों में सूरदास के पूर्ववर्ती कवियों ने किए थे और शुरू में कृष्ण-भक्त कृष्ण को उन गुणों के साथ स्मरण किया करते थे। अतः सूरदास को भी उस ख्याति की रक्षा करनी थी और उनने की भी। उनने सकल-तत्त्व को गोपाल का अंश माना, उन्हें त्रिमूर्तियों का मूल कहा, और हरि को ही जग का ठाकुर स्वीकार किया [५६]। फिर 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि' पर ध्यान दे कृष्ण में शिवरूप की समता का दर्शन कराना आरम्भ किया, उनने पदों में व्यक्त किए-'सीस पर धारे जटा मनु रूप किय त्रिपुरारि', 'मुन्ड माला मनो हर गर ऐसि शोभा पाइ', 'बालशशि मनो भालते लै धर धर्यो त्रिपुरारि' [५७]। आगे कृष्ण-लीला वर्णन-क्रम में कृष्ण के साथ राम को भी उनने विष्णु का अवतार स्वीकार किया, क्योंकि उनसे पूर्व ही रामानन्द ने रामभक्ति पर उपदेश किए थे और रामभक्ति के उपासक भी समाज में विद्यमान थे। किन्तु 'जन्म जन्म युग युग यह लीला प्यारी जानि लई' के अनन्य भक्त होने के कारण वह राधा के चरणों से दूर नहीं जा सके, वह राधा को समझाते रहे-'सुन राधिके तोहि माधो सों प्रीति सदा चलि आई' और 'व्रज उपासक कान्ह राधा को' जानकर भी 'रस रास रीति सुख' के आस्वादन में तल्लीन रहे [५८]। जिस

[५६] सूरसागर ४-४—'विष्णु रुद्र विधि एकहि रूप', पद १०-'विष्णु शिव ब्रह्म मम रूप सारी', पद २७ 'हरि सो ठाकुर और न जन को।'

[५७] सूरसागर-पद ४८, ४९

[५८] सूरसागर-पद २७, ४१-'कृष्ण-भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी', पद ६५, पद ९९, पद ११- 'सूरश्याम रस रास रीति सुख बिन देखे आवै क्यों साईं'

प्रकार सूर की राधिका के साथ हरि वृन्दावन में रास-क्रीड़ा में रात-दिन सदा एकरंग लीन रहे,[५९] इसी प्रकार रास के वर्णन में रस-मद-विभोर सूर शील-मर्यादा व ज्ञान-योग से सर्वदा अनभिज्ञ रहे[६०]। उनने कृष्ण से मनमाना रास कराया, कभी उन्हें राधा के संग विहार में उन्मत्त दिखलाया और कभी किसी अँचलगी गोपिका के रंग-रस में मत्त प्रस्तुत किया। ऐसी चेष्टा से उनने शृंगार को ही बीभत्स नहीं बनाया, अपने आराध्यदेव के पवित्र चरित्र को भी अति दूषित किया।[६१]

[५९] सूरसारावली १०६९—"वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग। भोर निसा कबहूँ नहि जानत सदा रहत यक रंग॥"

[६०] संक्षिप्त सूरसागर : वियोगी हरि, पद ४४०–'योग सों कौने श्री हरि पाये, कोहै योग सुनत रह ऊधो सूर स्याम मन भाये', पद ४०१–'योग अग्नि की दावा देखियत चहूं दिसि लाइ दये', पद ४१७–'सूर उहै निज रूप स्याम को है मन माँह समान्यों', पद ४३४– सूर योग की कथा बढ़ाई, शुद्ध भक्ति गोपीजन पाई।'

[६१] यथा—१) स्याम कर भामिनि मुख सँवारेउ।
बसन तन दूरि कर, सबल भुज अंक भरि,
काम रिस बाम पर निदरि मारेउ॥
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उर लरे,
परे सुख सेज मन एक दोऊ।
मनो कुम्हिलाय रहे मैन से मल्ल दोउ,
कोक परबीण घटि नाहिं कोऊ॥
२) ठाड़े नन्दद्वार गोपाल।
बोलि लीन्हो देखि ललिता सैन दै तत्काल।

सम्भव था कि शृंगार की काव्य कल्पना दौड़ान में सूरदास और भी आगे निकल जाते यदि उस समय का एक प्रतिबन्ध उनकी गति पर न होता और उसी प्रतिबन्ध के कारण यह वैसी भ्रष्ट गति को प्राप्त भी नहीं हो सके जो पीछे के स्फुट काव्यों में कृष्ण की लीला पर रचना करनेवाले शृंगारी कवियों द्वारा उपस्थित की गई। यह प्रतिबन्ध था अकबर का आदर्श प्रेम और धर्म्मानुरागिता। अकबर के दरबार में विद्या का मान था और नीतिज्ञ एवं धर्म्मज्ञ विद्वान् भी विद्यमान् थे। इसीसे शृङ्गार की गति के प्रतिकूल अब्दुल रहीम की रुचि हिंदी में नीति के दोहे रचने की ओर हुई। पर कवियों के मस्तिष्क में उस समय शृङ्गार-प्रेम ऐसा धसा बैठा था कि नीति-प्रियता की गति प्रबल नहीं हो सकी, कृष्ण का वर्णन ही कवियों को प्रिय रहा। आगे चलकर रासलीला, केलिवर्णन, विरह-व्यथा, मिलन-सुख आदि पर फुटकर कविताएँ रचते २ शृङ्गारी कवियों ने कृष्ण को मनोरंजन का मसाला ही बना लिया और वे जैसा चाहते उन्हें गोपियों तथा राधा के बीच वैसा ही नचा लेते[६४]। ऐसा करते समय कृष्ण के घोर आंगिरस

हँसत गये हरि गेह ताके कोउ न जानत और।
मिली हरि को छाय उर भरि चापि कठिन कठोर॥
कह्यौ मेरे धाम कबहूँ क्यों न आवत श्याम?
सूर प्रभु कहि आजु नागरि आइहैं हम याम।

[६३] Lala Sita Rama Hindi selections, B V, p 6

[६४] Another noteworthy fact is that the hero and heroine in almost all cases are Krishna and Radha . , all offences in the Code of Love are committed by them and are committed on them These

सम्भव था कि शृंगार की काव्य-कल्पना-दौड़ान में सूरदास और भी आगे निकल जाते यदि उस समय का एक प्रतिबन्ध उनकी गति पर न होता और उसी प्रतिबन्ध के कारण वह वैसी भ्रष्ट गति को प्राप्त भी नहीं हो सके जो पीछे के स्फुट काव्यों में कृष्ण की लीला पर रचना करनेवाले शृंगारी कवियों द्वारा उपस्थित की गई। वह प्रतिबन्ध था अकबर का आदर्श प्रेम और धर्मानुरागिता। अकबर के दरबार में विद्या का मान था और नीतिज्ञ एवं धर्मज्ञ विद्वान् भी विद्यमान् थे। इसीसे शृङ्गार की गति के प्रतिकूल अब्दुल रहीम की रुचि हिंदी में नीति के दोहे रचने की ओर हुई। पर कवियों के मस्तिष्क में उस समय शृङ्गार-प्रेम ऐसा धसा बैठा था कि नीति-प्रियता की गति प्रबल नहीं हो सकी, कृष्ण का वर्णन ही कवियों को प्रिय रहा। आगे चलकर रासलीला, केलिवर्णन, विरह-व्यथा, मिलन-सुख आदि पर फुटकर कविताएँ रचते २ शृङ्गारी कवियों ने कृष्ण को मनोरञ्जन का मसाला ही बना लिया और वे जैसा चाहते उन्हें गोपियों तथा राधा के बीच वैसा ही नचा लेते[64]। ऐसा करते समय कृष्ण के घोर आंगिरस

हँसत गये हरि गेह ताके कोउ न जानत और।
मिली हरि को जाय उर भरि चापि कठिन कठोर॥
कह्यौ मेरे धाम कबहूँ क्यों न आवत स्याम?
सूर प्रभु कहि आजु नागरि आइहैं हम धाम।

[64], Lala Sita Rama Hindi selections, B. V, p. 6
Another noteworthy fact is that the hero and heroine in most all cases are Krishna and Radha . ... , all offences in the Code of Love are mmitted by them and are committed on them. These

प्रकार सूर की राधिका के साथ हरि वृन्दावन में रास-क्रीड़ा में रात-दिन सदा एकरंग लीन रहे,[५९] इसी प्रकार रास के वर्णन में रस-मद-विभोर सूर शील-मर्यादा व ज्ञान-योग से सर्वदा अनभिज्ञ रहे[६०]। उनने कृष्ण से मनमाना रास कराया, कभी उन्हें राधा के संग विहार में उन्मत्त दिखलाया और कभी किसी अँखलगी गोपिका के रंग-रस में मत्त प्रस्तुत किया। ऐसी चेष्टा से उनने शृंगार को ही वीभत्स नहीं बनाया, अपने आराध्यदेव के पवित्र चरित्र को भी अति दूषित किया।[६१]

---

[५९] सूरसारावली १०६९—"वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग। भोर निसा कबहुँ नहि जानत सदा रहत एक रंग॥"

[६०] संक्षिप्त सूरसागर : वियोगी हरि, पद ४४०–'योग ठगौरी कौने श्री हरि पाये, कोहै योग सुनत रह ऊधो सूर श्याम मन भाये', पद ४०१–'योग अग्नि की दावा देखियत चहूं दिसि लाइ दये', पद ४१७–'सूर वहै निज रूप श्याम को है मन माँहि समान्यों', पद ४२६– सूर योग की कथा बहाई, शुद्ध भक्ति गोपीजन पाई।'

[६१] यथा—१) श्याम कर भामिनि मुख सँवारेउ।
वसन तन दूरि कर, सबल भुज अंक भरि,
काम रिस वाम पर निदरि मारेउ॥
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उर लरे,
परे सुख सेज मन एक दोऊ।
मनो कुश्तिलाय रहे मैन से मल्ल दोउ,
कोक परबीण घटि नाहि कोऊ॥
२) ठाढ़े नन्ददार गोपाल।

सम्भव था कि शृंगार की काव्य कल्पना दौड़ान में सूरदास और भी आगे निकल जाते यदि उस समय का एक प्रतिबन्ध उनकी गति पर न होता और उसी प्रतिबन्ध के कारण वह वैसी भ्रष्ट गति को प्राप्त भी नहीं हो सके जो पीछे के स्फुट काव्यों में कृष्ण की लीला पर रचना करनेवाले शृंगारी कवियों द्वारा उपस्थित की गई। वह प्रतिबन्ध था अकबर का आदर्श प्रेम और धर्म्मानुरागिता। अकबर के दरबार में विद्या का मान था और नीतिज्ञ एवं धर्म्मज्ञ विद्वान् भी विद्यमान थे। इसीसे शृंगार की गति के प्रतिकूल अब्दुल रहीम की रुचि हिंदी में नीति के दोहे रचने की ओर हुई। पर कवियों के मस्तिष्क में उस समय शृंगार-प्रेम ऐसा घसा बैठा था कि नीति-प्रियता की गति प्रबल नहीं हो सकी, कृष्ण का वर्णन ही कवियों को प्रिय रहा। आगे चलकर रासलीला, केलिवर्णन, विरह व्यथा, मिलन-सुख आदि पर फुटकर कविताएँ रचते २ शृंगारी कवियों ने कृष्ण को मनोरंजन का मसाला ही बना लिया और वे जैसा चाहते उन्हें गोपियों तथा राधा के बीच वैसा ही नचा लेते[६४]। ऐसा करते समय कृष्ण के घोर आंगिरस

हँसत गये हरि गेह ताके कोउ न जानत और।
मिली हरि को धाय उर भरि चापि कठिन कठोर॥
कह्यो मेरे धाम कबहूँ क्यों न आवत श्याम?
सूर प्रभु कहि आजु नागरि आइहैं हम धाम।

[६४] Lala Sita Rama Hindi selections B V, p 6 'Another noteworthy fact is that the hero and heroine in almost all cases are Krishna and Radha

, all offences in the Code of Love are committed by them and are committed on them These

का शिष्य, महाभारत का वीर नीतिज्ञ, गीता का दर्शनज्ञ होने, और विष्णु भगवान् के अवतार होने का जरा भी ध्यान कवियों को नहीं रहता। किन्तु भारतीय समाज के 'सम्भवामि युगे युगे' का निश्चित नियम इस प्रवृत्ति को और अधिक सह नहीं सका, उसने शीघ्र ही इसके विरोध में सुधारक महाकवि गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दू समाज में अवतीर्ण कर शान्ति की साँस ली। अपने आस्तिक ईश्वरभक्त समाज के समक्ष केलि-कीर्त्तन के स्थान में आदर्श काव्य को प्रस्तुत कर रचना रुचि में भेद पैदा करना गोस्वामीजी का उद्देश्य हुआ। उस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये गोस्वामी ने अपने रामचरित-मानस नामक महाकाव्य में मर्य्यादापुरुषोत्तम राम के अवतार का विस्तृत वर्णन किया और इनके आदर्श द्वारा हिन्दूजीवन के अश्र सार्वभौमिक प्रेम को मोक्षदायी प्रतिपादित किया[६३]।

---

later writers pretended that by describing in their verses these amorous pranks which were, it must be said, creations of their brain, they worshipped Krishna and Radha Even the great Das says—रीझि है सुकवि तोपै जानौ कविताई ना तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

[६३] G A. Grierson The Modern Vernacular Literature of Hindustan, p 40 "But what is most remarkable in it, in an age of immorality, when the bounds of Hindu Society were loosened and the Mughal Emp re being consolidated, was its stern morality in every sense of the work Other Vaishnava writers, who inculcated the worship of Krishna, too often debased their muse to harlotry to attract the hearers.

राम के ईश्वरत्व को समाज में प्रतिपादित करने के पूर्व गोस्वामी ने अपने समाज, राष्ट्र और धर्म की तत्कालिक परिस्थिति पर एक गवेषणात्मक दृष्टि डाली। उनकी आँखों ने आर्यसंस्कृति को रसातल की ओर तीव्र गति से जाते, वर्णाश्रम-धर्म की सीमा का उल्लंघन होते, वैदिक मर्यादा भ्रष्ट होते और भारतीय भक्ति का आदर्श नष्ट होते देखा। उनका हृदय क्षोभ से और भी भर गया जब उनने एक ओर कृष्ण भक्तों द्वारा सामाजिकमर्यादा-मूल पर ही कुठाराघात करने वाली भक्ति का ज़ोरदार प्रचार होते देखा और दूसरी ओर 'अशुभ भेष-भूषा' धारण कर 'भच्छाभच्छ के अविचारी' सिद्धों द्वारा तंत्र-मंत्र के मान प्रसार का नीरिक्षण किया। तब समाजहितार्थ वह ध्यानस्थ हुए और बोध होने पर उनने विवेक के आलोक में उस धनुपपाणि राम का दर्शन किया, जिसकी पतितपावनी भक्ति से हिन्दू जाति के उद्धार का संकल्प रामानन्द ने किया था। किन्तु इस समय तुलसीदास को उस राम के स्वरूप पर विशेष विचार करना था, क्योंकि सूफियों व योगियों के उपदेश से राम का चरित्र निर्गुण मत से प्रभावित हो रहा था, संतों द्वारा रामानन्द के राम निर्गुण हो रहे थे और कबीर ने घोषणा कर दी थी—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम-नाम को मरम है आना।" कट्टर मर्य्यादावादी गोस्वामी ने इन सबों के प्रत्युत्तर के साथ राम की एक आदर्श कथा का ढंग निश्चित किया और उस कथा में उनने सर्वव्यापी परब्रह्म राम के

---

but Tulsi Das had a nobler trust in his countrymen, and, that trust has been amply rewarded !"

साथ उनकी सती साध्वी धर्मपत्नी जगन्माता सीता के नामोच्चारण को कलिकालग्रस्त जीवों के मोक्ष का केवल सहज सुन्दर साधन बतलाया। राधा-कृष्ण की लीला के के स्थान में उनने उन्हीं सीता-राम [1] की कथा को समाज के सामने इस ढंग से रक्खा कि उसे मानव समाज सादर अपने व्यावहारिक जीवन का आदर्श बना सके। उस राम कथा की महिमा बतलाते उनने उस आदर्श के रहस्य को भी बड़े ही सुन्दर ढग से व्यक्त किया—

'बुध विश्राम सकल भय-रजनि,राम-कथा कलि-कलुष-विभंजनि
राम-कथा कलि पन्नग भरनी, पुनि विवेक-पावक कहँ अरनी।
राम-कथा कलि कामद गाई, सुजन-सजीवनि मूरि सुहाई।
सोइ बसुधा तल सुधातरंगिनि, भयभंजनि भ्रम भेकभुअंगिनि।
राम-चरित चिंतामनि चारू, संत सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
जगमंगल-गुन-ग्राम राम के, दानि मुकुति धन धरम धाम के।

[1] सीता-राम के सम्बन्ध में तुलसीदास ने मर्यादा का कहीं भी अतिक्रम नहीं किया, वरंच जिस किसी स्थान में अन्य किसी कविने ऐसा किया भी था उसे भी दीप्तगुणयुक्त बनाया। जैसे-जयंत की कथा, जिसका वर्णन करते कालिदास ने लिखा था—

"ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥" रघुवंश १२-२२

किन्तु सीता के स्तनद्वय का उल्लेख तक गोस्वामी को प्रिय नहीं हुआ, उनने मम्मट के नियम 'रतिः सम्भोगशृंगाररूपा उत्तम-देवताविषये न वर्णनीया' का पालन किया और संसार-माता जानकी से सम्बन्ध रखनेवाली इस घटना का वर्णन करते हुए इस स्थल का उल्लेख भी विचित्र प्रतिभा के साथ किया—

"सीता चरन चोंच हति भागा, मूढ़मंद मति कारन कागा।"

सद्गुरु ज्ञान विराग जोग के विबुध वैद भव भीम रोग के।
जननि-जनक सिय-राम-प्रेम के, बीज सकल व्रत-धरम नेम के।
समन पाप-संताप सोक के, प्रिय पालक पर-लोक लोक के।
सचिव सुभट भूपति बिचार के, कुम्भज लोभ-उदधि अपार के।
काम-कोह-कलि मल-करि-गन के, केहरि-सावक जन-मन बन के।
द्द्र्वन मोह मत दिनकर-कर से, सेवक सालि-पाल जलधर से।
सुकवि सरद नभ मन उडुगन से, रामभगत जन जीवन धन से।

कुपथ कुतर्क कुचालि कलि, कपट दम्भ पाखण्ड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि, ईंधन अनल प्रचण्ड॥
राम चरित राकेस कर; सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित विसेषि बड़ लाहु॥"

ऐसी महिमावाली रामकथा के प्रचार में गोस्वामी ने चेष्टा भी कम नहीं की, उनने पाण्डित्य एवं विवेक की यथोचित सहायता लेते हुए 'त्रिविध दोष दुख दारिद दावन, कलि कुचाल तुलि कलुष नसावन' में समर्थ रामचरितमानस की रचना की। जिस प्रकार समाजशास्त्र-वेत्ता दर्शनज्ञ गीता लेखक ने संस्कृत में श्रीमद्भगवद्गीता की रचना करते समय अपने समय तक के सारे ईश्वर-सम्बन्धी विचारों पर समन्वयात्मक चिन्तन कर समाज विभूति के लिए निष्काम कर्मनय की शिक्षा दी थी, उसी प्रकार कलिकाल दुर्गति-ग्रस्त हिन्दू-समाज के उत्कर्षार्थ संहिता से राधाकृष्ण-भक्ति प्रचार तक मुख्य आर्य्य-सिद्धान्तों पर तर्क करते हुए तुलसीदास ने अयोध्यापुरी में संवत् १६३१ के चैत्र शुक्ल ६ मङ्गलवार को[६४]

[६४] तुलसीदास : रामचरितमानस, बालकाण्ड

'रामचरितमानस' की रचना आरम्भ की। समाप्त कर लेने पर उस रामभक्ति-महाकाव्य के सम्बन्ध में यथार्थतः व्यक्त किया—

> "पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
> मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
> श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
> ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥"

रामचरितमानस की रचना के समय भारतीय ईश्वरवाद के तारतम्य में भक्ति का प्राबल्य था, शैव शिव की उपासना को उत्तम समझते थे और वैष्णव राधाकृष्ण की भक्ति को इन दो दलों के बाहर मतमतान्तरों की तूती बोल रही थी वैदिक विचार अपना बल खो चुके थे और पौराणिक धारणाओं की भिन्नताएँ समाज में धार्मिक अनैक्य की जड़ सुदृढ़ कर रही थीं। उपदेशक 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' को चरितार्थ कर रहे थे और पण्डित का लक्षण हो रहा था— 'पण्डित सोइ जो गाल बजावा।' साधु-संतों की अवस्था थी— 'मिथ्यारम्भ दम्भरत जोई, ताकहँ संत कहहिं सब कोई।' ऐसी दशा में गोस्वामी ने काव्य द्वारा कोरा मनोरंजन करना उत्तम नहीं समझा, उनने कवि होकर समाज को सुधारमय आदर्श काव्यामृत का पान कराना विचारा। एतदर्थ उनने आस्तिक बुद्धि की परमावश्यकता समझ कर ईश्वर-भजन की ओर समाज को आकर्षित करने का यत्न आरम्भ किया। उन्हें विश्वास था कि—'बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धांत अपेल', क्योंकि ईश्वरवाद के सर्वप्रिय होने के अतिरिक्त उसका सच्चा स्वरूप समाज क उद्धारक होता है। अतः उनने सर्व

प्रथम अज अविनाशी परब्रह्म के अवतार राम की भक्ति-श्रेष्ठता को समझाया—

"सिव अज सुक सनकादिक नारद,
जे मुनि ब्रह्म विचार विसारद।
सबकर मत खगनायक एहा,
करिय राम-पद-पंकज नेहा।
स्नुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं,
रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना,
बरु जामहिं सससीस बिखाना।
अंधकार बरु रबहिं नसावइ,
रामबिमुख न जीव सुख पावइ।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई,
बिमुख राम सुख पाव न कोई।"

गोस्वामीजी के सामने समाज में ईश्वरोपासना का मुख्य साधन अपने इष्टदेव का नाम-जाप माना जा रहा था और मतों में नाम-कीर्त्तन की ही प्रधानता थी, कृष्णभक्त भी राधाकृष्ण के नामोच्चारण को सर्वसुखदाता समझते थे। नाम-रटन में जन-विश्वास था और उसका विरोध सफल भी नहीं हो सकता था, क्योंकि पुराणकारों द्वारा उसे धर्म्म का निश्चित स्वरूप दिया जा चुका था। इस हेतु गोस्वामीजी ने भी उसी का मण्डन किया। उनने विष्णुपुराण के—'यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ श्रीहरि-कीर्त्तनात्' और पद्मपुराण के 'न तत्पुराणं न हि यत्र रामो यस्यां न रामो न च संहिता सा' के अनुकूल 'कलियुग केवल नाम अधारा,' 'नाम-प्रताप

प्रगट कलिमाहीं' और 'एक अधार रामगुन ग्राना' व्यक्त कर राम-भजन-सम्बन्ध में उपदेश किया—

"धर्म कल्पद्रुमाराम हरिधाम-पथि संबलं मूलमिदमेव एकं।
भक्ति-वैराग्य-विज्ञान-सम-दम नाम आधीन साधन अनेकं।"

राम-भजन-माहात्म्य और राम-भक्ति-श्रेष्ठता के समझाने में गोस्वामी ने राम-कथा के सात सोपान किए और राम-चरितमानस में उन्हीं के अन्तर्गत ज्ञान-धर्म-व्यवस्थित राम-भक्ति का निरूपण अनेक युक्तियों के साथ किया। राम के सम्बन्ध में उनने सिद्धान्त बनाया—"वह राम दशरथपुत्र हैं, विष्णु हैं, परब्रह्म हैं, निर्गुण हैं, सगुण हैं; उसका निर्गुण रूप तो निश्चित स्वरूपवाला होने के कारण सुलभ है, पर सगुण अगम व नानाचरितवाला होने के कारण मुनिमन को भी भ्रम में डालनेवाला है।" इसे स्पष्टतः समझाने में उनने ज्ञानियों के लिए ज्ञान-मार्ग और जनसाधारण के लिए व्यवहार-मार्ग का अनुसरण किया और उन दोनों नयों पर चलते हुए रुचि, परोपदेश और अनुभव को तीन कोटि के प्रमाण स्वीकार किए। तदनन्तर वैदिक मर्यादा, ज्ञान-भक्ति में भेद, राधाकृष्ण-भक्ति के सिद्धान्त-सूत्र, सीताराम की आदर्श भक्ति, और शिव-राम में अभेदकता के प्रसंग उठा कर यथाक्रम सुन्दर शिक्षाप्रद संवादों में [६६] राम-भक्ति का निरूपण किया और

---

[६६] राम० बाल०—"सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥"

इस दोहे के 'चारि' शब्द का पाठ कुछ संस्करण में 'चारि' है और उससे कुछ लोग मानस में 'चार' संवादों के होने की कल्पना करते हैं, पर मानस के संवादों पर विचार करने से यह कल्पना मान्य प्रतीत नहीं

उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की। गोस्वामीजी के सभी ग्रन्थों में उनका यही लक्ष्य रहा और इसीकी पूर्त्ति में उनने अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित की। इस लक्ष्य से यह साफ झलकता है कि गोस्वामीजी को न द्वैतवाद से प्रेम था, न वह अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद की दार्शनिक मीमांसा को कदापि कटिबद्ध हुए [६०]। उन्हें गीताकार की भाँति भिन्न भिन्न विचारों पर प्रकाश डालते हुए ईश्वरभक्ति के शुद्ध आदर्श द्वारा समाज का कल्याण करना अभिप्रेत था और उसमें वह सफल भी हुए।

वैदिक मर्यादा की रक्षा के विचार से तुलसीदास की समता संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति के साथ की जा सकती है। भवभूति ने राम का चरित वर्णन करते हुए तांत्रिक

होती, न वहाँ 'चारि' पाठ ही शुद्ध जान पड़ता है। उत्तरकाण्ड के 'चारि चारु मोरे मन भाये' में 'चारु' और चार अर्थवाले 'चारि' के स्पष्ट प्रयोग विद्यमान हैं।

[६०]. Selections from Hindi Literature, Book III के पृ० XI में लाला सीताराम ने लिखा है—"A close study of the Ramcharitmanasa will show that Siva in the book represents Sankara, Lakshmana is Ramanuja and Bharath is a personification of Ramanand." पर इस पर पूरा प्रकाश वहाँ नहीं डाला गया है, जिसके अभाव में और गोस्वामीजी के सिद्धान्त पर विचार करते हुए यह कल्पना मान्य नहीं जँचती। रामचरितमानस के पात्र गोस्वामीजी के पूर्ववर्ती दार्शनिक सुधारकों के प्रतिरूप कदापि स्वीकृत नहीं किए जा सकते, यद्यपि उनके मतों पर विचार अवश्य ही यत्र तत्र मानस में किया गया है।

धारणाओं पर वैदिक विचारों का प्राबल्य स्थिर करने का प्रयत्न अपने नाटकत्रय में वैदिक समाजादर्श-चित्रण द्वारा किया था और समाज-चित्रों में वैदिक सिद्धान्तों के चित्र को पवित्र और ऊँचा करके दिखलाते हुए उनने वीरचरित में अलका के मुँह से राम-महिमा पर कहलाया था—"परमार्थ-दर्शी सिद्धान्त है कि रामचन्द्र साक्षात् परमेश्वर हैं और सीता त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं, साधुओं के रक्षार्थ ये भूतल पर स्वयं अवतीर्ण हैं[१८]।" यह भाव तुलसीदास को अति प्रिय लगा, और उनने मानस में रामचरित गाते हुए भवभूति के इस सिद्धान्त का अ नुसरण किया, बल्कि वैदिक संस्कार-वर्णन का क्रम ठीक वैसा ही रक्खा जैसा 'उत्तर-चरित्र' और 'वीर-चरित' में भवभूति ने रक्खा था। राम और सीता के विषय में 'रेफ रमित परमात्मा, सह अकार सियरूप' के अतिरिक्त स्थान २ पर राम को परमधामस्थ परमपुरुष कहा गया। पर उस सर्वोपरि 'परम पुरुष परधाम नर' राम के पौराणिक चरित्र में वेद का भी पूरा सम्बन्ध रक्खा गया। घोर पौराणिक युग में होते भी गोस्वामीजी को अनेक पन्थों की कल्पना पर आजीवन खेद रहा—'तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पन्थ अनेक' इनके सामने से जो युग बीत रहा था उसमें न वैदिक वर्णाश्रम का मान था, न श्रुति-मत का पालन, बल्कि 'श्रुति-विरोध-रत सब नरनारी' की अवस्था थी। उस दुरवस्था से समाज को मुक्त करनेवालों का भी दर्शन दुर्लभ था, क्योंकि ऐसा करने

---

[१८] वीरचरित ७—

> "इदं हि तत्त्वं परमार्थभाजामयं हि साक्षात् पुरुषः पुराणः।
> त्रिधा विभिन्ना प्रकृतिः किलैषा प्रार्तुभुवि स्वेन सतोऽवतीर्णा॥"

वाले ज्ञानी-वैरागी स्वयं वेदमार्ग से विचलित दिखाई देते थे-'निराचार जो श्रुति पथ त्यागी, कलियुग सोइ ज्ञानी वैरागी।' इसीका फल था कि समाज के लोग दुःखी थे—'करहिं पाप पावहीं दुख, भय रुज सोक वियोग' और लोगों का ध्यान वैदिक कृत्यों की ओर आकर्षित करने के निमित गोस्वामी ने अवतारी परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, उपनयन, गुरुगृहगमन आदि वैदिक संस्कार कराए और शिव-पार्वती-विवाह, सीतास्वयंवर तथा गीतावली में वाल्मीकि-आश्रम में वेद-विधानों के उल्लेख किए। लोगों के रोगदुःख-नाश का सम्भव उपाय बतलाते हुए इनने रामराज्य-वर्णन में अपनी वैदिक-प्रथा-प्रियता का स्पष्ट उल्लेख भी किया—

"वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।"

ज्ञान और भक्ति के लक्षण समझाने में तुलसीदास ज्ञानवाद के अत्युन्नत पुरातन स्वरूप को भूल नहीं सके, न उनने जनप्रिय भक्ति की उत्तेजना में ज्ञान का अपमान ही किया; बल्कि उनने दोनों की समुचित आलोचना की और कलिकाल-ग्रस्त समाज के लिए दोनों की उपयोगिताओं पर भी निष्पक्ष प्रकाश डाला। उनने वल्लभाचार्य की नाईं ज्ञान को 'सरसों' और भक्ति को 'स्वर्ण-पर्वत' कहना उचित नहीं समझा,[६५] बल्कि विवेक-

[६५] अणुभाष्य ३-३-२७—"मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तद्भक्तिभवैकदेशाव्यभिचारिभावेष्वेकतरदिति सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयम्।"

दृष्टि से उनमें अनैक्य दिखलाया, कहा–"भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कुछ भेदा, उभय हरहिं भवसंभव खेदा।" फिर उनने अपने समाज के विवेक-बल पर ध्यान देते हुए निरूपित किया कि ज्ञान का मार्ग अत्यन्त तेज और कठिन है[८०], पर भक्ति का मार्ग सरल व रुचिकर है। यथा– "ज्ञानक पन्थ कृपाणक धारा, परत खगेशन लागै बारा", "सुलभ सुखद मारग यह भाई, भगति मोरी पुरान स्रुति गाई।" इसकी व्याख्या में उनने कोई विशेष युक्ति नहीं रक्खी, साधारण युक्तियों द्वारा ही अनुभव और रुचि का आश्रय लिया[८१]। ज्ञान द्वारा मुक्ति-साधना में श्रद्धा, यम, नियम, शुभाचार, निवृत्ति, निर्मल, मन, निष्काम योग, संतोष, धृति, दम, सत्य, वैराग्य, योग, शुभकर्म, बुद्धि, समता आदि से समन्वित होने की कठिनाइयों पर प्रकाश डालते गोस्वामीजी भक्ति के सरल मार्ग का स्पष्ट वर्णन निम्नलिखित विभागों के अनुसार करने में यत्नवान् हुए...

(१) भक्ति की विशेषता—

> ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका,
> साधन कठिन न मन कहँ टेका।
> करत कष्ट बहु पावइ कोऊ,
> भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ।
> भगति सुतंत्र सकल सुख खानी,
> बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।

---

[८०] यह कठोपनिषद् के अनुकूल था—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति, अ० १–व० ३-१४"

[८१] उत्तरकाण्ड—

"न कछु करि जुगुति बिसेखी, यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।"

(२) नर-लीला... जब जब राम मनुजतनु धरहीं,
भगत हेतु लीला बहु करहीं।

(३) शिशुरूप प्रेम .. इष्टदेव मम बालक रामा,
सोभा बपुष कोटि-सत-कामा।

(४) ज्ञानमार्गियों का भ्रम...रामचन्द्र के भजन बिनु,
जो चह पद निरबान।[७४]
ग्यानवंत[७५] अपि सो नर,
पसु बिनु पूछ बिषान॥

(५) सेवक अभय... हरि सेवकहि न ब्यापि अविद्या,
प्रभुप्रेरित ब्यापइ तेहि विद्या।
ता तें नास न होइ दास कर,
भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर।

(६) भक्ति से श्रेष्ठता भगतिवंत अति नीचउ प्रानी,
मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी।

(७) कलि-धर्म्म... कलि-जुग-सम जुग आन नहिं,
जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुनगण बिमल,
भव तर बिनहिं प्रयास॥

(८) शिव-राम ऐक्य... सिव-सेवा कै सुत फल सोई,
अ-विरल-भगति रामपद होई।

---

[७४] 'निरबान' और 'ग्यानवंत' शब्दों से यहाँ जैन बौद्ध-मत की ओर संकेत प्रतीत होता है, क्योंकि उनमें स्पष्ट ईश्वर को कोई स्थान नहीं था।

(९) माया को भय... भगतिहिं सानुकूल रघुराया,
ता तें तेहि डरपति अति माया।

(१०) भक्ति में मुक्ति... अति दुर्लभ कैवल्य परमपद,
संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजन सोइ मुकुति गोसांई
अनइच्छित आवइ बरिआंई।

(११) भक्ति से प्रकाश... रामभगति चिंतामनि सुन्दर,
बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।
परमप्रकास रूप दिन राती,
नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती।

(१२) राम-भक्त माहात्म्य मोरे मन प्रभु अस विस्वासा,
राम तें अधिक राम कर दासा।

उपर्युक्त विभागों के अन्तर्गत रामभक्ति-माहात्म्य का चित्रण करते समय गोस्वामीजी ने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, पुष्टिमार्ग आदि सभी दार्शनिक व उपासना-सम्बन्धी सिद्धांतों पर भी दृष्टि रक्खी और उनके मुख्य २ सिद्धान्तों को अपने भक्ति-वर्णन में स्थान देने का भी यत्न किया। किन्तु अथ से इति तक उनने कृष्णभक्ति के स्थान में रामभक्ति को सर्वप्रिय बनाने का यत्न किया। एतदर्थ उनने भागवद्धर्म्म के अनुकूल, नवधा भक्ति को राम के साथ सम्बद्ध किया और कृष्ण,

[73] राम, माया, धर्म्म, ब्रह्म, जीव आदि से सम्बन्ध रखनेवाले जो कुछ विचार पुराणों तथा भिन्न भिन्न काव्य एवं नीति के ग्रन्थों मे व्यक्त किये गए थे सबों की समानता की उक्तियाँ मानस में उद्गीत कीं। वल्लभ-विट्ठल आदि द्वारा सगुणोपासना का जैसा वर्णन किया गया था वैसाही वर्णन राम की सगुणोपासना का भी किया गया, पर संसार-शास्त्र-पारंगत महाकवि तुलसी उसीसे संतुष्ट न हो कृष्ण की वैयक्तिक प्रधानता के मूल गीता तक के सिद्धान्तों का निरूपण रामभक्ति के अन्तर्गत करने को सतर्क हुए [74]। गीता के जितने मुख्य विषय थे, सबों को मानस मे रखकर रामचरितमानस को भाषा की रामगीता बनाना तुलसी को अभिप्रेत हुआ, यह नीचे के उद्धरणों की तुलना से स्पष्टतः प्रमाणित है:--

---

[73] भागवत ७-५-२१ "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥"

[74] F S. Growse : The Ramayana of Tulsi Das—Introduction, p xiii—"His theological and metaphysical views are pantheistic in character, being based for the most part on the teaching of the later Vedantists as formulated in the Vedant-Sara and more elaborately expounded in the Bhagavad Gita, which is the most popular of all Sanskrit didactic peoms" प्रकट होता है कि ग्राउज महोदय तुलसी के उद्देश्य को समझने में यहां असमर्थ रहे।

	...पि चेत्सुदुराचारो	'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी।'
भक्त-प्रकार—	'आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'	'राम-भगत जग चारि प्रकारा'
स्वर्ग-फल—	'क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'	'स्वरगउ स्वल्प अंत दुखदाई'
ज्ञान श्रेष्ठता—	'प्रियोहिज्ञानिनोत्यर्थमहं स च ममप्रियः'	'ज्ञानी प्रभुहि बिसेसि पियारा'
	'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'	'नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना'
ब्रह्म-साधर्म्य-	'ममसाधर्म्यमागताः'	'नाम प्रसाद ब्रह्म-सुख-भोगी'
		'कलि-मल मनोमल धोइ बिनु स्रम राम धाम सिधावहीं'।
अनावृत्ति-	'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'	'मम धामदा पुरी सुखरासी'
		'भगति करत बिनु जतन प्रयासा संसृति मूल अविद्या नासा।'
भक्ति का प्रटलफल	'न मे भक्तः प्रणश्यति'	'प्रभु सगलानि जंपेउ हरि नाऊँ पाएउ अचल अनुपम ठाऊँ।'
		'तातें नाश न होई दास कर'

एकमात्र भरोसा	'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'	'काय वचन मन मम चरन, करेसु अचल अनुराग' 'सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहि'
दिव्यदर्शन-	'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'	'उदर माँझ सुनु अंडजराया, देखेऊँ बहु ब्रह्मांड निकाया।' 'राम उदर देखेऊँ जग नाना'
कर्मफल-भोग-	'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'	'कठिन करमगति जानविधाता, जो सुभ असुभ करम फल दाता।'
माया—	'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया'	'हरि माया-बस जगत भ्रमाहीं।' 'नट मरकट इव-सबहिं नचावत राम खगेस वेद अस गावत।' 'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस-निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।'
विश्व रचना-	'मया ततमिदं स जगदव्यक्तमूर्तिना'	'अखिल विश्व यह मम उपजाया'

	गीता सिद्धान्त-सूत्र	मानस की समरूप शिक्षाएँ
सर्वभूतबीज—	'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरं॥'	'प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी, ब्रह्म निरीह निरज अविनासी॥'
अवतार—	'सम्भवामि युगे युगे'	'तब २ प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन-पीरा।' 'राम भगत हित नर-तनु-धारी, सहि संकट किय साधु सुखारी।' 'भगत-हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनुरूप।' 'असुरमारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज स्रुतसेतु।'
जीव—	'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'	'ईश्वर अंस जीव अविनासी'
मृत्यु—	'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।'	'जिमि नूतन पट पहिरिकै, नर परिहरइ पुरान।'
निष्काम-भक्ति—	'विहाय कामान् सर्वान्'	'सकल कामना-हीन जे' 'विश्वास करि सब आस परिहरि'

ब्रह्मार्पण—	'ब्रह्म समाधिना', 'त्यक्त सर्वपरिग्रहः'	'मोर दास कहाइ नर आसा, करइ तो कहहु कहा बिस्वासा।' 'राम भजिय सब काम बिसारी' अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब' 'मन बचन करम बिकार तजि तव चरण हम अनुरागहीं'
इष्टदेवाश्रित—	'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मांनमस्कुरु'	'रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं, संतत सुनिय रामगुन-ग्रामहिं।'
समदृष्टि—	'समोऽहं सर्वभूतेषु'	'सब पर मोहि बराबरि दाया'
भक्तवात्सल्य—	'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः'	'मोहि भगत प्रिय संतत' सेवक पर ममता अति भूरी'
रक्षकता—	'अनन्याश्चिंतयन्तो...योगक्षेमं वहाम्यहम्'	'भजहिं मोहिं तजि सकल भरोसा' 'करौं सदा तिनकी रखवारी, जिमि बालकहिं राखु महतारी।'

भक्तोद्धार—	'अपि चेत्सुदुराचारो'	'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी।'
भक्त-प्रकार—	'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'	'राम-भगत जग चारि प्रकारा'
स्वर्ग-फल—	'क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'	'स्वरगउ स्वल्प अंत दुखदाई'
ज्ञान श्रेष्ठता—	'प्रियोहि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च ममप्रियः'	'ज्ञानी प्रभुहि बिसेसि पियारा'
	'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'	'नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना'
ब्रह्म-साधर्म्य-	'ममसाधर्म्यमागताः'	'नाम प्रसाद ब्रह्म-सुख-भोगी'
		'कलि-मल मनोमल धोइ बिनु स्नम राम धाम सिधावहीं'।
अनावृत्ति-	'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'	'मम धामदा पुरी सुखराशी'
		'भगति करत बिनु जतन प्रयासा संसृति मूल अविद्या नासा।'
		'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ पायउ अचल अनुपम ठाऊँ।'
भक्ति का अटलफल	'न मे भक्तः प्रणश्यति'	'तातें नाश न होइ दास कर'

		'कबहुँ काल न व्यापिहि ताही' 'हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या'
एकमात्र भरोसा	'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'	'काय वचन मन मम चरन, करेसु अचल अनुराग' 'सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहि'
दिव्यदर्शन–	'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'	'उदर माँझ सुनु अंडजराया, देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया।' 'राम उदर देखेउँ जग नाना'
कर्मफल भोग–	'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'	'कठिन करमगति जानविधाता, जो सुभ असुभ करम फल दाता।'
माया—	'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया'	'हरि माया बस जगत भ्रमाहीं।' 'नट मरकट इव सबहिं नचावत राम खगेस वेद अस गावत।' 'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस- निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।'
विश्व रचना–	'मया ततमिदं स जगदव्यक्तमूर्त्तिना'	'अखिल विश्व यह मम उपजाया'

यह सर्वविदित है कि गीता में कृष्ण के नाम पर परमोच्च निष्काम योग के ज्ञान के विद्यमान होते भी भक्तों के बीच कृष्ण की ख्याति उनके ज्ञान या नीति-नैपुण्य के लिए नहीं हुई। 'कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्'[७४] यह कह कर कलिकाल के लिए हरिनाम कीर्त्तन की प्रशंसा में प्रस्तुत श्रीमद्भागवत में अद्भुत बालक कृष्ण की जिस मनोहारिणी बाल लीला का वर्णन बड़े सरस ढंग से किया गया था, वही बाल-लीला भक्तों को परम प्रिय हुई और भक्त—मंडली में बालकृष्ण की ही भक्ति को सम्मान दिया गया। कृष्ण भक्ति की उन प्रियता को राम-भक्ति के लिए प्राप्त करने के प्रती तुलसी ने इस पद को भी पहचाना और राम के बालरूप की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या परम भक्त काकभुसुंडि द्वारा कराने में वह यत्नशील हुए। उत्तरकाण्ड में बालक राम की भक्ति की महिमा 'इष्ट देव मम बालक रामा', 'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह', 'बालक रूप राम कर ध्याना', 'पुनि उर राखि राम सिसु रूपा' आदि सूक्तियों द्वारा साफ २ गाई गई।

किन्तु कृष्ण की समानता राम में प्रतिपादित करते समय तुलसी ने राम की मर्यादा का पूरा ध्यान रक्खा, राम के

---

[७४] पूरा श्लोक है—"कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥"

जिसके अनुकूल तुलसी ने भी कहा है—

"ध्यानु प्रथम जुग मखविधि दूजे, द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।
केवल मल मूल मलीना, पापपयोनिधि जनमन मीना॥
कामतरु काल कराला सुमिरत समन सकल जगजाला।
राम नाम कलि अभिमत दाता, हित परलोक लोक पितुमाता॥"

चरित्र और राम की नर-लीलाएँ सर्वदा जनसमाज के लिए आदर्श रहे यह उनका पवित्र ध्येय रहा। अपने ध्येय के अनुसरण में' उनने राम को आदर्श बनाने के अतिरिक्त कृष्ण-चरित्र की अमान्य घटनाओं को दूसरे ढंग से पवित्र रूप में दर्शाने का यत्न किया । परकीयादर्श ने भारतीय नारियों के सतीत्व पर जो पर्दा डाल रक्खा था और राधा के प्रति जो लोकापवाद चल रहा था, उस पर्दा और लोकापवाद को दूर करने के निमित्त उनने सीता का अत्युन्नत नारी-जीवन समाज के सामने रक्खा और पार्वती की ' वेनता को भी श्रृंगार के दूषित वातावरण से बहिर्गत कर ादर्श बनाया [७६]।

तुलसी ने रामभक्तों के लिये सीता को राधा की समानता हीं दी, क्योंकि वह उन्हें समाज के लिये घोर अनर्थकारिणी ी प्रतीत हुई और उनने प्रेममार्ग की स्वाभाविक नैतिक ;ासनाओं पर भी विचार किया [७७], अतः उनने 'कृत्स्नं ामायण काव्यं सीतायाश्चरितं महत्' के अनुकूल 'रामचरित

---

[७६] ऐसा भाव गोस्वामी ने प्रगट भी किया है, यथा—
"जबहिं सम्भु कैलासहि आये, सुर सब निज निज लोक सिधाये।
जगत मातुपितु सम्भु भवानी, तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥"

[77] D C. Sen History of Bengali Language and Literature pp 44-45 "It goes without saying, that in their earnest efforts to attain salvation by worshipping young and beautiful damsels, many a youth turned moral wrecks in this country. Chandidas rightly says, 'that in a million it would be difficult to find one' who has the capacity for self restrain required by the Sahajia preachers "

में सीता के विषयवासना-रहित त्यागमय आदर्श चरित्र को समाज के सामने झलकाने का यत्न किया और जानकी के मातृरूप वर्णन में-उनके जो गौरव दिखलाया वह सर्वरूपेण आर्य्य-महिला के पवित्र जीवन के अनुकूल और नारीमात्र के लिये आदर्श है। पत्नी रूप में सीता ने राम की जैसी सेवा की वह नारीमात्र के जीवन का अलौकिक चमत्कार है। सीता में अभिमान, विषय-लालसा व भोगरुचि का अभाव ही नहीं पूर्ण त्याग था, सेवा का मनोहर भाव था और कष्ट-सहन की प्रशंसनीय क्षमता थी। नारी का जीवन-गौरव जिस पातीव्रत—तेज से चमकता रहता है उसके आदर्श-रूप सीता का नाम आज तक सहस्रमुख से उच्चारित किया जाता है, उसे ही सर्वप्रिय बनाने में गोस्वामी ने प्रतिभा प्रदर्शित की।" 'जातिकुलशील, मजिल सकल-बुझिया बुझिया मरि' सदृश उपदेश दे कृष्णभक्त कवियों ने परकीया नायिकादर्श से पाति-व्रत पर कलंक का जो अवसर दिया था, उसे मिटाकर स्त्रियों में भोगवृत्ति से होनेवाली बुराइयों को दिखलाना भी तुलसी दास ने उचित समझा। 'अबला अबल सहज जड़ घाती' वत् साधारण स्त्रियों का स्वभाव 'सब बिधि अगम अगाध दुराऊ' कह कर उनने उनके 'सब दुख खानि' होने का सिद्धान्त रक्खा। उनने स्त्रीजाति पर अपमानसूचक-सदृश जो उद्गार उस दशा में प्रकट किए थे वास्तव में किसी पौराणिक विचार-प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि वस्तुतः त्याग-सेवा-पातिव्रत-हीना स्त्रियों का वैसा ही स्वभाव होने के कारण। गोस्वामी के 'अवगुन आठ सदा उर रहहीं', 'युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं,' और 'जानि न जाइ नारि गति भाई'
कहने के बहुत पहले मैत्रायणीसंहिता ने भी कहा था-'अथा या

नैर्ऋता अन्ताः स्त्रियः स्वप्नः' और शतपथ ब्राह्मण में कथित था—'अनृत ७ स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षते'—स्त्री शूद्र कुत्ता कालापक्षी झूठे हैं [७८]। उनके आचरण-नियंत्रण के लिए भी वचन थे—'पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा', 'गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा'—अर्थात् 'पति ही स्त्री के लिये प्रतिष्ठा है, घर में ठहरना ही पत्नी की प्रतिष्ठा है।'[७९] इनके अलावे गौतमी को अपने संघ में लेने में नारी स्वभाव के ही कारण गौतम बुद्ध को भारी भय हुआ था और संघ में प्रविष्ट होकर भिक्षुणियों द्वारा संघ-जीवन को जो धक्का पहुँचा वह भी इतिहास-वर्णित है। गोस्वामीजी को समाजहितार्थ इन सारी घटनाओं पर विचार करना था और उन्हें राधा-कृष्ण पर रचित भ्रष्ट शृंगारीय कविताओं के कारण तथा फल पर भी ध्यान देना अनिवार्य था। निष्कर्ष-रूप में उनने स्त्रियों के लिये पारिवारिक जीवन का वह आदर्श समुपस्थित किया जो सीता के पातिव्रत-पूर्ण जीवन में विद्यमान था। स्त्रीजाति का साधारण स्वभाव कह लेने पर 'लोकधर्म, देहधर्म व वेदधर्म' की अवहेलना कर 'लिये चल निकेतने' की धारणा के उत्तर में उन्हें अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश भी दिलाना आवश्यक ज्ञान पड़ा—

''अमित दानि भर्त्ता वैदेही, अधम सो नारि जो सेव न तेही।
वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना।
एकइ धरम एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा॥

---

[७८] मैत्रायणीसंहिता ३-६-३, शतपथब्रा० १४-१-१-३१

[७९] शतपथब्राह्मण २-६-१-१४, ३-३-१-१०

धरम विचारि समुझि कुल रहई, सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई
बिनु अवसर भय तें रह जोई, जानहु अधम नारि जग सोई।
पति बंचक पर-पतिरति करई, रौरव नरक कलप सत परई।
छन सुख लागि जनम सत कोटी, दुख न समुझ तेहि सम को खोटी।

कृष्णभक्ति की समानता में राममक्ति को उठाने में रामादर्श वर्णन के अलावे तुलसीदास को शिव-राम में अभेदकता सिद्ध करना भी अत्यावश्यक ही नहीं अनिवार्य था, जिसके ३ मुख्य कारण थे। १ ला कारण था, त्रिमूर्त्तियों में विष्णु और शिव दोनों का होना और इन दोनों में भी पुराणों में यत्रतत्र अनैक्य का वर्णन रहना, जिसके प्रमाण-स्वरूप हरि और हर में भेद नहीं मानने के अनेक आदेश संस्कृत-ग्रन्थों में आजतक विद्यमान रहने के सिवाय भारत के भिन्न २ हिस्सों में हरि-हर की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। कज़िन्स महोदय (Mr. Cousens) ने पूणाजिलान्तर्गत पुरन्धर पर्वत पर हरि-हर की एक मूर्त्ति प्राप्त होने का उल्लेख किया है और इस मूर्त्ति का समय ११ वीं या १२ वीं शताब्दी ईसाबाद माना गया है,[८९] बेलारी ज़िले में हरिहरेश्वर का मन्दिर भी है जो चालुक्यवंशी राजाओं के समय का माना जाता है। २ रा कारण था, कृष्णानुयायियों द्वारा कृष्ण और शिव में एकता स्वीकार करने का प्रयास, जिसके अनुसार सूरदास ने भी विष्णु के साथ साथ कृष्ण की तुलना की ओर कृष्ण का शिवरूप वर्णित किया; महाभारत में भी कृष्ण ने शिव की पूजा करना स्वीकार किया है और शिव ने स्वीकार किया है कि श्रीकृष्ण से विशेष प्रिय मेरा अन्य कोई भक्त नहीं।

८९. V. A. Smith : History of Fine Art in India and Ceylon, p. 216

[81] ७वीं शताब्दी के मयूर ने भी कृष्ण द्वारा शिव का समादार कराते लिखा है-'शम्भो स्वागतमास्यतामित इतो वामेन पद्मोद्भव[82]।' ऐसा कारण था, शिवोपासना का प्रचलित रहना और शिव तथा पार्वती का तंत्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना। अतः तंत्र-ग्रन्थ-प्रचार, तांत्रिककृत्य-सम्मान और कृष्णभक्ति पर तंत्र-प्रभाव का अध्ययन करके ही तुलसी ने रामायण में शिव को सम्मानित करके उनके कल्याणकारी स्वरूप का दर्शाना और अघोरपंथ से उच्चाटन पैदा करना समाज के लिए लाभ-प्रद समझा।

रामचरितमानस के स्वाध्याय से प्रकट होता है कि उपर्युक्त कारणों से प्रेरित गोस्वामी ने रामचरित में शिव का सम्मान अनेक ढंग से किया। सर्वप्रथम रामचरित आरम्भ करने में मंगलाचरण स्वरूप शिव को प्रधानता दी और शिवा-शिव की वन्दना में कहा—'सुमिरि शिवा शिव पाइ पसाऊ।' रामगुण-गाथा का आरम्भ भी उनने 'सादर शिवहिं नाइ अब माथा' कह कर अवधपुरी में संवत् १६३१ की 'नौमी भौमवार मधु-

---

[81] महाभारत : अनुशा०—"ब्रह्मचर्यं महद्घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकं।
हिमवत् पार्श्वमास्थाय मया तपसार्जितः॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मण्यां योन्वजायत।
सनत्कुमार तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥"

सौप्तिक०—"सत्यशौचार्यवत्याभतपसा नियमेन च।
शांत्या भक्त्या च धृत्या च बुद्धया चवचसा तथा॥
यथावदहमाराद्धः कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते॥"

[82] G. P. Quackenbos : The Sanskrit Poems of Mayura

मासा' को किया। इस तिथि के उल्लेख में भी एक भारी रहस्य था, इसके द्वारा वह जानकी पार्वती एव शिव राम कृष्ण में ऐक्य स्थिर करना चाहते थे। ज्योतिष में 'वसन्त ऋतु के चैत्रमास की नवमी भौमवार' कोई श्रेष्ठ मुहूर्त नहीं है, क्योंकि नवमी रिक्ता तिथि है और वार भी क्रूर है। तथापि तुलसी ने उसी मुहूर्त को पसन्द किया, कारण कि उन्हें अपने सिद्धान्त पर अग्रसर होना था और इसके लिए ऐसा सुन्दर समय दूसरा वह चुन नहीं सकते थे। उनने अवश्य ही विचारा कि नवमी रामचन्द्र की जन्मतिथि है, इसके अलावे दुर्गा की भी तिथि है, और जानकी को वह दुर्गा का अवतार भी जानते थे, फिर मंगलवार राम के परम भक्त 'हनुमान हठीले' का दिवस था और वसन्त ऋतु को कृष्ण द्वारा गीता में 'ऋतूनां कुसमाकर.' कहकर श्रेष्ठ स्वरूप दिया जा चुका था। रामकथा वर्णन की शैली के लिए भी गोस्वामी ने सवाद-परिपाटी को पसन्द किया, क्योंकि सहिताकाल से भारतीय दार्शनिक व धार्मिक विवरण इसी शैली में होते आ रहे हैं और यूनान के दार्शनिक पडितों ने भी अपने मतों का प्रकाशन इसी ढग से किया था। किन्तु इस ढग को अपनाने की इससे भी बढ कर आवश्यकता थी तन्त्र ग्रन्थों की समानता की दृष्टि से, चूँकि तंत्रग्रन्थों में रुद्र व पार्वती के बीच सवाद रूप में तांत्रिक साधनाएँ वर्णित की गई थीं। इस कारण मानस की रामकथा में भी शिव पार्वती-सवाद की प्रधानता रही और तांत्रिकों के गुरुमान की महिमा भी [66] मानस के सवादों में खूब गाई गई,

---

[66] म थ। 'असार में—"गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यतो न तम्।
स दुर्गतिमवाप्नोति पूजा च विफला भवेत्॥

काकभुशुंडि ने गरुड़ से गुरुकोप के कुफल की विस्तृत कथा द्वारा भी 'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन' का समर्थन किया। तंत्रग्रन्थों के प्रभावशाली मंत्रों के समान मानस में रुद्राष्टक मंत्र भी समाविष्ट हुआ और निरर्थक मंत्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों मे गोस्वामी जी ने कहा भीः—

"कलि बिलोकि जगहित हर-गिरिजा,
शाबरमंत्रजाल जिन सिरिजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू,
प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू॥"

इस रहस्य को शायद साधारण जन नहीं समझ सकें इस विचार से 'अउरउ एक गुपुत मत' कह कर मानस-कार ने रामचन्द्र के मुख से भी कहलाया—'संकर-भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।' पुनः 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः' को याद कर कहलाया—'जेहि पर कृपा न करहिं मुरारी, सो न पाव मुनि भक्ति हमारी।' राम के अनन्य भक्त काक को गुरु ने भी ऐसा ही उपदेश दिया—'सिव-सेवा कै सुत फल सोई, अविरल भगति राम-पद होई।' 'बालकरूप राम' का ध्यान करने के उपदेशक ऋषि लोमस ने भी प्रकट किया—'रामचरित-सर गुत सुहावा, संभु-प्रसाद तात मैं पावा।' तदनुकूल गिरिजा ने माना भी—'राम-भगति दृढ़ उपजी, बीते सकल कलेस।' स्वयं शिव ने गरुड़ को 'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना' की कथा सुनने की सम्मति दी और गिरिजा से कहा—

---

[1] ज्ञानार्णव में—"गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥"

महश 'पुरुषं पुराणम्' का वर्णन इसीसे उनने 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।' आदि पदों में किया और 'सोऽहम्' तत्व को बड़ी ही सुन्दर व्याख्या ज्ञान-दीपक के रूपक में 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा' के क्रम में की। ज्ञानियों के समान उनने जन्म, मृत्यु, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, स्वर्ग, नरक संसार आदि के व्यवहार को स्थान २ पर मोहमूलक और अज्ञान जन्य बतलाया, द्वैतादि मतों का निरूपण भी रामादर्श में उनने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से किया। 'चिदानन्दमय देह तुम्हारी', 'सेवत साधु द्वैत भय भागे', 'ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु', 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई', 'जो गुन रहित सगुन सो कैसे' आदि भिन्न २ मतों के विद्वानों के चिन्तनयोग्य पद रामायण में इसी विचार से भरे गए कि उनके रहस्य से परिचित हो रामकथा-प्रेमी भी शुद्ध ज्ञानवाद की गंभीर गवेषणाओं की ओर आकर्षित हो सकें। तथापि मानवसमाज सेवक—गोस्वामी तुलसीदास ने अपने राम-रूपी ईश्वर को इन झंझटों से बाहर ही रक्खा और जगत् तथा ब्रह्म, या प्रकृति व पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को सर्वदा अभिन्न माना; इसका प्रतिपादन करते हुए उनने कहा भी—

"जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राममय जानि।
बन्दौं सबके पदकमल, सदा जोरि युग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बन्दो किन्नर रजनिकर, कृपा करहु अब सर्व॥
आकर चारि लाख चौरासी, जाति जीव नभ जल थल वासी।
सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि युगपानी॥"

जग-जीव को राममय देखना जनसमुदाय - शुभेच्छु

गोस्वामीजी के लिए सर्वथा उपयुक्त था, जब वह नर-तन को पर-हित के लिए ही होने का सिद्धान्त रखते थे। तदनुकूल ही वह राम के जन्म से राजा होने तक की घटनाओं को लिखते समय 'परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनम्' के धर्म-लक्षण को समझाते रहे और सुलभ सुखद भक्तिमार्ग को कोरी कल्पना पर अवलम्बित न कर श्रुति से पुराण तक के ज्ञानपूर्ण विषयों से जन-कल्याण-समर्थ बनाते गए। मतमतान्तरों की स्थापना का मूलस्थ स्वार्थ उन्हें नितान्त हानिकर जँचा और उनने भक्ति को भी श्रुति-सम्मत रखना हितकर जाना। प्रसंगानुसार उनने श्रुति-पथ-त्यागी कलियुगी ज्ञानी, वैरागी, तापस, द्विज, विप्र, वैश्य, शूद्र आदि के तृष्णा-व्यामोह को बुरा बतलाते हुए सत्यधर्म के लक्षण को भी समझाने की चेष्टा की। सभी दृष्टि से उन्हें पर-हित ही मानजीवन का लक्ष्य प्रतीत हुआ और उन्हें वेदादि शास्त्रों में भी उसी उदार एवं व्यापक परम धर्म का समर्थन दृष्टिगत होता रहा, इसीसे कहा-
"परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।
निरनय सकल पुरान वेद कर, कहेउँ तात जानहिं कोविद नर।
नरसरीर धरि जे परपीरा, करहिं ते सहहिं महा-भव-भीरा।
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंदमति, आतम हत-गति जाइ॥"

गोस्वामीजी का यह धर्म-भाव प्रभावशाली था। उसमें सत्य-नेम था, सेवा-व्रत था, त्याग-भाव था और परहित-ध्यान था। समाज पर इसका प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ। जिस साँच प्रेम से उनने 'का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहि यत साँच' कह कर हिंदी में रामकथा की रचना आरंभ की थी, हिन्दी-भाषी समाज ने उसी प्रेम से उनके सिद्धान्त

"गिरिजा सुनहु विसद यह कथा,
मैं सब कही मोरि मति यथा।
रामचरित सत कोटि अपारा,
स्रुति सारदा न बरनत पारा।
राम अनंत अनंत गुणानी,
जनम करम अनंत नामानी।
जलसीकर महिरज गनि जाहीं,
रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं।
विमल कथा यह हरि पद-दायनी,
भगति होइ सुनि अति अनपायनी।"

ऐसे युक्तिपूर्ण प्रयत्न व पाण्डित्यमय परिश्रम से समाज और धर्म की सेवा करते हुए 'नष्टे वेदपथे नृणाम्' वाली हिन्दूजाति के सामने तुलसी ने अपना निष्कर्ष रक्खा—[84] 'नहिं कलि कर्म न धर्म विवेकू, राम-नाम अवलम्बन एकू।' ईश्वर के अवतार एवं सगुण रूप का वर्णन उनके अनुभव का ही फल था और अपनी जाति की गिरी दशा का अध्ययन कर उन्होंने निश्चय कर लिया था—'कोउ नहिं मान निगम अनुशासन', और 'उदर भरै सो धर्म सिखावहिं।' तोभी पंथ-निर्माताओं के उपदेश-जाल में यह लोगों की रुचि ब्रह्मज्ञान की बातों की ही ओर थी—'ब्रह्मज्ञान बिनु नारी नर, करहि न दूसरी बात। अतः मानव रुचियों पर समुचित ध्यान रखते हुए गोस्वामी ने 'तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा' के विश्वास का समर्थन रामावतार—कथा से रामचरितमानस महा-

[84]. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12-p 472 Religious ideas

काव्य में किया [85] । भाषा में धर्मोपदेश करने को उद्यत होने पर भी वह बिना पथभ्रष्ट हुए संहिता से स्वकाल तक के सारे प्रचलित सिद्धान्तों का समावेश राम कथा में करते गए। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, गीता, पुराण, वाल्मीकि-रामायण, महारामायण, नीतिग्रन्थ, नाटक, काव्य इत्यादि की सुन्दर उक्तियों की पुट देते जाने का भी कठिन परिश्रम उनने उठाया; उपमा और रूपक तक उन्हीं से लेना उन्हें प्रिय जँचा, इस निमित्त कए उठा उनने 'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई, वेद पढ़हीं जनु वटु समुदाई' तक की कल्पना के लिए वैदिक ऋचा 'वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मंडूका अवादिषुः' की सहायता ली [86] । पूर्वकृतियों के वैसे साहाय्य को निस्संकोच उनने स्वीकार भी किया है—'मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई, तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई।' भक्ति-प्रिय सगुणोपासी, अवतारवादी और पुराणप्रेमी पुरुषों के लिए रामकथामृत को प्रस्तुत करने का ध्यान मुख्य होते भी उनने ज्ञान और वेदादि सद्ग्रन्थों की चर्चा छोडी नहीं। जहां कहीं अवसर मिला वह ब्रह्म-जीव सृष्टि इत्यादि गूढ़ प्रश्नों पर पुरातन विचार प्रकट कर ज्ञानियों की सेवा में लगे रहे। इसके प्रमाण मानस में इतने स्पष्ट और प्रचुर हैं कि वे पद पद पर अपना रहस्य प्रकट करते मिलते हैं। श्वेताश्वतर के [87] 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'

---

[85] George A Grierson 1912 J R A S p 797.

[86] ऋग्वेद ७–१०३–१ "संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वाचं पर्जन्यजिन्विता प्र मंडूका अवादिषुः ॥"

[87] श्वेताश्वतरोपनिषद् ३–१२

का सम्मान शुरू किया। रामभक्ति की प्रियता उत्तरोतर वृद्धि पाती गई। कृष्णभक्ति के प्रचार से जिस प्रकार कृष्ण-सागा की समुन्नति हुई थी, उसी प्रकार तुलसी से रामसागा का विकास प्रारम्भ हुआ। तुलसीदास ने गुरु-पद की कामना नहीं की न उनने अपना कोई शिष्य बनाया, तोभी वैष्णवों द्वारा उन्हें असीम सम्मान प्रदान किया गया और रामभक्तों ने रामचरितमानस को संस्कृत के धर्मग्रन्थों से भी अधिक सम्मान दिया "। तुलसीदास के राम-काव्य से हिन्दी के कवियों को भी भारी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और तुलसी-काल से रामभक्ति के प्रचारक अनेक प्रमुख कवि हुए, रामायणें भी कई लिखी गईं, किन्तु उनमें वेनीमाधव दास (लगभग १६४२ ई०), चिन्तामणि त्रिपाठी (लगभग १६५० ई०), मानदास कवि (जन्म १६२३ ई०), भगवन्त राय खींची (लगभग १७६० ई०), शम्भुनाथ कवि (लगभग १७५० ई०), गोपा कवि (जन्म १५३३ ई०), सहज राम (जन्म १८०४ ई०), गजराज उपाध्याय (जन्म १८१७ ई०), शंकर त्रिपाठी, (जन्म १८१४ ई०), चन्द्र झा, जानकी प्रसाद, समर सिंह, पूरणचन्द जूथ, (सभी लगभग १८८३ ई०) और छोटूराम तिवारी, (१८४०-१८८७ ई०) की रचनाएं मुख्य रहीं। इन राम कथाओं के प्रचार से रामभक्ति की प्रसिद्धि उत्तरोत्तर फैलती गई और रामसागा समुन्नत होकर कृष्णसागा पर प्रभावशाली बनता गया।

" F S Growse The Ramayana of Tulsi Das. Introduction, p xxii "There are Vallabhacharis and Radha Vallabhis and Maluk Dasis and Pran Nathis, and so on, in interminable succession, but there are no Tulsi Dasis Virtually, however, the whole of Vaishnava Hinduism has fallen under his sway"

ओ३म् शान्तिः !

आधार-ग्रन्थ

ऋक्संहिता : सायणाचार्यविरचितभाष्यसहिता, मुम्बय्यां प्रकाशिता, शकाब्दा १८१०

Hymns of the Rig veda : London Trubner and Co, 1873

अथर्ववेदसंहिता : अजमेरीय वैदिक यन्त्रालये मुद्रिता, संवत् १९५५ वि० ।

श्रीशुक्लयजुर्वेदः : वाजसनेयिसंहिता माध्यन्दिनशाखा श्री सत्यव्रत सामश्रमिणा सटिप्य संशोध्य च प्रकाश्यत, कलिकाताराजधान्यां सत्ययन्त्रे १७९९ शकाब्दीये मुद्रयितुमारब्धा ।

तैत्तिरीयकृष्णयजुः संहिता माधवाचार्यविरचितवेदार्थप्रकाशाख्य भाष्यसहिता—Edited by Dr L Roer and E B Cowell M A –1890 Asiatic Society Bengal

The Veda of the Black yajus School entitled Taittiriya Sanhita : A B Keith, D C L D Litt 1914 . The Harvard University Press Harvard Oriental Series Vols 18 & 19

Vedic Mythology : A A Macdonell, 1897—Strassburg, Verlag Von Karl J Trubner

A Vedic Reader : A A Macdonell M A , Ph D Oxford Press—1917

Religion and Philosophy of the Veda A B Keith Harvard Oriental Series, Vols 31&32—1925

ऋग्वेद पर व्याख्यान : श्री भगवद्दत्त बी० ए०, संस्कृताध्यापक दयानन्द कालेज—लाहौर, स० १९२० ई०

Rig-vedic India : Abinas Chandra Das, M. A, B L—1921 Vol I.

A History of Pre-Budhistic Philosophy : B Barua, published by the University of Calcutta, 1921

The Religion of the Rig-veda : H D Griswold, Ph D, Oxford University Press—1923

Taittiriya Aranyaka : edited by A Mahadeva Sastri and K Rangachariya G O L Series, No 29-Mysore, 1902

Aitareya Brahmana of the Rigveda : edited by Martin Haug, Ph D Bombay-Government Central Book Depot · 1863

The Catpatha Brahmana edited by Dr Albrecht Weber 1924—Leipzig Otto Harrassowitz

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, २ रा भाग : श्रीभगवद्दत्त, सन् १९२७ ई० लाहौर-रिसर्चविभाग, दयानन्द महाविद्यालय।

तैत्तिरीय संहिता : भट्टभास्करमिश्रविरचितभाष्यसहिता, edited by A Mahadeva Sastri B A Mysore—Government Oriental Library Series No 1894 to 1898

तैत्तिरीय ब्राह्मणम् . भट्टभास्करमिश्र विरचितभाष्यसहितम्. Mysore Government Oriental Library Series 1908

गोपथ ब्राह्मणम् : श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्येण संस्कृत प्रकाशितञ्च, कलिकातानगर्याम् नारायणयन्त्र मुद्रितम्–ई० १८९१

तांड्य महाब्राह्मण : आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित–ई० १८७४, बिब्लियोथेका इण्डिका संस्करण।

उपनिषदां समुच्चय : पुण्याख्यपत्तने आनन्दाश्रममुद्रालये प्रकाशितम्-ख्रिस्ताब्दा १९२५

The Upnishads—Isa, Kena, Manduk Katha, Prasna, Chhandogya, Aitareya and Taittiriya Vols I to V, with Sri Sankara's commentary, edited by S Sitarama B A—1923

शुक्लयजुर्वेदीया बृहदारण्यकोपनिषत् : स० पण्डित रामस्वरूप शर्मा, सनातनधर्म यन्त्रालय-मुरादाबाद, स० १९७०

मैत्र्युपनिषद् : edited by L B Kowell, M A, Calcutta—Asiatic Society of Bengal 1913

श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्करभाष्यसमेता : म० म० प० श्रीयुक्त दुर्गाचरण कर्तृक अनुदिता-सम्पादिता च ।

The Svetasvatara Upanishad : S B H series Vol XVII, 1916

The Thirteen Principa Upanishads Robert Ernest Hume, M A Ph D Oxford University Press—1931

सगौडपादीयकारिका माण्डूक्योपनिषत् : श्रीमच्छंकरभगवत्पाद विरचित भाष्येण सहिता The works of Sri Sankaracharya, Volume 5–Srirangam · Sri Vanivilas Press

The Philosophy of the Upanishads A D. Gough, M A, London—Trubner & Co, 1882

The Philosophy of the Upanishads : Paul Deussen Edinburgh, T & T Clark, 38George Street–1906

A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy R D Ranade, M A, Poona–Oriental Book Agency, 1926

सामान्यवेदान्त-उपनिपद :—अ० महादेवशास्त्रिणा संपादिता, ड्यार-पुस्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च-१९२१ ई०

योग-उपनिपद :—अ० महादेवशास्त्रिणा सपादिताः, अड्यार-स्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च-१९२०ई०

एकादशोपनिपदः—लवपुरस्थ-'पजाबसस्कृतपुस्तकालया'-ध्यक्षे. ीये 'बाम्बे सस्कृत'नाम्नि यन्त्रालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीताः-सन् १९२०

महानारायण-उपनिपद् : edited by Colonel G A Jacob 1888—Bombay, Government Central Book Depot

The Jaiminiya or Talavakara Upanisad Brahmana : 1894—New Hawen, for the American Orienta Society

ध्यानविन्दूपनिपत्—edited by Pandit A Mahadeva Sastri, B A, for the Adyar Libray—1920

Samkhya Sutra Vritti : edited by Dr Richard Garbe Calcutta Baptist Mission Press, 1888

Aniruddha's Commentary translated with anl ntroduction on the age and origin of the Samkhya System by Dr Richard Garbe Calcutta Baptist Mission Press, 1892

सांख्यतत्त्वकौमुदी : वाचस्पतिमिश्रविरचिता, श्रीजीवानन्द-वेद्यासागरभट्टाचार्य्येण सस्कृता प्रकाशिता च-१८९७.

सांख्यदर्शनम् · विज्ञानभिक्षु विरचितभाष्यसहितम् · श्री जीवान-न्दविद्यासागरभट्टाचार्य्येण सस्कृत प्रकाशितञ्च-इ० १८९७.

सांख्यसार : श्रीयुतेन फित्स-एडवार्ड-हल नामक महोदयेन प्रकाशित , कलिकातानगरे इ० १८६५

Hindu Philosophy —Preface in English, Fitz-Edward Hall, D C L Oxon

The Sankhya Karika of Iswara Krishna John Davies M A (Cantab) London Trübner & Co Ludgate Hill—1881

Sankhya Karika : Iswara Krishna translated by H T. Colebrooke, also the Bhashya by Gaudapada by H H. Wilson · Bombay, Mr Rajaram Tookaram—1924

Sankhya J N Mukerji M A, Calcutta-Sree Krishna Printing works, 1930

Sankhya System A Berriedale Keith, D C L D Litt 1924—Association Press

The Sankhya Philosophy of Kapila Jag Mohan Lawl M B, Ch B (Edin) Orpheus Publishing House—Edinburgh

Hindu Pantheism-the Vedanta sara translated by Major G A Jacob London—Trubner & Co, 1881

आस्तिकवाद : पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०, द्वितीय बार १९३२-कलाप्रेस, जीरो रोड-प्रयाग ।

अद्वैतवाद : पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०, प्रथम सं० सं० १९८५ वि०-कला कार्यालय प्रयाग ।

Lectures from Colombo to Almora Swami Vivekanand, 1933

Rambles in Vedanta B R, Rajam Aiyar, 1925

Sri—Bhashya Ramanujacharya Bombay,

Government Central Press—1914.

सर्वदर्शनसंग्रह.—माधवाचार्य, स० पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सन् १८५८ ई०

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, रत्नप्रभा—भामती-न्यायनिर्णय-व्याख्यात्रयोपेतम् : महादेवशर्मा।

The Vedanta-sara · Major G A Jacobe London, Trubner & Co Ludgate Hill—1881.

ब्रह्मसूत्रभाष्यम्: The works of Sri Sankaracharya Vols 1 2, 3—Srirangam Sri Vani Vilas Press

दशश्लोकी : श्रीनिम्बार्क, The Chowkhamba Sanskrit Series No 358—1927 A D

पञ्चदशी : सुगमया "निर्णयसागर" मुद्रायन्त्रेऽङ्कयित्वा प्राकाश्य नीता—शके १८२७, संवत् १९६२

The Idea of the Soul Prof John Laird, M A, London—Hoddar & Stoughton Ltd 1924

How far Sankaracharya truly represents the view of the author of the Brahmasutras M T Telivala, B A, LL B, Bombay-Nirnaya sagar Press, 1918

The Philosophy of Shankara : Maganlal A Buch M A, The Vidyavilas Press—Baroda, 1921

The Vedanta V. S. Ghate 1926—The Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona

Vedantism Sahityacharya Pandeya Rama vatara Sarma M A, 1909

Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems : Sir R G Bhandarkar, 1923

नन्दीसूत्र : श्रीअमोलकऋषिजीकृत, प्र० जैनशास्त्रोद्धार—मुद्रणालय, सिकंदराबाद।

धम्मपद : Poona, the Oriental Book-supplying Agency, 1923.

ललितविस्तर : edited by Dr. S. Lefmann. Halle A. S. Verlag Der Buchhand lung Des Waisenhauses—1902.

The Basic Conceptions of Buddhism : Vidhushekhar Bhattacharya, Calcutta University—1934

शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता : edited by Pratāpcandra Ghose, Calcutta-1902. Published by the Asiatic Society 57, Park Street

The Questions of king Milinda : translated from the Pali by T W Rhys Davids. S B E Series vols xxxv—1890 & xxxvi—1894 Oxford--Clarendan Press

The Digha Nikaya Vol. I—edited by T W. Rhys Davids and J Estlin Carpenter, 1889, Vol II—1903, and Vol. III.-1911 by J Estlin Carpenter D Litt London—Oxford University Press

An Introduction to Budhist Esoterism : Benoytósh Bhattacharyya M. A, Ph D; Oxford University Press—1932.

मज्झिम-निकाय : अनु० राहुल सांकृत्यायन। प्र० महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस)-१९३३ ई०, १ म संस्करण।

विनय-पिटक : अनु० राहुल सांकृत्यायन। प्र० महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस)—१९३५ ई०

by J. L. Jaini, M. A. 1920-Arrah, the Central Jain Publishing House

चन्द्रप्रभचरितम् : श्रीवीरनन्दिविरचितं, द्वितीयसंस्करणम् १९०२, मुम्बय्यां निर्णयसागराख्ययन्त्रालये प्राकाश्यं नीतम्।

प्रमेयरत्नमाला : श्रीमाणिक्यनन्दिप्रणीता, परीक्षामुखसूत्र की श्रीमदनन्तवीर्यसूरिकृत संस्कृतटीका की भाषावचनिका—जयचन्द्रजीकृत, प्रथमावृत्ति; मुनिअनंत कीर्तिग्रन्थमाला—समिति।

धर्मशर्माभ्युदयम् : महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचितं, द्वितीयं संस्करणम् १८९९, मुम्बय्या निर्णयसागराख्ययन्त्रालये प्राकाश्यं नीतम्।

गोम्मटसार : श्रीनेमिचन्द्रविरचितम्, edited by Rai Bahadur J. L Jaini M A, 1927—The Central Jaina-Publishing House, Agtashram—Lucknow

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र : श्रीमदुमास्वामिविरचितं, प्र० जैनमंडल जौहरीबाजार-खाराकुवा बम्बई नं० २— सन् १९३२.

तत्वार्थराजवार्त्तिक : श्रीमद्भट्टाकलंकदेवविरचित, श्रीपन्नालाल जैनेन काशीस्थचन्द्रप्रभानाम्नि मुद्रणयंत्रालये मुद्रापितं, खिष्टाब्द १९१५

तत्वार्थसार : आचार्यवर्य श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचित, सनातनजैन-ग्रन्थमाला-१७

•वर्द्धमानचरित्र : भट्टारक श्रीसकलकीर्त्ति हस्तलिखित प्रति—जैनसिद्धान्त—भवन, आरा।

महावीरपुराण : श्रीसकलकीर्तिदेवविरचित का हिंदी संस्करण, अनुवादक पं० मनोहरलालशास्त्री, प्रे० श्रीजैनग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, वि० सं० १९१३

आदिपुराण : प्र० प्रथप्रकाशक कार्यालय—इन्दौर वि० सं० १९७३.

नन्दीसूत्र : श्रीअमोलकऋषिजीकृत, प्र० जैनशास्त्रोद्धार—मुद्रणालय, सिकदराबाद।

धम्मपद : Poona, the Oriental Book-supplying Agency, 1923

ललितविस्तर : edited by Dr S Lefmann Halle A. S Verlag Der Buchhand lung Des Waisenhauses—1902

The Basic Conceptions of Buddhism Vidushekhar Bhattacharya, Calcutta University—1934

शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता : edited by Pratapcandra Ghose, Calcutta–1902 Published by the Asiatic Society 57 Park Street

The Questions of king Milinda translated from the Pali by T W Rhys Davids S B E Series vols xxxv—1890 & xxxvi—1894 Oxford- Clarendon Press

The Digha Nikaya Vol I—edited by T W Rhys Davids and J Estlin Carpenter 1889, Vol I—1903, and Vol III–1911 by J EstlinCarpenter D Litt London—Oxford University Press

An Introduction to Budhist Esoterism Benoytosh Bhattacharyya M A Ph D, Oxford University Press—1932

मज्झिम निकाय : अनु० राहुल साकृत्यायन। प्र० महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस)–१९३३ ई०, १ म सस्करण।

विनय पिटक : अनु० राहुल साकृत्यायन। प्र० महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस)—१९३५ ई०

लङ्कावतारसूत्रम् Edited by Bunyiu Nanjio M A D Litt 1923 -Kyoto, The Otani University Press

बुद्धदेव • श्रीजगन्मोहन वर्म्मा १९१६—काशी, नागरी प्रचारिणी सभा।

बुद्धजीवनचरितम् खुशी लाल शास्त्री, बरेली सं० १९६० वैक्रमे।

बुद्धचरित पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल, प्र० काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १९७९

The Gods of Northern Buddhism Alice Getty J Daniker and Henry H Getty The Clarendon Press—Oxford, 1914

Buddha and the Gospel of Budhism Ananda Coomaraswamy D Sc, London—George G Harrap & Co 1916

विनयपिटकम् edited by Hermann Oldenberg 1879, Williams and Norgate—London

Sumangala Vilasini Budhaghosa s commentary on the DighaNikaya Edited by T W Rhys Davids and J Estlin Carpenter 1886—the Pali Text Society, London

• Majhima-Nikaya Pali Text-Society—London, 1888

Digha-Nikaya edited by-T W Rhys Davids and J Estlin Carpenter Pali Text Society—London 1890

Samyutta-Nikaya edited by M Leon Feer Pali Text Society—London, 1880

Hinayāna and Mahāyāna and the Origin of Mahāyān Buddhism Ryukan Kimura, Calcutta University —1927

The Doctrine of the Buddha : George Grin, published by Verlog W Drugulin, Leipzig—Germany, 1926

श्रीगुह्यसमाजतन्त्रम् : Gaekwad's Oriental Series 1924-Baroda . Oriental Institute

Tantra Vārttika translated into English by M M. Ganganath Jha, M A D Litt Calcutta-Asiatic Society of Bengal, 1924

विचित्रा—तान्त्रिक साधना श्री प्रमथ चौधरी, सितम्बर १९३४

श्री श्री तन्त्राभिधानम् : श्री आर्थार एवेलनेन प्रवर्त्तितम् पर्यवेक्षितञ्च, ख्रृ० १९१३

श्रीतन्त्रसार : श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचित॰, खैस्ताब्दा १९१८.

साधनमाला, भाग १-१९२५ : सम्पादक श्रीविनयतोषभट्टाचार्य, एम० ए०, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बरोदा, भावनगर

साधनमाला भाग २-१९२८ Gaekwad's Oriental Series No XLI

शाक्तप्रमोदः—लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितं, सवत् १९६८—कल्याण मुबई ।

श्री श्री कुलार्णवतन्त्र : edited by Arthur Avalon. 1917—Lazac & Co London

महानिर्वाणतन्त्रम् ' प्रकाशक,श्रीअमृत लाल काव्यतीर्थ, कलकत्ता ।

Shakti and Shakta Sir John Woodroffe 1918 Luzac & Co London

The Saundarananda Asvaghosa 1928—edited by E H Johnston, M A, London-Oxford University Press

सत्यार्थप्रकाश : श्रीमद्दयानन्दनिर्वाणअर्द्धशताब्दीसंस्करण, सं० १९९० विक्रमीय अजमेर।

The Holy Bible : London, British and Foreign Bible Society

Religions of India A Barth London, Trübner & Co—1882

History of Religions Edward Washburn Hopkins Ph D 1895—Ginn & Company

History of Indian Literature : Albrecht Weber London—Trübner & Co Ltd, 1873

Sir Asutosh Mookerjee Silver Jubilee Volumes—Vol III, Orientalia—Part I 1922

Ancient Indian Historical Tradition : F E Pargiter M A Oxford University Press—London

Asura India Dr Ananta-Prasad Banerji-Sastri M A D Phil—1926

Early Inscriptions of Bihar & Orissa : Dr Ananta-Prasad Banerji Sastri M A, D Phil, Patna University—1927

Development of Theology Otto Pfleiderer, D D—1923

The Idea of God . C. A, Beckwith. Macmillan & Co —1923.

The Spirit of God : P C. Mozoomdar, 1918.

God in Idea and Eperience : Rees Griffiths, M A Ph. D , T. & T. Clark, 38 George Street—1931

God and Man . Hastings Rashdall D. D , D C L , D. Litt. 1930--Basil Blackwell, Oxford.

History of the Brahmosamaj, Vol I · Sivanath Sastri, M A.—1911.

The Mission of the Brahmosamaj Sivanath Sastri, M A —1910

The Puranas . K Narayanaswami Aiyar, 1916—Second Edition. Madras--Theosophical Society, Adyar

Miscellaneous Essays . H T Colebrooke edited by E B Cowell Vols I and II 1873—London, Trübner & Co

Mohenjo-Daro and the Indus Civilisation : edited by Sir John Marshall, C I. E , Litt D., Ph. D 1931—Arthur Probsthain 41, Great Russal Street London, W. C I.

The Manuscripts of God A I. Tillyard. 1919-W Heffer & sons Ltd , Cambridge.

The Attributes of God Lewis Richard Farnell. 1925—The Clarendon Press, Oxford.

To be near unto God : Abraham Kuyper, D D,

English-edition—1925, The Macmillan Company New York

The Problem of God Edgar Sheffield Brightman 1930—The Abingdon Press, New York

Man and the Image of God Hubert M Foston D Litt London Macmillan & Co Ltd —1930

The Spiritual Universe Oswald Murray 1924—Duckworth & Co London

The Philosophy of the good life Charles Gore D D Lt D Ph D London—John Murray 1930

Has Science Discovered God Edward H Cotton New York—Thomas Y Crowell Company, 1931

Science and God Bernhard Bavink 1933—London, G Bell & Sons Ltd

What men are asking Henry Sloane Coffin—1934—Hoddar and Stoughton Ltd London

Revolt against Mechanism, : George Hibbert Lectures—1933 L P Jacks London Allen & Unwin Ltd , 1934

Changing Backgrounds in Religion and Ethics H. Wildon Carr, D Litt Macmillan and Co London

The Arts & Crafts of India & Ceylon Ananda Coomaraswamy 1913—T N Foulis, London & Edinburgh

The Ancient and Medieval Architecture of India E B Havell 1915—London, John Murray, Albemarle Street, W

History of fine Art in India and Ceylon : Vincent A. Smith, 1911—Oxford, Clarendon Press.

Harsha : Radhakumud Mokerji, M. A., Ph. D., 1920—London, Oxford University Press.

Theism and Thought : Arthur James Balfour L. L. D., Litt D., Ph. D. 1923—London, Hoddar and Stoughton Ltd.

Theism and Humanism : Arthur James Balfour M. A., L. L. D., Ph. D. 2nd impression—London, Hoddar and Stoughton Ltd.

The Faith of an Agnostic : G G Greenwood, 1919, Watts & Co., London

श्रीशंकरदिग्विजयसार सदुंदुभिः—मु॰ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, १म संस्करण—१९२७ ई॰, प्र॰ रामनारायण लाल बुक्सेलर—इलाहाबाद ।

श्रीमन्महाभारतम् सटिप्पणम् : पुनापुर्यां निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रे मुद्रयित्वा प्रकाशितम् शाके १९२८ पराभवशनसंवत्सरे—शाके १८३५ वत्सरे समाप्तम् ।

श्रीमद्भागवतम् : श्रीनित्यस्वरूपब्रह्मचारिणा सम्पादितम्, श्रीदेवकीनन्दनयन्त्रालये मुद्रापितम्—सम्वत् १९६४ ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्— ई० १८८८ : श्री जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य्येण संस्कृतम्, कलिकातानगरे सरस्वतीयन्त्रे मुद्रितम् ।

मार्कण्डेयपुराणम् : ई० १८१९

विष्णुपुराणम् : ई॰ १८८२ " "

गरुड़पुराणम् : ई॰ १८९० " "

"

लिङ्गपुराणम् : ई० १८८५ ,, ,,

वामनपुराणम् : पण्डितवर श्रीयुक्तपञ्चाननतर्करत्न स॰ श्री नटवर चक्रवर्ती द्वारा मुद्रित-कलकत्ता।

शिवपुराणम् : ,, ,,

मत्स्यपुराणम् ,, ,,

वायुपुराणम् : सं० १९३० श्री राजेन्द्रलाल मित्र LI C I L बिब्लियोथेका इंडिका संस्करण।

ब्रह्माण्डपुराण : प्र० श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई।

हरिवंश : मुम्बय्यां गोपालनारायण साहित्तिमण्डलस्य म मुद्रितम् ख्रिस्ताब्दाः १८९१

श्री श्री चैतन्य-चरितावली : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, गोर गीताप्रेस, स० १९८९

शङ्कराचार्य जीवनचरित्र : स्वामी परमानन्द, सं० १९१२ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

भक्त चरितावली : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी १९२९ ई०- प्रेस, प्रयाग।

हस्तलिखित हिंदीपुस्तकों का संक्षिप्त विवरण : श्यामसुन्दर दास सं० १९८०, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा।

Selections from Hindi Literature : Lala Sita I B A Sahitya-Ratna—University of Calc Book I—1921, Book II—1921, Book III—1 Book IV—1924, Book V—1924

ऋतुसंहारम् : कालिदास, वामनयशवन्त प० को० गिरगाँव ब

The Sanskrit Poems of Mayura George P Quackenbos, A M Ph D 1917, New Y Columbia University Press

The Candi-stotra of Bana : " "
घटखर्परकाव्यम् : सन् १९१४-मुम्बय्यां निर्णयसागराख्ये यन्त्रा-
ो मुद्रयित्वा प्रकाशितम् गराख्ययन्त्रालये प्राकाश्यं नीतम् ।
हरविजयम् : राजानकरत्नाकर, १८९०
पार्वतीपरिणयम् : १९०६ श्रीरङ्गनगरे श्रीवाणीविलासमुद्रायन्त्रा-
लये सम्मुद्रितम्
गाथासप्तशती : श्रीसातवाहन, १८८९—मुम्बय्यां निर्णयसागरा-
ययन्त्रालये प्रकाश्यं नीता ।
अमरुशतकम् : श्रीअमरुक, १९००—
आर्यासप्तशती : श्रीगोवर्धनाचार्य,१८९५ बम्बई,निर्णयसागर प्रेस ।
Surdas Prof Dr Janardan Misra M. A., D
Phil 1934
सवार्तिकगणपाठाष्टाध्यायीसूत्रपाठः पाणिनि, Vols I-II, edited
by S. Chandra Sekhar Sastrigal, Teppakulam-
Trichinopoly—1912
व्याकरणमहाभाष्यम् Patanjali, edited by F Kielhorn Ph D Bombay—Government Central Book
Depot 1892
निरुक्तम् : श्रीसत्यव्रत सामश्रमिभट्टाचार्य्येण सम्पादितम्,
१८०८, कलिकताराजधान्या वासिस्तमिशनयन्त्रे मुद्रितम्
- S B
श्रीस्कन्दस्वामिविरचिता निरुक्तभाष्यटीका : श्रीलक्ष्मण
स्वरूप एम० ए०, डी० फिल इत्यनेन सम्पादिता । पंचनदीय विश्व
विद्यालयाध्यक्षैः प्रकाशिता ।
रघुवंशम् : कालिदास Third Edition—1897, Radhabai Atma Ram Sagoon—Bombay.

मालतीमाधवम् : जगद्धरकृतटीकया समवेतं, खिस्ताब्दाः १९०५, Bombay—Government Centeral Book Depot.

उत्तररचरितम् : भवभूति, edited by S. R. Vidyavinode, M. A., Third Edition.

Theism : Robert Flint, D. D., L. L D., F. R S. E, 1st Edition—William Black Wood and sons, Edinburgh and London.

Philosophical Aspects of Modern Science : C.E M. Joad. George Allen & Unwin Ltd., London—1932

पारस्करगृह्यसूत्रम् : खिस्ताब्द : १९१७, मुंबय्यां 'गुजराती' मुद्रणालयाधिपतिना स्वीये मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

हिरण्यकेशिगृह्यसूत्रम् : edited by Dr. J. Kirste. Vienna—1889.

आश्वलायनगृह्यसूत्रम्: म०म०पं० गणपतिशास्त्रिणा संशोधितम् । खैस्ताब्दः १९२३, Trivandrum : Government Press.

आश्वलायनप्रणीतम् श्रौतसूत्रम् : रामनारायण विद्यारत्नेन परिशोधितम्, सं० १८७४ कलिकाताराजधान्याम् वाप्टिष्टमिशनयन्त्रे वाल्मीकियन्त्रे च मुद्राङ्कितम् ।

खादिरगृह्यसूत्रम् रुद्रस्कन्दव्याख्यासहितम् : Mysore Government Oriental Library Series—1913.

लाट्यायनश्रौतसूत्रम् : सं० आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश— ई० १८७०, बिब्लियोथेका इंडिका संस्करण ।

कात्यायनश्रौतसूत्रम् : सं० श्रीमदनमोहन पाठक व्याकरणाचार्य ई० १९०८, काशी—चौखंभा संस्कृत सीरीज ।

श्री मद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रणीतम्, 'निर्णय-

भक्ति-सूत्रम् : नारद, edited by Nandalal Sinha M. A., B. L. Second Edition—1917, Allahabad—The Panini office.

बार्हस्पत्यसूत्रम् : edited by Dr. F W. Thomas M. A., देवनागरी संस्करण by Pt. Bhagwad Datta B. A, Lahore—The Punjab Sanskrit Book Depot—1921.

कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् : A new edition by J. Jolly, Ph. D., D. Litt. Vol. I—1923, Vol. II—1924. Lahore—The Punjab Sanskrit Book Depot

Kautilya's Artha Sastra : translated by R. Shama Sastry, with an introductory note by Dr J. F. Fleet, Ph. D, C. I. E, I. C. S. Bangalore—The Government Press, 1915.

कौटिलीय अर्थशास्त्र मीमांसा, १म खण्ड : गोपाल दामोदर तामसकर, एम० ए०, एल० टी०, प्र० इंडियन प्रेस–प्रयाग, १९२९ ई०

हुएनसांग का भारत भ्रमण : अ० श्री ठाकुर प्रसाद शर्मा, प्र० इण्डियन प्रेस-प्रयाग, १९२९ ई० ।

हिन्दी भाषा पर प्रभाव—Contribution of Hindi Literature to Indian History R. B. Pundit Sukhdeo Bihari Misra, Patna University Ramdin Readership Lectures, 1932-33

हिन्दी भाषा : उसके साहित्य का विकास—The Origin and Growth of the Hindi Language and its Literature : Pt. Ayodhya Singh Upadhyaya Patna University Ramdin Readership Lectures-1930-31

रामचरित मानस : गोस्वामी तुलसी दास, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद—१९२५ ई०

तुलसीसाहित्य-रत्नाकर : स्व० पण्डित रामचन्द्र द्विवेदी, १ला संस्करण—वि० सं० १९८६.

साहित्यदर्पणः श्रीविश्वनाथकविराजकृतः— श्रीहरिनन्दन भट्टशर्मणा प्रणीतया विवृत्या समलंकृत ।

आध्यात्मिकी : पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, १९२७— प्रयाग, इंडियन प्रेस लिमिटेड ।

रत्नत्रय : श्री पाण्डेय रामावतार शर्म्मा, एम० ए०, बी० एल०; प्र० बिहार-साहित्य निकेतन, बाँकीपुर, पटना ।

पाखण्ड-पोल : श्री पाण्डेय रामावतार शर्म्मा, एम० ए०, बी० एल०; प्र० शर्म्मा-साहित्य-सदन, टाउनगंज—१९२० ई०

विद्यापति की पदावलीः संकलयिता श्री रामवृक्ष शर्म्मा बेनीपुरी; प्र० हिन्दी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय–१म संस्करण, पौष १९८? वि०,

द्विवेदी अभिनंदनग्रंथ : प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० १९९०

श्रीसूरसागर : सं० १९८०, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम-मुद्रण यन्त्रालय, बम्बई ।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनचरित्र : बाबू शिवनन्दन सहाय, प्र० खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर–१९१६ ई०

The Ramayana of Tulsi Das : F. S. Growse, B. C. E., M. A., C. I. E. 1922—Allahabad, Ram Narain Lal, Publisher & Bookseller.

A History of Hindi Literature : F. E Keay, M A., 1920—Association Press, Calcutta

History of Bengali Language and Literature :

Dinesh Chandra Sen B A; Calcutta University—1911.

Modern Religious Movements in India J N Farquhar, M A, D Litt New York—The Macmillan Company, 1918

The Early History of India Vincent A Smith 4th Edition—1924, The Clarendon Press—Oxford

Encyclopaedia of Religion and Ethics James Hastings 1912—Edinburgh T A T Clark, 38 George Street

सुधा : वर्ष १-स० १-पृ० २०, डा० हेमचन्द्र जाशी।

वीणा : जनवरी-१९३४ ई०, पृ० १८५, प्रा० श्रीरामेश्वर गौरीशङ्कर ओझा, एम० ए०।

वीणा : मई १९३४ ई०, पृ० ५७१, प्रा० श्री नलिनी मोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्वरत्न

Bulletin Vol VII Part 3—1934 Editor-Sir E Denison Ross

J R A S 1909 A B Keith p 574

„ 10-1862 J Muir, pp 229-1314

„ 1910 R G Bhandarkar, pp 168-170

„ 1912 George A Grierson pp 794-798

„ 1915 Dr Keith, pp 840 842 98, 839 40

„ 1921 Dr A P Banerji Sastri p—

Indian Antiquary Vol 23–1894 E Hultzsc Ph D p 297.

Indian Antiquary Vol 25–1896 P. Sundara Pillai M A, pp 113–120.

Indian Antiquary–1908 George A Grier C I E, Ph D., D Litt, pp 251-262

Indian Antiquary–1918 K P Jayaswal, p

Journal of Asiatic Society Bengal Vol LXVII M Harprasad Shastri

Journal of the Bombay Branch of the R. A Vol XIX, p 359.

B J R S 1929, March—June Dr A Banerji Sastri

South Indian Inscriptions, Vol I, p 11

List of Brahmi Inscriptions Nos 6, 660, 11

Epigraphica Indica, Vol XXI, pp 97–101

आवश्यकतानुसार अन्य ग्रन्थ भी